मुद्रा चलन एवं अधिकोषण

(MONEY, CURRENCY & BANKING)

[भारतीय विश्वविद्यालयों के बी० ए० तथा बी० कॉम० के
विद्यार्थियों हेतु एक विस्तारपूर्वक अध्ययन]

विजयेन्द्रपालसिंह, एम० ए०, एल-एल० बी०,
अर्थशास्त्र विभाग, बी० आर० कॉलेज, आगरा ।

एवं

एस० एम० शुक्ल, एम० ए०, एम० कॉम०, एल-एल० बी०
वाणिज्य विभाग, डी० ए० वी० कॉलेज, कानपुर ।

पाँचवां संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण

आगरा
नवयुग साहित्य सदन,
उच्च कोटि के शिक्षा सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशक
मूल्य : ८।।।) या ८ रुपये ७५ नये पैसे

प्रथम संस्करण—जुलाई १९५४
दूसरा संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—जुलाई १९५५
तीसरा संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—जून १९५६
चौथा संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—फरवरी १९५७
पाँचवा संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—जून १९५८

[मूल्य आठ रुपये बारह आने

ार जैन द्वारा, नवयुग साहित्य सदन एवं हिन्द प्रेस, २२७६
लोह मण्डी, आगरा से, प्रकाशित व मुद्रित।

पुस्तक का पाँचवां संस्करण पाठकों के सामने है। हमारे लिए यह बड़ा ही हर्ष का विषय है कि हम इस पुस्तक द्वारा विद्यार्थी वर्ग की कुछ सेवा कर पाये हैं। मुद्रा और बैंकिंग के क्षेत्र में नित्य नये-नये परिवर्तन होते रहते हैं। बहुत सी दिशाओं में पूर्णतया नये प्रयोग भी किये जा रहे हैं। अर्थशास्त्र तथा वाणिज्य के किसी भी विद्यार्थी के लिए इन परिवर्तनों और प्रयोगों का समझना बहुत ही जरूरी है, मुख्यतया वर्तमान प्रगतिशील युग में, जबकि संसार के आर्थिक और राजनैतिक कलेवर में बराबर परिवर्तन हो रहे हैं। भारत में आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत देश की मौद्रिक और वित्तीय संस्थाओं का योजना के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए उपयोग किया जा रहा है। परिणाम यह है कि वित्तीय समायोजन के इस काल में मौद्रिक इतिहास की नई पृष्ठ भूमि तैयार हो रही है। सभी बातों को ध्यान में रखकर पुस्तक में जगह-जगह पर संशोधन आवश्यक हो गये हैं और ऐसे संशोधनों को दर्शाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया है।

पुस्तक के सुधार के सम्बन्ध में अनेक सुझाव प्राप्त हुए हैं। उन सभी महानुभावों के हम बहुत आभारी हैं जिन्होंने हमें सुझाव दिये हैं। प्रो० विश्वनाथ हुक्कू, जोधपुर के प्रति हमारी कृतज्ञता बहुत ही अधिक है। उनके सुझाव एक दम मौलिक और रचनात्मक रहे हैं।

पुस्तक के विषय-क्रम में कोई मूल भेद नहीं किया गया है, परन्तु यथास्थान कुछ नये आँकड़े जोड़ दिये गये हैं। हमें पूरा विश्वास है कि यह पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी और रुचिकर सिद्ध होगी।

आगरा १ जून १९५८।

आरम्भिक अवस्था में मनुष्य का जीवन बड़ा सरल था। इसकी आवश्यकताएँ सीमित थीं, जिन्हें वह साधारणतया अपने ही प्रयत्न द्वारा पूरी कर लेता था। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए आर्थिक स्वावलम्बता थी और उसे दूसरों के परिश्रम पर निर्भर रहने की आवश्यकता न थी, परन्तु आर्थिक जीवन की यह प्रारम्भिक अवस्था बहुत दिनों चली न रह सकी। आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन ने इसे भंग कर दिया। मनुष्य ने ऐसा अनुभव किया कि अपनी उत्पादित वस्तुओं को दूसरों की उत्पादित वस्तुओं से बदल कर वह अपनी अधिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकता था और इस कार्य में सरलता भी अधिक थी। जैसे-जैसे सामाजिक जीवन उन्नति करता गया, विनिमय का कार्य और भी अधिक लाभदायक होता गया और धीरे-धीरे विनिमय ने मानव जीवन तथा मानव समाज में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। मुद्रा के आविष्कार का इतिहास वास्तव में विनिमय के विकास से सम्बन्धित है और आधुनिक युग में इसके इतने अधिक उपयोग का मूल कारण भी विनिमय की अत्यधिक लोकप्रियता ही है।

मुद्रा के विषय में ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने से पहिले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि थोड़ा सा उसके आविष्कार तथा विकास के इतिहास के विषय में भी जान लिया जाय। यह कहना तो कठिन होगा कि मानव जीवन के इतिहास में मुद्रा का आविष्कार किस समय हुआ, क्योंकि बहुत पुराने काल से ही संसार में मुद्रा का उपयोग होता चला आया है। कहा जाता है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। मुद्रा का आविष्कार भी निस्सन्देह उसी समय हुआ होगा जबकि इसकी आवश्यकता अनुभव हुई होगी। जैसे-जैसे विनिमय का कार्य अधिक बढ़ा, उसमें जटिलता आती गई और इस कठिनाई को दूर करने के लिए मुद्रा का आविष्कार किया गया। विनिमय दो प्रकार का होता है, अर्थात् प्रत्यक्ष विनिमय अथवा वस्तु विनिमय (Direct Exchange or Barter) तथा परोक्ष विनिमय

अथवा मुद्रा-विनिमय (Indirect Exchange or Money Exchange)।

वस्तु-विनिमय में विनिमय का कार्य सरल होता है। एक वस्तु अथवा एक सेवा के बदले में दूसरी वस्तु प्राप्त कर ली जाती है। यदि एक व्यक्ति के पास गेहूँ है और उसे कपड़े की आवश्यकता है तो वह दूसरे व्यक्ति से, जिसके पास कपड़ा फालतू है और जिसे गेहूँ की जरूरत है, गेहूँ के बदले में कपड़ा ले सकता है। विनिमय का यह कार्य इस कारण सरल तथा प्रत्यक्ष होता है कि दो व्यक्ति अपनी फालतू वस्तुओं की आपस में अदला बदली करके विनिमय के कार्य को सम्पन्न करते हैं। शुरु-शुरु में इसी प्रकार का विनिमय प्रचलित था, परन्तु कालान्तर में जैसे-जैसे विनिमय का महत्त्व बढ़ता गया और मनुष्य की आर्थिक स्वावलम्बता घटती गई, वस्तु विनिमय में कुछ कठिनाइयाँ अनुभव होने लगीं। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए ही मुद्रा का आविष्कार हुआ और धीरे-धीरे वस्तु विनिमय का स्थान मुद्रा-विनिमय ने ले लिया। आधुनिक काल में भी वस्तु-विनिमय कभी कभी दिखाई पड़ता है, परन्तु इसका चलन बहुत सीमित है और यह साधारण तया पिछड़े हुए देशों तथा जातियों में ही पाया जाता है।

मुद्रा-विनिमय में एक माध्यम (Medium) की आवश्यकता पड़ती है। विनिमय का कार्य परोक्ष होता है, यदि गेहूँ के बदले में कपड़ा प्राप्त करना है तो पहले गेहूँ को मुद्रा में बदला जायगा और फिर इस मुद्रा के बदलें में कपड़ा लिया जायगा। इस प्रकार विनिमय का कार्य दो भागों में बँट जाता है:—प्रथम, वस्तु अथवा सेवा के बदले मुद्रा प्राप्त करना और दूसरे, मुद्रा के बदले में कोई अन्य वस्तु अथवा सेवा प्राप्त करना। विशेषता यह है कि इन दोनों विनिमय कार्यों में से प्रत्येक में मुद्रा का उपयोग किया जाता है और इस प्रकार परोक्ष रीति से विनिमय किया जाता है। वस्तु-विनिमय तथा मुद्रा-विनिमय दोनों में उद्देश्य अथवा ध्येय में कोई भी अन्तर नहीं होता। अन्तर केवल विनिमय करने की रीति का होता है। मुद्रा-विनिमय वस्तु-विनिमय की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक होता है और यही कारण है कि धीरे-धीरे इसका चलन बराबर बढ़ता गया है।

वस्तु-विनिमय की असुविधाएँ—

यह तो हम पहिले ही देख चुके हैं कि वस्तु-विनिमय के बदले मुद्रा-विनिमय अधिक सुविधाजनक होता है। अब हमें यह देखना है कि वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ कौन-कौन सी हैं। प्रमुख असुविधाएँ निम्न प्रकार हैं:—

सबसे पहिले इस बात पर निर्भर है कि ऐसे दो व्यक्ति मिल जायँ जिनमें से प्रत्येक के पास ठीक वही वस्तु फालतू हो जिसकी दूसरे को आवश्यकता है। यदि एक व्यक्ति गेहूँ को कपड़े में बदलना चाहता है तो वह विनिमय तभी कर सकेगा जबकि उसे कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा मिल जाय जिसके पास बदलने के लिए केवल कपड़ा ही फालतू न हो, बल्कि जिसे साथ ही साथ गेहूँ की भी आवश्यकता हो। वास्तविक जीवन में ऐसा केवल संयोग से ही हो सकता है। शुरू-शुरू में, जबकि मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी सी थीं और केवल कुछ ही वस्तुओं का उत्पादन करके पूरी हो सकती थीं, ऐसा बहुधा सम्भव हो जाता होगा, परन्तु जैसे-जैसे आवश्यकताओं और उनके पूरा करने वाली वस्तुओं की संख्या बढ़ती गई, इसमें निरन्तर अधिक कठिनाई महसूस होने लगी। जिस व्यक्ति के पास गेहूँ है उसके लिए यदि यह सम्भव भी हो जाता है कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को खोज निकाले जिसके पास बदलने के लिए कपड़ा है तो यह आवश्यक नहीं है कि उस दूसरे व्यक्ति को गेहूँ की भी आवश्यकता हो। ऐसी दशा में विनिमय में भारी कठिनाई होगी। मुद्रा के उपयोग द्वारा यह कठिनाई बिलकुल दूर हो जाती है, क्योंकि मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जिसकी आवश्यकता सभी को होती है और इसलिए उसे दूसरी किसी भी वस्तु में आसानी से बदला जा सकता है।

(२) **मूल्य के एक सामूहिक सूचक का अभाव** (Lack of a Common Denominator of Value)—वस्तु-विनिमय की दूसरी कठिनाई वस्तुओं की अदल बदल का पारस्परिक अनुपात निश्चित करने के सम्बन्ध में है। एक मन गेहूं के बदले में कितने गज कपड़ा दिया जाय अथवा कितने सेर चीनी ली जाय, यह जान लेना वस्तु-विनिमय की सफलता के लिए बहुत जरूरी है। गेहूँ बेचने वाले तथा कपड़ा बेचने वाले दोनों ही व्यक्तियों को गेहूँ और कपड़े की विनिमय दर का पता होना चाहिए, नहीं तो वे विनिमय करने में संकोच करेंगे। जरूरत केवल इतनी ही नहीं है कि दोनों व्यक्ति गेहूं और कपड़े की विनिमय दर को जान लें। [illegible] यह है कि एक व्यक्ति को बीसों-पचासों वस्तुओं की विनिमय दरें याद रखनी पड़ती हैं। एक व्यक्ति विनिमय द्वारा एक वस्तु प्राप्त करके ही अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकता है। उसे अनेक वस्तुओं के लिए विनिमय पर निर्भर रहना पड़ता है और इसलिए अनेक वस्तुओं की विनिमय दर जानने और याद रखने की आवश्यकता पड़ती है। [illegible] समाज में तो यह कठिनाई और भी अधिक हो जाती है। यह कठिनाई भी मुद्रा के उपयोग से दूर हो जाती है। मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जिसमें सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत आँकी जा सकती है। [illegible] में

कितना गेहूँ मिलेगा अथवा कितने गज कपड़ा मिलेगा, यह आसानी के साथ याद रखा जा सकता है और इतना जानने के बाद गेहूँ और कपड़े के आपसी विनिमय अनुपात को जान लेना कठिन नहीं होता है। इस प्रकार मुद्रा वस्तुओं और सेवाओं के सामूहिक मूल्य सूचक का कार्य करती है।

(३) वस्तुओं की विभाजकता का अभाव (Lack of Divisibility of Commodities)—कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं कि जिनको टुकड़ों में बाँट देने से उनके मूल्य का अधिकांश भाग नष्ट हो जाता है। उदाहरण-स्वरूप, एक घोड़े और एक मोटर कार को लीजिए। घोड़े को काट कर उसके माँस, हड्डी आदि के रूप में जो मूल्य प्राप्त होता है वह घोड़े के मूल्य से बहुत कम होता है। इसी प्रकार कार को तोड़कर बेचने पर बहुत ही कम क़ीमत वसूल होती है। यदि किसी व्यक्ति के पास इस प्रकार की कोई वस्तु है और उसे विनिमय द्वारा अन्य कई वस्तुएँ प्राप्त करने की आवश्यकता है तो उसे वस्तु-विनिमय में भारी कठिनाई होगी। ऐसे किसी व्यक्ति का मिल जाना तो बहुत कठिन होगा कि जिसे घोड़े अथवा कार की आवश्यकता हो और साथ ही साथ उसके पास विनिमय हेतु वे सभी वस्तुएँ मौजूद हों जिनकी घोड़े अथवा कार के स्वामी को जरूरत है। साथ ही, घोड़े अथवा कार के टुकड़े करके वस्तुएँ प्राप्त करने में हानि होती है, इसलिए विनिमय बहुत असुविधाजनक हो जाता है। यह कठिनाई भी मुद्रा के उपयोग से दूर हो जाती है। घोड़े अथवा कार की क़ीमत मुद्रा में आँकी जा सकती है और क्योंकि मुद्रा में विभाजकता का गुण होता है, इसलिये उसके बदले में अन्य वस्तुएँ आसानी के साथ प्राप्त की जा सकती हैं।

(४) क्रयः शक्ति के संचय का अभाव (Lack of Store of Purchasing Power)—वस्तु-विनिमय की प्रथा के समय क्रयःशक्ति का संचय वस्तुओं में होता था और वस्तुयें नष्ट होने वाली होती हैं, अतः क्रयःशक्ति का संचय बहुत समय के लिये नहीं किया जा सकता था और बिना क्रयः शक्ति के संचय के देश की उन्नति नहीं हो सकती। यही कारण है कि वस्तु-विनिमय के समय में देश इतनी उन्नति पर न थे जितनी उन्नति पर आजकल हैं, जबकि मुद्रा का उपयोग होता है।

(५) मूल्य के हस्तान्तरण का अभाव (Lack of Transfer of Value)—प्राचीन काल में, जबकि वस्तु-विनिमय की प्रथा प्रचलित थी, मूल्य अथवा क्रयःशक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरित करना असम्भव सा ही था, जैसे—यदि एक मनुष्य का मकान कानपुर में था और वह उसे छोड़कर लखनऊ जाना चाहता था, तो वह अपने

कानपुर वाले मकान को लखनऊ नहीं ले जा सकता था। मूल्य के हस्तान्तरण के अभाव के कारण सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति में काफी बाधा पड़ी। आजकल कानपुर के मकान को बेचकर मुद्रा प्राप्त की जा सकती है और इस मुद्रा को लखनऊ ले जाकर आसानी से मकान बनवाया या क्रय किया जा सकता है।

(६) स्थगित देय मान का अभाव (Lack of a Standard Deferred Payment)—बहुत से ऐसे लेन-देन होते हैं जिनका तुरन्त ही भुगतान नहीं किया जाता है, बल्कि भविष्य के लिये स्थगित कर दिया जाता है। वस्तु-विनिमय के समय में वस्तुयें स्थगित भुगतानों के करने के लिये उपयुक्त नहीं होती थीं, क्योंकि वस्तुओं की कीमत में स्थिरता नहीं होती थी, उनमें सामान्य स्वीकृत व टिकाऊपन भी अधिक नहीं होता था।

उपरोक्त कठिनाइयों को देखने से पता चलता है कि वस्तु-विनिमय की सफलता अधिक से अधिक एक अविकसित समाज में ही सम्भव है, जहाँ आवश्यकता पूर्ति की वस्तुयें गिनी-चुनी हों। प्रारम्भिक अवस्था में ऐसा ही था। पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था (Backward Economies) में अभी तक भी ऐसी स्थिति कुछ अंश तक बनी हुई है, परन्तु आज का संसार बहुत आगे बढ़ चुका है। श्रम विभाजन अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका है। मनुष्य की आवश्यकताओं की संख्या बहुत बढ़ गई है। यही कारण है कि कालान्तर में धीरे-धीरे वस्तु-विनिमय प्रणाली समाप्त होती गई है और आधुनिक युग पूर्ण रूप में मुद्रा उपयोगी युग बन गया है।

फिर भी वस्तु-विनिमय प्रणाली संसार से लुप्त नहीं हो गई है। प्रत्येक वस्तु में दोषों के साथ-साथ गुण भी होते हैं। पिछड़े हुए देशों और जातियों के अतिरिक्त सभ्य समाजों तथा अत्यधिक विकसित अर्थ-व्यवस्था में भी वस्तु विनिमय प्रणाली एक अंश तक अभी तक भी मौजूद है। वस्तु-विनिमय प्रणाली के इस प्रकार जीवित रहने का मुख्य कारण इस प्रणाली की सरलता है। यदि अनुकूल दशायें उपलब्ध हों तो व्यावहारिक जीवन में इससे विशेष सुविधा रहती है, क्योंकि एक व्यक्ति को आवश्यक वस्तु प्रत्यक्ष रीति से प्राप्त हो जाती है। कृषि उद्योग में मजदूरी चुकाने के लिए अभी भी इस प्रणाली का काफी चलन है। विदेशी व्यापार में भी इसका उपयोग किया जाता है। मुद्रा के मूल्य की अनिश्चितता भी इस प्रणाली को बनाये रखने में सहायक रही है। आधुनिक युग में तो इस प्रकार की अनिश्चितता बहुत काफी बढ़ गई है।

मुद्रा का प्रारम्भ—

मुद्रा का आविष्कार कब और कैसे हुआ, इस बात का निर्णय कठिन

है। अस्मरणीयकाल से ही संसार में इसका उपयोग होता चला आया है। ऐसा ज्ञात होता है कि विभिन्न देशों तथा विभिन्न जातियों ने एक दूसरे से पूर्णतया स्वतन्त्र रूप में मुद्रा का आविष्कार कर लिया था, क्योंकि ऐसे विभिन्न क्षेत्रों में, जिनका एक दूसरे से किसी भी प्रकार का सम्पर्क सम्भव नहीं हो सकता था, मुद्रा का उपयोग पाया जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि जैसे-जैसे विनिमय की आवश्यकता और कठिनाई बढ़ती गई, मुद्रा की खोज आरम्भ हो गई। अति प्राचीन भारत में [illegible] के युग में गाय को मुद्रा के रूप में उपयोग किया जाता था। अफ्रीका की जङ्गली जातियाँ अभी तक बकरी को मुद्रा के रूप में उपयोग करती हैं। इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग समय पर विभिन्न वस्तुओं को इस रूप में उपयोग किया गया था। कौड़ियाँ, मूँगे, मोती, कुछ वृक्षों के सूखे हुये फल, भूमि के टुकड़े आदि अनेक वस्तुओं से मुद्रा का काम लिया गया है। धीरे-धीरे जैसे-जैसे मनुष्य का ज्ञान तथा उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती गईं तो अधिक अच्छी वस्तुओं को मुद्रा के रूप में उपयोग किया गया। गाय, बकरी और कौड़ियों का स्थान धातु के सिक्कों ने ले लिया और जैसे-जैसे सभ्यता का और अधिक विकास होता गया, सिक्कों के स्थान पर पत्र-मुद्रा का चलन बढ़ता गया। आधुनिक संसार में सबसे अधिक चलन पत्र-मुद्रा का ही है।

धातु के सिक्कों का आविष्कार सबसे पहले किस देश में हुआ, इस सम्बन्ध में खोज की गई है। ऐसा पता चलता है कि सबसे पहिले मिश्र तथा लीडिया (Lydia) में सिक्कों का उपयोग हुआ था। विद्वानों का मत है कि लीडिया में इनका उपयोग सबसे अधिक पुराना है। निश्चय ही जिन देशों ने धातुओं का पता पहले लगा लिया था, उन्होंने सिक्कों का उपयोग भी पहले आरम्भ कर दिया था। अन्य रूपों में तो मुद्रा का उपयोग और भी बहुत पहले से होता आ रहा था।

मुद्रा के आविष्कार के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधाराएँ हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि मुद्रा की किसी ने खोज नहीं की है, वह मनुष्य को स्वयं ही मिल गई। मुद्रा-उत्पत्ति के इस सिद्धान्त को हम मुद्रा का आकस्मिक जन्म सिद्धान्त (Theory of Spontaneous Growth) कह सकते हैं। स्पालडिंग (Spalding) इसी सिद्धान्त के पक्षपाती हैं और उनके विचार में यह सिद्धान्त ऐतिहासिक अनुभव से भी सिद्ध होता है। जैसे-जैसे विनिमय का चलन बढ़ता गया, सभी जातियों ने कोई न कोई विनिमय माध्यम उपयोग करना शुरू कर दिया। जो भी वस्तु उपयुक्त मालूम हुई, धीरे-धीरे वही विनिमय माध्यम बनती गई और जैसे-जैसे एक वस्तु दूसरी की अपेक्षा अधिक उपयुक्त जान पड़ी, उसने पुरानी [illegible] का

स्थान प्राप्त कर लिया। इससे सिद्ध होता है कि मुद्रा स्वयं मनुष्य के सम्मुख उपस्थित हुई, मनुष्य को उसे खोज करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

दूसरी विचारधारा इस प्रकार है कि मुद्रा का आविष्कार वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों को दूर करने के लिए किया गया था। आरम्भ में सबसे बड़ी कठिनाई विनिमय के लिए विभिन्न वस्तुओं का मूल्य आँकने की थी, विनिमय के माध्य की आवश्यकता बाद को अनुभव हुई। यही कारण है कि आरम्भ में ही मूल्य के एक सामूहिक मापक की खोज की गई और इसके लिए मुद्रा का आविष्कार किया गया। गाय अथवा बकरी का उपयोग मूल्य के मापक के रूप में ही किया गया। प्रत्येक वस्तु की कीमत गाय अथवा बकरी की एक निश्चित संख्या में आँकी जाती थी। शुरू में इसी उद्देश्य से मुद्रा का उपयोग किया गया, यद्यपि धीरे-धीरे मुद्रा के अन्य कार्यों का महत्त्व भी बढ़ता गया।

उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों के पक्ष और विपक्ष में काफी कहा जा सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में वाद-विवाद से कोई व्यावहारिक लाभ नहीं निकलता है। हमारे लिए तो इतना ही जान लेना काफी है कि किसी न किसी भांति मुद्रा का उपयोग आरम्भ हुआ और कालान्तर में यह मानव समाज तथा अर्थ-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गई। गाय और बकरी मुद्रा के रूप में अच्छी वस्तुएँ न थीं, क्योंकि उनमें मूल्य स्थिरता तथा टिकाऊपन के गुण न थे। मवेशियों की बीमारी के काल में एक व्यक्ति का मुद्रा-संचय अकस्मात् ही बहुत घट सकता था और प्रजनन के काल में वह काफी बढ़ सकता था। इसके अतिरिक्त सभी गायें अथवा सभी बकरियाँ स्वास्थ्य और आयु के दृष्टिकोण से समान नहीं होती हैं, इसलिए मान (Standard) के निर्धारण में कठिनाई होती है। संचय करने से भी गाय तथा बकरी की कीमत घटने लगती है। यही कारण है कि इन वस्तुओं को मुद्रा के रूप में उपयोग करने का चलन धीरे-धीरे कम होता गया और इनके स्थान पर कौड़ियाँ आदि वस्तुयें, जिनमें इस प्रकार के दोष नहीं हैं, मुद्रा के रूप में उपयोग होने लगीं। परन्तु ये वस्तुएँ भी सन्तोषजनक सिद्ध न हो सकीं, क्योंकि इनमें एक ओर तो दुर्लभता का गुण न था और दूसरी ओर बोझ के अनुपात में इनका मूल्य बहुत ही कम था। धातुओं की खोज के बाद इन वस्तुओं का चलन मिटता गया और धातु के टुकड़ों तथा धातु से बने हुए सिक्कों को मुद्रा के रूप में उपयोग किया जाने लगा।

धातु-मुद्रा का उपयोग काफी लम्बे समय से होता आया है और अभी तक भी इसका चलन बहुत काफी है, परन्तु कुछ कारणों से धीरे-धीरे धातु-मुद्रा का भी महत्त्व घटता गया। जैसे-जैसे व्यापार तथा वाणिज्य का

विकास हुआ, मुद्रा की अधिक मात्रा में आवश्यकता पड़ी, परन्तु बहुमूल्य धातुओं की मात्रा सीमित ही थी, इसलिए ऐसी वस्तुओं की खोज आरम्भ हुई जो मुद्रा-कार्य में धातुओं का स्थान ले सकें। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि धातु के सिक्के चलते-चलते घिसते रहते हैं और इस घिटावट के कारण काफी हानि होती है। इस प्रकार धीरे-धीरे पत्र-मुद्रा का आविष्कार हुआ। पत्र-मुद्रा में यद्यपि बहुमूल्य होने का गुण तो नहीं होता है, परन्तु बोझ में हलकी होने तथा उसमें घिसावट द्वारा हानि न होने के कारण वह काफी अच्छी होती है। शक्तिशाली तथा विश्वसनीय राज्यों की स्थापना और बैंकों के विकास ने भी पत्र-मुद्रा का चलन और भी बढ़ा दिया है। बहुमूल्य धातुओं की कमी के कारण संसार के सभी देशों ने इसे अपना लिया है। आज के संसार में पत्र-मुद्रा ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है। अब तो देशों ने मुद्रा के उपयोग में इतनी अधिक प्रगति की है कि पत्र-मुद्रा के स्थान पर चैक, विनिमय बिल आदि साख मुद्रा का भी उपयोग होने लगा है। इन सब का विस्तृत वर्णन अगले अध्यायों में किया जायगा।

अध्याय २

मुद्रा की परिभाषा, कार्य और महत्व

(The Definition, Functions & Importance of Money)

परिभाषा की कठिनाई—

किसी बात को परिभाषा की सीमा निश्चित में बांधना यद्यपि एक कठिन कार्य है तथापि परिभाषा की आवश्यकता तो होती ही है। सबसे पहिला सवाल यही पैदा होता है कि परिभाषा की परिभाषा क्या है। परिभाषा किसे कहते हैं तथा उसकी क्यों आवश्यकता होती है? परिभाषा किसी वस्तु का वह वर्णन है जिसको समझकर प्रत्येक व्यक्ति उस वस्तु को सरलतापूर्वक पहिचान सकता है, अर्थात् जिस वर्णन द्वारा कोई वस्तु बिना किसी प्रकार की कठिनाई के पहिचानी जा सके, उस वस्तु की परिभाषा है। साधारणतया किसी वस्तु का जो सामान्य वर्णन किया जाता है वह एक सी ही कई वस्तुओं पर लागू हो सकता है, परन्तु परिभाषा का मुख्य गुण [illegible]

है कि वह केवल वस्तु विशेष के ही सम्बन्ध में सही होती है। परिभाषा में दो गुणों का होना आवश्यक है। प्रथम, इसमें वस्तु विशेष के सभी गुण आ जाने चाहिए और दूसरे, यह ऐसी होनी चाहिए कि अन्य कोई वस्तु उसके क्षेत्र में न समा सके।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार एक सुन्दर एवं सफल परिभाषा में दो गुणों का होना परमावश्यक है—(१) उसके द्वारा यह स्पष्टतया विदित हो जाना चाहिए कि परिभाषित वस्तु किस वर्ग के अन्तर्गत आती है तथा (२) वह कौन सा विशेष लक्षण है जिसके आधार पर उस वस्तु को उसी वर्ग की अन्य सजातीय वस्तुओं में से अलग करके आसानी से पहिचाना जा सकता है।

स्मरण रहे कि एक वर्ग में बहुत सी वस्तुएँ सम्मिलित हो सकती हैं। इन वस्तुओं में एक वर्ग के सदस्य होने के नाते बहुत सी समानातायें होंगी, परन्तु एक वर्ग की प्रत्येक वस्तु में कुछ ऐसी भिन्नताएँ भी अवश्य होती हैं जो वस्तु को उस वर्ग की दूसरी वस्तुओं से पृथक कर देती हैं। परिभाषा में इस प्रकार की भिन्नताओं का उल्लेख कर देना आवश्यक होता है। एक छोटे से उदाहरण से स्थिति स्पष्ट हो जायगी। तर्कशास्त्र में मनुष्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है:—'मनुष्य एक विवेकशील जानवर है।' ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि इस परिभाषा में जानवर मनुष्य का वर्ग है, क्योंकि मनुष्य भी एक प्रकार का जानवर ही है, परन्तु विवेकशील होना मनुष्य का विशेष गुण है। अन्य कोई भी जानवर इस गुण से परिपूर्ण नहीं है। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य जानवरों में समझने तथा याद रखने की शक्ति तो होती है, परन्तु उनमें विवेकशीलता (Rationality) नहीं होती है। इस प्रकार की परिभाषा सही इसलिए है कि सभी मनुष्य इस परिभाषा के क्षेत्र में आ जाते हैं, परन्तु मनुष्य के अतिरिक्त अन्य कोई जानवर अथवा वस्तु इस क्षेत्र में नहीं आ सकती है।

अधिकांश परिभाषाओं में यह कठिनाई अनुभव होती है कि सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टिकोण से वे समान रूप में सही नहीं होती हैं। उदाहरण के लिए, रेखागणित शास्त्र में एक सरल रेखा की परिभाषा इस प्रकार की जाती है :—"सरल रेखा दो दिए हुये बिन्दुओं के बीच का न्यूनतम् अन्तर होती है।" सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इस परिभाषा के विरुद्ध कुछ भी कहना सम्भव नहीं है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में जिस रेखा को हम सरल रेखा कहते हैं वह सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से पूर्णतया ऐसी नहीं होती है। वह अधिक से अधिक लगभग सरल रेखा होती है। व्यावहार में उससे काम तो चल जायगा, परन्तु वह तर्कशास्त्री को सन्तुष्ट करने के लिए काफी नहीं होती है। साधारण उपयोग की लगभग सभी वस्तुओं की

दूसरे वर्ग में मुद्रा की उन सब परिभाषाओं को शामिल किया जाता है जो मुद्रा के राज्य सिद्धान्त (State Theory of Money) पर आधारित हैं। इस वर्ग की परिभाषाओं को हम वैधानिक परिभाषाएँ* (Legal Definitions) कह सकते हैं। मुद्रा के राज्य सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक सम्बन्धों में सबसे आवश्यक चीज ऋण है, अतएव मुद्रा वही वस्तु हो सकती है जो राज्य की ओर से ऋण चुकाने का साधन घोषित कर दी जाती है और यही कारण है कि विधान में मुद्रा का उल्लेख केवल ऋण के ही सम्बन्ध में किया जाता है। जर्मन अर्थशास्त्री नैप (Knapp) तथा ब्रिटिश अर्थशास्त्री हॉटरे (Hawtrey) मुद्रा की परिभाषा इसी दृष्टिकोण से करते हैं। नैप के अनुसार कोई भी वस्तु जो राज्य द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाती है, मुद्रा हो जाती है। नैप ने मुद्रा के सम्बन्ध में वैधानिक दृष्टिकोण अपनाया है और मुद्रा के चालू रूप पर अधिक ध्यान दिया है। सभी जानते हैं कि आधुनिक जगत में मुद्रा का उत्पादन सरकार के हाथ में होता है और कुछ वस्तुएँ सरकार की ओर से मुद्रा घोषित कर दी जाती हैं। ये सभी वस्तुएँ मुद्रा के रूप में चालू रहती हैं। इनका स्वीकार करना कानून द्वारा अनिवार्य कर दिया जाता है। जो व्यक्ति इनके रूप में भुगतान लेने से इन्कार करता है उसे राज्य दण्ड देता है। यही कारण है कि बहुत सी ऐसी वस्तुएँ भी मुद्रा के रूप में चालू हो जाती हैं जिन्हें यदि सरकार मुद्रा घोषित न करती तो कोई भी स्वीकार न करता। उदाहरण के लिए, एक सौ रुपये के नोट की वैसे तो कुछ भी क़ीमत नहीं हो सकती है; परन्तु सरकार द्वारा मुद्रा घोषित हो जाने के कारण उसकी कीमत इतनी अधिक हो जाती है। जब सरकार कागज के नोटों का विमुद्रीकरण कर देती है, अर्थात् जब इनके पीछे से वैधानिक दबाव हटा लिया जाता है तो उन्हें कोई भी मुद्रा के रूप में स्वीकार नहीं करता है। इन बातों से पता चलता है कि मुद्रा के भीतर सामान्य स्वीकृति का जो गुण है वह राज्य द्वारा ही उत्पन्न किया गया है।

वैधानिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त व्यवहार में भी यह परिभाषा सही प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में परिभाषा इतनी सही नहीं है। हॉटरे इसी परिभाषा के पक्षपाती थे, परन्तु बाद को कुछ कमियाँ देखकर उन्होंने परिभाषा में आवश्यक परिवर्तन करने की कोशिश की है। ऊपर से देखने में तो यही पता चलता है कि वास्तविक संसार में नैप का दृष्टिकोण ही सही है, परन्तु स्वयं नैप के देश जर्मनी में असाधारण परिस्थितियों के काल में इस परिभाषा की कमजोरी प्रकट हो गई थी। प्रथम महायुद्ध के

* See the English Translation of Knapp by Lucas and Bonar: *The State Theory of Money*, 1924.

पश्चात् जर्मनी में भीषण मुद्रा-प्रसार फैल गया था। कारण यह था कि युद्ध काल में जर्मन सरकार ने पत्र-मुद्रा की अत्यधिक निकासी द्वारा आय प्राप्त की थी। पत्र-मुद्रा इतनी अधिक हो गई थी और कीमतें इतनी तेजी से बढ़ रही थीं कि मुद्रा पर से जनता का विश्वास उठ गया था। परिणाम यह हुआ कि लोगों ने कागज के नोटों को स्वीकार करना बन्द कर दिया। हजारों नोटों के बदले में भी एक जून भोजन प्राप्त करना कठिन हो गया था और सभी विनिमय कार्य वस्तु-विनिमय द्वारा होने लगे थे। जर्मन सरकार ने कड़े नियमों द्वारा मुद्रा की स्वीकृति को बनाये रखने का प्रयत्न किया। उसे स्वीकार न करने वाले के लिए मृत्यु दण्ड रखा गया, परन्तु फिर भी मुद्रा पर विश्वास न जम सका। अन्त में, जर्मन सरकार को यह घोषणा करने पर बाध्य होना पड़ा कि सरकार पत्र-मुद्रा को भूमि के टुकड़ों में बदलने की गारन्टी देती है। इसके पश्चात् धीरे-धीरे मुद्रा में विश्वास पुनः स्थापित हुआ। इस उदाहरण से पता चलता है कि राज्य की सारी शक्ति मुद्रा के पीछे होते हुये भी राज्य द्वारा घोषित मुद्रा चालू न रह सकी। इससे यही नतीजा निकलता है कि मुद्रा की स्वीकृति यथार्थ में राज्य की घोषणा अथवा उसकी शक्ति पर निर्भर नहीं होती है, वरन् जनता के विश्वास पर निर्भर होती है। उसी समय तक सरकार द्वारा घोषित वस्तु मुद्रा के रूप में चल सकती है जब तक कि उस पर जनता का विश्वास है। विश्वास के उठते ही उसका चलन रुक जाता है। वास्तविकता यह है कि इसी विश्वास को बनाये रखने के लिये पत्र-मुद्रा के पीछे अकसर किसी न किसी प्रकार की बहुमूल्य धातु की आड़ रखी जाती है।

नैप की परिभाषा का एक दोष और भी है। अर्थशास्त्र में केवल ऐसे हस्तान्तरण कार्य को विनिमय कहा जाता है जो ऐच्छिक तथा स्वतन्त्र हो, परन्तु यदि मुद्रा की स्वीकृति राज्य द्वारा अनिवार्य कर दी जाती है तो इससे विनिमय कार्य की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और ऐसा हस्तान्तरण कार्य सच्चे अर्थ में विनिमय नहीं रह पाता है। नैप ने अपनी परिभाषा इतिहास के आधार पर बनाई है और उसकी नियमितता पर अधिक ध्यान दिया है, परन्तु उसकी परिभाषा तर्क की कसौटी पर सही नहीं उतरती है। हॉटरे ने अपनी परिभाषा में इस प्रकार परिवर्तन किया है कि मुद्रा के दो पहलू हैं:—प्रथम, यह लेखे की इकाई है और दूसरे यह विधि ग्राह्य (Legal Tender) है। इस प्रकार उन्होंने नैप के दृष्टिकोण के साथ-साथ मुद्रा द्वारा क्रयः शक्ति के रूप में किये जाने वाले कार्य को भी सम्मिलित कर लिया है।

तीसरे वर्ग में वे परिभाषाएँ सम्मिलित हैं जो मुद्रा की सामान्य स्वीकृति (General Acceptability) पर आधारित हैं। इस वर्ग की

परिभाषाओं में भी परस्पर काफी अन्तर है और दो प्रकार की परिभाषा दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ विद्वानों ने तो मुद्रा को संकुचित अर्थ में उपयोग किया है और कुछ ने उसके विस्तृत अर्थ लगाये हैं। इस वर्ग की प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं :—

वाकर के अनुसार :—"मुद्रा वह है जो वस्तुएँ खरीदने के भोगान में तथा ऋणों का अन्तिम भुगतान करने में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरित होती रहती है। इसकी स्वीकृति चुकाने वाले व्यक्ति के चरित्र अथवा उसकी साख का पता लगाये बिना ही होती है और जो व्यक्ति इसे प्राप्त करता है उसका ऐसा इरादा नहीं होता है कि इसका स्वयं उपभोग अथवा उपयोग करे, बल्कि वह किसी न किसी समय उसे विनिमय द्वारा हस्तान्तरित कर देता है।"[1]

मार्शल के अनुसार :—"मुद्रा में वे सब वस्तुयें शामिल होती हैं जो (किसी समय विशेष अथवा स्थान विशेष में) बिना सन्देह अथवा विशेष जाँच के वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने तथा खर्चों को चुकाने के साधन के रूप में साधारणतया चालू होती हैं।"[2]

रॉबर्टसन ने मुद्रा की परिभाषा इस प्रकार की है :—"मुद्रा वह वस्तु है, जो किसी ऐसे वस्तु को सूचित करती है, जिसको वस्तुओं की कीमत चुकाने तथा अन्य प्रकार के व्यावसायिक दायित्वों को निपटाने के लिए विस्तृत रूप में स्वीकार किया जाता है।"[3]

सैलिगमैन के अनुसार :—"मुद्रा वह वस्तु है जिसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।"[4]

कोल के विचार में —"मुद्रा केवल क्रयशक्ति है—कोई ऐसा वस्तु जिससे अन्य वस्तुयें खरीदी जा सकती हैं। यह ऐसी वस्तु है जो साधारण-

---

1. "Money is that which passes freely from hand to hand in full payment of goods, in final discharge of indebtedness, being accepted equally without reference to the character or credit of the person tendering it, and without any intention on the part of the person receiving it himself to consume or otherwise use it than by passing it on, sooner or later, in exchange."

2. "Money includes all those things which are (at any given time or place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities or services and of defraying expenses."—*See* Marshall : *Money, Credit and Commerce, p. 13.*

3. "A commodity which is used to denote anything which is widely accepted in payment of goods, or in discharge of other business obligations." *See* Robertson : *Money, p 2.*

4. "Money is one thing that possesses general acceptability."

तथा तथा विस्तृत रूप में शोधन के साधन के रूप में उपयोग की जाती है और साधारणतया ऋणों के भुगतान में स्वीकार की जाती है।"[1]

प्रो० ऐली का मत है कि "मुद्रा ऐसी कोई भी वस्तु है जिसका विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण होता है और जो ऋणों के अन्तिम भुगतान में सामान्य रूप में स्वीकार की जाती है।"[2]

क्राउथर का कथन है कि :—"यह (मुद्रा) वह चीज है जिसे साधारणतः विनिमय माध्यम मान लिया गया हो, अर्थात् देना-पावना चुकाने का जो साधन हो और साथ ही जो मूल्य की माप और उसके कोष का काम करती हो।"[3]

लार्ड कीन्ज के अनुसार :—"मुद्रा वह है जिसको देकर ऋण के प्रसंविदों (Contracts) तथा मूल्य के प्रसंविदों का भुगतान किया जा सकता है और जिसके रूप में सामान्य क्रय शक्ति का संचय किया जाता है।"[4]

कैन्ट का कथन है कि :—"मुद्रा एक वस्तु है जिसे साधारणतया विनिमय के माध्यम अथवा मूल्य के मान के रूप में सामान्य रूप में स्वीकार किया जाता है।"[5]

वाघ के विचार में :—"मुद्रा में वे वस्तुयें सम्मिलित होती हैं जो किसी एक समाज में सामान्य रूप में स्वीकार की जाती हैं और जिनका विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण होता है........किन्तु कोई ऐसी नहीं होती है जो सभी स्थानों पर स्वीकार की जाती हो और

1. "Money is simply purchasing power—something which buys things—it is anything which is habitually and widely used as a means of payment and is generally acceptable in the settlement of debts."—*See* G. D. H. Cole: *What Everybody Wants to Know About Money, p.* 21.

2. "Anything that passes freely from hand to hand as medium of exchange and is generally received in final discharge of debts."—*See* Ely: *Elementary Principles of Economics.*

3. *See* Geoffry Crowther मुद्रा की रूप रेखा, पृष्ठ २६।

4. "Money is that by the delivery of which debt contracts and price contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held." *See* J. M. Keynes: *A Treatise on Money, vol. I.*

5. "Money is anything which is commonly used and generally accepted as a medium of exchange or as a standard of value." *See* Kent: *Money and Banking p. 3.*

इस अर्थ में मुद्रा सदैव स्थानीय होती है, कुछ स्थानों में यह मुद्रा होती परन्तु अन्य स्थानों में इसे स्वीकार नहीं किया जाता है।"[1]

हॉम के अनुसार:—"मुद्रा शब्द का उपयोग विनिमय माध्यम तै मूल्य मान दोनों ही के लिए किया गया है।"[2]

उपरोक्त सभी परिभाषाओं में भिन्नता होते हुए भी एक प्रकार की समानता है। सभी लेखकों ने सामान्य स्वीकृति को मुद्रा का एक आवश्यक गुण माना है, परन्तु इस सम्बन्ध में कीन्ज़, क्राउथर तथा वाघ की परिभाषायें अधिक उपयुक्त हैं और एक प्रकार इस वर्ग की परिभाषाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन परिभाषाओं से मुद्रा के निम्न गुणों का पता चलता है।

(१) मुद्रा की स्वीकृति स्वतन्त्र तथा ऐच्छिक होनी चाहिए। यदि किसी वस्तु को मुद्रा के रूप में दबाव अथवा भय के कारण स्वीकार करना पड़ता है तो उसे हम मुद्रा नहीं कह सकते हैं। अर्थशास्त्र में तो विनिमय स्वभाव से ही ऐच्छिक तथा स्वतन्त्र होता है। इस कारण मुद्रा का विनिमय के माध्यम के रूप में जो उपयोग होता है वह भी स्वेच्छा से ही होना चाहिए।

(२) मुद्रा की स्वीकृति सामान्य होनी चाहिए, अर्थात् सभी लोग उसे मूल्य तथा ऋणों के चुकाने में स्वीकार करते हों। इस सम्बन्ध में जैसा कि वाघ (Waugh) ने कहा है कि कोई भी वस्तु संसार में ऐसी नहीं है जिसे प्रत्येक स्थान में सर्व स्वीकृति प्राप्त हो। लगभग सभी वस्तुओं की स्वीकृति स्थानीय हुआ करती है। मुख्यतया एक देश की मुद्रा दूसरे देश में स्वीकृत नहीं होती। इसी कारण सामान्य स्वीकृति का संकुचित अर्थ लगाना ही अधिक अच्छा है। मुद्रा के लिए यह आवश्यक है कि क्षेत्र विषय में उसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो, परन्तु क्षेत्र विशेष का काफी बड़ा होना आवश्यक है। यदि दस मित्र मिलकर यह निश्चय कर लेते हैं कि अमुक वस्तु मुद्रा के रूप में उपयोग की जायेगी तो इससे यह वस्तु मुद्रा नहीं हो सकती है। स्वीकृति का क्षेत्र आर्थिक दशाओं को देखते हुए विस्तृत होना चाहिए। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने मुद्रा के साथ सामान्य स्वीकृति के अतिरिक्त विस्तृत स्वीकृति का भी गुण जोड़ा है।

---

1. "Money consists of those things which, within a society, are of general acceptability passing from hand to hand as a medium of exchange ......No commodity is however, acceptable and in this sense money is always local, it is money in some places and in other places it is not acceptable.

2. "The word money has been used to designate the medium of exchange as well as the standard of value". See Halm: *Monetary Theory, p. 3.*

(३) आधुनिक अर्थशास्त्र में मुद्रा विनिमय का माध्यम तथा कीमतों का मान दोनों ही एक साथ मानी जाती है, मुद्रा को केवल विनिमय का माध्यम या केवल कीमतों का मान कहना ठीक नहीं है। हॉटरे (Hawtrey) भी यह मानते हैं कि वैधानिक महत्त्व के अतिरिक्त लेखे की इकाई के रूप में भी मुद्रा का महत्त्व होता है।

(४) उपरोक्त सभी परिभाषाओं में मुद्रा के कार्यों की ओर भी संकेत किया गया है और मुख्यतया मुद्रा के चार कार्यों को विशेष महत्त्व दिया गया है; अर्थात् विनिमय को माध्यम, कीमतों का मान, ऋणों का भुगतान और कीमत का संचय।

(५) तर्कशास्त्र के दृष्टिकोण से भी ये परिभाषायें उपयुक्त हैं, क्योंकि इनमें मुद्रा का वर्ग अर्थात् वस्तु तथा मुद्रा के विशेष गुणों का उल्लेख कर दिया है। प्रत्येक वस्तु मुद्रा नहीं होती है। केवल वही वस्तुएँ मुद्रा हैं जिनमें पूर्व वर्णित कार्य करने के गुण पाये जाते हैं।

उपरोक्त गुणों को देखते हुए हम मुद्रा की सरल परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं:—"**मुद्रा वह वस्तु है जिसे एक विस्तृत क्षेत्र में विनिमय के माध्यम, कीमत के मान, ऋणों के भुगतान तथा कीमतों के संचय के रूप में स्वतन्त्र, विस्तृत तथा सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।**" ऐसी वस्तु की प्रकृति तथा उसका रूप कुछ भी हो सकता है और वास्तविकता यह है कि विभिन्न स्थानों तथा विभिन्न कालों में अलग-अलग वस्तुओं का मुद्रा के रूप में उपयोग हुआ भी है।

शब्दव्युत्पत्ति के अनुसार (Etymologically) अंग्रेजी भाषा का शब्द मनी (Money), जिसके लिए हिन्दी में मुद्रा शब्द है, लैटिन भाषा के शब्द मोनिटा (Moneta) से बना है। मोनिटा देवी जूनो (Goddess Juno) का शुरू का नाम है, जिसके मन्दिर में रोम की मुद्रा का निर्माण किया जाता था। इटली की प्राचीन कथाओं में जूनो स्वर्ग की रानी का नाम है। यही कारण है कि मुद्रा को कुछ लोगों ने स्वर्गीय आनन्द का प्रतीक माना है और इसीलिए शायद इस देवी के मन्दिर में मुद्रा बनाने का काम किया जाता था। लैटिन भाषा में इस समय मुद्रा के लिए जो शब्द पाया जाता है वह पेक्यूनिया (Pecunia) है। यह शब्द पेकस (Pecus) से बना है, जिसका अर्थ पशु सम्पत्ति से होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रोम में भी किसी काल में, भारत की भाँति, पशुओं का मुद्रा के रूप में उपयोग किया जाता रहा होगा और इस कारण मुद्रा तथा पशु सम्पत्ति दोनों का एक ही अर्थ लगाया गया है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, मुद्रा शब्द का उपयोग उसके संकुचित तथा विस्तृत दोनों ही अर्थों में किया गया है। संकुचित अर्थ में

केवल धातु-मुद्रा को ही मुद्रा में सम्मिलित किया गया है। मुद्रा का सम्पूर्ण उद्देश्य सिक्कों द्वारा ही पूरा होता है और इसलिए कुछ विद्वानों ने विनिमय-माध्यम के रूप में उन्हीं को मुद्रा स्वीकार किया है। विस्तृत अर्थ में उन सभी वस्तुओं को मुद्रा में सम्मिलित किया जाता है जो विनिमय-माध्यम के रूप में लिए जाते हैं, चाहे उनमें किसी प्रकार का निहित मूल्य (Intrinsic Value) है या नहीं। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं है कि वस्तु विशेष का मुद्रा के रूप में स्वीकार करना वैधानिक दृष्टिकोण से अनिवार्य हो। इस विचार के अनुसार सोना, चाँदी, ताँबे आदि के सिक्के, कागज के नोट, चैक, हुण्डियाँ, विनिमय बिल (Bills of [illegible]), बैंक नोट (Bank Note), पुस्तकीय साख (Book Credit) आदि सभी मुद्रा होते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री [illegible] इन दोनों विचार-धाराओं के बीच का मार्ग अपनाते हैं। उनके अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि मुद्रा धातु की बनी हुई हो। मुद्रा केवल ऐसी होनी चाहिए कि उसे समाज या समुदाय में सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो और सभी मनुष्य उसे वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य के रूप में स्वेच्छा से स्वीकार करें। इस दृष्टिकोण से केवल धातु-मुद्रा तथा कागजी नोट ही मुद्रा हैं। चैक, विनिमय बिल आदि को मुद्रा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इन्हें सामान्य स्वीकृति प्राप्त नहीं हैं। उनका स्वीकार करना या न करना व्यक्ति विशेष की स्वेच्छा पर निर्भर होता है और स्वीकार करते समय बहुधा देने वाले की साख देख ली जाती है। सारांश यह है कि केवल विधि-ग्राह्य मुद्रा (Legal-tender money) को ही मुद्रा में शामिल किया जाता है। यह तो निश्चय है कि किसी वस्तु को मुद्रा बनने के लिए वैधानिक [illegible] की आवश्यकता नहीं है, लेकिन अधिकाँश लेखक इस प्रकार की स्वीकृति का अनुरोध करते हैं। इस प्रकार का अनुरोध उचित नहीं है। मुद्रा के लिए सामान्य स्वीकृति का होना ही काफी है। वे बैंक नोट, साख पत्र तथा प्रतिभूति (Securities), जिन्हें इस प्रकार की स्वीकृति प्राप्त है, मुद्रा ही हैं।

मुद्रा के कार्य (The Functions of Money)—

मुद्रा के कार्यों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

(१) मुख्य कार्य (Primary Functions)—इन्हीं को कभी-कभी आधारभूत कार्य (Fundamental Functions), मौलिक कार्य (Original Functions) अथवा आवश्यक कार्य (Essential Functions) भी कहा जाता है। मुख्य कार्यों की विशेषता यह है कि ये कार्य मुद्रा द्वारा आर्थिक विकास की प्रत्येक अवस्था में सम्पन्न किये जाते हैं।

समय-समय पर विभिन्न वस्तुएँ मुद्रा के रूप में उपयोग की गई हैं, परन्तु उन सभी वस्तुओं ने कम से कम इन कार्यों को अवश्य सम्पन्न किया है।

(२) सहायक कार्य (Secondary Functions)—इन्हें कभी-कभी मुद्रा के व्युत्पादित कार्य (Derived Functions) भी कहा जाता है। इन सब कार्यों की विशेषता यह है कि ये गौण होते हैं और मुख्य कार्यों पर निर्भर होते हैं। मुद्रा द्वारा ये कार्य उसी अवस्था में सम्पन्न किये जाते हैं जबकि आर्थिक जीवन का एक अंश तक विकास हो चुकता है।

(३) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)—इन कार्यों का वर्णन प्रो० किनले (Kinely) ने किया है। उनका विचार है कि उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त उन्नत देशों में, जहाँ आर्थिक जीवन का विकास बहुत अधिक हो जाता है, मुद्रा कुछ और भी कार्य करती है जिन्हें मुद्रा के आकस्मिक कार्य कहा जाता है। जैसे-जैसे आर्थिक जीवन की उन्नति होती है इन कार्यों का महत्त्व बराबर बढ़ता जाता है।

(१) मुख्य कार्य (Primary Functions)—

(अ) मुद्रा एक विनिमय का माध्यम है (Money is a Medium of Exchange)—मुद्रा का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह विनिमय के कार्य को सरल बनाती है। इसकी सहायता से एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु आसानी से प्राप्त की जा सकती है। वस्तु विनिमय में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। जब तक दो व्यक्तियों की आवश्यकताओं में [illegible] मिलान नहीं होता है, विनिमय सम्भव नहीं हो पाता है, परन्तु मुद्रा का उपयोग इस कठिनाई को दूर कर देता है। मुद्रा की सहायता से विनिमय कार्य प्रत्यक्ष न हो कर परोक्ष हो जाता है। पहले एक वस्तु मुद्रा में परिवर्तित की जाती है और फिर इस प्रकार प्राप्त होने वाली मुद्रा से दूसरी वस्तु खरीदी जाती है। विनिमय का प्रत्येक कार्य दो भागों में विभाजित हो जाता है। पहले वस्तु अथवा सेवा को मुद्रा में बदला जाता है और फिर मुद्रा के बदले में वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त की जाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मुद्रा को सभी विनिमय में स्वीकार कर लेते हैं, इसलिये वह स्वयं भी वस्तुओं और सेवाओं के बदले में मुद्रा को निःसंकोच स्वीकार करता है, अतः वही मुद्रा सर्व स्वीकृत हो सकती है जो विनिमय सम्बन्धी इस आवश्यक कार्य को पूरा करे। जैसा कि कोल ने कहा है कि मुद्रा ही हमारी क्रयः शक्ति है।

विनिमय-माध्यम का यह कार्य मुद्रा को आर्थिक जीवन के विकास की प्रत्येक अवस्था में करना पड़ता है। शुरू-शुरू में मुद्रा का आविष्कार ही

शायद इसी कारण किया गया था, परन्तु आर्थिक जीवन के विकास से भी इस कार्य का महत्त्व कम नहीं हुआ है, बल्कि बढ़ता ही गया है। यही कारण है कि मुद्रा का यह कार्य उसका मुख्य कार्य कहा जाता है।

(ब) **मूल्यमान अथवा मूल्याङ्कन का साधन (Standard of Values)**—मुद्रा का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि यह सब वस्तुओं के मूल्य को आँकने का कार्य करती है। सभी वस्तुओं की कीमत को मुद्रा में ही नापा जाता है, इसलिए मुद्रा कीमतों का सामूहिक सूचक होती है। कीमतों को नाप कर मुद्रा इन वस्तुओं और सेवाओं के बीच विनिमय-अनुपात निर्धारित करती है। प्रत्येक विनिमय अनुपात की सही-सही माप के लिये मुद्रा ही माप-दण्ड का कार्य करती है। वस्तु विनिमय की दूसरी कठिनाई यह थी कि विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के बीच विनिमय-अनुपात निश्चित करना कठिन था, परन्तु जब प्रत्येक वस्तु अथवा सेवा की कीमत मुद्रा ही में नापी जाती है तो यह कठिनाई आप ही आप दूर हो जाती है। इस सम्बन्ध में एक कठिनाई अवश्य है। एक गज अथवा एक मन की भाँति मुद्रा मूल्य नापने का पूर्णतया निश्चित मान नहीं है। कारण यह है कि समय-समय पर स्वयं मुद्रा की कीमत में भी परिवर्तन होते रहते हैं और कीमतें बराबर घटती-बढ़ती रहती हैं, किन्तु कीमतों को नापने और विनिमय अनुपातों को निर्धारित करने के लिये मुद्रा से अच्छा कोई दूसरा साधन नहीं है।

इस सम्बन्ध में यह याद रखना आवश्यक है कि विनिमय के माध्यम तथा मूल्य के मान के रूप में मुद्रा के कार्यों का इतना घनिष्ट मेल है कि बहुधा यह निर्णय करना कठिन होता है कि एक कार्य कहाँ पर [illegible] होता है और दूसरा कहाँ से आरम्भ होता है। जब तक विनिमय किये जाने वाली वस्तुओं की कीमत मुद्रा में नहीं आँक ली जाती है, मुद्रा को विनिमय के माध्यम के रूप में उपयोग नहीं किया जा सकता है। विनिमय-माध्य तथा मूल्य-मान का कार्य मुद्रा द्वारा लगभग साथ ही साथ सम्पन्न किया जाता है, परन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि मुद्रा को मूल्य-मान के रूप में तो उपयोग किया जाता है परन्तु वस्तुओं को मुद्रा में [illegible] नहीं जाता है। यदि एक किसान सहकारी भण्डार के पास जाता है और अपने पास से कुछ गेहूँ को देकर चीनी लेना चाहता है तो निस्संदेह गेहूँ और चीनी दोनों ही की कीमत मुद्रा में आँकी जाती है और विनिमय भी किया जाता है, परन्तु इस कार्य में मुद्रा का हस्तान्तरण नहीं होता है। इसी प्रकार लोग कई बार अपनी वस्तुओं की कीमत मुद्रा में आँकते हैं, परन्तु उन्हें विनिमय में किसी प्रकार की रुचि नहीं होती है। एक मकान मालिक कह सकता है कि उसका मकान २०,००० रुपये का है, परन्तु साथ ही यह

सम्भव है कि उसका अपने मकान को इस क़ीमत पर बेचने का कोई भी इरादा न हो। वर्तमान व्यावसायिक संगठन में फर्म (Firm) की लेन-देन का हिसाब मुद्रा में किया जाता है। भूमि, मकान, मशीन आदि सभी चीजों की कीमत मुद्रा में सूचित की जाती है, यद्यपि इन सब चीजों को बेचने का तनिक भी विचार नहीं होता है। ऐसी दशा में मुद्रा केवल लेखे की इकाई (Unit of Account) के रूप में उपयोग की जाती है, विनिमय माध्यम के रूप में उसका उपयोग नहीं होता है।

क्या विनिमय-माध्यम तथा मूल्यमान का अलग-अलग होना सम्भव है ?—

विनिमय-माध्यम तथा मूल्य-मान का सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि एक को दूसरे से अलग करना कठिन है, परन्तु कुछ अंश तक दोनों को अलग-अलग कर देना सम्भव होता है। आधुनिक जगत में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं, जहाँ किसी एक वस्तु को विनिमय के माध्यम के रूप में उपयोग किया जाता है और किसी दूसरी वस्तु को मूल्य के मान के रूप में। इस सम्बन्ध में प्रो० बेनहाम (Benham) का कहना है कि यद्यपि साधारणतया चलन की इकाई (Unit of Currency), अर्थात् विनिमय-माध्यम तथा लेखे की इकाई में कोई अन्तर नहीं होता है, क्योंकि मूल्य की माप ही विनिमय के लिए की जाती है, परन्तु यह सम्भव है कि विनिमय का माध्यम तथा मूल्य का मान अलग-अलग हों यदि दोनों के बीच के अनुपात को बनाये रखना सम्भव है। बेनहाम ने इस विषय से सम्बन्धित दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। सन् १९२३ में जर्मनी में दो अलग-अलग मुद्रायें विनिमय माध्यम तथा मूल्यमान का काम कर रही थीं। इस काल में जर्मनी में भीषण मुद्रा-प्रसार फैला हुआ था। कीमतें निरन्तर ऊपर जा रही थीं और जर्मन मार्क (Mark) की कीमत में किसी भी प्रकार की स्थिरता न थी। इस काल में जर्मनी में साधारणतया प्रसंविदे (Contracts) स्विस फ्रैंक (Swiss Franc) अथवा अमरीकन डालर में किये जाते थे, क्योंकि इन मुद्राओं के मूल्य में स्थिरता थी, परन्तु भुगतान जर्मन मार्क में ही दिया जाता था। भुगतान के समय मार्क और फ्रैंक अथवा डालर की विनिमय-दर के आधार पर मार्क की मात्रा निश्चित कर ली जाती थी। इस प्रकार चलन की इकाई तो मार्क ही था, परन्तु लेखे की इकाई डालर या फ्रैंक होता था।

संयुक्त राज्य अमरीका में भी सन् १९३३ तक इसी प्रकार की स्थिति थी। उस देश में मूल्य का मान तो स्वर्ण डालर था, परन्तु वास्तव में देश में चलन पत्र-मुद्रा और चाँदी, गिलट तथा ताँबे के सिक्कों का था। यही सब वस्तुएँ प्रत्यक्ष रूप में विनिमय माध्यम के रूप में प्रचलित थीं, परन्तु स्वर्ण

डालर का इस रूप में उपयोग नहीं के बराबर था। इस प्रकार दो अलग-अलग मुद्रायें विनिमय के माध्यम तथा मूल्य के मान के रूप में उपयोग की जा रही थीं, परन्तु सरकार द्वारा यह गारन्टी दी गई थी कि प्रत्येक दशा में अन्य सभी मुद्राओं को स्वर्ण डालर में परिवर्तित किया जा सकता था और दोनों प्रकार की मुद्राओं की विनिमय-दर सरकार द्वारा बनाये रखी जाती थी।

(२) गौण कार्य (Secondary Functions)—

(अ) स्थगित देयमान (Standard for Deferred Payments)—बहुत से ऐसे लेन-देन होते हैं जिनका भुगतान तुरन्त नहीं किया जाता है, बल्कि भविष्य के लिए स्थगित कर दिया जाता है। आधुनिक जगत में तो अधिकाँश व्यावसायिक कार्य उधार अथवा साख प्रणाली पर ही आधारित होते हैं। कहा जाता है कि दूसरों के रुपयों से व्यवसाय करना ही आधुनिक व्यावसायिक संगठन की प्रमुख विशेषता है। मुद्रा का गुण यह है कि वह तुरन्त के व्यावसायिक कार्यों के लिए ही मूल्य के मान का कार्य नहीं करती है, बल्कि स्थगित शोधनों का भी मान होती है। इसका कारण यह है कि मुद्रा में तीन ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो उसे इस कार्य के लिए उपयुक्त बना देती हैं। प्रथम तो, अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा की कीमत में स्थिरता अधिक होती है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन तो अवश्य होते रहते हैं, परन्तु साधारणतया बहुत शीघ्रता से तथा बड़े अंश तक परिवर्तन कम होते हैं। यही कारण है कि स्थगित शोधनों का हिसाब मुद्रा में रखने से लेने वाले और देने वाले दोनों को ही हानि का भय कम रहता है। दूसरे, मुद्रा में सामान्य स्वीकृति का गुण होता है, जिसके कारण उसकी आवश्यकता हर समय रहती है। तीसरे, अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा में टिकाऊपन भी अधिक होता है। मुद्रा का स्थगित शोधन के मान के रूप में भारी महत्त्व है, क्योंकि इससे उधार लेने और देने में सुभीता हो जाता है और आर्थिक उत्थान का मार्ग सरल हो जाता है। बैंकों की जमा, फर्मों के खातों और सरकार, रेल्वे, लोक उपयोगी सेवा कम्पनियों आदि द्वारा निकाले हुए बॉंड (Bonds) इन सभी प्रकार के ऋणों का हिसाब मुद्रा में ही रखा जाता है।

स्थगित शोधनों के मान के रूप में मुद्रा दोषों से खाली नहीं है। मुद्रा के इन दोषों के कारण बहुधा ऋण-दाताओं तथा ऋण-लेताओं को भारी कठिनाइयाँ होती हैं। कारण यह है कि स्वयं मुद्रा के मूल्य में भारी परिवर्तन होते रहते हैं, जो कभी ऋण-दाताओं के विरुद्ध होते हैं और कभी ऋण-लेताओं के। इस कारण कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह सुझाव दिया है कि मुद्रा को स्थगित शोधनों का अधिक लोचदार मान बनाने के

आवश्यकता हो। यदि इन अर्थशास्त्रियों के सुझाव को मान लिया जाय, तो परिणाम यह होगा कि ऋणी वर्ग को उधार ली हुई क्रयः शक्ति के बराबर मूल्य लौटाना पड़ेगा और इस प्रकार चुकाई जाने वाली मुद्रा की मात्रा में मुद्रा की क्रयःशक्ति के परिवर्तनों के अनुसार अन्तर होगा।

(ब) **क्रयः शक्ति का संचय** (The Store of Purchasing Power)—जब मुद्रा का उपयोग विनिमय माध्यम के रूप में किया जाता है तो विनिमय का कार्य वास्तव में दो अलग-अलग कार्यों का एक सामूहिक परिणाम होता है। सर्वप्रथम किसी वस्तु अथवा सेवा को मुद्रा में बेचा जाता है और फिर मुद्रा द्वारा अन्य वस्तु अथवा सेवा खरीदी जाती है। सभी प्रकार का विनिमय स्वभाव में वस्तु के बदले में वस्तुयें अथवा सेवायें प्राप्त करने की एक रीति होती है। मुद्रा को प्राप्त करने का उद्देश्य ही यह होता है कि उसके बदले में दूसरी वस्तुयें खरीदी जा सकें, परन्तु यह सम्भव है कि एक वस्तु को बेच कर जो मुद्रा प्राप्त की गई है उसे तुरन्त व्यय न किया जाय, बल्कि कुछ समय के लिए उसका खर्च स्थगित कर दिया जाय। ऐसी दशा में मुद्रा एक और कार्य, अर्थात् क्रयः शक्ति का संचय करने का कार्य, सम्पन्न करती है।

एक किसान को बैलों की आवश्यकता हो सकती है। रबी की फसल बेच कर वह मुद्रा प्राप्त करता है, परन्तु यदि बैलों की आवश्यकता जाड़ों में होगी तो इस मुद्रा को वह जाड़ों तक संचित रखेगा, ताकि समय आने पर उसे बैल खरीदने में कठिनाई न हो सके। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ न कुछ बचा कर रखना चाहता है। अब प्रश्न यह है कि यह बचत किस रूप में रखी जाय? सेवाएँ तो अति शीघ्र ही नाश हो जाने वाली वस्तुएँ होती हैं, इसलिये उन्हें बचा कर रखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। अधिकाँश वस्तुओं में भी काफी समय तक टिकाऊ रहने का गुण नहीं होता है और कुछ वस्तुओं, जैसे मवेशियों, में संचय करने से मूल्य का ह्रास होता है। मुद्रा में टिकाऊपन होता है और उसके मूल्य में भी अपेक्षाकृत ह्रास कम होता है, इसलिये क्रयः शक्ति के संचय के लिए मुद्रा ही अधिक उपयुक्त होती है।

मुद्रा के इस कार्य का आरम्भ भी आर्थिक जीवन के विकास के पश्चात् ही हुआ है, परन्तु आधुनिक युग में इसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है। बिना बचत के पूँजी का संचय सम्भव नहीं है और पूँजी के संचय के बिना आर्थिक उन्नति की आशा निर्मूल ही होगी। इस सम्बन्ध में यह भी बिना संकोच कहा जा सकता है कि मूल्य अथवा क्रयः शक्ति को संचित करने का सबसे सुरक्षित तथा सुविधाजनक साधन मुद्रा ही है।

(स) मूल्य का हस्तान्तरण (Transfer of Value)—मुद्रा के इस कार्य का महत्त्व भी आर्थिक जीवन के विकास के साथ-साथ ही बढ़ा है। जैसे-जैसे आर्थिक जीवन सुसंगठित होता गया, वैसे-वैसे विनिमय का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। वस्तुओं का क्रय विक्रय दूर-दूर तक होने लगा और इस प्रकार मूल्य अथवा क्रयः शक्ति को एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरित करने की आवश्यकता अनुभव हुई। यह कार्य भी मुद्रा की सहायता से आसानी के साथ होने लगा। अपनी सामान्य स्वीकृति के कारण मुद्रा एक व्यक्ति को इस योग्य बना देती है कि वह एक स्थान पर अपनी सम्पत्ति को बेच कर दूसरे स्थान पर नई सम्पत्ति खरीद सके। इसके अतिरिक्त मुद्रा के ही रूप में रुपये का लेन-देन होता है और इस प्रकार क्रयः शक्ति का एक व्यक्ति से दूसरे को हस्तान्तरण सम्भव हो जाता है।

इस कार्य का भी मनुष्य के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में भारी महत्त्व है। इस हस्तान्तरण के कारण कुछ व्यक्तियों के पास पड़ी हुई बेकार तथा फालतू क्रयः शक्ति का उत्पादक कार्यों में उपयोग सम्भव हो जाता है और आर्थिक विकास की भारी सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।

(३) आकस्मिक कार्य (Contingent Functions)—

प्रो० किनले ने मुद्रा के चार आकस्मिक कार्यों का वर्णन किया है :—

(अ) सामाजिक आय का वितरण—वर्तमान संसार में उत्पादन का कार्य साधारणतया प्रत्यक्ष उपभोग के लिये नहीं किया जाता है, बल्कि उत्पादित-वस्तुओं को बाजार में बेचने के उद्देश्य से किया जाता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक उत्पादन सामूहिक रूप में अथवा सम्मिलित रीति से किया जाता है। जो कुछ भी उत्पत्ति होती है वह किसी व्यक्ति विशेष द्वारा न हो कर सारे समाज अथवा बहुत से व्यक्तियों द्वारा की जाती है और इसलिए वितरण की आवश्यकता पड़ती है। मुद्रा का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यही है कि वह इस सम्मिलित उपज अथवा राष्ट्रीय लाभाँश (National Dividend) को बाँटने में सहायता देती है। पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में वितरण की समस्या का भारी महत्त्व है, परन्तु मुद्रा के बिना वितरण कार्य लगभग असम्भव ही रहेगा। मुद्रा की सहायता से बिना किसी कठिनाई के उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को उनके हिस्से प्रदान किये जा सकते हैं और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार वस्तुएँ और सेवाएँ दी जा सकती हैं (कारण यह है कि मुद्रा सभी वस्तुओं की कीमत की माप का एक सामूहिक मान होती है और उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को ऐसे रूप में हिस्सा प्रदान करती है, जिसका आसानी से उपयोग हो सके।

(ब) सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त उत्पादकता में समानता लाना (Equalisation of Marginal Utility and Marginal Productivity)—मुद्रा के आविष्कार से उपभोक्ताओं और उत्पादकों दोनों ही को बड़ा लाभ हुआ है। मुद्रा के उपयोग के कारण उपभोक्ता को यह अवसर मिलता है कि वह अपने व्यय को इस प्रकार नियन्त्रित करे कि व्यय की प्रत्येक मद से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करके अपने संतोष को अधिकतम् कर सके। इसका कारण यह है कि मुद्रा को सामान्य क्रयः शक्ति प्राप्त होती है। एक उत्पादक के लिये भी मुद्रा बड़ी लाभदायक है। अनुकूलतम् उत्पादन के लिए यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का इस प्रकार उपयोग किया जाय कि प्रत्येक की सीमान्त उत्पादकता समान ही रहे। यह कार्य भी मुद्रा द्वारा सरलतापूर्वक हो जाता है, क्योंकि सभी उद्योगों में प्रत्येक साधन की सीमान्त उपज मुद्रा में नापी जा सकती है।

(स) साख का आधार (The Basis of Credit)—आधुनिक युग में साख के महत्त्व से सभी परिचित हैं। सभी प्रकार की आर्थिक उन्नति साख की समुचित व्यवस्था पर निर्भर होती है, परन्तु बैंकों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा जिस साख का निर्माण किया जाता है वह मुद्रा पर आधारित होती है। नकद कोषों (Cash Reserves) के आधार पर ही एक बैंक अपनी साख का विस्तार कर सकती है और बैंक नोटों को निकाल सकती है। प्रत्येक बैंक अपने ग्राहकों की माँग को नकदी में पूरा करने का वचन देती है और इस वचन को पूरा करने में असमर्थ रहना उसके लिए घातक होता है। ऐसी दशा में जनता का बैंक से विश्वास उठ जाता है और साख का आधार ही समाप्त हो जाता है। पत्र-मुद्रा के प्रति विश्वास बनाये रखने में भी यह महत्त्वपूर्ण कार्य करती है।

(द) सभी प्रकार की पूँजी तथा सभी प्रकार के धन को उत्पादक गुण प्रदान करना—जब पूँजी को मुद्रा के रूप में रखा जाता है तो उसमें तरलता (Liquidity) और गतिशीलता (Mobility) बहुत रहती है। परिणाम यह होता है कि पूँजी के नये तथा लाभपूर्ण उपयोग प्राप्त कर लेने में आसानी होती है। इस प्रकार मुद्रा के कारण उत्पादन बढ़ता है। पूँजी को मुद्रा के कारण जो उत्पादक गुण प्राप्त हो गया है। वही वास्तव में वर्तमान आर्थिक उन्नति का सबसे बड़ा कारण है।

मुद्रा के उपरोक्त नौ कार्य महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु कुछ विद्वानों ने मुद्रा के कुछ और भी कार्यों का वर्णन किया है, जो निम्न प्रकार हैं:—

(१) शोधनक्षमता प्रत्याभु (Guarantor of Solvency)—मुद्रा का यह कार्य भी आधुनिक युग में ही महत्त्वपूर्ण हो गया है। एक फर्म

उसी समय दिवालिया हो जाती है जब वह अपने उत्तमर्णियों को मुद्रा में चुकाने में असमर्थ हो जाती है, यद्यपि यह सम्भव है कि उस समय भी फर्म की लेन उसकी देन से बहुत अधिक हो। भविष्य में भुगतान करने का प्रत्येक वचन मुद्रा में भुगतान करने से सम्बन्धित होता है। अपनी शोधन-क्षमता (Solvency) को बनाये रखने के लिए प्रत्येक व्यावसायिक फर्म तरल मुद्रा के रूप में कुछ न कुछ जमा अवश्य रखती है। ठीक इसी प्रकार देशों की सरकारों, बैंकों तथा व्यक्तियों को भी मुद्रा जमा करके शोधन-क्षमता बनाये रखने की आवश्यकता पड़ती है।*

(२) तरल आदेय के रूप में (As a Liquid Asset)—मुद्रा के इस कार्य को कीन्ज ने अधिक महत्त्व दिया है। यह कहा जाता है कि मुद्रा व्यवसायों का सबसे तरल आदेय (Liquid asset) है। मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जिसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त है, क्योंकि समाज के सभी सदस्य इसे पाने का प्रयत्न करते हैं। साधारणतया किसी व्यावसायिक फर्म के आय प्राप्त करने का समय निश्चित होता है, परन्तु खर्च की आवश्यकता हर समय पड़ती रहती है। एक किसान को साधारणतया साल में केवल दो बार अर्थात् फसलों के तैयार होने पर आय प्राप्त होती है, परन्तु व्यय साल भर बराबर होता रहता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति तथा फर्म प्राप्त क्रयः शक्ति के एक भाग को जमा करके अपने पास रखता है, जिससे कि उसे आवश्यकता पड़ने पर व्यय करने में कठिनाई न हो। इस काम के लिए मुद्रा सबसे उपयुक्त है, क्योंकि एक ओर तो इसमें टिकाऊपन तथा मूल्य की स्थिरता रहती है और दूसरी ओर इसमें तरलता का भी गुण है। आदेयों की तरलता बनाये रखने के लिए क्रयः शक्ति को मुद्रा के ही रूप में संचित किया जाता है और यह तरलता विश्वास-उत्पन्न करती है।

(३) निर्णय का वाहक (Bearer of Option)—प्रो० ग्राहम (Graham) ने मुद्रा के इस कार्य पर विशेष जोर दिया है। उनका कहना है कि मुद्रा द्वारा क्रयः शक्ति का जो संचय सम्भव हो जाता है उससे एक लाभ यह भी होता है कि भविष्य में जमा करने वाले के लिए अवसर रहता है कि भावी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए संचित क्रयः शक्ति का सबसे उत्तम उपयोग कर सके। भविष्य साधारणतया अनिश्चित होता है, इसलिए आरम्भ में किसी निश्चित उद्देश्य को पूरा करने के लिए क्रयः शक्ति जमा करना उपयुक्त नहीं होता है। यह सम्भव है कि भविष्य में उद्देश्य ही बदल जाय, परन्तु यदि संचय मुद्रा में किया जाता है तो इस सम्बन्ध में कोई कठिनाई नहीं होती है। मुद्रा को भविष्य में कोई भी वस्तु खरीदने के लिए काम में लाया जा सकता है।

---

* See R. P. Kent : *Money and Banking, pp. 8-9.*

इस प्रकार मनुष्य के आर्थिक जीवन में मुद्रा द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किये जाते हैं और आर्थिक विकास के साथ साथ इन कार्यों की संख्या और इनका महत्त्व भी बढ़ता जाता है। आधुनिक संसार को देख कर तो यही पता चलता है कि शायद बिना मुद्रा के मनुष्य का आर्थिक और सामाजिक जीवन ही सम्भव न हो पायगा। वैसे तो मुद्रा के कार्य अनेक हैं, परन्तु अर्थशास्त्र में साधारणतया मुद्रा के चार कार्यों को ही अधिक महत्त्व दिया गया है, अर्थात् विनिमय का माध्यम, मूल्य का मापक, स्थगित शोधनों का मान और मूल्य का संचय। अंग्रेजी भाषा का निम्न छन्द भी इसी ओर संकेत करता है :—

Money is a matter of functions four:
A medium, a measure, a standard, a store.

मुद्रा का महत्त्व (The Importance of Money)—

वर्तमान युग को मुद्रा का युग कहा जाता है। इस संसार का जीवन-रक्त ही मुद्रा है। यदि संसार की तुलना एक विशाल मशीन से की जा सकती है तो शायद यह कहना अनुचित न होगा कि जिस तेल से यह मशीन चालू है वह मुद्रा ही है। बिना मुद्रा के हमारा सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक जीवन समुचित रूप से नहीं चल सकता है। आधुनिक संसार ने अनेक बार यह अनुभव किया है कि जब कभी भी किसी देश की मुद्रा प्रणाली बिगड़ जाती है तो उस देश का आर्थिक तथा सामाजिक जीवन ही नहीं, राजनैतिक जीवन भी चौपट हो जाता है और और देश अवनति की ओर चला जाता है। प्रत्येक देश यथासम्भव यही प्रयत्न करता है कि अपनी मुद्रा-प्रणाली को नियन्त्रित तथा व्यवस्थित रखे, क्योंकि इससे संतोष और उन्नति की अनुकूल दशायें उत्पन्न होती हैं। इसी उद्देश्य से लगभग सभी देश अपनी-अपनी मुद्रा व्यवस्था में उचित फेर-बदल करते रहते हैं।

वैसे भी यदि हम अपने चारों ओर दृष्टि डालें तो हमें प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ कार्य करता हुआ दिखाई देता है। कोई सड़क बनाता है, तो कोई कॉलिज में पढ़ाता है, कोई दफ्तर में काम करता है, तो कोई दिन भर हथौड़ा चलाता है। यदि इन सब व्यक्तियों से पूछा जाय कि वे इस प्रकार दिन भर किस लिये तोड़ परिश्रम करते हैं तो उत्तर केवल यही होगा कि वे इस प्रकार काम करके रुपया कमाते हैं। दूसरे शब्दों में, उनका उद्देश्य मुद्रा प्राप्त करना है। मुद्रा का इतना अधिक महत्त्व इस कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति की कुछ आवश्यकताएँ हुआ करती हैं, जिनका पूरा करना या तो उसके लिये आवश्यक होता है या उनको पूरा करने से उसे सुख मिलता है। मुद्रा आवश्यकता पूर्ति का सबसे उपयुक्त

तथा सबसे उचित साधन है, क्योंकि मुद्रा द्वारा विनिमय का कार्य बड़ी आसानी से किया जा सकता है। संसार की प्रत्येक वस्तु मुद्रा के बदले में प्राप्त की जा सकती हैं। वर्तमान समाज में मुद्रा ही सम्मान तथा प्रतिष्ठा प्रदान करती है। जिसके पास मुद्रा है उसे संसार के सभी सुख प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी दशा में संसार का मुद्रा के पीछे दीवाना होना उचित ही दिखाई पड़ता है।

वर्तमान संसार में मुद्रा का महत्त्व अथवा उसके लाभ निम्न प्रकार हैं:—

(१) मुद्रा वह धुरी है जिसके चारों ओर अर्थ विज्ञान चक्कर लगाता है। पीगू (Pigou) के अनुसार अर्थशास्त्र में प्रत्येक काम, घटना अथवा वस्तु को नापने का एक मात्र माप-दण्ड मुद्रा ही है। स्मरण रहे कि पीगू का दृष्टिकोण व्यावहारिक है। यदि इस प्रकार के माप-दण्ड का प्रयोग न किया जाय तो अर्थ-विज्ञान में न तो किसी प्रकार की निश्चितता ही आ सकती है और न किसी भी बात का ठीक-ठीक पता ही लगाया जा सकता है। विनिमय को सरल बना देने के कारण मुद्रा कला-कौशल, साहित्य, विज्ञान तथा उद्योग सभी के विकास में सहायक होती है। हम अपनी उत्पादित वस्तुओं को मुद्रा में ही बेचते हैं और अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ भी मुद्रा द्वारा ही खरीदते हैं। इसी प्रकार दूसरों की सेवाओं का मूल्य हम मुद्रा में चुकाते हैं और अपनी सेवाओं को भी मुद्रा में बेचते हैं। उधार का कार्य, व्यापार, वाणिज्य तथा श्रम-विभाजन सभी मुद्रा के कारण सम्भव होते हैं। बिना मुद्रा के न तो सम्मिलित पूँजी कम्पनियाँ बन सकती हैं और न सरकार ही अपने कार्य को चला सकती है। सारांश यह है कि मनुष्य की सभी क्रियाओं का केन्द्र-बिन्दु मुद्रा ही है।

(२) जिस प्रकार किसी भी पुस्तक को पढ़ने और यह समझने के लिये कि उस पुस्तक में क्या चीज कहाँ पाई जायगी, उस पुस्तक की सन्दर्भ सूची (Index) हमारे लिये बहुत उपयोगी होती है। इसी प्रकार मुद्रा हमें किसी देश की आर्थिक प्रगति समझने में भारी सहायता देती है। मानव विकास के इतिहास की प्रगति मुद्रा के साथ ही सम्बन्धित है। इस संसार की जटिल आर्थिक व्यवस्था को बनाए रखने और उसकी स्थिरता को कायम रखने के लिये मुद्रा एक महत्त्वपूर्ण साधन है। यह समाज की उन्नति का सूचक होती है और सभ्यता के विकास का सबसे बड़ा लक्षण है। प्रचलित मुद्रा के रूप तथा मुद्रा की प्रगति की स्थिति को देखकर हम सरलतापूर्वक देश की आर्थिक उन्नति का पता लगा सकते हैं, क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं, मुद्रा-प्रणाली में भी उसके अनुसार परिवर्तन होते जाते हैं।

(३) प्रत्येक समाज में विशिष्टीकरण तथा विनिमय सुविधा की

सहायता से धन का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है, परन्तु इस विशिष्टीकरण के लिए श्रम-विभाजन आवश्यक होता है जो विनिमय विकास के बिना उन्नति नहीं कर सकता है, इसलिए मुद्रा का उपयोग बहुत आवश्यक होता है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था मुद्रा पर ही आधारित है। अत्यधिक विशिष्टीकरण, व्यापार की उन्नति, वाणिज्य और उद्योग तथा समस्त विनिमय प्रणाली मुद्रा पर ही निर्भर है।

(४) मुद्रा वस्तु-विनिमय प्रणाली के सभी दोषों को दूर कर देती है। इसमें दो व्यक्तियों की आवश्यकताओं के पारस्परिक मिलान की आवश्यकता नहीं पड़ती, मूल्य की एक सामान्य तथा सामूहिक माप आसानी से हो जाती है, अविभाजीय वस्तुओं के विनिमय में कोई दिक्कत नहीं होती है, किसी भी वस्तु के बदले में अन्य कोई वस्तु खरीदने में कठिनाई नहीं होती है और बिना किसी कठिनाई के मूल्य का संचय किया जा सकता है।

(५) मुद्रा पूँजी को गतिशीलता (Mobility) प्रदान करती है। इस गतिशीलता के अनेक लाभ हैं। गतिशीलता से आर्थिक विकास की नींव दृढ़ होती है और सभी स्थानों तथा सभी प्रकार के उद्योगों के विकास की सम्भावना पैदा होती है। इसके अलावा मुद्रा-प्रणाली का विकास धन को थोड़े से व्यक्तियों के पास केन्द्रित करने की प्रवृत्ति रखता है। इससे बचत को प्रोत्साहन मिलता है और बचत के एक बड़े अंश का पूँजी के रूप में उपयोग होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे आर्थिक जीवन उन्नत होता है। आधुनिक युग में रेलों, जलमार्गों, गोदामों तथा विशालकाय उद्योगों का विकास मुद्रा का ही चमत्कार है।

(६) मुद्रा सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है। जिस काल में मुद्रा का विकास नहीं हुआ था और सभी प्रकार के शोधन (Payments) वस्तुओं और सेवाओं में किये जाते थे तो श्रमिकों को पूरी तरह से धनी वर्गों पर निर्भर रहना पड़ता था। वे अपनी इच्छानुसार स्थान तथा व्यवसाय का परिवर्तन नहीं कर सकते थे। मुद्रा के उपयोग ने इस वर्ग को गतिशीलता तथा सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान की है और मनुष्य की दासता की बेड़ियों को तोड़ डाला है।

(७) मुद्रा ने राजनैतिक स्वतन्त्रता को भी सहारा दिया है। जब कर मुद्रा में चुकाये जाते हैं तो करदाता यह अनुभव करता है कि उसकी जेब से रुपया निकल रहा है। इससे करदाताओं में राजनैतिक जागृति आती है। वे राज्य के संचालन कार्य में अधिक दिलचस्पी लेते हैं। इस प्रकार राजनैतिक स्वतन्त्रता की उन्नति होती है।

(८) मुद्रा पृथकत्व (Isolation) [illegible] । विनिमय की सुविधा होने के कारण व्यापार की उन्नति होती है और मनुष्यों का पारस्परिक सम्पर्क बढ़ता है । पारस्परिक निर्भरता भी बढ़ जाती है, जिसके कारण आर्थिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मेल मिलाप बढ़ता है ।

(९) यह स्पष्ट है कि हमारी वर्तमान भौतिक [illegible] सबसे बड़ा कारण मुद्रा का विकास ही है । भौतिक सभ्यता के विकास में मुद्रा का महत्त्व बहुत अधिक है ।

सारांश यह है कि आधुनिक संसार में मुद्रा का महत्त्व बहुत अधिक है । सामान्य रूप में मुद्रा ने आवश्यकताओं के प्रत्यक्ष और परोक्ष सन्तोष, श्रम-विभाजन, पूँजी तथा श्रम की गतिशीलता तथा उत्पत्ति के साधनों के संग्रह करने में सहायता दी है । मुद्रा का महत्त्व इससे भी स्पष्ट होता है कि मुद्रा प्रणाली की प्रत्येक गड़बड़ का देश की आर्थिक व्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़ता है । मुद्रा-प्रसार (Inflation) तथा अवसाद (Depression) के गम्भीर परिणामों से आज का संसार भली भाँति परिचित है । पूँजीवादी प्रणाली की तो जान ही मुद्रा है, परन्तु समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में भी कम से कम लेखे की इकाई (Unit of Account) के रूप में मुद्रा का उपयोग आवश्यक है । एक सुसंगठित समाज के लिए मुद्रा आवश्यक है । उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण से मुद्रा का महत्त्व इसलिए है कि मुद्रा का उपयोग उन्हें अपना निर्णय सूचित करने और उसी के अनुसार वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने में सहायता देता है । उत्पादक के दृष्टिकोण से भी यह लाभदायक है, क्योंकि उससे उसे उत्पत्ति के साधनों को जुटाने, कच्चा माल खरीदने और पूँजी प्राप्त करने में सहायता मिलती है ।

मुद्रा के दोष—

साधारण बोलचाल में बहुधा ऐसा कहा जाता है कि संसार की सभी बुराइयों की जड़ मुद्रा ही है । यह मनुष्य में लालच तथा मोह उत्पन्न करके शोषण की प्रवृत्ति को जन्म देती है और मनुष्य को धोखेबाजी, बेईमानी तथा पाप के मार्ग पर ले जाती है । मुद्रा के पीछे चोरी, डकैती और हत्या का होना एक साधारण सी घटना है । मानव समाज के पारस्परिक प्रेम को यह गहरी चोट पहुँचाती है । यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने कहा है कि मुद्रा मनुष्य के लिए एक अभिशाप बन गई है । इस सम्बन्ध में, हमें याद रखना चाहिए कि ये दोष यथार्थ में मुद्रा के [illegible]

में वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त करना होना चाहिए, जो मुद्रा की सहायता से आसानी से प्राप्त की जा सकती हैं, परन्तु मनुष्य इस उद्देश्य को भूल जाता है और मुद्रा-प्राप्ति स्वयं अपना उद्देश्य बन जाती है। सारी बुराइयों की जड़ यही है, परन्तु मानव स्वभाव को देखते हुए इस बुराई को रोकना भी मुश्किल है।

आर्थिक दृष्टिकोण से भी मुद्रा के अनेक दोष हैं—(१) मुद्रा उधार लेने तथा उधार देने की क्रियाओं को सरल बना देती है, जिसका परिणाम यह होता है कि उधार लेने की आदत को प्रोत्साहन मिलता है और समाज में फिजूल खर्ची बढ़ती है। इसके अतिरिक्त उद्योग तथा व्यवसाय में यह प्रवृत्ति अति-पूँजियन (Over-capitalisation) तथा अति-उत्पादन (Over-production) को बढ़ाती है, जिनके कारण समाज और अर्थ-व्यवस्था को भारी हानि होती है। (२) मुद्रा के मूल्य में स्थिरता नहीं रहती है। बीसवीं शताब्दी का अनुभव बराबर यही रहा है कि मुद्रा के मूल्य और कीमतों में बराबर परिवर्तन होते रहते हैं। मुद्रा के मूल्य के इन परिवर्तनों का समाज के विभिन्न वर्गों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है और कभी-कभी तो यह समाज के लिए घातक होता है। इन परिवर्तनों के कारण आर्थिक जीवन में अनिश्चितता पैदा हो जाती है, जो व्यापार, व्यवसाय तथा उद्योग की उन्नति के लिए अनुपयुक्त होती है। (३) मुद्रा के उपयोग ने ही पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली को जन्म दिया है। इस प्रणाली के अन्तर्गत उत्पत्ति के साधन केवल थोड़े से व्यक्तियों के पास इकट्ठे हो जाते हैं और जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता है, धनी वर्ग और अधिक धनी होता जाता है तथा निर्धन वर्ग की निर्धनता बढ़ती जाती है। इस प्रकार समाज में आय के वितरण की ओर असमानताएँ उत्पन्न होती जाती हैं, जिसके कारण सामाजिक तथा राजनैतिक असन्तोष बढ़ता है और क्रान्ति तथा आन्तरिक उपद्रव प्रोत्साहित होते हैं। श्रमिकों को तो विशेष हानि होती है। वर्तमान मजदूरी प्रणाली के सभी दोष एक प्रकार मुद्रा की ही देन हैं। बेरोजगारी तथा व्यावसायिक चक्र (Business Cycles), जिन्होंने पूँजीवादी संसार में आतंक मचा रखा है, इसी के परिणाम हैं। (४) मुद्रा मानव त्याग तथा सन्तोष की वास्तविक माप नहीं होती है। मुद्रा और क्रय शक्ति एक ही चीज के दो नाम नहीं हैं। मुद्रा के पास में होने से ही यह आवश्यक नहीं है कि एक मनुष्य उसके बदले वस्तुएँ और सेवाएँ खरीद सके। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मुद्रा-प्रसार के कारण जर्मनी में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि मुद्रा के बदले में कुछ भी नहीं खरीदा जा सकता था। (५) मुद्रा स्वयं सर्व शक्तिमान बन जाती है। मुद्रा के मनुष्य का दास बनने के स्थान

पर स्वयं मनुष्य मुद्रा का दास बनकर रह जाता है, जिससे मनुष्य का भारी पतन हो जाता है।

उपरोक्त दोषों को देखने के पश्चात इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि इतने दोषों के रहते हुये भी क्या हमें मुद्रा का उपयोग करना ही चाहिये ? क्या हम बिना मुद्रा के काम नहीं चला सकते हैं ? याद रहे कि मुद्रा का परित्याग करने का अर्थ केवल यही होता है कि हम फिर से वस्तु-विनिमय प्रणाली पर उतर आयें। आधुनिक युग में यह सफल हो सकेगी या नहीं, इसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है। जहाँ तक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का सम्बन्ध है, शायद बिना मुद्रा के काम न चल सके, क्योंकि वस्तु-विनिमय की कठिनाइयाँ काफी गम्भीर हैं, परन्तु नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था में वस्तु-विनिमय प्रणाली एक बड़े अंश तक सफल हो सकती है। समाजवादी रूस में और मुख्यतया चीन में इस समय भी इसका काफी महत्त्व है, परन्तु उपरोक्त देशों में भी वस्तु-विनिमय प्रणाली का उपयोग एक सीमित अंश तक ही किया गया है। चीन में वस्तु-विनिमय तथा मुद्रा-विनिमय एक दूसरे के विकल्प (Alternative) के रूप में प्रचलित हैं। समाजवादी देश भी मुद्रा के उपयोग के लाभों को भली भाँति समझते हैं और मुद्रा का पूर्णतया परित्याग नहीं करते हैं। कम से कम लेखे की इकाई के रूप में तो इनके लिए भी मुद्रा का उपयोग आवश्यक है। मुद्रा के गुणों तथा दोषों का तुलना करने से भी यही पता चलता है कि दोषों की अपेक्षा लाभ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

मुद्रा (Money) तथा चलन (Currency) में भेद—

साधारण बोल-चाल में मुद्रा और चलन में कोई भेद नहीं किया जाता है। आर्थिक विवेचन में भी मुद्रा शब्द बहुधा दोनों ही के लिये उपयोग किया जाता है, यद्यपि कुछ व्यक्ति मुद्रा के स्थान पर द्रव्य तथा चलन के स्थान पर मुद्रा शब्द का भी उपयोग करते हैं। दोनों के साधारणतया एक ही अर्थ लगाये जाते हैं। हमारे विचार में मुद्रा (Money) और चलन (Currency) का अलग-अलग उपयोग अधिक उपयुक्त है, परन्तु इन दोनों शब्दों के भेद को समझ लेना आवश्यक है। यह भेद निम्न प्रकार है :—

चलन* एक धारा अथवा प्रवाह की ओर संकेत करता है, इसलिये चलन से हमारा अभिप्राय केवल धातु के सिक्कों तथा विधि-ग्राह्य मुद्रा (Legal-tender Money) से होता है, क्योंकि वास्तव में देश के भीतर इसी प्रकार की मुद्रा का चलन होता है। मुद्रा शब्द का अर्थ अधिक

* आचार्य रघुवीर ने इसके लिए चलार्थ शब्द का उपयोग किया है। उनके विचार में अंग्रेजी के (Currency) शब्द का शुद्ध अनुवाद चलार्थ ही है।

विस्तृत है, क्योंकि इसमें चलन के अतिरिक्त साख मुद्रा (Credit Money) तथा अविधि-ग्राह्य मुद्रा (Non-legal-tender Money) भी सम्मिलित होती है। उपरोक्त स्पष्टीकरण से यह सिद्ध हो जाता है, यद्यपि सभी चलन मुद्रा होता है, परन्तु सभी मुद्रा को चलन नहीं कहा जा सकता है।

प्रो० रीड (Reed) के अनुसार :—"मुद्रा एक दायित्त्व (देन) की द्रव्यिक कीमत को सूचित करती है, परन्तु चलन इस दायित्त्व को चुकाने का केवल एक साधन है। वास्तविकता यह है कि किसी देश की मुद्रा का केवल एक निश्चित भाग ही चलन होता है। मुद्रा की उन सब इकाइयों को चलन का नाम दिया जाता है जो विधानानुसार देश में मुद्रा के रूप में चालू होती हैं। कोई भी व्यक्ति इनमें भुगतान स्वीकार करने से इन्कार नहीं कर सकता है। बहुधा सरकार की ओर से चलन में भुगतान न करने वालों के लिए दण्ड रखा जाता है।"

अध्याय ३

मुद्रा का वर्गीकरण

(The Classification of Money)

विभिन्न लेखकों ने मुद्रा के वर्गीकरण की अलग-अलग रीतियाँ अपनाई हैं। प्रमुख वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं :—

(१) वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा (Actual Money and Money of Account)—वास्तविक मुद्रा से हमारा अभिप्राय उस मुद्रा से होता है जिसका यथार्थ में देश के भीतर प्रचलन (Circulation) होता है। हिसाब की मुद्रा का प्रचलन नहीं होता है, परन्तु ऋणों, आदेयों तथा लेन-देन का हिसाब उसी में रखा जाता है। कीन्ज ने इन दो प्रकार की मुद्राओं को मुख्य मुद्रा (Money Proper) तथा लेखे की मुद्रा (Money of Account) का नाम दिया है। प्रो० सैलिगमैन (Seligman) ने इन्हें वास्तविक मुद्रा तथा आदर्श मुद्रा (Ideal Money) में विभाजित किया है और इसी प्रकार बेनहाम (Benham) ने इन्हें चलन की इकाई (Unit of Currency) तथा लेखे की इकाई (Unit of Account) बताया है।

वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय में वास्तविक मुद्रा ही विनिमय माध्यम का कार्य करती है। सभी प्रकार के भुगतान इसी मुद्रा में किए जाते हैं और इसी के रूप में क्रयः शक्ति का संचय किया जाता है। वास्तविक मुद्रा और प्रचलित चलन (Currency) में कोई अन्तर नहीं होता है। जितने भी प्रकार की मुद्रा प्रचलन में होती है वह सब की सब वास्तविक मुद्रा होती है। भारत में १ पैसे से लेकर १ रुपये तक के जितने सिक्के हैं और १ रुपये के नोट से लेकर १००० तक के जितने नोट हैं, वे सभी वास्तविक मुद्रा हैं। हिसाब की मुद्रा से हमारा अभिप्राय उस मुद्रा से होता है जिसमें ऋणों की मात्रा, कीमतें तथा क्रयः शक्ति को सूचित किया जाता है और जिसमें सभी प्रकार का हिसाब किताब रखा जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसी मुद्रा का वास्तव में प्रचलन हो ही। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि सन् १६२३ में जर्मनी में मार्क चलन के रूप में प्रचलित था, परन्तु हिसाब की मुद्रा फ्रैंक अथवा डालर होती थी। इसी प्रकार अमरीका में सन् १६३३ तक हिसाब की मुद्रा स्वर्ण डालर था, यद्यपि प्रचलन केवल कागज के नोटों तथा गिलट और तांबे के सिक्कों का ही था। भारत में सभी प्रकार का हिसाब रुपये, आने और पाई में रखा जाता रहा है, यद्यपि पाई नाम के सिक्के का प्रचलन कभी का समाप्त हो चुका है। ठीक इसी प्रकार इङ्गलैंड में सोने का पौंड लेखे की इकाई है, यद्यपि काफी लम्बे काल से इस सिक्के का चलन मिट चुका है।

वास्तविकता यह है कि हिसाब की मुद्रा प्रचलित मुद्रा का सैद्धान्तिक रूप है और वास्तविक मुद्रा उसका व्यावहारिक रूप है। यह सम्भव है कि व्यावहारिक जीवन में मुद्रा का रूप बदल जाय, परन्तु हिसाब किताब के लिए उसका पुराना ही रूप बना रहे और इस प्रकार प्रचलित तथा हिसाबी रूप में अन्तर हो जाय, जिसके कारण वास्तविक और हिसाब की मुद्रायें अलग-अलग हो जाती हैं।

कुछ लेखकों ने वास्तविक मुद्रा को भी दो और भागों में विभाजित किया है, अर्थात् पदार्थ-मुद्रा (Commodity Money) तथा प्रतिनिधि मुद्रा (Representative Money)। पदार्थ मुद्रा को ही कभी कभी पूर्णकाय मुद्रा (Full-bodied Money) भी कहा जाता है। पदार्थ मुद्रा किसी न किसी धातु की बनी होती है और सिक्के पर लिखी हुई कीमत सिक्के की निहित कीमत अथवा उसके धातु-मूल्य के बराबर होती है। ऐसी मुद्रा में यह गुण होता है कि इसे विनिमय-माध्यम के रूप में तो उपयोग किया जाता ही है, परन्तु साथ ही साथ मूल्य का संचय भी इसी में किया जाता है। इस मुद्रा का धातु के रूप में उतना ही मूल्य होता है जितना कि मुद्रा के रूप में।

प्रतिनिधि मुद्रा वह होती है जिसका प्रचलन तो होता है और उसे विनिमय माध्यम के रूप में भी उपयोग किया जाता है, परन्तु उसमें मूल्य का संचय नहीं किया जाता है। ऐसी मुद्रा को पदार्थ मुद्रा में बदलने की सुविधा दी जाती है, इस कारण यद्यपि यह मुद्रा स्वयं मूल्य के संचय का कार्य नहीं करती है, परन्तु मूल्य का सूचक अथवा प्रतिनिधि होती है, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर इसे पदार्थ मुद्रा में बदला जा सकता है। सभी प्रकार की पत्र-मुद्रा प्रतिनिधि मुद्रा ही होती है। मूल्य के संचय के लिए इसे अक्सर धातु मुद्रा में बदल लिया जाता है।

(२) विधि-ग्राह्य मुद्रा तथा ऐच्छिक मुद्रा (Legal Tender Money and Optional Money)—विधि-ग्राह्य मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसे शोधन के साधन के रूप में सरकार तथा विधान द्वारा स्वीकार किया जाता है। इस मुद्रा में सभी प्रकार का भुगतान किया जा सकता है, चाहे वह वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य चुकाने से सम्बन्धित हो अथवा ऋणों का भुगतान करने से। विधान के अनुसार कोई भी व्यक्ति इस मुद्रा में भुगतान लेने से इन्कार नहीं कर सकता है। इन्कार करने वालों को बहुधा दण्ड दिया जाता है। ऐसी मुद्रा की स्वीकृति वैधानिक दृष्टि से अनिवार्य होती है। इसके विपरीत ऐच्छिक मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसे देश की सामान्य स्वीकृति प्राप्त होती है, परन्तु कानूनन उसको स्वीकार करना अनिवार्य नहीं होता है। प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण अधिकार होता है कि वह इसमें भुगतान स्वीकार कर ले अथवा इन्कार कर दे। साधारणतया जब ऐसी मुद्रा को स्वीकार किया जाता है तो देने वाले की साख देख ली जाती है, इसलिए ऐसी मुद्रा की स्वीकृति चुकाने वाले के विश्वास पर निर्भर होती है। यदि लेने वाले को देने वाले की साख में विश्वास नहीं है तो वह इसमें भुगतान स्वीकार नहीं करेगा। एक देश में लगभग सभी प्रकार का चलन विधि-ग्राह्य होता है, परन्तु चैक, बैंक-नोट, विनिमय बिल, प्रतिज्ञापत्र (Promissory Notes), हुण्डी आदि ऐच्छिक मुद्राएँ हैं। इन्हें विश्वास के कारण स्वीकार किया जाता है। विश्वास का अभाव होने ही इनमें भुगतान लेने से इन्कार कर दिया जाता है।

विधि-ग्राह्य मुद्रा भी दो प्रकार की होती है, अर्थात् असीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा (Unlimited Legal-Tender Money) तथा सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा (Limited Legal-Tender Money)। यदि किसी मुद्रा के विषय में सरकार द्वारा यह नियम बना दिया जाता है कि उसमें भुगतान लेना अनिवार्य है, चाहे भुगतान की मात्रा कितनी ही क्यों न हो तो ऐसी मुद्रा को असीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा कहा जाता है। भारत में एक

रुपये और अठन्नी के सिक्के तथा सभी कीमतों के कागजी नोट असीमित विधि-ग्राह्य हैं। सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसकी अनिवार्य स्वीकृति की सरकार द्वारा सीमा निश्चित कर दी जाती है। एक निश्चित कीमत की मात्रा तक इस मुद्रा में शोधन स्वीकार करना अनिवार्य होता है, परन्तु इस सीमा के ऊपर शोधन स्वीकार करने के लिये किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता है। स्वीकार करना या करना भुगतान पाने वाले की इच्छा पर निर्भर होता है। भारत में चवन्नी तथा दुअन्नी के सिक्के १० रुपये तक विधि-ग्राह्य हैं। दो पैसे तथा एक पैसे के सिक्के केवल १ रुपये तक ही विधि-ग्राह्य हैं। इससे ऊपर की रकम का शोधन स्वीकार करने के लिए कोई भी बाध्य नहीं है। यद्यपि व्यावहारिक जीवन में ऐसा बहुधा देखने में आता है कि लोग शोधन स्वीकार कर लेते हैं।

(३) **धातु-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा** (Metallic Money and Paper Money)—मुद्रा का वर्गीकरण उस पदार्थ के आधार पर भी किया जाता है जिसकी वह बनी हुई होती है। इस दृष्टिकोण से मुद्रा दो प्रकार की होती है: धातु-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा। यद्यपि धातु तथा कागज के अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी मुद्रा के रूप में उपयोग किये जाते हैं और भूतकाल में किये गये हैं, परन्तु आधुनिक युग में अधिकांश चलन इन दोनों का ही है।

भारत में दोनों ही प्रकार की मुद्रा प्रचलित है। धातु-मुद्रा एक रुपये, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी, दो पैसा तथा पैसे के रूप में पाई जाती है और पत्र-मुद्रा एक-रुपया, दो-रुपया, पाँच-रुपया, दस-रुपया तथा सौ-रुपया के नोटों के रूप में प्रचलित है। प्रथम अप्रैल सन् १६५७ से १, २, ५ और १० पैसे और १ रुपये की धातु-मुद्रा भी पुरानी धातु-मुद्रा के साथ चालू है। भूत-काल में देश में प्रचलित मुद्रा साधारणतया सोने और चाँदी के सिक्कों की होती थी। तुच्छ धातुओं, जैसे—गिलट, ताँबा आदि के सिक्के केवल खेरीज की आवश्यकता को पूरा करते थे, परन्तु आधुनिक संसार में अधिकाँश मुद्रा पत्र-मुद्रा और छोटी कीमत के तुच्छ धातुओं के सिक्कों के रूप में होती है।

धातु-मुद्रा को भी दो बड़े-बड़े भागों में बाँटा जाता है, अर्थात् धातु-चलन (Metallic Currency) तथा धातुमान (Metallic Standard)। धातु-चलन से हमारा अभिप्राय धातु के उन सिक्कों से होता है जिनका वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय में एक व्यक्ति से दूसरे के पास हस्तान्तरण होता रहता है। ये सिक्के विनिमय-माध्यम के रूप में देश में चालू रहते हैं। धातु-मान से हमारा अभिप्राय उस धातु से होता है

जो देश में मूल्य को नापनें के लिए उपयोग की जाती है, अर्थात जिस धातु में अन्य सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत आँकी जाती है।

इसी प्रकार पत्र-मुद्रा को भी दो भागों में बाँटा जाता है, अर्थात् कागजी नोट तथा कागजी मान। जो कागजी मुद्रा विनिमय-माध्यम के रूप में चालू होती है उसे कागजी नोट कहते हैं। कागजी मान से हमारा अभिप्राय एक ऐसे मुद्रा-मान (Monetary Standard) से होता है जिसमें किसी धातु को कीमतों के सामूहिक मापक के रूप में उपयोग नहीं किया जाता, बल्कि कागजी मुद्रा में ही वस्तुओं और सेवाओं की क़ीमतें नापी जाती हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र में पत्र-मुद्रा का एक और भी रूप प्रचलित है, जिसे हम साख-मुद्रा (Credit Money) अथवा बैंक-मुद्रा का नाम देते हैं। इस प्रकार की मुद्रा साधारणतया बैंकों द्वारा उत्पन्न की जाती है और ऐच्छिक मुद्रा होती है। चैक, हुन्डियाँ विनिमय बिल, प्रतिज्ञा-पत्र आदि इसके अच्छे उदाहरण हैं। आधुनिक संसार में इनका भी चलन बहुत है।

धातु चलन के रूप (The Forms of Metallic Currency)—

सभी प्रकार का धातु-चलन विधि-ग्राह्य होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि कुछ सिक्के असीमित विधि-ग्राह्य होते हैं और कुछ सीमित विधि-ग्राह्य। एक दूसरे दृष्टिकोण से धातु के सिक्के तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) प्रामाणिक अथवा पूर्णकाय सिक्के (Standard or Full-Bodied Coins)—इन सिक्कों की प्रमुख विशेषता यह होती है कि इन पर अंकित कीमत सिक्के में लगी हुई धातु की कीमत के बराबर होती है। दूसरे शब्दों में, इन सिक्कों की अंकित कीमत निहित कीमत के बराबर होती है। यदि सिक्के को गला कर धातु के रूप में बेचा जाय तो कोई हानि नहीं होती है। ऐसे सिक्कों में चार मुख्य गुण होते हैं:—

(अ) अंकित मूल्य (Face Value) निहित मूल्य अथवा धातु-मूल्य के बराबर होता है।

(ब) यह सिक्का असीमित विधि-ग्राह्य होता है।

(स) इसी सिक्के में देश के भीतर सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत नापी जाती है। कीमतों की सामूहिक माप का सूचक यही सिक्का होता है।

(द) इसका टङ्कन अथवा इसकी ढलाई स्वतन्त्र होती है।

जब तक इङ्गलैंड में स्वर्णमान प्रणाली प्रचलित थी, ब्रिटिश सावरेन इङ्गलैंड का प्रामाणिक सिक्का था, परन्तु सितम्बर सन् १९३१ में इङ्गलैंड

ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया और अब उस देश में कोई प्रामाणिक सिक्का नहीं है। भारत में इस प्रकार का सिक्का लगभग कोई नहीं रहा है। महारानी विक्टोरिया के काल में रुपये में एक रुपये की कीमत की चाँदी रहती थी; इसलिए यह सिक्का पूर्णकाय सिक्का था। इस समय भी देश का प्रधान सिक्का रुपया ही है। इसमें असीमित विधि-ग्राह्य होने का गुण है और पूरे देश में इसी में वस्तुओं और सेवाओं की कीमत नापी जाती है, अतएव यह देश की प्रामाणिक मुद्रा है, परन्तु भारतीय रुपया पूर्णकाय सिक्का नहीं है। धातु के रूप में इसकी कीमत अंकित कीमत से बहुत कम होती है और इसकी ढलाई भी स्वतन्त्र नहीं है। इस प्रकार एक ओर तो भारतीय रुपया प्रामाणिक सिक्का है और दूसरी ओर यह केवल एक सांकेतिक सिक्का है, क्योंकि धातु के रूप में रुपये की कीमत एक रुपये से बहुत कम है। यही कारण है कि कुछ लेखकों ने भारतीय रुपये को सांकेतिक मान (Token Standard) कहा है।

(२) **सांकेतिक सिक्के** (Token Coins)—सांकेतिक सिक्के वे सिक्के होते हैं जिनका अंकित मूल्य उनके धात्विक मूल्य से अधिक होता है। ऐसे सिक्कों का धातु-मूल्य उनके मुद्रा-मूल्य से बहुत कम होता है। यही कारण है कि ऐसे सिक्कों को गलाया नहीं जाता है, क्योंकि ऐसा करने से हानि होती है। खेरीज (Small Change) के लिए जिन सिक्कों को रखा जाता है वे साधारणतया सांकेतिक ही होते हैं। ऐसे सिक्के बहुधा सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा होते हैं, परन्तु भारतीय रुपये का स्थान भिन्न है। वह सांकेतिक सिक्का होते हुए भी असीमित विधि-ग्राह्य है।

ऐसे सिक्कों की कीमत उनके भीतर रहने वाली धातु पर निर्भर नहीं होती है, बल्कि सरकारी आदेश द्वारा निर्धारित होती है। यही कारण है कि कुछ लेखकों ने इन्हें प्रादिष्ट सिक्के अथवा प्रादिष्ट मुद्रा (Fiat Coins or Money) भी कहा है। ऐसे सिक्कों की ढलाई प्रायः इन दो कारणों से की जाती है। यदि सरकार के पास बहुमूल्य धातु की कमी है, और मुद्रा को बढ़ाने की आवश्यकता है तो वह सांकेतिक सिक्के तैयार करती है। इस प्रकार बहुमूल्य धातु के उपयोग में बचत हो जाती है और धातु की थोड़ी सी मात्रा से ही अधिक मुद्रा तैयार कर ली जाती है। दूसरे, कभी-कभी जनता द्वारा सिक्कों के गलाने को रोकने के लिए भी उन्हें सांकेतिक बना दिया जाता है। सन् १९४० में भारतीय रुपये के सम्बन्ध में एक अजीब स्थिति पैदा हो गई थी। यद्यपि पहिले से ही भारतीय रुपया एक सांकेतिक सिक्का था और उसमें चाँदी की मात्रा केवल ११/१२ थी, परन्तु युद्ध-काल में चाँदी के दाम इतने चढ़ गये थे कि सन् १९४० में भारतीय रुपया एक पूर्णकाय सिक्का बन गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि सब

आरक्षित कोषों (Hoards) में संचय होने लगा। युद्ध के बाद सरकार ने इस रुपये का [illegible] कर दिया और इसके स्थान पर नये रुपये के सिक्के चालू किए, जिनमें चांदी की मात्रा केवल ½ रखी गई। रुपया फिर सांकेतिक सिक्का बन गया। इस प्रकार आज भी हमारा [illegible] का रुपया एक सांकेतिक सिक्का ही है।

इसमें तो सन्देह नहीं है कि पूर्णकाय सिक्कों की तुलना में सांकेतिक सिक्के खराब मुद्रा होते हैं, क्योंकि इनके प्रति जनता का विश्वास उतना अधिक नहीं होता है जितना कि पूर्णकाय प्रामाणिक सिक्कों के प्रति, परन्तु वर्तमान संसार में ऐसे ही सिक्कों का चलन है और व्यावहारिक जीवन में इनसे कोई कठिनाई भी उत्पन्न नहीं होती है। कागजी मुद्रा से तो सांकेतिक सिक्के हर दशा में अच्छे होते हैं, क्योंकि कागजी मुद्रा का तो लगभग कुछ भी निहित मूल्य नहीं होता है। यदि सरकार समझदारी से काम लेती है तो इन सिक्कों पर से विश्वास उठ जाने का प्रश्न बहुत कम ही पैदा होता है।

(३) गौण सिक्के (Subsidiary Coins)—ऐसे सिक्कों की निकासी छोटे लेनदेन की सुविधा के लिए की जाती है। इनकी प्रमुख विशेषतायें निम्न प्रकार हैं:—

(अ) ये साधारणतया थोड़ी कीमत के सिक्के होते हैं।
(आ) इनका मुख्य कार्य कम कीमत की वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय को सरल बनाना होता है।
(इ) ये सभी सिक्के सांकेतिक होते हैं।
(ई) इन सिक्कों का प्रामाणिक सिक्के से एक निश्चित सम्बन्ध रहता है।
(उ) इनकी ढलाई स्वतन्त्र नहीं होती है और इनकी निकासी सरकार द्वारा एक निश्चित मात्रा में ही की जाती है।
(ऊ) ये सिक्के सदा ही सीमित विधिग्राह्य होते हैं।

भारत में चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी, दो पैसा तथा पैसा इसी प्रकार के सिक्के हैं।

पत्र-मुद्रा के भेद—

आधुनिक युग में लगभग सभी देशों में मुद्रा का अधिकांश भाग पत्र-मुद्रा के ही रूप में पाया जाता है। कुछ विशेष कारणों से पत्र-मुद्रा का उपयोग अधिक सुविधाजनक होता है, क्योंकि एक तो, इसे एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में सुविधा रहती है और दूसरे, इसमें चलन के अन्तर्गत घिसावट द्वारा मूल्य के ह्रास का भय नहीं रहता है। वर्तमान संसार की

प्रधान मुद्रा पत्र-मुद्रा ही है और इसलिए हमारा युग आर्थिक भाषा में पत्र-मुद्रा का युग कहलाता है। पत्र-मुद्रा के दो प्रधान रूप होते है :—पत्र-मुद्रा चलन (Paper Currency) तथा पत्र-मुद्रा मान (Paper Standard)। प्रस्तुत अध्याय में हम केवल पत्र-मुद्रा चलन का ही अध्ययन करेंगे। पत्र-मुद्रा चार प्रकार की होती है :—

(१) **प्रतिनिधि पत्र मुद्रा** (Representative Paper Money)—पत्र-मुद्रा में जनता का विश्वास बनाये रखने के लिए सरकार ऐसी मुद्रा के पीछे किसी बहुमूल्य धातु की आड़ अथवा निधि (Reserve) रखती है। यह आंड़ साधारणतया सोने और चाँदी के रूप में रखी जाती है। यदि पत्र-मुद्रा के पीछे उसके मूल्य का १००% सोना और चाँदी निधि के रूप में रखा जाता है तो ऐसी पत्र-मुद्रा प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा कहलाती है। ऐसी मुद्रा का यह नाम इसलिए पड़ा है कि वास्तव में यह पत्र-मुद्रा उस सोने अथवा चाँदी के प्रतिनिधि के रूप में प्रचलन में रहती है जो सुरक्षित कोष में रख दिया गया है। ऐसी पत्र-मुद्रा प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह किसी भी समय कागज के नोट को सरकार से सोने अथवा चाँदी में बदल ले। ऐसी मुद्रा के उपयोग का प्रमुख उद्देश्य सिक्कों की घिसावट की हानि को बचाना होता है।

प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा सबसे अच्छी पत्र-मुद्रा समझी जाती है। इस मुद्रा पर जनता को अटल विश्वास होता है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वह किसी भी समय अपने पास के कागज के नोट को सोना या चाँदी में बदल सकता है और सरकार के पास नोटों को बदलने के लिये काफी सुरक्षित कोष है। इसके अतिरिक्त ऐसी मुद्रा को अत्यधिक मात्रा में निकालने का तनिक भी भय नहीं रहता है। इस मुद्रा को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि ठीक उतनी ही कीमत का सोना और चाँदी कोषागार में जमा किया जाय और क्योंकि चाँदी या सोना अत्यधिक मात्रा में मिलना कठिन होता है, इसीलिये मुद्रा की निकासी सीमित ही रहती है, परन्तु इन सब गुणों के होते हुए भी इस प्रकार की मुद्रा का चलन बहुत ही कम रहा है। यह मुद्रा चलन प्रणाली को बेलोच बना देती है। बिना सोना चाँदी प्राप्त किये मुद्रा की मात्रा को बढ़ाना सम्भव नहीं होता है। राष्ट्रीय संकट के समय तो ऐसी पत्र-मुद्रा प्रणाली को भंग करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि ऐसे काल में बहुमूल्य धातुओं का प्राप्त करना कठिन होता है, जबकि मुद्रा की मात्रा का बढ़ाना आवश्यक होता है। कुछ देशों ने इस सम्बन्ध में एक नई रीति अपनाई थी। इङ्गलैंड में एक निश्चित मात्रा तक कागज के नोट बिना किसी प्रकार की धातु आड़ के निकाल

जाती थी। बिना आड़ का ऐसा निकासी को अर्थशास्त्र में विश्वासाश्रित निकासी (Fiduciary Issue) कहा जाता है।

व्यावहारिक जीवन में इस प्रकार की मुद्रा का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण, संयुक्त राज्य अमरीका के स्वर्ण तथा चाँदी प्रमाण-पत्रों (Gold and Silver Certificates) में मिलता है, जिनकी गारन्टी सरकार द्वारा उतनी कीमत का सोना और चाँदी सरकारी कोषागार में जमा करके दी जाती थी। भारत में ऐसी पत्र-मुद्रा का चलन नहीं रहा है, परन्तु सन् १९२७ के भारतीय चलन तथा वित्त के शाही आयोग ने स्वर्णराट प्रमाणपत्रों (Gold Bullion Certificates) के रूप में ऐसी पत्र-मुद्रा की निकासी का सुझाव दिया था।

(2) परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा (Convertible Paper Money)—प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा में एक भारी दोष यह होता है कि मुद्रा-प्रणाली बेलोच हो जाती है। प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा के सभी लाभों को प्राप्त करने और इस दोष को दूर करने के लिये परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का आविष्कार किया गया, जिसके गुण निम्न प्रकार हैं :—

(अ) कागजी मुद्रा के पीछे सोने अथवा चाँदी की आड़ रखी जाती है, परन्तु नोटों की कीमत से कम कीमत की निधि रखी जाती है।

(ब) सरकार द्वारा यह गारन्टी दी जाती है कि कोई भी व्यक्ति नोटों को सरकारी खजाने से सोना अथवा चाँदी में बदल सकता है।

(स) सरकार विदेशी भुगतानों को चुकाने के लिये सोने या चाँदी का एक कोष रखती है।

(द) सुरक्षित निधि का एक भाग पूर्णकाय सिक्कों, सांकेतिक सिक्कों तथा प्रतिभूतियों के रूप में रखा जाता है।

(इ) सोने और चाँदी की कीमतें निर्धारित कर दी जाती हैं और सरकार इन कीमतों पर सोना और चाँदी खरीदने तथा बेचने को तैयार रहती है।

इस प्रकार की पत्र-मुद्रा से कुछ विशेष लाभ प्राप्त होते हैं। धातु की आड़ रहने के कारण इस पर जनता का विश्वास बना रहता है और क्योंकि सरकार कागजी नोटों को सोने अथवा चाँदी में बदलने का वचन देती है, इसलिए देशवासियों को घरेलू तथा विदेशी व्यापार के लिये सोना-चाँदी मिल जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसी पत्र-मुद्रा द्वारा सोने और चाँदी के उपयोग में बचत होती है। थोड़े से सुरक्षित कोष के आधार

पर प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा की तुलना में कई गुना अधिक मुद्रा की निकासी की जा सकती है और मुद्रा-प्रणाली लोचदार हो जाती है, परन्तु ऐसी पत्र मुद्रा के कुछ गम्भीर दोष भी हैं : प्रथम, इस पत्र-मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास इतना अधिक नहीं हो सकता है जितना कि प्रतिनिधि पत्र मुद्रा के प्रति। विश्वास की इस कमी के बहुधा घातक परिणाम होते हैं और संकट काल में मुद्रा के प्रचलन को बनाये रखना कठिन हो जाता है। दूसरे, इस प्रकार की मुद्रा-प्रणाली का सरकार द्वारा दुरुपयोग किया जा सकता है। बहुत बार आसानी से अधिक आय प्राप्त करने के लिए सरकार बिना सोचे-समझे पत्र-मुद्रा की निकासी करती जाती है। परिवर्तनशील कागजी मुद्रा में इस प्रकार की निकासी की सम्भावना काफी अधिक रहती है। इससे एक ओर तो मुद्रा पर से जनता का विश्वास उठ जाता है और दूसरी ओर भीषण मुद्रा-प्रसार के कारण देश का [illegible], आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन चौपट हो जाता है।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् संसार के बहुत से देशों में ऐसी मुद्रा का प्रचलन रहा है। ऐसी मुद्रा प्रणाली में दो प्रकार की पत्र मुद्रा होती है। कुछ पत्र-मुद्रा के पीछे तो १००% सोने और चाँदी की आड़ होती है। मुद्रा की ऐसी निकासी को आश्रित निकासी (Covered Issue) कहते हैं। शेष पत्र-मुद्रा के पीछे केवल कागजी प्रतिभूतियों की आड़ रहती है और इसे विश्वासाश्रित निकासी (Fiduciary Issue) कहा जाता है। सन् १९२५ में इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस दोनों ही देशों ने यह पत्र मुद्रा प्रणाली अपनाई थी। सन् १९२७ में शाही आयोग की सिफारिशों के आधार पर भारतीय पत्र-मुद्रा को परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा बना दिया गया था। सरकार द्वारा सोने की कीमत २१ रुपये ७ आने १० पाई फी तोला निर्धारित की गई थी और सरकार ने इस दर पर प्रत्येक कागजी नोट के बदले सोना देने की गारन्टी दी थी, यद्यपि अपनी सुविधा के लिए सरकार ने यह शर्त लगा दी थी कि कोई भी व्यक्ति ४० तोले से कम सोना एक बार सरकारी कोषागार से नहीं खरीद सकता था। यह प्रणाली सन् १९३१ तक चालू रही। स्वर्णमान पद्धति के अन्त के साथ-साथ इसका भी अन्त हो गया।

(३) अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Money)—प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा तथा परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का आज के संसार में केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही शेष रह गया है। वास्तविक जीवन में चलन केवल अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का ही पाया जाता है। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा को किसी धातु में बदला नहीं जा सकता है। यह पत्र-मुद्रा शासन की साख पर चालू रहती है। जितनी ही शासन की आर्थिक दृढ़ता अधिक होती

है उतना ही इस मुद्रा पर जनता का विश्वास भी अधिक होता है। किसी प्रकार का संचित कोष इस पत्र-मुद्रा के पीछे नहीं रखा जाता है। सरकार अथवा मुद्रा अधिकारी की आज्ञानुसार इसका चलन होता है। शुरू में इस प्रकार की मुद्रा की निकासी साधारणतया युद्ध-काल अथवा अन्य राष्ट्रीय संकट के समय में की जाती थी, परन्तु वर्तमान संसार में ऐसी मुद्रा का चलन एक बड़ी स्वाभाविक तथा साधारण घटना समझी जाती है। ऐसी पत्र-मुद्रा की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

(क) पत्र-मुद्रा के पीछे किसी प्रकार की धातु की आड़ नहीं होती है। केवल सरकारी प्रतिभूतियों, बॉन्ड्स (Bonds) तथा कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) की आड़ रहती है। इस प्रकार सुरक्षित कोष भी कागजी होता है।

(ख) सरकार द्वारा कागजी नोटों को सोने या चाँदी में बदलने की गारन्टी नहीं दी जाती है। भारत सरकार अपनी पत्र-मुद्रा को छोटी कीमत के कागजी नोटों तथा सांकेतिक रुपये के सिक्कों में ही बदलने का विश्वास दिलाती है।

(ग) विदेशी व्यापार की सुविधा के लिए सरकार देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय दर निश्चित कर देती है। इस समय भारतीय रुपये की विदेशी विनिमय दर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित की जाती है।

(घ) कागज के नोट प्रमाणित तथा असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा होते हैं।

(४) प्रादिष्ट पत्र-मुद्रा (Fiat Money)—यह पत्र मुद्रा अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा का ही एक रूप है। इसको कभी-कभी संकटकालीन मुद्रा (Emergency Money) भी कहा जाता है। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा की भाँति इसके पीछे भी किसी प्रकार की सुरक्षित निधि धातु के रूप में नहीं रखी जाती है और इसे सोने अथवा चाँदी में बदलने की किसी प्रकार की गारन्टी भी नहीं दी जाती है, परन्तु इस पत्र-मुद्रा की निम्न विशेषताएँ इसे साधारण अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा से अलग करती हैं:—

(अ) यह पत्र-मुद्रा संकट काल में निकाली जाती है।

(ब) इसकी निकासी सीमित मात्रा में की जाती है।

(स) इसके पीछे कागजी आड़ भी नहीं होती है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के पीछे कागजी आड़ अवश्य रहती है, परन्तु प्रादिष्ट मुद्रा के पीछे किसी भी प्रकार की आड़ नहीं होती है।

इस मुद्रा को असाधारण पत्र-मुद्रा कहना अनुपयुक्त न होगा।

विशेष आर्थिक परिस्थिति का सामना करने के लिए सरकार इसे निकालती है। यह मुद्रा भी असीमित विधि-ग्राह्य होती है। इस मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास सबसे कम होता है। यही कारण है कि इसे थोड़ी मात्रा में निकाला जाता है और संकट-काल का अन्त होने पर सरकार इसे साधारण अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा में बदल देती है।

कैन्ट के अनुसार प्रादिष्ट मुद्रा की तीन प्रमुख विशेषताएँ होती हैं* :—प्रथम, पदार्थ के रूप में इसका लगभग कुछ भी मूल्य नहीं होता है। दूसरे, इस मुद्रा को किसी ऐसी वस्तु में बदलने की गारन्टी नहीं दी जाती हैं जिसका वर्णित मूल्य प्रादिष्ट मुद्रा के बराबर हो। तीसरे, इसकी क्रयः शक्ति को किसी अन्य वस्तु के समान नहीं रखा जाता है, इस कारण इस मुद्रा की कीमत स्वतन्त्र रूप में निर्धारित होती है। अधिकांश सरकारें अपनी मुद्रा की प्रादिष्ट प्रकृति को स्वीकार करने में संकोच करती हैं, परन्तु आधुनिक-युग के बहुत से अर्थशास्त्री प्रादिष्ट मान के पक्ष में हैं। कहा जाता है कि ठीक नियन्त्रण द्वारा ऐसा मान आर्थिक तथा वित्तीय सुविधाएँ प्रदान कर सकता है। इसके विपरीत प्रादिष्ट मुद्रा के आलोचकों का कहना है कि इस मुद्रा के प्रचार से दो गम्भीर दोष उत्पन्न होंगे :—प्रथम, यदि संसार के सभी देश ऐसी मुद्रा प्रणाली को ग्रहण कर लें तो अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में भारी उलझन पैदा हो जायगी। दूसरे, इस मुद्रा में अत्यधिक निकासी का भय सदा ही बहुत रहता है। बड़ी कठिनाई यह है कि ऐसी मुद्रा की निकासी को नियन्त्रित रखने का कोई भी व्यावहारिक उपाय नहीं है। इसे राष्ट्रीय नीति का आधार बनाना संकट से खाली नहीं है।

प्रादिष्ट मुद्रा के प्रमुख उदाहरण फ्रांस के एसाइनेंट (Assignats), जो सन् १७८६ और सन् १७६६ के बीच चालू रहे, अमरीका के क्रान्ति-काल के कॉन्टीनैन्टलस् (Continentals) तथा गृह-युद्ध के काल में ग्रीन-बैकस् (Greenbacks) और प्रथम युद्ध के उपरान्त जर्मनी के कागजी मार्क (Paper Marks) द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। इन सभी मुद्राओं में अत्यधिक निकासी की आम प्रवृत्ति थी। भारत में एक रुपये का नोट इसका अच्छा उदाहरण है, यद्यपि अब रिजर्व बैंक इसकी अपरिवर्तनशील मुद्रा के रूप में फिर से निकासी कर रही है।

टंकन, मुद्रण अथवा ढलाई (Coinage)—

मुद्रा के विभिन्न रूपों का अध्ययन करने के बाद यह आवश्यक मालूम होता है कि सिक्कों के मुद्रण के विषय में भी थोड़ा सा बता दिया जाय। सिक्कों के उपयोग के साथ ही साथ उनकी ढलाई की समस्या उत्पन्न हुई और

* See Raymond P. Kent : *Money & Banking* pp. 53-56.

विभिन्न देशों ने उनके मुद्रण की कला का आविष्कार किया। ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि सबसे पहले लीडिया (Lydia) के देश में सिक्कों की ढलाई का काम आरम्भ हुआ। मिस्र के निवासी भी इस कला से बहुत प्राचीन काल से परिचित थे। सिक्कों की ढलाई की कला को ही मुद्रण अथवा टंकन (Coinage) का नाम दिया जाता है।

धातु के टुकड़ों को मुद्रा के रूप में उपयोग करते समय सबसे पहिली कठिनाई यह पैदा हुई थी कि धातु के सभी टुकड़ों को एक ही वजन तथा एक ही शुद्धता का बनाना कठिन था। परिणाम यह होता था कि उनको स्वीकार करते समय प्रत्येक बार व्यापारियों तथा जन-साधारण को उनकी शुद्धता की जाँच करनी पड़ती थी और उनको तोलना पड़ता था। इसमें भारी असुविधा थी और ठगे जाने का भी भय रहता था। इन्हीं कठिनाइयों के कारण राज्य ने सिक्कों के निर्माण का काम शुरू किया। शुरू-शुरू में टंकन-कला में काफी शिल्प सुधार नहीं हो पाया था, परन्तु धीरे धीरे सुधार होते गये और १८ वीं शताब्दी में ऐसे सिक्कों का निर्माण होने लगा, जो सभी दृष्टिकोणों से सन्तोषजनक कहे जा सकते थे। आरम्भ में सिक्कों के निर्माण का कार्य अनेक व्यक्तिगत टकसालों तथा कारखानों द्वारा किया जाता था, परन्तु धीरे-धीरे टंकन राजकीय एकाधिकार बन गया और उसमें एकरूपता तथा समान शुद्धता उत्पन्न हो गई।

मुद्रण का उद्देश्य साधारणतया यही होता है कि समान वजन तथा समान शुद्धता के सिक्के तैयार किये जायँ, जिससे धोखेबाजी और नकली सिक्कों का बनाना कम हो जाय। मुद्रण के बहुत से उद्देश्य होते हैं:—(१) सिक्कों में से धातु को काटकर अथवा गलाकर निकालने की प्रवृत्ति को रोकना। (२) सिक्कों में इतनी सख्ती अथवा इतना कड़ापन उत्पन्न करना कि प्रचलन के अन्तर्गत घिसावट द्वारा धातु नष्ट न होने पाये। इसके लिए बहुमूल्य धातुओं के सिक्कों को कड़ा करने के लिए उनमें थोड़ा टांका मिला दिया जाता है। (३) नकली तथा जाली सिक्कों को बनने से रोकना। इसके लिए सिक्कों पर सरकारी मुहर लगाई जाती है और उनकी ढलाई विधि ऐसी रखी जाती है कि अन्य व्यक्ति उन्हें बना न सकें और (४) सिक्कों को कलापूर्ण तथा सुन्दर रूप प्रदान करना, जिससे कि भविष्य में वे अपने काल के स्मरण चिह्न बन सकें। आधुनिक युग में इन उद्देश्यों के अतिरिक्त सरकार टङ्कन द्वारा आय प्राप्त करने का भी प्रयत्न करती है।

मुद्रण प्रणालियाँ—

संसार में मुद्रण की दो प्रमुख प्रणालियाँ दिखाई पड़ती हैं:—प्रथम, स्वतन्त्र मुद्रण (Free Coinage) और दूसरे, सीमित मुद्रण (Limited

Coinage) । स्वतन्त्र मुद्रण को कभी-कभी असीमित मुद्रण भी कहा जाता है । स्वतन्त्र मुद्रण प्रणाली में जनता को यह अधिकार होता है कि वह धातु-पाट (Bullion) को सरकारी टकसाल पर ले जाकर सिक्कों में ढलवा सकती है । कभी-कभी तो यह कार्य सरकार द्वारा निःशुल्क किया जाता है, परन्तु बहुत बार सरकार इसके लिए शुल्क लेती है, अपितु दोनों ही दशाओं में जनता को धातुपाट को सिक्कों में ढलवाने की स्वतन्त्रता होती है । संसार के बहुत से देशों में भूतकाल में यही प्रणाली प्रचलित थी, मुख्यतया इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान और भारत में । सीमित मुद्रण प्रणाली में सिक्के सरकारी लेखे पर ही तैयार किए जाते हैं । सरकार को मुद्रा उत्पादन का एकाधिकार होता है । वह स्वयं धातु खरीद कर मुद्रा बनाने का कार्य करती है । जनता को यह अधिकार नहीं होता कि वह सोने चाँदी को निजी तौर से सिक्कों में ढलवा सके । इस समय संसार के सभी देशों में लगभग यही प्रणाली प्रचलित है । भारत में सन् १८९३ तक स्वतन्त्र मुद्रण प्रणाली प्रचलित थी, परन्तु हरशैल (Herschell) समिति की सिफारिशों पर सन् १८९३ में भारत सरकार ने चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द कर दिया था । तब से भारत में सीमित मुद्रण प्रणाली चालू है ।

स्वतन्त्र मुद्रण के दो रूप होते हैं, अर्थात् निःशुल्क मुद्रण (Gratuitous Coinage) तथा सःशुल्क मुद्रण (Non gratuitous Coinage) । प्रथम प्रकार के मुद्रण में सरकार ढलाई के लिए किसी प्रकार का शुल्क नहीं लेती है । ढलाई का काम मुफ्त किया जाता है । ढलाई में जो व्यय होता है उसे सरकार अपनी साधारण आय में से चुकाती है । इङ्गलैण्ड तथा अमरीका में भूतकाल में यही मुद्रण प्रणाली प्रचलित थी । यह प्रणाली पूर्णकाय सिक्कों की ढलाई के लिए अच्छी होती है । सःशुल्क मुद्रण प्रणाली में सरकार सिक्कों की ढलाई के लिए शुल्क लेती है । प्रत्येक व्यक्ति को धातु के अतिरिक्त कुछ अधिक सरकार को देना होता है । इस प्रणाली के दो रूप देखने में आते हैं:—

(१) मुद्रण व्यय अथवा ढलाई व्यय प्रणाली (Mintage or Brassage)—इस प्रणाली में सरकार मुद्रण के व्यय को शुल्क के रूप में लेती है । मुद्रण का व्यय सरकार उसी व्यक्ति से वसूल कर लेती है जो धातु को सिक्कों में ढलवाना चाहता है, परन्तु सरकार किसी प्रकार का लाभ नहीं कमाती है, केवल ढलाई का वास्तविक व्यय वसूल करती है ।

(२) मुद्रण लाभ प्रणाली (Seigniorage)—इस प्रणाली में सरकार सिक्कों की ढलाई के लिए मुद्रण व्यय से अधिक दाम वसूल करती है । व्यय से अधिक सरकार जो कुछ लेती है उसे मुद्रण लाभ कहते हैं ।

इस लाभ को प्राप्त करने के दो तरीके हैं, या तो सरकार धातु में टाँका (Alloy) मिला देती है या वह प्रत्यक्ष रूप में शुल्क लेती है।

यह कहना कठिन है कि मुद्रण की कौनसी प्रणाली सबसे अधिक अच्छी है। स्वतन्त्र मुद्रण प्रणाली के पक्षपाती इस बात पर जोर देते हैं कि इसके द्वारा मुद्रा की अत्यधिक निकासी का भय मिट जाता है और मुद्रा-प्रसार की सम्भावना कम हो जाती है। सीमित मुद्रण प्रणाली में यह गुण बताया जाता है कि उसमें सरकार सांकेतिक सिक्के निकाल कर सोने और चाँदी के उपयोग में बचत कर सकती है। निःशुल्क मुद्रण के समर्थकों का विचार है कि मुद्रण सरकार का ही कार्य है और उससे सम्बन्धित व्यय भी उसी पर पड़ना चाहिए। मुद्रण लाभ प्रणाली के समर्थक इस प्रणाली को इस कारण उपयुक्त बताते हैं कि इसके कारण सिक्के की अंकित कीमत निहित कीमत से अधिक हो जाती है और इस प्रकार उसके गलाने का भय नहीं रहता है।

अध्याय ४

उत्तम और हीन मुद्रा

(Good and Bad Money)

निकृष्ट सिक्के तथा अवमूल्यित मुद्रा (Debased Coins and Depreciated Money)—

जब किसी सिक्के के भीतर की धातु का वास्तविक मूल्य उस सिक्के की नियम द्वारा निर्धारित धातु की प्रामाणिक कीमत से कम रह जाता है तो उस सिक्के को निकृष्ट सिक्का कहा जाता है। भूत काल में बहुत से राजा आवश्यकता के समय प्रचलित सिक्कों को निकृष्ट बना कर अपनी आय बढ़ाने का प्रयत्न किया करते थे, परन्तु कुछ लोग धोखेबाजी करके लाभ कमाने के लिए भी सिक्कों को निकृष्ट बना देते हैं। इस कार्य के लिये कई तरीके अपनाये जाते हैं:—

(१) सिक्के के सिरों में से सावधानीपूर्वक थोड़ी-थोड़ी धातु काट ली जाती है और यह काम इतनी चतुराई से किया जाता है कि

देखने वाले को आसानी से पता न चले। इस व्यवहार को रोकने के लिए आधुनिक सरकारें सिक्कों के किनारों में छोटे-छोटे दाँते बना देती हैं, जिससे कि थोड़ी सी छिलाई का भी आसानी से पता चल जाय।

(२) तेजाब अथवा किसी दूसरे रासायनिक पदार्थ में डाल कर सिक्के पर से थोड़ी सी धातु उतार ली जाती है।

(३) सिक्कों को आपस में घिसकर अथवा रगड़ कर भी उनमें से थोड़ी सी धातु उतारी जा सकती है।

(४) जाली अथवा नकली सिक्के बनाये जाते हैं, जिनमें बहुमूल्य धातु की मात्रा सरकारी सिक्कों की अपेक्षा कम रखी जाती है। बहुत से सुनार तथा कारीगर ऐसे सिक्कों के बनाने में दक्षता प्राप्त कर लेते हैं और बहुत बार ऐसे सिक्कों के बनाने के औजार और यन्त्र पुलिस द्वारा बरामद किये जाते हैं। सरकार जाली सिक्के बनाने वालों के लिये भारी दण्ड रखती है और इस बात का भरसक प्रयत्न करती है कि सिक्कों के ऐसे नमूने बनाये जायें कि उनकी नकल न हो सके, परन्तु फिर भी जाली सिक्के बनाने का काम बराबर चलता ही रहता है।

बहुत सी दशाओं में सरकार स्वयं देश के सिक्कों को निकृष्ट बना देती है। यह काम सिक्के में बहुमूल्य धातु की मात्रा कम करके किया जाता है। भूतकाल में सरकारें आय प्राप्त करने तथा सिक्कों के निर्यात को रोकने के लिये ऐसा किया करती थीं। आजकल की सरकारें मुद्रण नियमों में संशोधन करके ऐसा किया करती हैं। साधारणतया निकृष्टिकरण (Debasement) से सरकार का आर्थिक मान कम हो जाता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में ऐसा करने की प्रथा अब लगभग सभी देशों में पाई जाती है। स्वयं भारत सरकार ने सन् १९४० में ऐसा किया था। भारतीय मुद्रण नियम सन् १९०६ के अनुसार भारतीय रुपये में $\frac{11}{12}$ भाग चाँदी होनी चाहिए, परन्तु सन् १९४० में भारत सरकार ने उसे घटा कर $\frac{1}{2}$ कर दिया था।

कागजी मुद्रा तथा अन्य मुद्रा की अत्यधिक निकासी के कारण यदि मुद्रा का मूल्य घट जाता है, अर्थात् यदि वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमत बढ़ जाती है तो ऐसी दशा में मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है। आधुनिक युग में ऐसा करने की प्रथा भी सभी देशों में पाई जाती है। युद्ध-काल में अथवा राष्ट्रीय संकट के काल में सभी सरकारें कागज के नोट छाप कर अपनी आय बढ़ाने का प्रयत्न करती हैं। इससे मुद्रा का

अवमूल्यन (Depreciation) हो जाता है और देश में मुद्रा-प्रसार फैलता है। ऐसी दशा में वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें तेजी के साथ बढ़ने लगती हैं। दूसरे महायुद्ध के काल में भारत सरकार ने यही नीति अपनाई थी, जिसके फलस्वरूप पत्र-मुद्रा की मात्रा सन् १६३६ तथा सन् १६४५ के बीच लगभग २०० करोड़ रुपये से बढ़ कर लगभग १,३०० करोड़ रुपया हो गई थी।

मुद्रा अवमूल्यन सदा ही बुरा नहीं होता है। संकट काल में सरकार के पास आय प्राप्त करने का दूसरा उपाय नहीं होता है और मुद्रा-अवमूल्यन देश को पराजय अथवा कष्ट से बचा सकता है। कुछ सरकारें आयातों को हतोत्साहित करने और निर्यातों को बढ़ाने के लिए भी इस नीति को प्रशुल्क नीति (Fiscal Policy) का एक आवश्यक अङ्ग बनाती हैं।

अच्छे मुद्रा पदार्थ के गुण (Qualities of a Good Money Material)—

जैसा कि हम देख चुके हैं कि मुद्रा द्वारा देश के आर्थिक जीवन में बहुत से महत्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं। जो पदार्थ मुद्रा के रूप में इन कार्यों को भली-भाँति सम्पन्न कर सकता है उसे ही अच्छा मुद्रा पदार्थ कहा जाता है। एक अच्छा मुद्रा पदार्थ बनने के लिए किसी वस्तु में निम्न गुणों का होना आवश्यक है:—

(१) **उपयोगिता अथवा सामान्य स्वीकृति** (Utility or General Acceptability)—जिस वस्तु को सर्व स्वीकृति प्राप्त नहीं होती है वह एक अच्छी मुद्रा पदार्थ नहीं हो सकती है। यदि कोई वस्तु ऐसी है कि मुद्रा के अतिरिक्त दूसरे कामों के लिए भी उसकी उपयोगिता बहुत है तो निश्चय ही उसको सभी व्यक्ति सहर्ष स्वीकार कर लेंगे। लोग किसी वस्तु को उसी दशा में स्वीकार करते हैं जबकि या तो वे यह जानते हैं कि अन्य व्यक्ति भी उसे बिना संकोच स्वीकार कर लेंगे अथवा जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि वस्तु विशेष के अन्य लाभदायक उपयोग हो सकते हैं। इन दृष्टिकोणों से सोना और चाँदी अच्छे मुद्रा पदार्थ हैं, क्योंकि उन्हें हर कोई लेने को तैयार रहता है। कपड़ा एक अच्छा पदार्थ नहीं है, क्योंकि एक निश्चित मात्रा के परे उसे कोई भी स्वीकार नहीं करेगा। कागज भी इस दृष्टिकोण से अच्छा मुद्रा पदार्थ नहीं है, परन्तु कागज के नोटों को लोग इस कारण खुशी से स्वीकार कर लेते हैं कि उनमें सभी लोग भुगतान ले लेते हैं। वैसे मुद्रा के अतिरिक्त कागज के नोट की कीमत लगभग कुछ भी नहीं होती है, परन्तु सोने और चाँदी का उपयोग और भी बहुत से कार्यों में किया जा सकता है।

हैं। साधारणतया सोने, चाँदी और कुछ धातुओं के सिक्के तथा कागज़ के नोट एक ही साथ चालू रहते हैं। सिक्के प्रामाणिक तथा सांकेतिक हो सकते हैं और स्वयं पत्र-मुद्रा भी प्रतिनिधि, परिवर्तनशील अथवा प्रादिष्ट हो सकती है। धातु के सिक्के भी नये पुराने हो सकते हैं। सभी सिक्के गुणों के दृष्टिकोण से एक जैसे नहीं होते, इसलिए उनकी मान्यता भी समान नहीं होती। कुछ मुद्राएँ तुलना में अच्छी होती हैं और कुछ बुरी। कुछ मुद्राओं को लेना और जमा करना लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं।

ग्रेशम का नियम इङ्गलैंड के व्यावहारिक अर्थशास्त्री सर टामस ग्रेशम (Sir Thomas Gresham) के नाम से सम्बन्धित है। ग्रेशम महारानी एलिजाबेथ प्रथम (Elizabeth I) के आर्थिक सलाहकार थे। महारानी एलिजाबेथ प्रथम से पहले इङ्गलैंड के शासकों ने बहुत से निकृष्ट सिक्के चालू किये थे। एलिजाबेथ चाहती थीं कि देश की मुद्रा में सुधार हो। इसके लिए उन्होंने नये पूर्णकाय सिक्के चालू किये। उनका विचार था कि धीरे-धीरे लोग पुराने और निकृष्ट सिक्कों का परित्याग कर देंगे तथा नये सिक्कों को ग्रहण कर लेंगे, परन्तु अनुभव आशा के विपरीत रहा। यह देखने में आया कि नये सिक्के चालू होते ही बाजार से गायब हो जाते थे और पुराने तथा निकृष्ट सिक्के बराबर चालू रहते थे। महारानी को बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने सर टामस ग्रेशम से इस घटना का कारण पूछा। ग्रेशम ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया :—"खराब सिक्कों में अच्छे सिक्कों को प्रचलन से निकाल देने की प्रवृत्ति होती है।" (Bad money drives good money out of circulation)। तब से यह प्रवृत्ति अर्थशास्त्र में ग्रेशम के नियम के नाम से प्रसिद्ध है। स्मरण रहे कि ग्रेशम से पूर्व भी लोगों को इसका ज्ञान था, परन्तु ग्रेशम ने इसे बड़ी सरल तथा स्पष्ट भाषा में व्यक्त किया है। प्रो० मार्शल ने इस नियम की परिभाषा बड़ी सावधानी से की है। उनका कथन है कि:—"यदि खराब मुद्राएँ परिमाण में सीमित नहीं हैं तो अच्छी मुद्राओं को प्रचलन से निकाल देती हैं।"* मार्शल ने "यदि परिमाण में सीमित नहीं हैं" वाक्य को जोड़ कर नियम की सीमा का भी उल्लेख कर दिया है। इस नियम का आशय यही है कि यदि किसी देश में समान मूल्य की दो मुद्राएँ, जिनकी उत्तमता में अन्तर है, एक ही साथ प्रचलन में हों तो हीन मुद्राएँ उत्तम मुद्राओं को प्रचलन से बाहर निकाल देती हैं।

---

* "An inferior currency, if not limited in quantity, will drive out the superior currency." *See* Marshall : *Money, Currency and Credit.*

अर्थशास्त्र के अन्य नियमों की भांति यह नियम भी केवल एक प्रवृत्ति को ही दिखाता है, इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक दशा में नियम लागू हो ही, परन्तु साधारणतया ऐसा ही होने की सम्भावना रहती है। यह नियम मनुष्य की प्रकृति पर आधारित है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि जब उसे कोई चीज लेनी होती है तो वह सबसे अच्छी चीज छाँट कर लेता है और जब उसे कोई वस्तु देनी होती है तो वह सर्व प्रथम सबसे खराब चीज को देने का प्रयत्न करता है। यदि सम्भव है तो वह अच्छे सिक्कों को प्राप्त करने और अपने पास रखने की चेष्टा करेगा और अपने पास के बुरे सिक्के दूसरों को देने की कोशिश करेगा। वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने के लिए तो हम बुरे सिक्के भी स्वीकार कर लेते हैं, यदि वे इतने बुरे नहीं हैं कि दूसरे लोग उन्हें लेने से इन्कार कर दें, परन्तु संग्रह के लिए सबसे अच्छे सिक्कों को ही चुना जाता है। परिणाम यह होता है कि अच्छे सिक्के अथवा अच्छी पत्र-मुद्रा लोग अपने पास रख लेते हैं।

नियम के लागू होने के कारण—

ग्रेशम के नियम में 'अच्छी' तथा 'बुरी' ये दोनों शब्द साधारण तथा तुलनात्मक अर्थ में उपयोग किये गये हैं। एक मुद्रा दूसरी की अपेक्षा अच्छी या बुरी हो सकती है और यदि ऐसी दोनों ही प्रकार की मुद्राएँ एक ही साथ प्रचलित हैं तो अच्छी मुद्रा का चलन साधारणतया बन्द हो जाता है। नियम के लागू होने के तीन प्रमुख कारण हैं :—

(१) **मुद्रा का संग्रह (Hoarding)**—बहुत बार हम मुद्रा को जमा करते हैं, ताकि या तो उसे गाड़ कर रख सकें या अपने पास जमा करके रख सकें। इस कार्य के लिए हम सबसे उत्तम मुद्रा की खोज करते हैं। नये तथा पूर्णकाय सिक्के तथा अच्छे कागजी नोट अथवा अच्छी किस्म की पत्र-मुद्रा जोड़ कर रखी जाती है। हीन मुद्रा हम शीघ्र से शीघ्र अपने पास से निकालने का प्रयत्न करते हैं।

(२) **सिक्कों को गलाना**—इस कार्य के लिए नये तथा पूर्णकाय सिक्के चुने जाते हैं। घिसे हुए सिक्कों अथवा सांकेतिक सिक्कों को गलाने से तो लाभ के स्थान पर हानि ही होती है, इसलिए ऐसे सिक्कों को विनिमय-माध्यम के रूप में उपयोग करना ही अधिक लाभदायक होता है।

(३) **विदेशी भुगतान तथा निर्यात**—विदेशों में हमारे देश की मुद्रा का प्रचलन नहीं होता है, अतएव वे हमारे देश के चलन को मुद्रा के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं, बल्कि धातु के रूप में ही ग्रहण करते हैं। सिक्के साधारणतया तोल के हिसाब से लिये जाते हैं। यही कारण है कि विदेशी भुगतान अथवा निर्यात के लिये सबसे अच्छे सिक्के चुन लिए जाते हैं।

नियम कैसे लागू होता है ?—

अब हमें यह देखना है कि ग्रेशम का नियम विभिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार लागू होता है ? इसके लिए चार परिस्थितियों का अध्ययन किया जा सकता है :—

(१) एक-धातुमान प्रणाली में—इस प्रणाली के अन्तर्गत देश में केवल एक ही धातु के सिक्के प्रचलित होते हैं, परन्तु इन सिक्कों में वजन, शुद्धता अथवा अन्य प्रकार के अन्तर होते हैं। एक-धातुमान की निम्न दशाएँ विचारनीय हैं :—

(अ) जबकि केवल प्रामाणिक सिक्के अथवा पूर्णकाय सिक्के प्रचलित हैं—इन पूर्णकाय सिक्कों में से कुछ तो नये हो सकते हैं और कुछ पुराने और घिसे हुये। घिसे हुए सिक्के नये सिक्कों की तुलना में हीन मुद्रा होते हैं, इसलिए उनका प्रचलन बना रहता है, परन्तु नये सिक्के प्रचलन से निकल जाते हैं।

(ब) जबकि पूर्णकाय तथा सांकेतिक सिक्के एक ही साथ प्रचलित हैं, इस दशा में साँकेतिक सिक्के बुरी मुद्रा होंगे और पूर्णकाय सिक्कों को प्रचलन से निकाल देंगे। सभी लोग संग्रह करने, गलाने तथा निर्यात के लिए केवल पूर्णकाय सिक्कों का ही उपयोग करेंगे।

इसका उदाहरण भारत में उस समय मिला था जबकि रानी विक्टोरिया तथा सम्राट जार्ज षष्टम (George VI) के रुपये के सिक्के एक ही साथ चालू थे। विक्टोरिया के रुपयों में चाँदी की मात्रा अधिक थी, इसलिये लोगों ने उनका संग्रह करना तथा गलाना आरम्भ कर दिया था।

(२) द्वि-धातुमान पद्धति—इस प्रणाली में दो धातुओं के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा तथा मूल्य मान के रूप में एक ही साथ प्रचलित होते हैं। साधारणतया सोने और चाँदी के सिक्कों का इस प्रकार उपयोग किया जाता है। दोनों ही धातुओं के सिक्के असीमित विधि ग्राह्य होते हैं और दोनों धातुओं के बीच विनिमय दर नियम द्वारा निश्चित कर दी जाती है। आगे चल कर ऐसा सम्भव है कि एक धातु की कीमत में दूसरी की अपेक्षा अधिक परिवर्तन हो जाय। ऐसी दशा में दोनों धातुओं की वास्तविक बाजारी विनिमय दर वैधानिक विनिमय दर से भिन्न हो जाती है। एक धातु के सिक्कों का अति-मूल्यन (Over-valuation) हो जाता है और दूसरी धातु के सिक्कों का अवमूल्यन (Under-valuation) हो जाता है। अवमूल्यत मुद्रा अति-मूल्यत मुद्रा की अपेक्षा अधिक अच्छी

होता है, अर्थात् अतिमूल्यित सिक्के अवमूल्यित सिक्कों को प्रचलन से बाहर निकाल देते हैं।

एक उदाहरण द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये कि एक देश में सोने और चाँदी के एक-एक तोले के पूर्णकाय सिक्के विधि-ग्राह्य सिक्कों के रूप में चालू हैं और सोने तथा चाँदी की इस समय की कीमतों के आधार पर सरकार उनमें १:२० का अनुपात निर्धारित करती है। यह सम्भव है कि आगे चलकर चाँदी की कीमत बाजार में कम हो जाय और सोने की कीमत वही बनी रहे। मान लीजिये कि ऐसी दशा में बाजार में सोने और चाँदी की वास्तविक विनिमय दर १:२१ हो जाती है, यद्यपि नियमानुसार अभी भी विनिमय दर १:२० ही रहती है। ऐसी परिस्थिति में नियम द्वारा चाँदी को अनुपात से अधिक मूल्य प्रदान किया जायगा और आर्थिक भाषा में चाँदी के सिक्के का अतिमूल्यन हो जायगा। इसके विपरीत सोने के सिक्कों को अनुपात से कम मूल्य मिलेगा और उनका अवमूल्यन हो जायगा, अतएव चाँदी का सिक्का हीन मुद्रा हो जायगा और सोने का सिक्का अच्छी मुद्रा। लोग सोने के सिक्के को गलाना आरम्भ कर देंगे, क्योंकि एक सिक्के को गला कर एक तोला सोना मिल जायगा और बाजार में एक तोले सोने के बदले में २१ तोला चाँदी मिल जायगी, जबकि नियमानुसार एक तोले सोने के सिक्के के बदले में केवल २० चाँदी के सिक्के, अर्थात् २० तोला चाँदी मिलती है। जिस व्यक्ति को सोने का सिक्का मिल जायगा वह उसे छिपा लेगा, परन्तु चाँदी के सिक्कों का प्रचलन बराबर जारी रहेगा।

(३) सिक्कों और पत्र-मुद्रा के एक साथ चलन में—यदि देश में धातु के सिक्के और कागज के नोट एक साथ ही प्रचलित हैं तो धातु के सिक्के अच्छी मुद्रा होंगे। संग्रह करने तथा गलाने के लिये उन्हीं का उपयोग किया जायगा और वे धीरे-धीरे प्रचलन से बाहर जाने लगेंगे। धातु के सांकेतिक सिक्के भी कागज के नोटों की तुलना में अच्छी मुद्रा होते हैं।

(४) पत्र-मुद्रा में—पत्र-मुद्रा के चलन पर भी यह नियम लागू होता है। यदि देश में केवल कागज के नोट ही प्रचलित हैं तो ग्रेशम का नियम निम्न प्रकार लागू होगा:—

(अ) यदि एक ही प्रकार की पत्र-मुद्रा प्रचलित है तो फटे-पुराने तथा सड़े और गन्दे नोट हीन मुद्रा होंगे। अच्छे नोटों का संग्रह किया जायगा और बुरे नोटों में उन्हें प्रचलन से निकाल देने की प्रवृत्ति बनी रहेगी।

(ब) जबकि प्रतिनिधि तथा परिवर्तनशील पत्र मुद्राएँ एक ही साथ चालू होती हैं तो प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा अच्छी मुद्रा होती है

और परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा उसे प्रचलन से बाहर निकाल सकती है।

(ग) यदि परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा और अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रायें एक ही साथ चालू हैं तो हीन होने के कारण अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकाल देगी।

(घ) यदि देश में केवल अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का चलन है, परन्तु उनमें से एक प्रादिष्ट मुद्रा है तो प्रादिष्ट मुद्रा पर विश्वास सबसे कम होने के कारण वह बुरी मुद्रा होगी और साधारण अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकालने की प्रवृत्ति रखेगी।

नियम के अपवाद अथवा सीमाएँ (Limitations of the Law)—

अब हमें यह देखना है कि क्या ग्रेशम का नियम सभी दशाओं में लागू होता है? मार्शल ने नियम की परिभाषा करने में सावधानी से काम लिया है। उनका विचार है कि यह नियम साधारणतया लागू होता है। यदि बुरी मुद्रा का प्रचलन सीमित रखा जाता है तो नियम के लागू होने की सम्भावना बहुत ही कम रहती है, परन्तु यदि ऐसी मुद्रा बिना किसी प्रतिबन्ध के अच्छी मुद्रा के साथ-साथ चलन में रहती है तो नियम अवश्य लागू होता है। निम्न दशाओं में यह नियम लागू नहीं होता है:—

(१) यदि देश में अच्छी और बुरी दोनों ही प्रकार की मुद्रा कुल मिलाकर देश की व्यापार, वाणिज्य तथा व्यावसायिक आवश्यकता से भी कम है तो ग्रेशम का नियम लागू न होगा। बात यह है कि देश में विनिमय सम्बन्धी कार्यों को चलाने के लिए मुद्रा की एक न्यूनतम मात्रा आवश्यक होती है। यदि मुद्रा की मात्रा इससे भी कम रह जाती है तो विनिमय में भारी असुविधा होने लगती है। विनिमय की यह असुविधा मुद्रा-संग्रह के लाभ की अपेक्षा अधिक हो सकती है, इसलिए अच्छी मुद्रा को प्रचलन से नहीं निकाला जाता है। यदि मुद्रा की मात्रा कम है तो बाजार में उसकी माँग बढ़ जाने के कारण उसकी उपयोगिता भी बढ़ जायगी। मुद्रा रूप में उपयोगिता बढ़ जाने के कारण उसे अन्य रूप में उपयोग करने का प्रलोभन ही नहीं रहेगा। मुद्रा की कमी के काल में ब्याज की दर भी ऊपर चढ़ जाती है, जो मुद्रा के अकारण संग्रह को रोक देगी।

(२) यदि बुरी मुद्रा इतनी खराब हो चुकी है कि लोग उसे अस्वीकार करने लगते हैं तो स्वयं उसी का चलन बन्द हो जायगा। बहुत घिसे हुए सिक्के तथा बहुत खराब नोट खजाने को लौटा दिए जाते हैं और स्वयं प्रचलन से निकल जाते हैं।

(३) यदि सारा समाज बुरी मुद्रा के उपयोग के विरुद्ध है और उसका बहिष्कार करता है तो वह अच्छी मुद्रा को प्रचलन से नहीं हटा सकेगी। यदि कोई भी व्यक्ति हीन मुद्रा के लेने को तैयार नहीं है तो उसके प्रचलन (Circulation) का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(४) यदि बुरी मुद्रा सांकेतिक सिक्कों के रूप में है और उसकी मात्रा सीमित है तो ग्रेशम का नियम लागू न होगा। कारण यह है कि एक ओर तो मात्रा की कमी के कारण लोग सभी भुगतान हीन मुद्रा में नहीं कर पायेंगे और उन्हें अच्छी मुद्रा में शोधन करने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। दूसरी ओर, सरकार बुरी मुद्रा की निकासी पर नियन्त्रण रखती है और उसे आवश्यकता से अधिक प्रचलन में नहीं आने देती है।

(५) यदि देश में बैंकिंग प्रथा की इतनी उन्नति हो चुकी है कि सभी भुगतान चैकों द्वारा होते हैं तो इस नियम के लागू होने का प्रश्न ही नहीं होगा।

(६) प्रमाणित और सांकेतिक सिक्के चलार्थ सम्बन्धी भिन्न-भिन्न प्रकार की माँग पूरी करते हों तो सांकेतिक सिक्के निकृष्ट मुद्रा होने पर भी प्रमाणित सिक्कों को चलन से नहीं हटा पाते हैं।

भूतकाल में ग्रेशम के नियम लागू होने के अनेक अवसर आते थे। धातुमान और विशेषकर द्वि-धातुमान के अन्तर्गत यह नियम बहुधा कार्यशील दिखाई पड़ता था। धातुमान का अन्त हो जाने के पश्चात् नियम की कार्यशीलता बहुत ही कम रही है। प्रथम महायुद्ध के काल में लगभग सभी देशों ने अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के रूप में हीन मुद्रा चालू की थी और ग्रेशम के नियम के अनुसार धातु मुद्राओं का चलन समाप्त होने लगा था। दूसरे महायुद्ध के काल में भी ऐसी ही परिस्थिति आई थी। सन १६४० में भारत में चाँदी के रुपयों का प्रचलन इसी नियम के अन्तर्गत समाप्त होने लगा था।

मुद्रा-मान तथा मूल्य-मान—

ऊपर से देखने पर मुद्रा-मान (Monetary Standard) तथा मूल्य-मान (Standard of Value) में कुछ भी अन्तर दिखाई नहीं देता है। बहुत से अर्थशास्त्री भी कभी-कभी दोनों शब्दों के लगभग एक ही अर्थ लगाते हैं, परन्तु वास्तव में दोनों में काफी अन्तर होता है। मूल्य-मान से हमारा अभिप्रायः उस मुद्रा-इकाई से होता है जिससे किसी देश में सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत नापी जाती है। पौंड, डालर, रुपया, रूबेल (Rouble), मार्क (Mark) आदि इसके उदाहरण हैं। मुद्रा मान एक अधिक विस्तृत शब्द है, जिसमें मूल्य-मान के अतिरिक्त और भी बहुत सी चीजें शामिल होती हैं। मुद्रा सम्बन्धी सभी प्रकार के नियम, सभी प्रकार की व्यवस्थाएँ तथा सभी प्रकार के व्यवहार इसके क्षेत्र में आ जाते हैं। सरकार को देश में प्रामाणिक मुद्रा के अतिरिक्त छोटी छोटी कीमत के सिक्के निकालने पड़ते हैं, कागज के नोट छापने पड़ते हैं, साख-मुद्रा के विकास और उसके नियन्त्रण के सम्बन्ध में नियम बनाने पड़ते हैं, बहुमूल्य धातुओं के खरीदने-बेचने और उनके आयात निर्यात की व्यवस्था करनी पड़ती है और देश की मुद्रा के मूल्य की स्थिरता बनाये रखने के लिए अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। ये सभी कार्य और व्यवस्थाएँ मुद्रा-मान के क्षेत्र में आ जाते हैं। स्वयं मूल्य-मान भी मुद्रा-मान का एक अंग होता है। सारांश यह है कि मुद्रा-मान में मुद्रा की नीति और व्यवहार सम्बन्धी सभी बातों को सम्मिलित किया जाता है, परन्तु प्रत्येक देश का मुद्रा-मान देश के मूल्य-मान पर आधारित होता है। मुद्रा-मान यदि शरीर है तो उसका प्राण मूल्य-मान ही होता है। मुद्रा-मान के अध्ययन का अर्थशास्त्र में भारी महत्त्व है। किसी देश की आर्थिक और सामाजिक उन्नति वहाँ के मुद्रा-मान पर ही निर्भर होती है। एक अच्छा मुद्रा-मान कीमतों में स्थिरता लाकर आर्थिक अनिश्चितता को दूर करता है और व्यापार, व्यवसाय तथा वाणिज्य के विकास के लिए अनुकूल दशाएँ उत्पन्न करता है। मुद्रा-मान की खराबी अनेक आर्थिक बुराइयों को जन्म देती है।

मुद्रा-मान दो प्रकार के होते हैं:—धातुमान (Metallic Standard)

तथा पत्र-मान (Paper Standard)। प्रथम प्रकार के मुद्रा-मान में धातु को मूल्य-मान के रूप में उपयोग किया जाता है, परन्तु दूसरे प्रकार के मान में पत्र-मुद्रा ही मूल्य के मान के रूप में उपयोग की जाती है।

धातुमान के रूप—

धातुमान के कई रूप सम्भव हैं। प्रमुख रूप निम्न प्रकार हैं:—

(१) एक-धातुमान (Monometallism)—इस मुद्रा-मान में केवल एक ही धातु को मूल्य के मान के रूप में उपयोग किया जाता है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो किसी भी धातु को इस रूप में उपयोग किया जा सकता है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में केवल सोने और चाँदी का ही उपयोग किया गया है। इंगलैंड ने सन् १९३१ तक और फ्रांस ने सन् १९३६ तक सोने को मूल्य-मान के रूप में उपयोग किया है और चाँदी का उपयोग चीन के देश में हुआ है। सन् १८९३ तक भारत में भी रजत-मान (Silver Standrd) था। सन् १९२७ और सन् १९३१ के बीच भारत में स्वर्ण-मान प्रचलित रहा है।

(२) द्वि-धातुमान (Bimetallism)—इस पद्धति में दो धातुओं को एक ही साथ प्रामाणिक धातुओं के रूप में उपयोग किया जाता है। सोने और चाँदी का ही इस प्रकार उपयोग किया गया है। दोनों धातुओं के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा तथा असीमित विधि-ग्राह्य होते हैं और दोनों के बीच की विनिमय दर नियम द्वारा निर्धारित कर दी जाती है। ऋण-दाता को यह अधिकार होता है कि वह ऋण का भुगतान सोने अथवा चाँदी किसी में भी कर सकता है।

सन् १८०३ में फ्रांस ने द्वि-धातुमान ग्रहण किया था तथा सोने और चाँदी के बीच १:१५½ का विनिमय अनुपात रखा था। सन् १८४८ तक तो यह पद्धति बिना किसी कठिनाई के चालू रही, परन्तु सन् १८४९ और सन् १८५० के बीच सोने की बहुत सी नई खानों का पता चल गया था, जिसके कारण सोने की कीमतें गिर गई थीं। ग्रेशम नियम की कार्यशीलता को रोकने के लिए फ्रांस को सोने और चाँदी के अनुपात में परिवर्तन करना पड़ा था, परन्तु प्रयत्न बहुत सफल नहीं हो सका था। सन् १८६५ में फ्रांस, इटली, बेल्जियम तथा स्विटजरलैंड ने सामूहिक रूप से द्वि-धातुमान स्थापित करने का प्रयत्न किया था, परन्तु सन् १८७४ में चाँदी की कीमतों के तेजी से गिरने के कारण यह व्यवस्था भी टूट गई।

(३) बहु-धातुमान (Multimetallism)—बहु-धातुमान प्रणाली में कई धातुओं को एक ही साथ मूल्य-मान के रूप में उपयोग किया जाता है। प्रत्येक धातु के सिक्कों की ढलाई स्वतन्त्र होती है और प्रत्येक धातु के

सिक्के प्रामाणिक मुद्रा तथा असीमित विधिग्राह्य होते हैं। सभी धातुओं के बीच की विनिमय दर नियमानुसार निश्चित कर दी जाती है और ऋणदाता को किसी भी धातु में ऋण चुकाने का पूर्ण अधिकार होता है। व्यवहार में यह मुद्रा प्रणाली बहुत ही कठिन है, क्योंकि विभिन्न धातुओं की कीमतों में तुलनात्मक परिवर्तन होते रहने के कारण उनके बीच की विनिमय दरों को बनाये रखना कठिन होता है। यही कारण है कि ऐसा धातुमान किसी भी देश ने ग्रहण नहीं किया है, यद्यपि इस मान में कीमतों की स्थिरता स्थापित करने तथा बनाये रखने की सम्भावना बहुत अधिक होती है।

(४) प्रादिष्ट-मान (Fiat Standard)—पिछले प्रकार के धातुमान की यह विशेषता होती है कि प्रामाणिक सिक्के की कीमत धातु की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखी जाती है। उदाहरणार्थ, इङ्गलैण्ड में स्वर्ण-मान के अन्तर्गत ३ पौंड १७ शिलिंग और १० पेंस का मूल्य एक औंस सोने के बराबर था। भारत में २१ रुपये ३ आना १० पाई १ तोला सोने के बराबर होते थे, परन्तु प्रादिष्ट मान में मुद्रा की इकाई की कीमत इस प्रकार स्वर्ण अथवा किसी अन्य धातु या धातुओं की एक निश्चित मात्रा के बराबर नहीं रखी जाती है। प्रादिष्ट मान की स्थापना इस प्रकार हो सकती है कि सरकार जान-बूझकर ऐसी मुद्रा की निकासी कर दे जिसका धातु-मूल्य बिलकुल न हो या बहुत ही कम हो। ऐसी मुद्रा को निश्चित विनिमय दरों पर अन्य किसी वस्तु में नहीं बदला जा सकता है और इस प्रकार मुद्रा की इकाई का मूल्य दूसरी किसी भी वस्तु की कीमत से स्वतन्त्र रूप में निर्धारित होता है। साधारणतया ऐसा मान उस दशा में स्थापित हो जाता है जबकि एक धातुमान वाला देश अपनी मुद्रा की धातु में परिवर्तनशीलता समाप्त कर देता है।

प्रादिष्ट मुद्रा के तीन गुण होते हैं :—(१) वस्तु के रूप में इसका मूल्य लगभग न होने के बराबर होता है। (२) इसको ऐसी किसी वस्तु में नहीं बदला जा सकता है जिसकी कीमत उस मुद्रा की अंकित कीमत के बराबर हो और (३) इसकी क्रयः शक्ति को स्वर्ण अथवा अन्य किसी वस्तु की कीमत के बराबर नहीं रखा जाता है। किसी भी मुद्रा-मान को प्रादिष्ट मान उस समय तक कहना कठिन होगा जब तक कि उसमें चलन की मुद्रा की कीमत स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखी जाती है, यद्यपि वह स्वर्ण में परिवर्तनशील नहीं है। सन् १८६२ तथा सन् १८७६ के बीच संयुक्त राज्य अमरीका में प्रादिष्ट मान चालू रहा। अमरीकन गृहयुद्ध के काल में जो ग्रीनबैक्स (Greenbacks)

निकाले गये थे वे स्वर्ण में परिवर्तनीय नहीं थे और न ही उनकी कीमतें सोने की किसी निश्चित मात्रा के बराबर थी।

प्रादिष्ट मान आम तौर पर असाधारण परिस्थितियों में स्थापित किया जाता है, परन्तु आजकल के बहुत से अर्थशास्त्रियों का विचार है कि इस मान को स्थायी रूप में उपयोग किया जा सकता है। ऐसा कहा जाता है कि प्रादिष्ट-मान को ग्रहण करके मुद्रा और साख को इतनी मात्रा में उत्पन्न किया जा सकता है कि देश के समस्त साधनों को पूर्ण वृत्ति प्रदान की जा सके। अच्छे नियन्त्रण द्वारा प्रादिष्ट मुद्रा प्रणाली में धातुमान की अपेक्षा अधिक लोच प्राप्त की जा सकती है, परन्तु इस मान के विरुद्ध दो महत्त्वपूर्ण तर्क हैं:—प्रथम, यदि सभी देश इसे ग्रहण कर लें तो अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में बहुत उलझन पैदा हो जायगी और दूसरे, यह भय सदा ही बना रहता है कि प्रादिष्ट मुद्रा की अत्यधिक निकासी हो जाय।

(५) पंगु द्वि-धातुमान (Limping Bimetallism) अथवा लंगड़ा मान (Limping Standard)—यह द्वि-धातुमान की एक विशेष दशा होती है। यदि किसी देश में सोने और चाँदी दोनों के ही सिक्के अपरिमित विधि-ग्राह्य रखे जाते हैं और दोनों के बीच की विनिमय दर निश्चित कर दी जाती है, परन्तु एक सिक्के की ढलाई स्वतन्त्र होती है और दूसरे की स्वतन्त्र नहीं होती है तो ऐसा मान लंगड़ा मान अथवा पंगु-मान कहलाता है। इस प्रकार के मान का उदाहरण फ्रांस में मिलता है। वहाँ सोने और चाँदी दोनों के ही सिक्के अपरिमित विधि-ग्राह्य थे, परन्तु चाँदी के सिक्कों की ढलाई स्वतन्त्र न थी। इस मान को लंगड़ा मान इसलिए कहा जाता है कि जिस सिक्के की स्वतन्त्र ढलाई नहीं होती है वह कठिनाई के साथ चालू रहता है और केवल घिसटता है। इस प्रकार मुद्रा-मान की एक टाँग बेकार रहती है।

(६) व्यकल्पित द्वि-धातुमान (Parallel Bi-metallic Standard)—इस मान को समानुपाती मान पद्धति भी कहते हैं। यह पद्धति द्वि-धातुमान का ही एक रूप है। इसमें भी दो धातुओं के सिक्के प्रचलन में रहते हैं और दोनों ही प्रामाणिक मुद्रा तथा अपरिमित विधि-ग्राह्य होते हैं। दोनों धातुओं के सिक्कों की ढलाई भी स्वतन्त्र रहती है, परन्तु द्वि-धातुमान तथा व्यकल्पित मान में यह अन्तर होता है कि पहिले में तो दोनों धातुओं के बीच का विनिमय अनुपात नियमानुसार निश्चित कर दिया जाता है, जबकि दूसरे में ऐसा नहीं किया जाता है। बाजारी कीमतों के आधार पर विनिमय अनुपात स्वयं निश्चित होने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार निर्धारित होने वाले अनुपात के आधार पर टकसाली विनिमय अनुपात निश्चित किया जाता है। यह टकसाली

अनुपात स्थिर नहीं होता है, बल्कि दोनों धातुओं की कीमतों के परिवर्तनों के साथ-साथ बदलता रहता है। इस प्रणाली में सबसे बड़ा दोष यही होता है कि दोनों धातुओं की टकसाली कीमत नियत नहीं की जाती है, जिसके कारण उसमें भारी परिवर्तन होते रहते हैं।

(७) **सूचीबद्ध अथवा सूचक अंक मान** (Tabular or Index Number Standard)—इस प्रकार के मान का सुझाव फिशर (Fisher) ने दिया है। फिशर का विचार है कि एक अच्छे [illegible] मान में देश के भीतर वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों की स्थिरता बनाये रखने का गुण होना चाहिए। इस पद्धति के अनुसार एक आधार वर्ष चुन लिया जाता है। इस वर्ष की कीमतों के आधार पर देश में सामान्य कीमतों के निर्देशाँक बनाये जाते हैं। इन निर्देशाँकों के अनुसार भविष्य में मुद्रा का मूल्य नियत किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा का एक बार निश्चित किया हुआ मूल्य सदा के लिए स्थिर नहीं रहता है। कीमतों के परिवर्तनों के साथ-साथ उसमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि स्थगित शोधनों अथवा लेन-देन में समता बनी रहती है। ऋण दाता अथवा ऋणी दोनों में से किसी को भी हानि नहीं होती है। उदाहरण-स्वरूप, यदि कीमतों का निर्देशाँक १०% ऊपर चढ़ जाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि मुद्रा अथवा स्वर्ण की कीमतें १०% घट गई हैं। ऐसी दशा में सरकार सोने की नियम द्वारा निर्धारित कीमतों में १०% कमी कर देगी। फलस्वरूप चलन की मात्रा घटेगी और साख-मुद्रा में भी कमी आ जायगी, जिसके कारण मुद्रा की कीमत और नीचे नहीं गिर सकेगी। इसी प्रकार कीमतों के घटने की दशा में मुद्रा की कीमतों को आवश्यक अनुपात में बढ़ा देने से वस्तुओं की कीमतों को और आगे घटने से रोका जा सकता है।

इस प्रणाली का महत्त्वपूर्ण गुण यही है कि मुद्रा के मूल्य तथा सामान्य कीमतों में स्थिरता लाई जा सकती है, परन्तु सब कुछ होते हुए भी यह व्यावहारिक नहीं है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि सामान्य कीमतों के निर्देशाँक केवल भूतकालीन हो सकते हैं। वर्तमान अथवा भविष्य के लिए उनका उपयोग केवल अनुमानजनक फल ही दे सकता है, निश्चित फल नहीं दे सकता है।

(८) **मिश्रित धातुमान** (Symmetallism)—इस धातुमान प्रणाली का सुझाव मार्शल की ओर से सन् १८८१ में रखा गया था। द्वि-धातुमान बहुधा ग्रेशम के नियम के लागू होने के कारण असफल रहता था, यद्यपि उस मान में अनेक गुण थे। मार्शल ने यह प्रयत्न किया कि ऐसे धातुमान का निर्माण किया जाय जिसमें दो धातुओं को एक ही साथ मूल्य-

मान के रूप में उपयोग करके द्वि-धातुमान के सभी गुण प्राप्त किये जा सकें, परन्तु जिसमें ग्रेशम का नियम लागू न हो सके। मार्शल का प्रस्ताव था कि देश की मुद्रा को सोने और चाँदी में बदल लेने की सुविधा नहीं रहनी चाहिए, बल्कि ऐसी छड़ अथवा ऐसा पाँसा तैयार होना चाहिए कि जिसमें सोने और चाँदी को एक निश्चित अनुपात में मिलाया गया हो। देश की मुद्रा इसी छड़ या पाँसे में परिवर्तनीय होनी चाहिए। प्रणाली के दो गुण हैं। सोने और चाँदी की कीमतों के तुलनात्मक परिवर्तनों का मान पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है और क्योंकि एक ही सिक्का पाँसे के रूप में प्रामाणिक मुद्रा रहता है, इसलिए ग्रेशम का नियम लागू नहीं हो पाता है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि इस प्रणाली में द्वि-धातुमान के सभी गुण होंगे और उसके दोष भी बड़े अंश तक दूर हो जायेंगे, परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या यह मान व्यावहारिक है? अनुभव बताता है कि मार्शल के सुझाव का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व है। किसी भी देश ने इस मान को उपयुक्त समझ कर ग्रहण नहीं किया है।

एक-धातुमान तथा द्वि-धातुमान का विस्तृत अध्ययन—

एक धातुमान में सोने अथवा चाँदी को मूल्य के मान के रूप में उपयोग किया गया है। सोने का उपयोग अधिक सर्वव्यापी हुआ है। चीन, दक्षिणी अमरीका के कुछ देशों और भारत को छोड़ कर चाँदी का उपयोग बहुत ही कम हुआ है। बात यह थी कि सोने की अपेक्षा चाँदी की पूर्ति अधिक रही है और इस कारण चाँदी का मूल्य अपेक्षतन कम रहा है। एक-धातुमान संसार में विभिन्न रूपों में काफी लम्बे काल तक प्रचलित रहा है और इस मान ने स्वर्णमान के अन्तर्गत तो अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया था। इस मान के कई लाभ हैं, जिनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण निम्न प्रकार हैं :—

(अ) एक-धातुमान में सरलता होती है, क्योंकि केवल एक ही धातु को मूल्य के मान के रूप में उपयोग किया जाता है। लोगों की समझ में इसका चलन आसानी से आ जाता है। साथ ही, सोने और चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुओं का मुद्रा के रूप में उपयोग करने के कारण जनता का विश्वास भी अधिक रहता है।

(ब) इस प्रणाली में एक ही धातु के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा होते हैं। यही कारण है कि ग्रेशम का नियम बहुत ही कम लागू होता है। द्वि-धातुमान में इस नियम के लागू होने का भय अधिक रहता है।

(स) इस प्रणाली का सभी देशों द्वारा उपयोग होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा व्यवसाय में सुविधा रहती है। बड़े लम्बे समय तक स्वर्णमान ने संसार में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को बनाये रखा है।

इन गुणों के साथ-साथ इस प्रणाली में कुछ महत्त्वपूर्ण दोष भी हैं। अनेक कारणों से एक-धातुमान [illegible] है। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं:—

(क) संसार के सभी देश एक साथ इसका उपयोग नहीं कर सकते हैं। संसार भर में सोने अथवा चाँदी की कुल मात्रा सभी देशों का मुद्रा-मान बनने के लिए काफी नहीं है। कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि स्वर्ण-रजत मान भी संसार के सभी देश ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

किसी भी मुद्रा प्रणाली में लोच अर्थात् आवश्यकता के समय मुद्रा-विस्तार अथवा मुद्रा-संकुचन कर लेने का गुण बहुत महत्त्वपूर्ण होता है, परन्तु यदि सोने अथवा चाँदी को मूल्य-मान के रूप में उपयोग किया जाता है तो इसकी मात्रा में वृद्धि के बिना मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाना सम्भव नहीं हो सकता है। संकट काल में सोने अथवा चाँदी को प्राप्त कर लेना कठिन होता है। यही कारण है कि प्रथम महायुद्ध के काल में अधिकांश देशों को स्वर्णमान स्थगित करना पड़ा था।

(ग) इस प्रणाली में कीमतों की स्थिरता को बनाये रखना कठिन होता है। किसी भी एक धातु की कीमत सदैव पूर्णतया स्थिर नहीं होती है और जब मुद्रा-मान के ही मूल्य में स्थिरता नहीं है तो फिर कीमतों की स्थिरता की आशा निर्मूल है। संसार के आर्थिक इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न कालों में सोने और चाँदी की कीमतों में भारी परिवर्तन होते रहे हैं। सन् १८७० के आस-पास और प्रथम महायुद्ध के पश्चात् चाँदी की कीमतें काफी गिरी हैं। दूसरे कालों में चाँदी की कीमतें ऊपर चढ़ी हैं। कीमतों में स्थिरता बहुत ही कम रही है। सोने की कीमतों का इतिहास भी लगभग इसी प्रकार रहा है। प्रत्येक सोने की नई खान के पता लगने अथवा खानों से सोना निकालने की नई विधि के आविष्कार के साथ सोने की कीमतें गिरी हैं।

द्वि-धातुमान भी संसार में काफी समय तक चालू रहा है, यद्यपि २० वीं शताब्दी के आरम्भ से ही किसी भी देश में इसका चलन दिखाई नहीं पड़ता है। सन् १८७३ तक अमरीका में द्वि-धातुमान ही प्रचलित रहा है। फ्रांस ने सन् १८०३ तथा सन् १८७४ के बीच इसे ग्रहण किया था। इस समय इस मान के पक्ष में बहुत ही कम लोग रह गये हैं। केवल संयुक्त राज्य अमरीका ने अपने चाँदी हितों की रक्षा के लिए सन् १९३४ तक द्वि-धातुमान को बनाये रखने का प्रयत्न किया था, परन्तु यह प्रयत्न सफल नहीं हो पाया था। अमरीका में भी सन् १९०० के पश्चात् द्वि-धातुमान को ग्रहण करना सम्भव नहीं हुआ।

द्वि-धातुमान की सफलता के लिए चार बातों की भारी आवश्यकता होती है:— प्रथम, प्रत्येक द्वि-धातुमान देश को अपनी मुद्रा इकाई की कीमत सोने की निश्चित मात्रा के बराबर घोषित करनी पड़ती है और इसके साथ ही मुद्रा इकाई को चाँदी की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, सन् १७९२ के अमरीकन मुद्रण नियम में एक डालर को २४·७५ ग्रेन सोने तथा ३७१·२५ ग्रेन चाँदी के बराबर घोषित किया गया था और इस प्रकार सोने और चाँदी की सरकारी विनिमय दर १:१५ रखी गई थी। दूसरे, सरकार को सोना और चाँदी दोनों के स्वतन्त्र मुद्रण तथा स्वतन्त्र बाजार (Free market) की व्यवस्था करनी पड़ती है। ऐसा करने से देश के भीतर और देश के बाहर सोने और चाँदी के सिक्कों की कीमत उनके निहित मूल्य के बराबर रहेगी। तीसरे, सोना और चाँदी दोनों ही के सिक्कों को अपरिमित विधि-ग्राह्य मुद्रा घोषित करना पड़ता है। चौथे, प्रत्येक प्रकार की पत्र-मुद्रा तथा साख-मुद्रा को सोने तथा चाँदी के सिक्कों में बदलने की गारन्टी देनी पड़ती है।

द्वि-धातुमान के लाभ—

द्वि-धातुमान के समर्थकों ने तीन कारणों से इस मान को एक-धातुमान की तुलना में अधिक उपयुक्त बताया है:—

(१) मुद्रा के सुरक्षित कोषों का विस्तार—जितना ही किसी मुद्रा के पीछे धातु-कोष अधिक होगा उतनी ही इसकी सुरक्षा भी अधिक होगी। अनुभव बताता है कि बहुत बार सोने के सुरक्षित कोषों की कमी के कारण एक-धातुमान वाले देशों को अपनी मुद्रा की स्वर्ण परिवर्तनशीलता को

स्थगित करना पड़ा है। यह निश्चय है कि यदि धातुमान तथा मुद्रा को धातु में बदलने के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाता है तो धातु कोष काफी बड़े होने चाहिए। सोने और चाँदी दोनों में से किसी भी एक धातु की मात्रा इस उद्देश्य के लिये काफी नहीं है, परन्तु दोनों धातुओं को सुरक्षित निधि बनाकर समस्या बड़े अंश तक सुलझाई जा सकती है।

(२) **कीमतों में अधिक स्थिरता**—सोने के उत्पादन, आरक्षित कोषों और उपयोगों के प्रत्येक परिवर्तन का सोने की माँग और पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण उसकी कीमतों में भी परिवर्तन होते हैं। ठीक इसी प्रकार चाँदी की कीमतों पर भी उपरोक्त सभी कारणों का प्रभाव पड़ता है, परन्तु यह सम्भव है कि जिस समय सोने की कीमतें ऊपर चढ़ रही हैं, चाँदी की कीमतें नीचे गिर रही हों और इसके विपरीत जिस समय चाँदी की कीमतें ऊपर चढ़ रही हैं तो सोने की कीमतें नीचे गिर रही हों। ऐसी दशा में सोने और चाँदी के सामूहिक कोष की कीमत में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। यदि एक ही धातु का कोष है तो सुरक्षित कोष की कीमत में भारी परिवर्तन होने का भय रहता है। जेवन्स (Jevons) ने इस सम्बन्ध में बड़ा अच्छा उदाहरण दिया है। उनका कहना है कि यदि दो शराब के नशे में चूर व्यक्तियों को, जिनमें से एक दाईं ओर को गिरता है और दूसरा बाईं ओर, आपस में बाँध दिया जाय तो कम से कम कुछ समय तक दोनों के लिये सीधे खड़े होकर चलना सम्भव होगा, यद्यपि यह निश्चय है कि यदि दोनों व्यक्तियों में एक ही ओर गिरने की प्रवृत्ति है तो गिरना काफी भयंकर हो सकता है।

द्वि-धातु कोषों की मात्रा में उच्चावचनों (Fluctuations) की सम्भावना एक धातु के सुरक्षित कोषों की अपेक्षा कम रहेगी और क्योंकि मुद्रा के मूल्य निर्धारण में धातु-मुद्रा बड़ा महत्त्वपूर्ण काम करती है, पूर्ति की ओर से मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों का और कम रहेगा। इस दृष्टिकोण से द्वि-धातुमान एक-धातुमान से अधिक अच्छा है। द्वि-धातुमान के इस कार्य को हम उसका क्षयपूरक कार्य (Compensatory Action) कहते हैं।

(३) **विदेशी व्यापार की सुविधा**—एक द्वि-धातुमान देश अपनी मुद्रा की कीमत सोने और चाँदी में एक ही साथ निर्धारित करता है। इस कारण स्वर्णमान तथा रजत-मान दोनों ही प्रकार के देशों से देश की विदेशी विनिमय दर निश्चित करने और बनाये रखने में सुविधा होती है। यदि बहुमूल्य धातुओं के आयात और निर्यात पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये जाते हैं तो एक बड़े अंश तक विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। साधारण दशाओं में एक-धातुमान के

मान तथा रजतमान देशों के बीच विदेशी विनिमय दरों में भारी उच्चा-वचन होते रहते हैं। जब संसार में रजतमान देशों की संख्या काफी थी तो इसलिए तर्क का महत्त्व काफी था, परन्तु रजतमान के संसार से विदा हो जाने के पश्चात् भी यह कहा जा सकता है कि द्वि-धातुमान के कारण सोना उत्पन्न करने वाले तथा चाँदी उत्पन्न करने वाले देशों के बीच विनिमय दरों की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है।

द्वि-धातुमान के विपक्ष में—

द्वि-धातुमान के विपक्ष में तीन महत्त्वपूर्ण तर्क रखे जाते हैं :—

(१) **ग्रेशम के नियम की कार्यशीलता**—जब तक सारा संसार द्वि-धातुमान को ग्रहण नहीं कर लेगा, किसी भी एक देश के लिए सोने और चाँदी के विनिमय अनुपात को बनाये रखना सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि विदेशी बाजारों में दोनों धातुओं की कीमतों में विपरीत दिशाओं अथवा अलग-अलग अनुपात में परिवर्तन होते रहेंगे। परिणाम यह होता है कि सोने और चाँदी के सरकारी विनिमय अनुपात तथा वास्तविक बाजारी अनुपात में अन्तर हो जाता है। एक धातु का दूसरी में अधिमूल्यन हो जाता है और ग्रेशम का नियम अपनी पूरी शक्ति के साथ लागू होने लगता है। किसी भी एक धातु का आयात अथवा निर्यात् लाभदायक हो जाता है, जिसके कारण देश में भी दोनों धातुओं की कीमतों में तुलनात्मक परिवर्तन होने लगते हैं। विभिन्न कालों में द्वि-धातु-मान देशों को इस प्रकार का अनुभव हुआ है। ग्रेशम के नियम के कारण एक धातु के सिक्के बाजार से पूर्णतया गायब हो सकते हैं और इस प्रकार द्वि-धातुमान व्यवहार में एक धातुमान ही रह जाता है।

(२) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सम्भावना कम होती है**—द्वि-धातुमान में एक धातु का निर्यात् इसलिए लाभदायक होता है कि विदेशी बाजार में देशी बाजार की अपेक्षा धातु विशेष की कीमत अधिक रहती है। यदि विदेशी बाजार तथा देश में धातु की कीमत एक ही रहे तो निर्यात् द्वारा लाभ की सम्भावना नहीं रहेगी। इस कारण यह कहा जाता है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय द्वि-धातुमान स्थापित हो जाय तो ग्रेशम के नियम की कार्य-शीलता रोकी जा सकती है। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भारी आवश्यकता है, परन्तु संसार के देश अपने व्यक्तिगत हितों की ओर ही अधिक देखते हैं, इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सम्भावना कम ही रहती है।

(३) **क्षयपूरक कार्य में त्रुटि** (Defect in the Compensatory Action of the Double Standard)—जब दो धातुओं को एक

हो साथ मूल्य-मान के रूप में उपयोग किया जाता है तो इसके द्वारा कीमतों में जो स्थिरता आती है वह द्वि-धातुमान के क्षयपूरक कार्य का परिणाम होती है। एक धातु की कीमतों के गिरने के कारण वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में जो वृद्धि होने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है वह इस कारण रुक जाती है कि दूसरी धातु की कीमत उसी समय बढ़ कर वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों को विपरीत दिशा में खींचती है। यही द्वि-धातुमान का क्षयपूरक कार्य है। इसका महत्त्व हम द्वि-धातुमान के लाभों के सम्बन्ध में देख चुके हैं, परन्तु यह कार्य सदा ही सम्पन्न नहीं हो पाता है। संसार के इतिहास में ऐसे उदाहरण अनेक मिलते हैं जबकि सोना और चाँदी दोनों ही की कीमतों में एक साथ एक ही दिशा में परिवर्तन हुए हैं। ऐसी दशा में द्वि-धातुमान स्वयं कीमतों में भारी उच्चावचन पैदा कर देता है। यह क्षयपूरक कार्य तभी सफल हो सकता है जबकि एक द्वि-धातुमान देश के पास दोनों धातुओं के इतने बड़े कोष हों कि भारी मात्रा में सोने अथवा चाँदी का निर्यात हो जाने पर भी किसी धातु की कमी अनुभव न हो। व्यावहारिक जीवन में किसी भी देश के पास दोनों धातुओं के इतने बड़े सुरक्षित कोषों का होना लगभग असम्भव ही होता है। यही कारण है कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर द्वि-धातुमान को स्थापित करने की ओर अनेक प्रयत्न हुए हैं, परन्तु सफलता कम ही रही है।

आज के संसार में द्वि-धातुमान के समर्थक बहुत ही कम हैं। वास्तविकता यह है कि स्वयं धातुमान ही संसार से उठ चुका है। संसार के लगभग सभी देशों में इस समय पत्र-मान ही प्रचलित है। धातुमान की स्थापना की ओर किये गये सभी प्रकार के प्रयत्न असफल ही रहे हैं। सन् १९४४ के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन में भी इस सत्य को स्वीकार कर लिया गया था कि वर्तमान संसार धातुमान को ग्रहण करने में असमर्थ है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था के अन्तर्गत सोने को परोक्ष रूप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में मूल्य का मापक तो स्वीकार कर लिया गया है, परन्तु प्रत्येक देश को पत्र-मुद्रा मान स्थापित करने तथा बनाये रखने की पूरी स्वतन्त्रता दी गई है। इस समय इस सम्बन्ध में वाद-विवाद सारहीन है कि एक-धातुमान तथा द्वि-धातुमान में से कौन सा अधिक उपयुक्त है।

एक-धातुमान का सबसे सुविख्यात तथा सबसे अधिक प्रचलित रूप स्वर्णमान रहा है। इस मान में सोने को मूल्यमान के रूप में उपयोग किया जाता है। अर्थशास्त्र के अन्य शब्दों की भाँति स्वर्णमान की भी अर्थशास्त्र में कई परिभाषाएँ की गई हैं। साधारण भाषा में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि किसी देश में देश की मुद्रा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से स्वर्ण में परिवर्तनशील घोषित है तो देश का मुद्रामान स्वर्णमान है। प्रो० राबर्टसन के शब्दों में :—"स्वर्णमान वह अवस्था है जिसमें कोई देश अपनी मुद्रा की इकाई का मूल्य और सोने की एक निश्चित मात्रा का मूल्य एक दूसरे के बराबर रखता है।"[1] कालबोर्न के अनुसार :—"स्वर्णमान एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक चलन की मुद्रा की मुख्य इकाई एक निश्चित किस्म के सोने की एक निश्चित मात्रा में बदली जा सकती है।"[2] वास्तविकता यह है कि स्वर्णमान भी देश की धारा सभा द्वारा पास किये गये अन्य नियमों की भाँति एक नियम है, जिसके अनुसार किसी मुद्रा अधिकारी का, चाहे वह केन्द्रीय बैंक हो अथवा कोषागार, यह उत्तरदायित्व रखा जाता है कि निश्चित दरों पर सोने को देश की मुद्रा में तथा देश की मुद्रा को सोने में बराबर बदलता रहे। उदाहरणस्वरूप, स्वर्णमान के अन्तर्गत प्रथम महायुद्ध से पहिले नियमानुसार बैंक ऑफ इङ्गलैंड का यह उत्तरदायित्व था कि वह ४·२४०६ पौंड प्रति औंस की दर पर प्रत्येक बेचने वाले से सोना खरीदे और ४·२४७७ पौंड प्रति औंस की दर पर प्रत्येक खरीदने वाले को सोना बेचे। कभी कभी देश की मुद्रा को स्वर्ण में परोक्ष रीति से भी बदला जाता है। मुद्रा अधिकारी द्वारा देश की मुद्रा के बदले में एक निश्चित दर पर कोई ऐसी विदेशी मुद्रा दे दी जाती है कि जिसे निश्चित दरों पर सोने में

1. "Gold Standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and value of a defined weight of gold at an equality with one another." *See* Robertson : *Money*, p. 97.

2. "The Gold Standard is an arrangement whereby the chief piece of money of a country is exchangeable with a fixed quantity of gold of a specific quality." *See* W. A. L. Coulborn : *An Introduction to Money*, p. 117.

बदला जा सकता है। सारांश यह है कि देश की मुद्रा की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता प्रत्यक्ष हो अथवा परोक्ष, परन्तु प्रत्येक दशा में स्वर्णमान के अन्तर्गत मुद्रा स्वर्ण में और स्वर्ण मुद्रा में परिवर्तनशील होती है।

पूर्ण स्वर्णमान को स्थापित करने और बनाये रखने के लिए एक देश के लिए निम्न कार्य करना आवश्यक होता है:—

(१) उसे अपने मुद्रामान अथवा आधारभूत मुद्रा इकाई की कीमत सोने में परिभाषित करनी पड़ती है। इसके दो उपाय होते हैं:—या तो मुद्रा इकाई में शुद्ध सोने की मात्रा का उल्लेख कर दिया जाता है, जैसा कि इंगलैंड ने किया था और या सोने की टकसाली कीमत तय कर दी जाती है। अमरीका तथा भारत में दूसरी रीति अपनाई गई थी। अमरीका में १ औंस सोने की टकसाली कीमत ३५ डालर रखी गई थी और भारत में एक तोला सोने की सरकारी दर २१ रुपया ७ आने १० पाई।

(२) मुद्रा-अधिकारी को इस प्रकार निर्धारित कीमत पर वह सब सोना खरीदना चाहिए जो बेचने के लिए लाया जाता है।

(३) मुद्रा अधिकारी को इसी निश्चित कीमत पर अपरिमित मात्रा में सोना बेचने की व्यवस्था करनी चाहिए।

(४) देश में चालू मुद्राएँ मुख्य मुद्रा में परिवर्तनशील होनी चाहिए। इसके लिए साधारणतया सभी मुद्राओं की आपस में परिवर्तनशीलता रखी जाती है।

(५) सोने के आयात और निर्यात की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और उस पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए।

स्वर्णमान की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि देश की मुद्रा की कीमत सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर रखी जाय। मुद्रा की प्रत्येक इकाई की कीमत का, चाहे वह सोने के सिक्कों के रूप में हो अथवा अन्य धातुओं के सिक्कों के रूप में अथवा पत्र-मुद्रा या गौण मुद्रा के रूप में, स्वर्ण इकाई से समुचित अनुपात होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार द्वारा स्वर्णमान सम्बन्धी कुछ विशेष नियमों का बनाना आवश्यक होता है। साथ ही, सरकार का यह भी निश्चय करना होता है कि स्वर्णमान को किस रूप में ग्रहण किया जायगा।

स्वर्णमान के रूप (Forms of Gold Standard)—

स्वर्णमान के निम्न चार रूप सम्भव हैं, इन चारों में से प्रथम तीन रूपों में तो स्वर्णमान वास्तविक जीवन में प्रचलित रहा है, परन्तु चौथा

[illegible] [illegible]), स्वर्ण [illegible] [illegible] (Gold [illegible] Circulation [illegible]) [illegible] (Gold Standard Proper) । प्रथम महा- [illegible] [illegible] स्वर्णमान मुख्य (Gold Standard Proper) फ्रांस, जर्मनी तथा युद्ध से पहले यह मान इङ्गलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी तथा यूरोप के अन्य देशों में प्रचलित था । अमरीका में सन् १९३३ तक इसका चलन रहा, यद्यपि सभी [illegible] देशों ने प्रथम महायुद्ध के काल में इसका चलन बन्द कर दिया था और युद्ध के बाद इस मान को एक [illegible] [illegible] संशोधित रूप में ग्रहण किया था । इस मान की [illegible] निम्न प्रकार हैं:—

(क) मुद्रा इकाई की कीमत सोने की एक निश्चित मात्रा में [illegible] की जाती है ।
(ख) सोने की ढलाई स्वतन्त्र होती है ।
(ग) भुगतान के लिए स्वर्ण-मुद्रा अपरिमित विधि-ग्राह्य होती है ।
(घ) देश में सोने के सिक्कों का प्रचलन होता है और जो गौण सिक्के तथा पत्र-मुद्रा चालू होती है वह स्वर्ण में परिवर्तनीय होती है ।
(ङ) सभी प्रकार की [illegible] कीमत के अनुसार स्वर्ण में परिवर्तनीय होती है । देश में प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा का चलन होता है ।
(च) सोने के आयात और निर्यात पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होते हैं ।
(छ) देश में चलन की मात्रा स्वर्ण निधि पर आधारित होती है । इसके घटने-बढ़ने के अनुसार चलन की मात्रा में भी कमी या वृद्धि की जाती है ।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, सन् १९१४ से पहले इङ्गलैण्ड में
यही मान प्रचलित था । सावरेन (Sovereign) के रूप में सोने के सिक्कों
का प्रचलन था । एक सावरेन का वज़न १२३·२७४४७ ग्रेन होता था और
उसकी शुद्धता $\frac{११}{१२}$ होती थी । इसका अर्थ यह होता है कि सावरेन में
११३$\frac{१}{६२३}$ ग्रेन शुद्ध सोना होता था और शेष टाँका । इस प्रकार ब्रिटिश
मुद्रा में सावरेन की कीमत ३ पौंड १७ शिलिंग १०$\frac{१}{२}$ पैंस होती थी, परन्तु
व्यवहार में एक औंस के बदले में बैंक ऑफ इङ्गलैंड केवल ३ पौंड १७
शिलिंग ९ पैंस ही देती थी, परन्तु यदि कोई व्यक्ति बैंक ऑफ इङ्गलैण्ड से

सोना खरीदना चाहता था तो उसे एक औंस सोने के लिए ३ पौंड १७ शिलिंग १०½ पैंस देने पड़ते थे। इस व्यवस्था का परिणाम यह होता था कि ब्रिटिश साॅवरेन की कीमत ११३ ००१६ ग्रेन सोने की कीमत के आस-पास ही बनी रहती थी।

स्वर्णमान की ऊपर दी गई विशेषताओं से स्वर्ण-चलन मान के कुछ महत्त्वपूर्ण गुणों का पता चलता है। प्रथम, क्योंकि मुद्रा की मात्रा सोने की मात्रा पर निर्भर थी, इस कारण इस स्वर्णमान में मुद्रा तथा साख की उत्पत्ति पर एक प्रभावशाली प्रतिबन्ध रहता था और विनिमय माध्यम की अत्यधिक निकासी कठिन थी। किसी भी केन्द्रीय सत्ता द्वारा राजनीतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मुद्रा की पूर्ति पर जान बूझकर नियन्त्रण नहीं रखा जाता था। मुद्रा की पूर्ति को प्राकृतिक शक्तियों के स्वयं-संचालित नियन्त्रण पर छोड़ दिया जाता है और इन प्राकृतिक शक्तियों में सबसे अधिक महत्त्व स्वर्ण के उत्पादन व्यय का था।

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भी ऐसा स्वर्णमान नियन्त्रण का कार्य करता था। जब तक संसार के विभिन्न देशों की मुद्राएँ स्वर्ण पर आधारित थीं, विदेशी विनिमय दरों के परिवर्तन स्वर्ण निर्यात तथा आयात व्यय की संकुचित सीमाओं के भीतर ही रहते थे। ऋणी देशों को विदेशी भुगतानों के लिए असीमित मात्रा में सोना मिल सकता था और सोना देकर वे अपने ऋणों को चुका सकते थे। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि सोने के आयात और निर्यात् के कारण सोने के कोषों में परिवर्तन होता रहता था। इसके द्वारा कीमतों में जो परिवर्तन हो जाते थे वे आगे चलकर व्यापाराधिक्य में परिवर्तन कर देते थे, जिससे सोने के आयात और निर्यात अपने आप ही रुक जाते थे।

प्रथम महायुद्ध के काल में स्वर्ण-चलन-मान को बनाये रखना सम्भव न हो सका। प्रत्येक देश की सरकार को युद्ध-संचालन के लिए धन की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए कागज के नोटों का छापना आवश्यक प्रतीत हुआ। यदि स्वर्ण-चलन मान के नियमों का पालन किया जाता तो स्वर्ण कोषों की वृद्धि के बिना कागज के नोटों का छापना सम्भव न था, परन्तु युद्ध-काल में स्वर्ण-कोष कहाँ से आते? अतएव अधिकाँश स्वर्णमान देशों ने युद्ध-काल के लिए स्वर्णमान को स्थगित कर दिया। युद्ध के पश्चात् यूरोप के जिन देशों ने स्वर्णमान को फिर से ग्रहण किया उनकी पत्र-मुद्रा युद्ध-काल में इतनी बढ़ाई जा चुकी थी कि उनके लिए पुराने ही रूप में स्वर्णमान को ग्रहण कर लेना असम्भव था।

स्वर्ण-चलन-मान के लाभ—

स्वर्ण-चलन-मान के समर्थकों ने इस मान के पक्ष में बहुत से महत्त्वपूर्ण

तर्क रखे हैं। इस मान के कुछ लाभ तो इस प्रकार के हैं कि कोई भी देश इस मान को स्थापित करके उन्हें प्राप्त कर सकता है, चाहे अन्य देश स्वर्णमान को ग्रहण करते हैं अथवा नहीं। इनके अतिरिक्त अन्य कुछ लाभ ऐसे हैं जो केवल उसी दशा में प्राप्त होते हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर स्वर्णमान को ग्रहण किया जाय। प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं:—

(क) विश्वास—स्वर्णमान के ग्रहण करने से देश की मुद्रा में जनता का विश्वास बना रहता है। स्वर्ण मुद्रा में मुद्रा के अतिरिक्त निहित मूल्य भी मुद्रा-मूल्य के बराबर ही होता है और यही कारण है कि सभी व्यक्ति इसे सदा ही स्वीकार करने को तैयार रहते हैं। यदि मुद्रा के रूप में स्वर्ण-मुद्रा की कीमत समाप्त भी हो जाय तो सिक्के की धातु का उपयोग किया जा सकता है। पत्र मुद्रा में यह गुण नहीं होता है। यदि ऐसी मुद्रा का विमुद्रीकरण हो जाता है तो इसका कुछ भी मूल्य शेष नहीं रहता है। जनता का यह विश्वास केवल सोने के सिक्कों के ही प्रति नहीं होता है, पत्र-मुद्रा, तुच्छ धातु के सिक्कों तथा साख-मुद्रा को यदि सोने में बदला जा सकता है, इसलिए ये भी विश्वासप्रद होती हैं। विश्वास के बने रहने का एक कारण यह भी होता है कि मुद्रा की मात्रा स्वर्ण-कोषों की मात्रा पर निर्भर होती है। बिना अधिक सोना प्राप्त किये मुद्रा की मात्रा को बढ़ाया नहीं जा सकता है। इस कारण अत्यधिक निकासी का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(ख) मुद्रा-प्रणाली की स्वयं-संचालकता (The Automatic Working of the Monetary System)—स्वर्ण-चलन मान को स्वयं संचालक मान कहा जाता है। प्रो० कैनन (Cannan) के शब्दों में यह मान 'मूर्ख सिद्ध तथा मक्कार सिद्ध' (Fool-proof and Knave-proof) है। इस मान को चालू रखने के लिए किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती है। यह स्वयं अपना संचालन करता है। यदि किसी स्वर्णमान देश की सरकार गलती करती है या अन्य स्वर्णमान देशों को धोखा देना चाहती है तो भी स्वर्णमान के संचालन में गड़बड़ नहीं होती है। यह मान गलती से उत्पन्न होने वाली स्थिति को स्वयं सुधार लेता है और धोखेबाजी को फलीभूत नहीं होने देता है। जो लोग इस सिद्धान्त में विश्वास करते हैं कि सरकारी हस्तक्षेप अनुचित होता है उनके दृष्टिकोण से तो यह मान बड़ा ही उपयुक्त है, क्योंकि इसमें मुद्रा की पूर्ति स्वर्ण-कोषों पर निर्भर होती है।

स्वर्ण-चलन-मान में स्वयं-संचालकता लाने के लिए भी किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती है। सरकार को विधान के अनुसार स्वर्ण-कोषों के सम्बन्ध में केवल कुछ नियम बना देने आवश्यक होते हैं और तत्पश्चात् इन नियमों का पालन करते रहने मात्र से ही स्वर्णमान अपने

आप चलता रहता है। देखना केवल इतना ही पड़ता है कि देश की मुद्रा में स्वर्ण-कोषों की मात्रा के अनुसार परिवर्तन किये जायें और सोने के आयात-निर्यात पर से सभी प्रकार के प्रतिबन्ध हटा लिए जाएँ। इन दोनों नियमों का पालन करते रहने से स्वर्णमान में [illegible] आ जाती है।

(ग) देश में कीमत स्तर की स्थिरता—स्वर्ण चलनमान के पक्ष में सबसे अधिक बलशाली तर्क यह रखा जाता है कि इस मान द्वारा देश के भीतर कीमत-स्तर की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। इसका कारण यह बताया जाता है कि आर्थिक प्रणाली के अधिकांश दोष मुद्रा की क्रय-शक्ति के परिवर्तनों के ही परिणाम होते हैं। इन परिवर्तनों से देश का आर्थिक साम्य भङ्ग हो जाता है और आर्थिक जीवन को गहरी चोट पहुँचती है, परन्तु जब सोने को मूल्यमान के रूप में उपयोग किया जाता है तो इसका भय कम रहता है, क्योंकि सोने की मात्रा में बहुत ही कम परिवर्तन होते हैं और अन्य वस्तुओं की तुलना में उसकी कीमत में काफी स्थिरता रहती है। संसार की वार्षिक स्वर्ण उत्पत्ति कुल सोने की मात्रा की तुलना में इतनी कम है कि सोने की कीमतों में सामयिक (Seasonal) तथा अल्पकालीन परिवर्तन तो बहुत ही कम होते हैं।

(घ) विदेशी विनिमय दर की स्थिरता—स्वर्णमान का यह गुण विदेशी व्यापार से सम्बन्धित है। विदेशी व्यापार विदेशी विनिमय दरों पर आधारित होता है। यदि इन विनिमय दरों में अस्थिरता रहती है तो विदेशी व्यापार का विस्तार नहीं हो पाता है और अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों की मात्रा सीमित रहती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात और मुख्यतया स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् विदेशी व्यापार में जो भारी कमी हुई है, वह विनिमय दरों की अस्थिरता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जब सभी देशों में स्वर्णमान का चलन होता है और उनकी मुद्राओं की कीमत सोने की कीमतों पर आधारित होती है तो उनकी पारस्परिक विनिमय दरों में स्वयं ही स्थिरता आ जाती है। यह स्वर्णमान का एक ऐसा गुण है जिसे सभी स्वीकार करते हैं। विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता स्थापित करने के अन्य सभी प्रयत्न पूर्णतया सफल नहीं हो पाये हैं।

स्वर्ण-चलन-मान के दोष—

प्रथम महायुद्ध के काल में तथा उसके बाद भी इस स्वर्णमान प्रणाली की काफी आलोचना हुई है। ऐसा कहा जाता है कि स्वर्णमान के लाभ कल्पनात्मक हैं। व्यवहार में इस मान के बहुत से दोष दृष्टिगोचर हुए हैं। अमरीका को छोड़ कर सभी पाश्चात्य देशों को प्रथम महायुद्ध के काल में

इसे स्थगित करना पड़ा था। वैसे भी इस मान की सफलता एक बड़े अंश तक [illegible] निर्भर होती है, जो सरल नहीं है। प्रमुख दोषों की गणना निम्न प्रकार की जा सकती है :—

(क) स्वर्ण चलन मान देश की मुद्रा प्रणाली को बेलोच बना देता है। बिना स्वर्ण निधि में वृद्धि किये चलन की मात्रा को बढ़ाना सम्भव नहीं होता है, परन्तु युद्ध अथवा अन्य राष्ट्रीय संकट के समय यह आवश्यक हो सकता है कि चलन की मात्रा को बढ़ाया जाय। ऐसी दशा में किसी देश के सम्मुख तीन ही मार्ग होते हैं :—प्रथम, देश को संकटों से निकालने का प्रयत्न ही न किया जाय, जिसे कोई भी देश पसन्द नहीं करेगा। दूसरे, स्वर्णमान के नियमों का उल्लंघन किया जाय, जिससे स्वर्णमान की स्वयं-संचालकता समाप्त हो जायगी और तीसरे, स्वर्णमान के संचालन को स्थगित कर दिया जाय। यही कारण है कि स्वर्णमान के आलोचकों ने इसे अनुकूल परिस्थिति मित्र (Fair Weather Friend) कहा है। साधारण परिस्थितियों में तो यह मान ठीक रहेगा, परन्तु कठिनाई के समय यह साथ छोड़ देगा। आर्थिक संकट के काल में बहुधा इसे स्थगित कर देना आवश्यक हो जाता है।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव—स्वर्ण चलन मान का एक भारी गुण उसकी स्वयं संचालक प्रकृति बताया जाता है। प्रथम महायुद्ध से पूर्व निस्सन्देह स्वर्णमान स्वयं संचालक ही था, परन्तु स्वर्णमान के समर्थक यह भूल जाते हैं कि यह गुण तभी सम्भव हो सकता है, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग हो और सभी देश स्वर्णमान के नियमों का पालन करें। यदि कोई देश सोने के निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगाता है अथवा देश में चलन की मात्रा को स्वर्ण-कोषों की मात्रा के अनुपात में नहीं बदलता है तो यह स्वयं-संचालकता समाप्त हो जाती है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सभी का यह अनुभव रहा है कि कोई भी देश नियमों का पालन करने में अपना किसी भी प्रकार का उत्तरदायित्व नहीं समझता है। कुछ कारणों से प्रथम महायुद्ध के पश्चात् कुछ देशों के लिए स्वर्णमान के नियमों का पालन करना सम्भव भी न था। कुछ देशों ने सोने के इतने बड़े कोष जमा कर लिये थे कि उनके अनुपात में मुद्रा-विस्तार करने से भीषण मुद्रा-प्रसार फैल सकता था। इसके विपरीत कुछ देशों के पास सोना इतना कम रह गया था कि अनुपात में चलन को घटाने से भयङ्कर मुद्रा-संकुचन होने का भय था। दोनों ही दशाओं में स्वर्णमान की स्वयं-संचालकता पर देश की नौका को छोड़ देना घातक हो सकता था और इसीलिए प्रबन्धित (Controlled) मुद्रा-प्रणाली का ग्रहण करना आवश्यक था।

(ग) **कीमतों की स्थिरता कल्पनात्मक है**—कुछ आलोचकों का कहना है कि देश की मुद्रा के मूल्य को सोने की एक निश्चित मात्रा के मूल्य के बराबर रखने की नीति स्वयं कीमतों की स्थिरता को भंग कर देती है। ऐसी नीति का अपनाना अंधेरे में छलाँग लगाना है, क्योंकि यह निश्चय है कि सोने की कीमतों के प्रत्येक परिवर्तन के साथ-साथ कीमत स्तर में भी अवश्य ही परिवर्तन होंगे और सोने की कीमतें अनेक कारणों से बदल सकती हैं। प्रत्येक नई खान की खोज तथा पुरानी खान के खत्म हो जाने के साथ, सोने को निकालने की विधि में प्रत्येक सुधार के कारण और सोने के उपयोगों के परिवर्तन द्वारा सोने की कीमतें बराबर घटती-बढ़ती रहती हैं। इस प्रकार स्वयं सोने की कीमतें स्थिर नहीं रह पाती हैं तो फिर अन्य कीमतें कैसे स्थिर रहेंगी।

यद्यपि यह तो सभी जानते हैं कि सोने का वार्षिक उत्पादन संसार में सोने की कुल मात्रा की तुलना में, बहुत ही कम है और सोने की कीमतों में साधारणतया सामान्य कीमतों की विपरीत दिशा में परिवर्तन होते हैं, परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि स्वर्ण-कोषों का संसार के विभिन्न देशों के बीच बड़ा ही असमान वितरण है। इसके अतिरिक्त स्वर्ण के वार्षिक उत्पादन का संसार के विभिन्न देशों के बीच उनकी जनसंख्या, वाणिज्य अथवा मुद्रा आवश्यकताओं के अनुसार वितरण नहीं होता है। इस समय संसार की सम्पूर्ण स्वर्ण मात्रा का दो-तिहाई भाग अकेले अमरीका के पास है। वितरण की यह असमानता कीमत-स्तर में स्थिरता उत्पन्न नहीं होने देती है।

(घ) **कीमतों तथा विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता के लिये स्वर्णमान आवश्यक नहीं है**—बहुत से आलोचक इस बात पर भी जोर देते हैं कि यदि उद्देश्य यही है कि कीमत-स्तर में स्थिरता रहे और विदेशी विनिमय दरों में भारी परिवर्तन न होने पायें तो इसके लिए प्रबन्धित मुद्रा प्रणाली स्वर्णमान की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है, क्योंकि यहाँ मौद्रिक सहयोग स्वर्णमान की अपेक्षा अधिक सफल हो सकता है। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष बिना स्वर्णमान की स्थापना के ही आवश्यक काम कर रहा है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि कीमतों की स्थिरता सभी दशाओं में लाभदायक नहीं होती है। एक अंश तक कीमत-स्तर में भी लोच का रहना आवश्यक होता है। इस प्रकार स्वयं विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता भी दोषों से खाली नहीं है।

(२) **स्वर्ण-पाटमान अथवा स्वर्ण-धातुमान** (Gold Bullion Standard)—यह मान स्वर्ण-चलन-मान का ही एक परिवर्तित रूप है। इसका आविष्कार प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हुआ था और अमरीका के

अतिरिक्त अन्य सभी स्वर्णमान देशों ने इसे स्वीकार किया था। युद्ध के काल में यूरोप के देशों को चलन के विस्तार की आवश्यकता पड़ी थी, परन्तु स्वर्णमान के नियमों का पालन करने के लिए स्वर्ण कोष काफी न थे, इसलिए स्वर्णमान को युद्ध-काल के लिए स्थगित कर दिया गया था। युद्ध के उपरान्त स्वर्णमान को पुनः स्थापित करने का प्रश्न उठा, परन्तु इङ्गलैंड तथा अन्य यूरोपीय देशों के पास युद्ध-काल में निकाली गई समस्त चलन को आड़ प्रदान करने के लिए काफी मात्रा में सोना न था। यह भी भय था कि यदि स्वर्ण-कोषों की प्राप्त मात्रा के अनुसार मुद्रा में कमी की गई तो भारी मुद्रा-संकुचन होगा, जिससे उद्योग, व्यापार तथा मजदूरियों में भारी मन्दी आ जाती। अधिकांश देश यही चाहते थे कि मुद्रा की प्रस्तुत मात्रा में परिवर्तन किए बिना ही स्वर्णमान को पुनः ग्रहण कर लिया जाय। इस दशा में स्वर्ण-चलन-मान की स्थापना का तो प्रश्न ही नहीं उठता था, अतएव स्वर्णमान का एक नया रूप निकाला गया, जिसमें अपेक्षतन थोड़े से स्वर्ण-कोषों से ही, कीमतों में भारी उथल-पुथल, किये बिना स्वर्णमान स्थापित हो जाय। यही स्वर्ण-पाट-मान था। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) इस स्वर्णमान में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है, देश के भीतर तुच्छ धातुओं के सिक्के और कागजी नोट चलते हैं, परन्तु इन सिक्कों तथा नोटों की कीमत स्वर्ण में सूचित की जाती है।

(२) सोने की ढलाई स्वतन्त्र नहीं होती है।

(३) कागजी नोटों के पीछे १००% स्वर्ण निधि नहीं होती है। कुल पत्र-मुद्रा का एक निश्चित प्रतिशत, जैसे—३०% अथवा ४०%, ही सोने में रखा जाता है, परन्तु सरकार सभी कागज के नोटों को निश्चित कीमत पर सोने में बदलने का वचन देती है। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह केन्द्रीय बैंक अथवा कोषागार से नोटों के बदले में सोना खरीद ले। शत-प्रतिशत स्वर्ण आड़ न होते हुए भी नोटों की परिवर्तनशीलता इस कारण सम्भव हो जाती है कि किसी समय विशेष में कुल पत्र-मुद्रा का एक छोटा सा भाग ही स्वर्ण में बदलने के लिये लाया जाता है। मुद्रा अधिकारी पर जनता का विश्वास होने के कारण कागज के नोट अपने आप ही चालू रहते हैं।

(४) सोने की कीमतें सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाती हैं और इन नियत कीमतों पर सरकार असीमित मात्रा में सोना खरीदने और बेचने की व्यवस्था करती है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो एक व्यक्ति किसी भी मात्रा में सरकार से सोना खरीद सकता है, परन्तु व्यवहार में सरकारी अधिकारियों की सुविधा, मितव्ययिता तथा बार-बार सोना खरीदने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करने के लिये एक न्यूनतम् मात्रा निश्चित कर दी जाती है, जिससे कम मात्रा में एक बार सोना नहीं बेचा जाता है। इङ्गलैण्ड में यह न्यूनतम् मात्रा ४०० औंस रखी गई थी और भारत में ४० तोले।

) सरकार यह प्रयत्न करती है कि विदेशी भुगतानों के लिये सोना प्राप्त करने में किसी को भी कठिनाई न हो। इस उद्देश्य से सरकार सोने के कोषों को जमा करती है। इन कोषों का उपयोग विशेषकर विदेशी भुगतान के लिये ही किया जाता है।

इसी प्रकार स्वर्ण-पाट-मान में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है। देश में सांकेतिक सिक्के तथा कागज के नोट चालू होते हैं, परन्तु सभी प्रकार की मुद्रा को सरकार द्वारा निश्चित दरों पर सोने की सिलों अथवा सोने की छड़ों में बदलने की गारन्टी दी जाती है। इङ्गलैण्ड ने इस मान को सन् १९२५ में स्वीकार किया। उस देश में नोटों को ३ पौंड १७ शिलिङ्ग १०½ पैंस प्रति औंस की दर पर चार-चार सौ औंस की सोने की सिलों में बदलने की व्यवस्था की गई थी। भारत ने यह मान सन् १९२७ में ग्रहण किया और भारत सरकार ने देश की मुद्रा को २१ रुपए ७ आने १० पाई फी तोला की दर पर ४०-४० तोले की सोने की सिलों में बदलने की गारन्टी दी। सन् १९३१ तक यह मान प्रचलित रहा, परन्तु इस वर्ष इङ्गलैण्ड ने इसका परित्याग किया। भारत ने इङ्गलैण्ड का अनुकरण किया और धीरे-धीरे संसार के सभी देशों ने स्वर्णमान प्रणाली तोड़ दी। संयुक्त राज्य अमरीका ने सन् १९३३ तक स्वर्णमान चलाया। फ्रांस ने सबसे अन्त में इसका परित्याग किया और सन् १९३६ तक इसे चलाया। सन् १९३६ के पश्चात् यह मान संसार से उठ खड़ा हुआ।

स्वर्ण-पाट-मान के लाभ—

स्वर्ण-पाट-मान को कुछ लेखकों ने कुछ दिशाओं में स्वर्ण-चलन मान से भी अच्छा बताया है। कहा जाता है कि इस मान में स्वर्ण-चलन-मान के सभी गुणों के अतिरिक्त कुछ और भी लाभ होते हैं। इसके अन्तर्गत

सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है, जिसके तीन प्रत्यक्ष लाभ होते हैं:—प्रथम, सिक्कों के मुद्रण का व्यय बच जाता है। दूसरे, प्रचलन के अन्तर्गत घिसावट द्वारा सोने का नाश नहीं होता है। तीसरे, सोने के उपयोग में बचत होती है और देश का सारा सोना राष्ट्रीय सुरक्षित कोषों के काम आ जाता है।

स्वर्ण-पाट-मान के समर्थक इस मान को इस कारण भी अधिक उपयुक्त बताते हैं कि इसमें सोना छोटे-छोटे व्यक्तिगत कोषों में जमा होने के स्थान पर सरकारी कोषागार अथवा देश की केन्द्रीय बैंक में एक साथ जमा हो जाता है। इन लोगों का विचार है कि सोने के सिक्कों के प्रचलन और उनकी व्यक्तिगत जोड़ से कोई विशेष लाभ नहीं होता है। साधारण परिस्थितियों में सभी लोग पत्र-मुद्रा तथा सांकेतिक सिक्कों के ही उपयोग को अधिक पसन्द करते हैं। केवल असाधारण परिस्थितियों में सोने के सिक्कों का उपयोग किया जाता है, परन्तु ऐसे काल में सरकारी कोष में ही सोने का जमा रहना अधिक अच्छा होता है। इससे एक ओर तो मुद्रा पर विश्वास बना रहता है और दूसरी ओर सोने के कोषों का व्यक्तिगत हितों के लिए उपयोग न होकर सामान्य तथा सार्वजनिक कल्याण के लिये उपयोग होता है।

यह मान मुद्रा-पद्धति में लोच उत्पन्न करता है, क्योंकि चलन और सुरक्षित कोषों के बीच के अनुपात में परिवर्तन कर देने से बिना सोना प्राप्त किये अथवा खोये चलन की मात्रा में परिवर्तन किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त थोड़े स्वर्ण-कोषों वाले देश भी बिना कठिनाई के स्वर्ण-मान के लाभ प्राप्त कर सकते हैं। संसार के विभिन्न देशों के बीच स्वर्ण-कोषों के असमान वितरण के होते हुए भी इस पद्धति द्वारा स्वर्ण-मान को भली-भाँति चालू रखा जा सकता है।

विनिमय दरों की स्थिरता के लिए सोना प्रचलन में रहने की अपेक्षा मुद्रा-संचालक के पास निधि के रूप में होना अधिक उपयोगी होता है। इस दृष्टिकोण से भी स्वर्ण-पाट-मान अधिक उपयुक्त है। साथ ही, स्वर्ण-चलन-मान पद्धति की भाँति स्वर्ण-पाट-मान में भी स्वयं-संचालकता का गुण होता है। स्वर्णमान के नियमों का पालन करने से इस मान पर भी बाहरी हस्तक्षेप का प्रभाव नहीं पड़ सकता है। कारण यह है कि जिस समय मुद्रा की माँग कम होती है, लोग सोना खरीदते हैं, जिसके कारण स्वर्ण-कोषों में कमी आ जाती है और चलन की मात्रा के घट जाने के कारण चलन की पूर्ति फिर उसकी माँग के बराबर हो जाती है। जिस काल में मुद्रा की माँग अधिक होती है, लोग सोना बेचते हैं, जिससे

स्वर्ण-कोषों में वृद्धि होती है और चलन की मात्रा बढ़ जाने के कारण मुद्रा की पूर्ति भी बढ़ जाती है। इस प्रकार माँग और पूर्ति का समायोजन हो जाने के कारण कीमत-स्तर तथा विनिमय दरों की स्थिरता बनी रहती है।

स्वर्ण-पाट-मान के दोष—

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इसी मान को आदर्श मान समझा गया, क्योंकि संसार में सोने की मात्रा इतनी नहीं थी कि युद्ध-कालीन मुद्रा-विस्तार को बनाये रखते हुये भी स्वर्णमान को पहले ही रूप में ग्रहण किया जा सकता, परन्तु इस मान में कुछ गम्भीर दोष भी हैं। शायद इन्हीं दोषों के कारण पुनः स्थापना के ६ वर्ष के भीतर ही स्वर्णमान पद्धति भङ्ग हो गई। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) स्वर्ण-चलन-मान की भाँति यह मान भी साधारण परिस्थितियों के ही लिए उपयुक्त है। विशेष परिस्थितियों अथवा संकटकाल में इसे बनाये रखने में भी कठिनाई होती है।

(२) इस मुद्रा-मान पर जनता का विश्वास स्वर्ण-चलन-मान की अपेक्षा कम होता है। देश की मुद्रा सोने से परोक्ष रूप में ही सम्बन्धित होती है। स्वर्ण-चलन-मान की भाँति सोना सामने उपस्थित नहीं होता। सामने तो कागज के नोट और सांकेतिक सिक्के होते हैं। केवल इन सिक्कों को बदल कर सोना प्राप्त किया जा सकता है।

(३) स्वर्ण-चलन-मान की अपेक्षा इस पद्धति में सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता अधिक पड़ती है, जिसके कारण भूल तथा धोखे के लिए अधिक अवकाश रहता है।

(४) यह प्रणाली अधिक व्ययपूर्ण होती है। एक ओर तो इसमें भी सोना सुरक्षित कोषों में बेकार पड़ा रहता है और दूसरे, साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखने तथा मुद्रा का प्रबन्ध करने के लिए काफी निरीक्षण तथा व्यय की आवश्यकता पड़ती है।

(५) स्वर्णमान के कुछ और भी रूप हो सकते हैं, जो इस प्रणाली की अपेक्षा अधिक मितव्ययी होते हैं और कम स्वर्ण-कोषों की सहायता से चलाये जा सकते हैं, मुख्यतया स्वर्ण-विनिमय-मान (Gold Exchange Standard) एक ऐसा ही मान है।

स्वर्ण-चलन-मान तथा स्वर्ण-पाट-मान की तुलना—

दोनों के प्रमुख भेद निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायेंगे :—

स्वर्ण चलन-मान	स्वर्ण-पाट-मान
(१) सोने का उपयोग विनिमय माध्यम तथा मूल्य-मान दोनों ही के रूप में किया जाता है।	(१) सोने का उपयोग केवल मूल्य-मान के रूप में किया जाता है, वह विनिमय का माध्यम नहीं होता।
(२) सोने के सिक्के प्रचलित होते हैं और सोने का मुद्रण स्वतन्त्र होता है।	(२) सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है और उनकी स्वतंत्र ढलाई का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।
(३) देश में प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा का प्रचलन होता है और सरकार पत्र-मुद्रा को असीमित मात्रा में स्वर्ण में बदल देने की गारन्टी देती है। कोई भी व्यक्ति किसी भी मात्रा में सरकार से सोना खरीद सकता है।	(३) देश में परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का चलन होता है, जिसे सरकार नियत कीमतों पर सोने में बदलने का वचन देती है, परन्तु व्यवहार में सोने की एक न्यूनतम मात्रा निश्चित कर दी जाती है और उससे कम मात्रा में सरकार किसी भी व्यक्ति को सोना नहीं बेचती है।
(४) सोना घरेलू आवश्यकता तथा विदेशी भुगतान दोनों ही के लिए मिल सकता है।	(४) सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से किसी भी उद्देश्य के लिए सोना खरीदा जा सकता है, परन्तु व्यवहार में वह केवल विदेशी भुगतानों के लिए ही दिया जाता है।
(५) यह प्रणाली लगभग स्वयं सञ्चालक होती है और बिना सरकारी हस्तक्षेप के चालू रह सकती है।	(५) स्वयं-संचालकता का गुण एक अंश तक इस प्रणाली में भी होता है, परन्तु सरकारी हस्तक्षेप बहुधा आवश्यक होता है
(६) इस पद्धति में देश के भीतर कीमतों की स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाता है।	(६) इस प्रणाली में विनिमय दरों की स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाता है।

(३) स्वर्ण-विनिमय-मान (Gold Exchange Standard)—

इस मुद्रा मान का प्रचलन भी प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही अधिक

मु० च० अ०, फा०६।

रहा है, यद्यपि भारत तथा कुछ अन्य देशों में इस प्रकार का स्वर्णमान २० वीं शताब्दी के आरम्भ में ही स्थापित हो गया था। इस स्वर्णमान में केन्द्रीय बैंक अथवा मुद्रा अधिकारी का यह उत्तरदायित्व नहीं होता है कि वह देश के चलन को स्वर्ण में बदले। उत्तरदायित्व केवल इतना होता है कि देश के चलन को किसी ऐसे चलन में परिवर्तन करने का विश्वास दिलाया जाय जो स्वयं स्वर्ण में परिवर्तनशील हो। इस प्रकार स्वर्ण-विनिमय-मान में देश के चलन का सोने से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है, परन्तु देश के चलन को एक निश्चित् विनिमय दर पर किसी ऐसी विदेशी मुद्रा से जोड़ दिया जाता है जो स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है। सरकार का कर्त्तव्य केवल यह होता है कि नियत विनिमय दर पर ऐसी विदेशी मुद्रा की सम्पूर्ण माँग को पूरा करती रहे। देश की सरकार देशी मुद्रा के बदले में सोना नहीं बेचती है, परन्तु देश की मुद्रा को विदेशी मुद्रा में बदल कर उस मुद्रा के बदले में विदेश की केन्द्रीय बैंक से सोना खरीदा जा सकता है। इस प्रकार देश की मुद्रा परोक्ष रीति से सोने में बदली जा सकती है। यह मान साधारणतया निर्धन देशों द्वारा ग्रहण किया जाता है, जिनके पास सोना बहुत ही कम होता है। स्वर्ण-विनिमय-मान के दो रूप संसार में दृष्टिगोचर हुए हैं—कुछ देशों ने देश के भीतर स्वर्ण-कोष बिल्कुल नहीं रखे थे और वे अपनी स्वर्ण सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेशी स्वर्ण-कोषों पर निर्भर रहते थे। इसके विपरीत कुछ देश अपने सुरक्षित कोषों को विदेशी विनिमय अथवा विदेशी रोकों के रूप में विदेशों में रखते थे। दूसरे प्रकार के स्वर्णमान को कुछ अर्थशास्त्री स्वर्ण-विनिमय-मान स्वीकार करने से इन्कार करते हैं, परन्तु व्यवहार में दोनों को ही स्वर्ण-विनिमय-मान का नाम दिया जाता है। इस पद्धति की विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं:—

(१) देश में न तो सोने के सिक्कों का प्रचलन होता है और न प्रतिनिधि तथा परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा, सांकेतिक सिक्के तथा तुच्छ धातुओं के सिक्के चलन में रहते हैं।

(२) देश की प्रामाणिक मुद्रा को एक निश्चित दर पर किसी ऐसे देश की मुद्रा से जोड़ दिया जाता है जो स्वर्ण-चलन-मान अथवा स्वर्ण-पाट-मान को ग्रहण करता है। इस प्रकार परोक्ष रूप में देशी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण द्वारा निर्धारित होता है।

(३) सिद्धान्त में तो मुद्रा-संचालक देश की पत्र-मुद्रा को एक निश्चित दर पर सोने अथवा विदेशी विनिमय में परिवर्तित करने का उत्तरदायी होता है, परन्तु व्यवहार में सोना केवल विदेशी

भुगतानों के लिए ही दिया जाता है और वह भी विदेशी विनिमय के ही रूप में।

(४) विदेशों से सोने में अथवा किसी स्वीकृत विदेशी मुद्रा में भुगतान लिए जाते हैं।

(५) सोने का उपयोग न तो विनिमय माध्यम के रूप में किया जाता है और न मूल्यमान के रूप में, परन्तु परोक्ष रूप में कीमत-स्तर सोने की कीमतों द्वारा ही निश्चित होता है।

भारत ने सन् १९०० में इस मान को ग्रहण किया था। भारतीय रुपये को ब्रिटिश पौंड से जोड़ दिया गया था और भारतीय रुपये की विनिमय दर १ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपया रखी गई थी। सन् १९१७ तक यह मान सफलतापूर्वक चालू रहा था, यद्यपि सन् १९१४ के पश्चात् भारत सरकार ने बड़ी कठिनाई के साथ इसे निभाया था। सन् १९१७ से सन् १९२० तक स्वर्ण-विनिमय-मान को स्थगित कर दिया गया था। सन् १९२० में २ शिलिंग प्रति रुपये की विनिमय दर पर भारत सरकार ने इस मान को फिर स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु प्रयत्न असफल रहा। भारत में स्वर्ण-विनिमय-मान की असफलता का प्रमुख कारण चाँदी की कीमतों का भारी उतार-चढ़ाव था। स्वर्ण-विनिमय-मान वाले अन्य देशों में डेनमार्क का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। उस देश ने भी अपने चलन को एक निश्चित विनिमय दर पर ब्रिटिश पौंड के साथ जोड़ रखा था।

स्वर्ण-विनिमय-मान के लाभ—

स्वर्ण-विनिमय-मान को सबसे मितव्ययी स्वर्णमान कहा जाता है। इस मान के तीन मुख्य लाभ हैं:—

(१) एक निर्धन देश, जिसके पास सोना बहुत ही कम है, इसके द्वारा स्वर्णमान के सभी लाभ प्राप्त कर सकता है। किसी शक्तिशाली स्वर्ण-मुद्रा के साथ देश की मुद्रा को जोड़ कर तथा विदेशी विनिमय दर पर नियन्त्रण रख कर विदेशी विनिमय दर की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। साथ ही, यदि विदेशी मुद्रा को सावधानीपूर्वक चुना जाता है तो विदेशी भुगतानों के सम्बन्ध में किसी प्रकार की कठिनाई का भय नहीं रहता है।

(२) यह मान इस दृष्टिकोण से मितव्ययितापूर्ण है कि इसमें सोने के आयात और निर्यात का खर्च बच जाता है। सोना न तो बाहर भेजा जाता है और न बाहर से मँगाया जाता है, इसलिए सोने को पैक करने, उसके यातायात तथा उसके बीमे का व्यय बच जाता है। इसी प्रकार, क्योंकि देश में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है, इसलिए सिक्कों की घिसावट

द्वारा भी नुकसान का भय नहीं रहता है। साथ ही, सोना सुरक्षित कोषों में बेकार नहीं पड़ा रहता है। उसका उपयोग मुद्रा के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए किया जा सकता है।

(३) देश की सरकार बहुधा इसके द्वारा लाभ भी कमाती है। विदेशों में जो निक्षेप रखे जाते हैं तथा जो विनियोग किये जाते हैं उनसे ब्याज प्राप्त होता है। देश की सरकार विदेशी विनिमय खरीदने तथा बेचने की दरों में अन्तर रख कर भी लाभ कमाती है। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान संचालन सम्बन्धी सारी की सारी जिम्मेदारी विदेशी सरकार के ऊपर रहती है। देशी सरकार तो केवल विदेशी विनिमय दर की स्थिरता पर ही ध्यान देती है।

स्वर्ण-विनिमय-मान के संचालन की कार्य-विधि का एक संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है :—इस मान में संकुचित सीमाओं के भीतर विदेशी विनिमय दरों में परिवर्तन होने दिये जाते हैं। स्वर्ण-निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) पर मुद्रा-संचालक विदेशी विनिमय खरीदता है और स्वर्ण-आयात बिन्दु पर उसे बेचता है, यद्यपि दोनों ही दशाओं में स्वर्ण की बिक्री तथा खरीद असीमित होती है। जब विदेशी विनिमय खरीदा जाता है तो देशी चलन की मात्रा बढ़ती है और जब विदेशी विनिमय बेचा जाता है तो देशी चलन का संकुचन होता है, क्योंकि देशी मुद्रा के पीछे सबसे बड़ी आड़ विदेशी विनिमय कोषों की होती है। इस प्रकार देशी मुद्रा की पूर्ति में विदेशी व्यापार तथा विदेशी विनियोगों के परिवर्तनों के अनुसार कमी या वृद्धि होती रहती है। सोने को भेजने और मँगाने का व्यय नहीं होता है और विदेशी रोकों से आय प्राप्त होती है, इसलिए इस सम्बन्ध में भी व्यय कम होता है।

स्वर्ण-विनिमय-मान के दोष—

स्वर्ण-विनिमय-मान की सबसे बड़ी कमी यह होती है कि इसमें सोने के एक ही सुरक्षित कोष पर कई देशों की मुद्राएँ आधारित होती हैं। इस कारण यह मान मितव्ययितापूर्ण तो अवश्य होता है, परन्तु भय यह रहता है कि कहीं सोने की यह सीमित मात्रा स्वर्णमान सम्बन्धी सभी कार्यों को सम्पन्न करने में अपर्याप्त न हो जाय। इसके अतिरिक्त इस मान के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) स्वर्ण-विनिमय-मान के सफल संचालन के लिए विदेश में लम्बी-चौड़ी रोकों की आवश्यकता होती है। यह व्यवस्था वैसे तो सस्ती और सुविधाजनक होती है, परन्तु यह संकट से खाली नहीं होती। यदि आधार देश (Planet Country)

ही स्वर्णमान का परित्याग करता है तो उसके पीछे लगे हुये सभी देश कुछ भी नहीं कर सकते हैं और उनकी मुद्राओं की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता स्वयं ही समाप्त हो जाती है। सन् १६३१ में इङ्गलैंड द्वारा स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इस प्रकार यह मान देश के व्यापार, विनियोग आदि को विदेशी सरकार की नीति का दास बना देता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह मान आधार देश (Planet Country) की मुद्रा-प्रणाली को असुरक्षित बना देता है। आधार देश के पास सोने का कोष तो सीमित होता है, परन्तु उस कोष पर आधार देश के अतिरिक्त उन सभी गौण देशों का भी अधिकार रहता है, जिन्होंने अपनी मुद्रा आधार देश की मुद्रा से जोड़ रखी है। ऐसी दशा में यह सम्भव है कि विभिन्न सूत्रों से सोने की माँग इतनी अधिक आ जाय कि आधार देश की मुद्रा-प्रणाली का जीवन ही संकट में पड़ जाय।

(३) इस मान के अन्तर्गत तरल आदेयों (Liquid Assets) का एक देश से दूसरे को हस्तान्तरण उतनी सुगमता तथा उतनी मात्रा में नहीं होता है जितना कि स्वर्णमान के अन्तर्गत सोने का होता है। इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन की स्थापना में कठिनाई होती है। यदि यह हस्तान्तरण ठीक-ठीक होता रहता है तो सरल साधनों का विभिन्न देशों के बीच ऐसा समुचित वितरण हो जाता है कि विभिन्न देशों की आन्तरिक कीमतों में साम्य स्थापित हो जाता है।

हिल्टन यंग आयोग ने भारत में स्वर्ण-विनिमय-मान के व्यावहारिक संचालन की जाँच की थी, जिसके पश्चात् आयोग ने भारत में इस मान के निम्न दोष बताये थे :—

(१) यह प्रणाली कठिन तथा अत्यधिक सैद्धान्तिक है और जन-साधारण की समझ से बहुधा बाहर होती है। ऐसी प्रणाली के लिए जनता का विश्वास प्राप्त करना कठिन होता है। जनता मुद्रा-संचालक को सदा शङ्का की दृष्टि से देखती है और उसके साथ सहयोग नहीं करती है।

(२) भारत में इस प्रणाली के अन्तर्गत कोषों की अधिकता थी। तीन प्रकार के सुरक्षित-कोष अर्थात् स्वर्णमान-कोष, पत्र-मुद्रा-

कोष तथा भारत सरकार की रोकें भारत और इङ्गलैण्ड दोनों में रखी जाती थीं।

(३) यह प्रणाली स्वयं-संचालक नहीं होती। इसका संचालन बड़े अंश तक मुद्रा-संचालक की इच्छा पर निर्भर रहता है।

(४) इसमें लोच नहीं होती है। देश में चलन का विस्तार करने में तो विशेष कठिनाई नहीं होती है, परन्तु चलन का संकुचन लगभग असम्भव ही होता है।

(५) एक गम्भीर दोष यह भी होता है कि देश का चलन विदेशी चलन पर आश्रित हो जाता है और विदेशी सरकार की स्वेच्छा तथा उसके दुर्भाग्य का देश को भी शिकार बनना पड़ता है।

(४) स्वर्ण-निधि-मान (Gold Reserve Standard)—

यह मान स्वर्णमान का ही एक परिवर्तित रूप है, जो सन् १६३६ से लेकर सितम्बर सन् १६३६ तक कुछ देशों में प्रचलित रहा है। सन् १६३६ में फ्रान्स ने भी स्वर्णमान का परित्याग कर दिया। उस समय विनिमय दरों की स्थिरता को बनाये रखने के लिए बेल्जियम, फ्रान्स, इंगलैण्ड, हॉलैण्ड, स्विटजरलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमरीका के बीच एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार एक देश से दूसरे देश को सोने का आवागमन हो सकता था। इन देशों में किसी भी प्रकार का स्वर्णमान चालू न था, अतः यह आवागमन केवल मुद्रा सम्बन्धी कामों में आने वाले सोने का ही हो सकता था। व्यापारियों को सोना मंगाने अथवा भेजने का अधिकार न था। दूसरे शब्दों में, सोने के आयात और निर्यात का एकाधिकार केवल सरकारों के हाथ में था और इसके लिए सभी देशों ने विनिमय समानीकरण कोषों (Exchange Equalisation Funds) का निर्माण कर रखा था। इन कोषों को कभी-कभी विनिमय समातुलन लेखे (Exchange Equalisation Account), विनिमय कोष (Exchange Funds) तथा 'नियन्त्रण' (Control) भी कहा जाता था। विनिमय पर सरकारी एकाधिकार था। कुल विदेशी विनिमय को एक कोष में रखा जाता था और इस कोष का संचालन केन्द्रीय बैंकों द्वारा किया जाता था। प्रत्येक कोष के पास देश की मुद्रा का एक भारी संचय होता था और इनमें से कुछ के पास सोना भी काफी मात्रा में रहता था। उद्देश्य यह था कि यदि किसी चलन की विदेशी विनिमय बाजार में असाधारण रूप में अधिक माँग होती थी तो कोष विशेष उसे आवश्यक मात्रा में देकर विनिमय दरों के परिवर्तन को रोक सकता था, परन्तु यदि कोष विशेष विदेशी मुद्राओं

का अत्यधिक सञ्चय नहीं करना चाहता था तो व्यवस्था यह थी कि प्रत्येक कोष अपने देश की मुद्रा के बदले में दूसरे कोष को सोना दे देता था।

इस प्रकार के कार्य की आवश्यकता निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी:—मान लीजिए कि ब्रिटिश कोष ऐसा अनुभव करता है कि उसका डालर संचय बहुत अधिक हो गया है तो ऐसी दशा में वह अमरीकन 'नियन्त्रण' को सूचना दे देगा कि वह और अधिक डालर का संचय नहीं करेगा। अब क्योंकि विभिन्न समानीकरण कोषों के प्रबन्धकों के बीच यह समझौता होता है कि वे अपने चलन के बदले में दूसरे कोष को सोना दे देता है तो अमरीकन कोष डालर लेकर उसके बदले में ब्रिटिश कोष को उनकी कीमत का सोना दे देगा।

विनिमय समानीकरण कोषों में वह सोना जमा रहता था जो वे दूसरे कोषों से खरीदते थे। एक देश के कोष से दूसरे देश के कोष में सोने का हस्तान्तरण होता रहता था, इसीलिए इस प्रणाली का नाम स्वर्ण-निधि पद्धति पड़ा। इस प्रणाली की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसके द्वारा ब्याज की दर में परिवर्तन किये बिना तथा देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था में किसी प्रकार के हस्तक्षेप के बिना ही विदेशी विनिमय-दर की स्थिरता प्राप्त की जा सकती थी। जब तक यह प्रणाली चालू रही, विदेशी मुद्राओं में सोने का मूल्य स्थायी बना रहा। इस प्रणाली में गुण यह होता है कि देश के चलन में सोने की कीमतों को नियत करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

दूसरे महायुद्ध के आरम्भ तक तो यह प्रणाली सफलतापूर्वक चलती रही, परन्तु यह युद्ध की भीषण परिस्थितियों की चोट सह न सकी और टूट गई। पद्धति के जीवन काल में सभी देशों ने इसके कार्यवाहन को गुप्त रखा। जनता को यह पता नहीं चलता था कि कोष क्या खरीद रहा है, अथवा क्या बेच रहा है? यह भी एक रहस्य होता था कि समय विशेष में किसी कोष के पास विभिन्न मुद्राओं की कितनी-कितनी मात्रा रहती थी। युद्ध काल में विनिमय दरों की स्थिरता के लिए विनिमय-नियन्त्रण (Exchange Control) की नीति को सफल बनाने के लिए नये-नये उपायों का अपनाना आवश्यक हो गया।

स्वर्णमान पर एक ऐतिहासिक दृष्टि—

१६ वीं शताब्दी में द्वि-धातुमान स्थापित करने के अनेक प्रयत्न किये गये, परन्तु इस सम्बन्ध में कठिनाइयाँ इतनी हुईं कि ये प्रयत्न फलीभूत न हो सके। चाँदी की कीमतों में परिवर्तन इतने अधिक हुए कि [illegible] ग्रहण करना असम्भव हो गया। इस काल में स्वर्णमान का ही [illegible] अधिक रहा। इस शताब्दी में सोने की कीमतों की स्थिरता, सोने [illegible]

अधिक मूल्यमान धातु होने के कारण, सोने की पूर्ति काफी होने के कारण और सोने के वार्षिक उत्पादन की कमी के कारण सोना ही मूल्यमान के रूप में अधिक उपयुक्त समझा गया था। संसार के सभी देशों की रुचि स्वर्णमान ग्रहण करने की ओर ही थी।

सन् १६१४ से पूर्व का स्वर्णमान—

प्रथम महायुद्ध के पूर्व सभी स्वर्णमान देशों में स्वर्ण-चलन-मान ग्रहण किया गया था। इसके अन्तर्गत सोना विनिमय माध्यम तथा मूल्य मापक दोनों ही का काम करता था। सोने के सिक्के प्रचलन में रहते थे। विदेशी विनिमय का आधार भी सोना ही था। विदेशी विनिमय दर दो चलनों की स्वर्ण खरीदने की शक्ति की समानता द्वारा निर्धारित होती थी और यद्यपि इस विनिमय दर में परिवर्तन हो सकते थे, परन्तु इन परिवर्तनों की सीमाएँ छोटी सी थीं। विदेशी विनिमय दर स्वर्ण आयात तथा स्वर्ण निर्यात बिन्दुओं (Gold Import and Export Points) के भीतर ही रहती थी। स्वर्णमान के अन्तर्गत दो नियमों का पालन किया जाता था:—प्रथम, सोने के आयात-निर्यात स्वतन्त्र रखे जाते थे और दूसरे, स्वर्ण-कोषों की मात्रा में परिवर्तन होने पर उन्हीं के अनुपात में चलन की मात्रा में भी परिवर्तन कर दिये जाते थे। ऐसा कहा जाता है कि इन नियमों का पालन करने के पश्चात् यह मान स्वयं-संचालक हो जाता था। बिना किसी प्रकार के हस्तक्षेप के यह स्वयं ही चलता रहता था। यदि देश के स्वर्ण-कोषों में कमी आ जाती थी तो इसी कमी के अनुपात में देश में मुद्रा भी कम हो जाती थी, जिसके कारण देश में वस्तुओं और सेवाओं की आन्तरिक कीमतें गिर जाती थीं। इसके द्वारा आयात हतोत्साहित होते थे तथा निर्यात बढ़ते थे और आगे चल कर व्यापाराशेष में इस प्रकार के परिवर्तन हो जाते थे कि आयात-निर्यात के संतुलन के अतिरिक्त गया हुआ सोना फिर लौट आता था। इसी प्रकार निर्यातों के बढ़ने की दशा में देश में सोने का आयात होता था, मुद्रा-विस्तार होता था, सामान्य कीमतें बढ़ती थीं और आयात प्रोत्साहित होते थे, जिसके फलस्वरूप पुराना साम्य पुनः स्थापित हो जाता था।

इसी काल में कुछ देशों में स्वर्ण-मान का एक दूसरा रूप भी प्रचलित था, जिसे हम स्वर्ण-विनिमय-मान कहते हैं। इस पद्धति का उद्देश्य सोने के उपयोग में बचत करना होता था और यह साधारणतया ऐसे देशों द्वारा अपनाई जाती थी जिनके पास स्वर्ण-कोषों का अभाव था। इस प्रणाली में सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता था। देश की मुद्रा को एक नियत दर पर किसी शक्तिशाली विदेशी मुद्रा से, जो स्वर्ण पर आधारित होती थी, जोड़ दिया जाता था। सरकार को देशी चलन, विदेशी चलन तथा सोने

का एक कोष बनाना पड़ता था और विदेशी व्यापार की सुविधा के लिये नियत विनिमय दरों पर विदेशी विनिमय खरीदना और बेचना पड़ता था। यह प्रणाली भारत, जावा, हॉलैण्ड, डेनमार्क, आस्ट्रिया, हंगरी आदि देशों में प्रचलित थी। भारत में स्वर्ण-विनिमय-मान पद्धति सन् १९०७-८ में स्थापित की गई थी और यह सन् १९१७ तक चालू रही। उस समय भारत सरकार का यह वैधानिक उत्तरदायित्व था कि ऋणों का भुगतान सोने में करे। इस प्रणाली के अन्तर्गत आन्तरिक उपयोग के लिये चाँदी का रुपया प्रामाणिक मुद्रा थी, परन्तु विदेशी व्यापार ब्रिटिश स्टर्लिङ्ग द्वारा किया जाता था और सरकार एक निश्चित दर पर, अर्थात् १ शिलिङ्ग ४ पैंस प्रति रुपये के हिसाब से, रुपयों को स्टर्लिङ्ग में बदल देती थी।

प्रथम महायुद्ध के आरम्भ काल तक स्वर्णमान बिना किसी कठिनाई के चालू रहा। आन्तरिक कीमत-स्तर तथा विदेशी विनिमय दरें स्थिर बनी रहीं और विभिन्न देशों के बीच आर्थिक परिस्थितियों की भिन्नता होते हुये भी पारस्परिक मौद्रिक सहयोग बना रहा, परन्तु युद्ध का आरम्भ होते ही इसमें कठिनाइयाँ होने लगीं और अधिकाँश स्वर्णमान देशों ने सोने के सिक्के निकालना बन्द कर दिया तथा सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिये। प्रत्येक देश सोने का संचय करने लगा। सभी देशों ने स्वर्णमान को स्थगित करके वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये बिना स्वर्ण-कोषों पर ध्यान दिये कागज के नोट छापने आरम्भ कर दिये। अमरीका जैसे शक्तिशाली देश ने भी सोने के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये। परिणाम यह हुआ कि स्वर्णमान व्यवस्था टूट गई।

युद्धोत्तर-कालीन स्वर्णमान (The Post-War Gold Standard)—

युद्ध का अन्त होते ही अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर स्वर्णमान को स्थापित करने का प्रयत्न फिर आरम्भ हुआ। इसके लिये सन् १९२० में ब्रूसेल्स (Brussles) में एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसने यह आदेश दिया कि जिन देशों ने स्वर्णमान को तोड़ दिया था वे उसे फिर से स्थापित कर दें। सन् १९२२ में एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ सम्मेलन हुआ, जिसने यह आदेश दिया कि आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सभी देशों की मुद्राओं के मूल्य में स्थिरता का बनाये रखना आवश्यक था। स्वर्णमान की स्थापना में सबसे पहला कार्य संयुक्त राज्य अमरीका ने किया और सन् १९१९ में ही सोने के आयात-निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्ध तोड़ दिये। इसके पश्चात् सन् १९२५ में इंगलैंड तथा फ्रांस ने स्वर्णमान को पुनः ग्रहण किया। सन १९२७ में भारत में भी यह मान स्थापित हुआ। स्वर्णमान को फिर से स्थापित करने का उद्देश्य यह था कि युद्ध से पहिले जैसी सामान्य परिस्थितियाँ उत्पन्न की जायँ। इसके अतिरिक्त युद्धोत्तर

काल में जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों ने भीषण मुद्रा-स्फीति के दुखद परिणाम देखे थे, उन्होंने भविष्य में इन परिणामों से बचने के लिए स्वर्ण-मान को पुनः स्थापित किया।

युद्ध के उपरान्त स्वर्णमान को पुनः स्थापित करने की समस्या विभिन्न देशों के सम्मुख विभिन्न रूपों में थी। अमरीका में सामान्य कीमतों में बहुत ही कम वृद्धि हुई थी, इसलिए उसने तो केवल स्वर्ण निर्यात सम्बन्धी प्रतिबन्धों को हटाकर स्वर्णमान को उसके प्राचीन आधार पर स्थापित कर दिया। इसी प्रकार उन देशों को भी स्वर्ण-मान स्थापित करने में कठिनाई नहीं हुई जिन पर युद्ध का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा था। स्विटजरलैण्ड, हॉलैण्ड, नॉर्वे तथा स्वीडन ऐसे ही देशों में से थे, परन्तु इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस की स्थिति भिन्न थी। वहाँ पत्र-मुद्रा का विस्तार बहुत हो गया था और इस कारण स्वर्ण-चलन-मान को बिना भारी मुद्रा-संकुचन किये स्थापित करना असम्भव था। इन देशों ने स्वर्ण-चलन-मान के स्थान पर स्वर्ण-पाट-मान को ग्रहण किया। इस प्रकार स्पेन को छोड़ कर सभी स्वर्णमान देशों ने युद्ध के पश्चात् स्वर्णमान को फिर ग्रहण कर लिया। परन्तु पुनः स्थापित होने के पश्चात् स्वर्णमान की कठिनाइयों ने भीषण रूप धारण कर लिया। देशों के बीच पुराना मौद्रिक सहयोग समाप्त हो चुका था। प्रत्येक देश सोने का संग्रह करने का प्रयत्न कर रहा था और उचित अथवा अनुचित रीति से विदेशी व्यापार को स्वर्ण प्राप्ति तथा आर्थिक विकास का साधन बनाना चाहता था। इस काल में विदेशी व्यापार पर लगभग सभी प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही स्वर्णमान फिर टूट गया। सितम्बर सन् १९३१ में इङ्गलैण्ड ने स्वर्णमान को छोड़ दिया। सन् १९३३ में अमरीका ने भी इसे छोड़ दिया और अन्त में सन् १९३६ में फ्रांस ने स्वर्णमान को तोड़ कर इस मान को संसार से ही बिदा कर दिया।

स्वर्णमान के नियम (The Rules of the Gold Standard)—

स्वर्णमान में स्वयं-संचालकता का गुण बताया जाता है, परन्तु यह गुण तभी प्राप्त होता है जबकि स्वर्णमान के कुछ नियमों का पालन किया जाय। इन नियमों को कभी-कभी खेल के नियम (Rules of the Game) भी कहा जाता है। ये नियम इस प्रकार हैं :—

(१) स्वतन्त्र व्यापार नीति का अपनाना—स्वर्णमान के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध न लगाये जायँ। संरक्षण, आर्थिक राष्ट्रीयवाद, कोटा (Quota) तथा अन्य व्यापारिक नियन्त्रण इस मान के लिए अहितकर हैं।

वस्तुओं के आयात और निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने का परिणाम यह होता है कि व्यापाराशेष में ठीक दिशाओं में परिवर्तन नहीं होने पाते हैं, जिसके कारण आयात और निर्यात के सन्तुलन में बाधा पड़ती है। स्वतन्त्र व्यापार का यह भी अर्थ होता है कि प्रत्येक स्वर्णमान देश में सोने का आयात और निर्यात भी स्वतन्त्र होना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि संसार के विभिन्न स्वर्णमान देशों के बीच सोने का वितरण इस प्रकार हो जाता है कि प्रत्येक को आवश्यकतानुसार सोना मिल जाता है। इसके अतिरिक्त व्यापाराशेष की त्रुटियाँ भी स्वर्ण के आयात और निर्यात द्वारा ठीक हो जाती हैं। मुद्रा का विस्तार अथवा संकुचन स्वर्ण-कोषों की मात्रा पर निर्भर होता है और आयात-निर्यात द्वारा स्वर्ण-कोषों में परिवर्तन हो जाने के कारण कीमत-स्तर इस प्रकार परिवर्तित हो जाता है कि विदेशी व्यापार का सन्तुलन बना रहे। इस प्रकार स्वर्ण-मान के इस नियम का पालन करने से विदेशी व्यापार का असन्तुलन तथा सोने के वितरण की असमानता स्वयं ही ठीक हो जाते हैं।

(२) स्वर्ण कोषों के अनुपात में मुद्रा को घटाना-बढ़ाना—स्वर्णमान का दूसरा नियम यह है कि स्वर्ण के आवागमन के कारण देश के मूल्य-स्तर पर जो प्रभाव पड़ता है उसमें मुद्रा-संचालक को किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। यदि सोना देश से बाहर जाता है तो स्वर्ण कोष की कमी के अनुपात में कीमतों को गिरने देना चाहिये। यदि मुद्रा-संकुचन के भय से मुद्रा-संचालक कीमतों को गिरने से रोक देता है तो देश के निर्यातों को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा और आयातों के निर्यातों से अधिक रहने के कारण सोना देश से बराबर बाहर जाता रहेगा। ठीक इसी प्रकार यदि सोना बाहर से आ रहा है तो कीमतों को उसी के अनुपात में बढ़ने देना चाहिये, अन्यथा आयात-निर्यात सन्तुलन स्थापित नहीं हो पायेगा। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि मुद्रा-संचालक जनता को उसकी माँग के अनुसार सोना देने को तैयार रहे। इसी प्रकार जितना भी सोना देश के भीतर आता है उसे लेने के लिए और उसे चलन का आधार बनाने के लिए भी मुद्रा-संचालक को तैयार रहना चाहिये। स्वर्ण को मुद्रा में और मुद्रा को स्वर्ण में निर्बान्ध परिवर्तनशील होना चाहिये।

(३) राजनैतिक स्थिरता—देश में पूर्ण शान्ति रहनी चाहिए। देश के अन्दर के झगड़े लोगों में अशान्ति का वातावरण पैदा कर देते हैं। इस कारण बैंकों के काम में बाधा पड़ती है। लोग वहाँ से मुद्रा निकालने के लिए जाते हैं और फिर मुद्रा को गाड़ कर रखने की प्रवृत्ति हो जाती है। इससे स्वर्णमान को धक्का लगता है। इसलिए यह आवश्यक है कि स्वर्ण-मान देश की सरकार शान्ति और सुरक्षा बनाये रखे।

यह ऊपर ही बताया जा चुका है कि पुनः स्थापित होने के थोड़े ही समय पश्चात् स्वर्णमान समाप्त हो गया। युद्धोत्तर काल में ऐसे अनेक कारण उत्पन्न हो गये थे कि उन्होंने स्वर्णमान के चलन को असम्भव बना दिया। स्वर्णमान के टूट जाने के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) सबसे पहला कारण यह था कि सभी स्वर्णमान देशों ने नियमों का उलंघन किया। स्वर्णमान के पहिले नियम को फ्रांस तथा अमरीका ने विशेषतया तोड़ा। इन देशों ने विदेशी आयातों तथा सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिये। स्वर्णमान के दूसरे नियम का भी फ्रांस तथा ब्रिटेन दोनों ने उलंघन किया। जब इङ्गलैण्ड ने स्वर्णमान को पुनः स्थापित किया तो अपनी मुद्रा का स्वर्ण में अति-मूल्यन (Over-valuation) कर दिया, जिसके फलस्वरूप व्यापाराशेष प्रतिकूल हो गया और इङ्गलैण्ड से सोना बाहर जाने लगा। ऐसी दशा में स्वर्णमान के नियमानुसार इङ्गलैण्ड को मुद्रा की मात्रा और कीमतें घटानी चाहिए थीं, परन्तु मुद्रा संकुचन के भय के कारण इङ्गलैण्ड ने ऐसा नहीं किया, बल्कि प्रतिभूतियाँ (Securities) खरीद कर कीमतों को गिरने से बचाये रखा। परिणाम यह हुआ कि इङ्गलैंड से सोना बराबर बाहर जाता रहा। फ्रांस ने अपनी मुद्रा को वास्तविक कीमत से कम कीमत पर स्वर्ण में परिवर्तनशील बनाया था। इसके कारण व्यापाराशेष फ्रांस के पक्ष में रहा और विदेशों से फ्रांस में सोना आने लगा, परन्तु फ्रांस ने इस प्रकार आने वाले सोने को सुरक्षित कोषों में इस प्रकार बन्द करना आरम्भ कर दिया कि उसके कारण मुद्रा की मात्रा बढ़ कर कीमतें न बढ़ने पायें। परिणाम यह हुआ कि व्यापाराशेष बराबर अनुकूल बना रहा और सोना बराबर फ्रांस में आता रहा। इसी प्रकार अमरीका ने भी विदेशों से आने वाले सोने को आसंचित कोषों (Hoards) में जमा करना आरम्भ कर दिया, अतएव सोने के संसार के देशों में समान वितरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सन्तुलन में भारी बाधा उत्पन्न हो गई और स्वर्ण-मान की स्वयं-संचालक प्रवृत्ति समाप्त हो गई।

(२) आर्थिक राष्ट्रीयवाद का विकास (The Development of Economic Nationalism)—संसार के लगभग सभी देशों का युद्ध-कालीन अनुभव बड़ा दुखदायी था। युद्ध-काल में विदेशी व्यापार के स्थगित होने अथवा उसकी मात्रा में भारी कमी हो जाने के कारण सभी देशों में उन वस्तुओं की गम्भीर कमी अनुभव हुई थी जिनके लिए वे विदेशी व्यापार पर निर्भर रहते थे। जो देश खाद्यान्न तथा औद्योगिक

कच्चे मालों के लिए विदेशों पर आश्रित थे उनके कष्ट की तो सीमा नहीं रहती थी। यह भी निश्चय था कि दूसरा महायुद्ध कभी न कभी अवश्य छिड़ेगा। ऐसी परिस्थिति में कष्टों से बचने के लिए बहुत से देशों ने उद्योग-संरक्षण तथा अन्य कृत्रिम रीतियों से देश में उद्योगों के विकास की योजनाएँ बनाईं। आयातों का नियन्त्रण, अभ्यंश (Quota) प्रणाली, निर्यात सहायता आदि प्रशुल्क नीति (Fiscal Policy) के प्रमुख आधार बन गये। ये सभी स्वर्णमान नियमों के विरुद्ध थे और इन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा स्वर्णमान के संचालन में भारी उलझन पैदा कर दी।

(३) स्वर्ण-कोषों का अस्वस्थ वितरण—युद्ध काल तथा युद्धोत्तर काल में संसार के स्वर्ण-कोषों का विभिन्न देशों के बीच असमान वितरण हो गया। कुछ बड़े देशों के पास सोने की भारी कमी हो गई। जर्मनी तथा तथा पूर्वी यूरोप के अधिकाँश देशों के पास सोने की इतनी कमी थी कि उन्होंने सोने के प्रत्येक निर्यात को रोकने का प्रयत्न किया, ताकि देश की मुद्रा-व्यवस्था टूटने न पाये। सोने की कमी ने इन देशों को स्वर्णमान की स्वयं-सञ्चालकता को भङ्ग करने पर बाध्य किया। इसके विपरीत अमरीका तथा फ्रांस ने काफी सोना जमा करके कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दीं।

(४) युद्धोत्तर काल में लगभग सभी देशों ने स्वर्ण-पाट-मान तथा स्वर्ण-विनिमय-मान को ग्रहण किया। स्वर्णमान की भाँति इन दोनों मानों में स्वयं-सञ्चालकता का गुण नहीं होता है। स्वर्णमान के ये रूप मूर्ख-सिद्ध तथा धोखा-सिद्ध नहीं हैं। परिणाम यह हुआ कि विभिन्न राष्ट्रों ने गलती और मक्कारी दोनों कीं और स्वर्णमान के सञ्चालन को सङ्कट में डाल दिया। स्वर्णमान का सञ्चालन स्वाभाविक रूप में न हो सका। सरकारी हस्तक्षेप की भारी आवश्यकता पड़ी और विभिन्न सरकारों ने समझदारी और ईमानदारी से काम नहीं लिया।

(५) बैंकिंग तथा साख-मुद्रा के नियन्त्रण की कठिनाई—२० वीं शताब्दी में बैंकिंग प्रणाली तथा साख-मुद्रा का अत्यधिक विकास हुआ था। कीमतों पर नियन्त्रण रखने के लिये चलन तथा साख-मुद्रा दोनों ही की मात्रा पर नियन्त्रण आवश्यक होता है, परन्तु अनुभव बताता है कि साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखने के उपाय बहुत सरल न रह सके। यह नियन्त्रण ढीला ही रहा। बैंक दर, खुले बाजार व्यवसाय तथा वैधानिक नियन्त्रण द्वारा साख-मुद्रा का नियन्त्रण सफल न हो सका।

(६) शरणार्थी पूँजी का आतङ्क (The Havoc Caused by the Refugee Capital)—प्रथम महायुद्ध के पूर्व से ही यह प्रथा चली आ

रही थी कि बहुत से देश विदेशों में अल्पकालीन कोषों का विनियोग करते थे, परन्तु दोनों महायुद्धों के मध्य-काल में सभी देशों ने विदेशी पूँजी पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिए। ब्याजों का शोधन रोक दिया गया और कुछ दशाओं में तो मूलधन भी लौटाना बन्द कर दिया गया। देश के चलन की विदेशी विनिमय दरों में परिवर्तन करके भी विदेशियों को हानि पहुँचाने का प्रयत्न किया गया। परिणाम यह हुआ कि ये अल्पकालीन विदेशी-कोष सुरक्षा की खोज में एक देश से दूसरे देश में मारे-मारे फिरने लगे। जिस देश में अधिक सुरक्षा दिखाई पड़ती थी, उसी को कोषों का हस्तान्तरण कर दिया जाता था। इस प्रकार सुरक्षा की खोज में भटकने के कारण यह पूँजी शरणार्थी पूँजी के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस पूँजी का एक देश से दूसरे देश को आवागमन इतना शीघ्र तथा आकस्मिक होता था कि इसने आतंक मचा दिया और बहुत से देश इसके आवागमन के अनुसार कीमतों में परिवर्तन करने में असमर्थ रहे।

(७) **युद्धोत्तर-काल की राजनैतिक चालें**—युद्ध के उपरान्त विजयी तथा शक्तिशाली देशों ने जो नीतियाँ अपनाई उन्होंने भी स्वर्णमान के तोड़ने में सहायता दी। अमरीका ने परास्त देशों से युद्ध का हर्जाना (Reparations) वसूल करने की सन्धियाँ की और कुछ देशों को युद्ध-कालीन ऋणों का भुगतान करने को वाध्य किया। इससे विदेशों में डालर की माँग चारों ओर से बढ़ने लगी और सोना तथा पूँजी अमेरिका को खिच कर जाने लगे। बहुत से देश जैसे जर्मनी इन ऋणों के भार को सहन न कर सके और उन्हें विनिमय दर को बनाये रखने में कठिनाई अनुभव होने लगी। बाध्य होकर उन्होंने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया।

(८) युद्ध के पश्चात् संसार की आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ इस प्रकार बदल गई थीं कि स्वर्णमान के निर्बान्ध उपयोग में बाधा होने लगी यातायात और बीमे के व्यय में कमी हो जाने के कारण सोने का आयात-निर्यात अधिक सुगम हो गया और विदेशी विनिमय दर के साधारण परिवर्तनों के कारण भी सोना एक देश से दूसरे देश को जाने लगा। ऐसी दशा में अनिश्चित परिस्थितियों तथा सोने की कमी को देखते हुए धनहीन देशों ने सोने के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगाना आरम्भ कर दिया, जो स्वर्णमान पद्धति के लिए घातक था।

(९) स्वर्णमान पद्धति को एक अनुकूल परिस्थिति मित्र कहा गया है। संकट के काल में यह साथ नहीं देती है। बहुत से देशों ने आर्थिक कठिनाइयों का निवारण न होते देख कर इस मान का परित्याग कर दिया।

(१०) स्वर्णमान की यह विशेषता है कि वह एक स्वर्णमान देश को अन्य सभी स्वर्णमान देशों की आर्थिक परिस्थितियों का दास बना देता है। यदि सरकारी नीति, गृह-युद्ध, उपद्रव अथवा प्राकृतिक कारणों से एक स्वर्णमान देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ती है तो कोई भी स्वर्णमान देश इसके प्रभाव से बच नहीं सकता है। प्रत्येक आंधी, चाहे वह किसी भी देश में क्यों न आई हो, सभी स्वर्णमान देशों के आर्थिक वृक्षों को हिला कर ही जाती है। उदाहरणस्वरूप, यदि अत्यधिक बाढ़ के कारण अमेरिका में कीमतें बढ़ती हैं तो अमेरिका में आयात प्रोत्साहित होंगे। अन्य स्वर्णमान देशों में भी वस्तुओं और सेवाओं की माँग के बढ़ने के कारण कीमतें बढ़ेंगी। इसी प्रकार यदि कोई देश जान-बूझकर मुद्रा-प्रसार करता है तो इस नीति का प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता है। बहुत से देशों ने यह तर्क रखा कि ऐसे मुद्रामान को ग्रहण करने से क्या लाभ है जो सारे संसार की आपत्तियों और मक्कारियों का दन्ड उन्हीं को देता हो।

(११) स्वर्णमान पर अन्तिम, परन्तु सबसे कड़ा, आघात महान् अवसाद (Great Depression) ने किया। यह आर्थिक संकट सन् १९२९ में अमरीका के वाल स्ट्रीट संकट (Wall Street Crash) से आरम्भ हुआ और स्वर्णमान के चलन के कारण एक दम इसका प्रभाव संसार भर में फैल गया। सभी देशों में बैंक फेल होने लगीं, कीमतें तथा मजदूरियाँ गिरने लगीं और अति-उत्पादन (Over-production) के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। सन् १९३१ में इङ्गलैंड ने स्वर्णमान का त्याग कर दिया और शीघ्र ही परित्याग की प्रवृत्ति ने विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया।

स्वर्णमान के लाभ अथवा स्वर्णमान की आवश्यकता—

स्वर्णमान के उपयोग का प्रधान महत्त्व देशी चलन के आधार के रूप में नहीं रहा है, बल्कि इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यमान तथा विनिमय माध्यम के रूप में संसार की सेवा की है। कोई भी एक देश बिना स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु को अपने चलन का आधार बनाये पत्र-मान द्वारा ही अपना काम चला सकता है, परन्तु अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा-मान को अपनाने से एक देश को विदेशों से सन्तोषजनक सम्बन्ध बनाये रखने में भारी कठिनाई हो सकती है। यद्यपि पत्र-मुद्रा को देश में स्वतन्त्र स्वीकृति प्राप्त होती है, परन्तु विदेशी लोग उसे अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। यही कारण है कि कठिनाइयों के रहते हुए भी संसार के देशों ने स्वर्णमान रखने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार स्वर्णमान का प्रमुख

महत्त्व उसके अन्तर्राष्ट्रीय रूप से ही उत्पन्न होता है। इस रूप में स्वर्णमान के कार्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय माध्यम तथा मूल्यमान का काम करता है—स्वर्ण को उपरोक्त दोनों रूपों में संसार के सभी देशों में सर्व-ग्राह्य प्राप्त होती है। इससे विनिमय में विशेष सुविधा होती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार के लिये उपयुक्त दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। यदि किसी देश के पास सोने का संग्रह है तो उसके पास सभी देशों से वस्तुएँ तथा सेवाएँ खरीदने के लिए क्रय: शक्ति होती है। विदेशी व्यापार सरल हो जाता है।

(२) विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता—दूसरा प्रमुख लाभ विनिमय दरों की स्थिरता होतो है। इन दरों के उच्चावचन की सीमाएँ बहुत ही संकुचित होती हैं और विनियम दर स्वर्ण आयात तथा स्वर्ण निर्यात बिन्दुओं के भीतर ही रहती है। कारण यह है कि विनिमय दरों में थोड़ा सभी अधिक परिवर्तन होने से सोने के रूप में भुगतान होने लगता है। आयात-निर्यात व्यापारियों, विनियोगियों तथा बैंकों को एक प्रकार का संरक्षण प्राप्त हो जाता है, क्योंकि विनिमय दरों के परिवर्तनों के कारण उन्हें हानि नहीं होने पाती है।

(३) कीमत स्तरों की समानता—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान एक ऐसा साधन उपलब्ध करता है जिसके द्वारा सभी स्वर्णमान देशों में मूल्य-स्तरों में समानता रहती है। इसके कारण प्रत्येक देश को समान आधार पर तथा समान लाभ प्राप्त करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में भाग लेने का अवसर मिलता है। स्वर्ण-कोषों का आवागमन कीमतों में इस प्रकार के परिवर्तन करता है कि व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में संतुलन स्थापित हो जाता है। कोई भी देश स्थायी रूप से न तो लाभ में रह सकता है और न हानि में।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के दोष—

अन्तर्राष्ट्रीय रूप में स्वर्णमान के निम्न दोष उल्लेखनीय हैं :—

(१) आन्तरिक मूल्य-स्तर की अस्थिरता—स्वर्णमान के आलोचकों का कहना है कि स्वर्णमान देश की आन्तरिक आर्थिक स्वतन्त्रता को समाप्त कर देता है। विदेशी विनिमय दर की स्थिरता को बनाये रखने के लिए देश को आन्तरिक कीमत-स्तर का अन्तर्राष्ट्रीय कीमत-स्तर के साथ समायोजन (Adjustment) करना पड़ता है। स्वर्णमान के अन्तर्गत विदेशी विनिमय दरों में तो भारी परिवर्तन हो ही नहीं सकते हैं, इसलिए असन्तुलन की दशा में किसी भी देश को अपने आन्तरिक कीमत-स्तर में

परिवर्तन करके विनिमय दर की स्थिरता कायम रखनी पड़ती है। यदि किसी एक स्वर्णमान देश में कीमतें गिरती हैं तो विनिमय दर की स्थिरता के लिए अन्य स्वर्णमान देशों को भी कीमतें घटानी पड़ेंगी। इस प्रकार विदेशी व्यापार के हितों की रक्षा के लिए आन्तरिक अर्थव्यवस्था के हितों को छोड़ना पड़ता है।

(२) **स्वर्ण के आवागमन का प्रतिकूल प्रभाव**—स्वर्णमान के इस अवगुण के भी गम्भीर परिणाम होते हैं। स्वर्ण के आवागमन के कारण सभी प्रकार के आर्थिक संकटों का प्रभाव तथा सभी प्रकार की आर्थिक अव्यवस्था एक देश से दूसरे देश को हस्तान्तरित हो जाती है। यदि एक देश मुद्रा-प्रसार का मार्ग अपनाता है तो उस देश में आयात बढ़ते हैं और स्वर्ण का निर्यात विदेशों को होता है। विदेशों के स्वर्ण-कोषों में वृद्धि होने के कारण उन देशों में भी कीमतें स्वयं ही बढ़ जाती हैं। ठीक इसी प्रकार अवसाद अथवा आर्थिक संकट के कारण कीमतों में जो कमी होती है वह अन्य देशों में भी फैल जाती है।

क्या स्वर्णमान पुनः स्थापित किया जा सकता है?—

इससे पहले कि इस प्रश्न का उत्तर दिया जाय कि क्या स्वर्णमान को फिर से स्थापित करना सम्भव है, संक्षेप में उन सब आवश्यकताओं का अध्ययन कर लेना अच्छा होगा, जिन पर स्वर्णमान की सफलता निर्भर होती है। ये इस प्रकार हैं:—(१) स्वर्णमान की सफलता के लिए इसका एक ही साथ बहुत से देशों द्वारा ग्रहण कर लेना आवश्यक है। (२) संसार में स्वर्ण-कोष पर्याप्त होने चाहिए और उनका विभिन्न देशों में न्यायपूर्ण अथवा समान वितरण होना चाहिए। (३) व्यापार की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और उस पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होने चाहिए। (४) सभी देशों द्वारा विधिपूर्वक स्वर्णमान के नियमों का पालन होना चाहिये। (५) आन्तरिक मुद्रा-प्रणाली में लोच होनी चाहिए। (६) अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों की मात्रा कम होनी चाहिए। (७) सभी देशों में राजनैतिक स्थिरता रहनी चाहिये और (८) विभिन्न देशों के बीच मौद्रिक सहयोग होना चाहिए।

उपरोक्त सभी बातों का प्राप्त होना आधुनिक संसार में असम्भव ही प्रतीत होता है, इसलिये स्वर्णमान की स्थापना की सम्भावना बहुत ही कम है। आधुनिक संसार में राष्ट्रीयवाद तथा निजी स्वार्थों का जोर इतना अधिक है कि स्वर्णमान की स्थापना बहुत ही कठिन मालूम होती है। "स्वार्थी व्यापारिक प्रणाली के सहारे चल कर किसी भी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली, चाहे वह राष्ट्र के हित में ही क्यों न हो, सफल नहीं

हो सकती है।"* कीन्ज तथा कैसल (Cassel) का विचार है कि भविष्य में स्वर्णमान की स्थापना लगभग असम्भव है, क्योंकि मूल्य की अस्थिरता के कारण स्वर्ण ने मौद्रिक क्षेत्रों में अपना महत्त्व खो दिया है। इस कारण भविष्य में नियन्त्रित पत्र-मुद्रा-मान ही सम्भव है। इस प्रकार स्वर्ण-मान का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। स्वर्णमान पर विचार इस समय इस कारण ही किया जाता है कि पत्र-मुद्रा प्रणाली में मुद्रा की अत्यधिक निकासी के कारण जनता के विश्वास को खो देने का भय रहता है और साथ ही, इसमें अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में कठिनाई होती है। जब तक स्वर्ण-कोषों का पुनर्वितरण नहीं होगा, मुद्रा-स्फीति की नीति नहीं छोड़ी जायगी और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापित नहीं होगा, स्वर्णमान की स्थापना की कोई भी आशा नहीं हो सकती है। साथ ही, सोना उत्पन्न करने वाले देशों को भी अपनी स्वर्ण-नीति में परिवर्तन करना पड़ेगा।

स्वर्णमान के टूट जाने के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा लेन-देन में जो भारी गड़बड़ उत्पन्न हो गई थी उसी को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन का आयोजन किया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् की बैठक जुलाई सन् १९४४ में ब्रेटन वुडस् (Bretton Woods) में हुई थी और इस परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सहयोग की एक योजना स्वीकार की थी। परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development) की स्थापना की योजना बनाई थी। इस योजना को कार्य रूप दे दिया गया है। इस योजना में स्वर्णमान की स्थापना नहीं की गई है, परन्तु सोने को कीमतों के अन्तिम मान के रूप में रख कर एक अंश तक सोने को अन्तर्राष्ट्रीय कीमत-स्तर तथा विनिमय दरों का आधार बनाया गया है। नई व्यवस्था में स्वर्ण का स्थान निम्न प्रकार है :—

(१) प्रत्येक सदस्य देश को अपने अभ्यंश का एक निश्चित प्रतिशत सोने में जमा करना होता है।

(२) प्रत्येक देश को अपने चलन की कीमत सोने में परिभाषित करनी पड़ती है और इसी के आधार पर विदेशी विनिमय दरें निर्धारित की जाती हैं।

(३) मुद्रा-कोष के पास किसी विशेष चलन की सामान्य कमी हो

---

* "It is impossible to have an international financial system alongside a commercial system that is fiercely and jealously national." *See* G. Crowther : *Outline of Money, p. 319.*

जाने की दशा में कोष ऐसे चलन को सोना देकर खरीद सकता है।

उपरोक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त सोने को और कुछ भी महत्त्व नहीं दिया गया। प्रत्येक देश को सांकेतिक सिक्कों के चलाने तथा पत्र-मुद्रा चलन प्रणाली स्थापित करने का पूर्ण अधिकार दिया गया है। आरम्भ में तो प्रत्येक सदस्य देश विदेशी व्यापार सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी बनाये रख सकता है।

रजत-मान (Silver Standard)—

रजत-मान में मुद्रा इकाई का मूल्य चाँदी में नियत किया जाता है और निभाया जाता है। ऐसा करने के लिए चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण रखा जाता है और उसके एक निश्चित वजन तथा शुद्धता के सिक्के तैयार किये जाते हैं। चीन लम्वे समय तक रजत-मान का ही अनुयाई रहा है। भारत में सन् १८३५ से सन् १८९३ तक रजत-मान का चलन रहा है। रुपये का स्वतन्त्र मुद्रण होता था, उसका वजन १८० ग्रेन रखा गया था और उसकी शुद्धता ११/१२ थी। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह सरकारी टकसाल से चाँदी की सिलों को रुपयों में ढलवा सकता था। इसी प्रकार जनता को रुपयों को गला कर धातु के रूप में बेचने का भी पूर्ण अधिकार था।

यह मुद्रा प्रणाली सन् १८७४ तक ठीक-ठीक चलती रही और इसमें मुद्रा का विस्तार तथा संकुचन अपने आप ही होता रहता था, परन्तु सन् १८७४ से कठिनाइयाँ आरम्भ हो गईं, क्योंकि सोने में चाँदी की कीमतें तेजी के साथ गिरने लगी थीं। चाँदी की कीमतों के गिरने के कई कारण थे:—चाँदी की पूर्ति बढ़ गई थी और उसकी माँग अपेक्षतन कम हो गई थी। इसके विपरीत मुद्रा उद्देश्यों के लिए यूरोप के देशों में सोने की माँग बहुत बढ़ गई थी, जबकि सोने के उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई थी। भारत में तो चाँदी की कीमतों के इस पतन के गम्भीर परिणाम हुए। जनता के लिए यह लाभदायक हो गया कि वे सस्ते दामों पर बाजार से चाँदी खरीद कर रुपयों में ढलवा ले। इसके कारण मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हुई और वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ने लगीं। कीमतों की इस वृद्धि के कारण देश के आयात व्यापार में कठिनाई होने लगी। इसी प्रकार गृह खर्चों (Home Charges) के भार में वृद्धि हो गई और भारत सरकार के लिए अपने बजट का सन्तुलन कठिन हो गया। अन्त में हरशैल समिति (Herschell Committee) की सिफारिश पर सन् १८९३ में भारत ने चाँदी के स्वतन्त्र मुद्रण को समाप्त कर दिया।

व्यवहार में रजत-मान के नियम और उसका कार्यवाहन स्वर्णमान की ही भाँति होता है, परन्तु रजत-मान के स्थान पर स्वर्णमान को इस कारण अधिक अच्छा समझा जाता है कि चाँदी की कीमतों की अपेक्षा सोने की कीमतों में साधारणतया कम परिवर्तन होते हैं।

अध्याय ७

पत्र-चलन-मान

(Paper Currency Standard)

पत्र-मुद्रा का प्रारम्भ (The Origin of Paper Money)—पत्र-मुद्रा का इतिहास बहुत पुराना है। कागज का आविष्कार सबसे पहिले चीन में हुआ था। कागज को मुद्रा के रूप में भी सबसे पहिले चीन में ही उपयोग किया गया था। ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि ९वीं शताब्दी के आरम्भ में चीन में सम्राट हेसेनटुङ्ग (Hsientung) के राज्य-काल में पत्र-मुद्रा चालू की गई थी। उस समय इस मुद्रा के चालू करने का प्रमुख उद्देश्य लोहे और ताँबे के भारी सिक्कों के ढोने की कठिनाई को दूर करना था। चीन के पश्चात् जापान और ईरान (Persia) में भी कागज के नोट चालू किये गये। चीन में १७ वीं शताब्दी के मध्य-काल तक पत्र-मुद्रा का उपयोग बराबर होता रहा, यद्यपि बीच-बीच में कभी-कभी इसका उपयोग बन्द भी कर दिया जाता था। चीनी सम्राटों की भांति मंगोल सम्राटों ने भी पत्र-मुद्रा को चालू रखा। एशिया के पश्चात् यूरोप के देशों में भी कागज के नोट चलने लगे। आरम्भ में योरोपीय देशों में चमड़े के नोट चलाये गये थे। ऐसे नोटों का एक उदाहरण भारत में सम्राट हुमायूँ के काल में भी मिलता है, जबकि बच्चा सक्का ने चमड़े की मुद्रा चालू की थी। संसार के लगभग सभी उन्नतिशील देशों में १७ वीं शताब्दी के अन्तिम काल में परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा चालू की गई और १८ वीं शताब्दी में सरकारी आदेश पर अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा भी चालू की गई।

प्राचीन-काल में नोटों का रूप वर्तमान समय जैसा नहीं था। अलग-

अलग देशों में अलग-अलग रूप, रंग और नमूने के कागजी नोट चलते थे। कागजी नोटों के चलन को सबसे अधिक प्रोत्साहन प्रथम महायुद्ध के काल में मिला। इस काल में यूरोप की सरकारों को धन की भारी आवश्यकता थी। सभी देशों ने कागज के नोट छाप कर आय प्राप्त की। इङ्गलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों के अतिरिक्त, जिनका युद्ध से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था, तटस्थ देशों ने भी स्वर्णमान को स्थगित कर दिया। इस काल में भारत में भी अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा चालू की गई थी। धीरे-धीरे पत्र-मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास तथा परिचयता बढ़ती गई और युद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी पत्र-मुद्रा का चलन युद्ध-काल की भाँति बना रहा। सन् १९३१ में स्वर्णमान फिर टूट गया और संसार के अधिकाँश देशों ने पत्र-मुद्रा को अपनी मुख्य मुद्रा के रूप में स्वीकार कर लिया। लगभग सभी देशों में पत्र-चलन-मान स्थापित हो गया। दूसरे महायुद्ध के काल में पत्र-मुद्रा का और भी विस्तृत उपयोग हुआ है तथा उसकी मात्रा में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। निस्सन्देह आज का संसार पत्र-मुद्रा से परिचित ही नहीं है, बल्कि वह इसे बड़ी महत्त्वपूर्ण मुद्रा समझता है। यह कहना तो कठिन है कि पत्र-मुद्रा के उपयोग का प्रारम्भिक कारण क्या था, परन्तु यह निश्चय है कि कागजी नोटों के लाभों ने उनके प्रचलन को बढ़ाया है।

पत्र-मुद्रा के लाभ—

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है कि अपने विशेष गुणों के कारण ही पत्र-मुद्रा सर्व-ग्राह्य हुई। इस मुद्रा के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं:—

(१) पत्र-मुद्रा धातु के सिक्कों का स्थान ग्रहण कर लेती है, जिसके कारण उसके उपयोग से धातु-मुद्रा की आवश्यकता कम हो जाती है। इस प्रकार बचा हुआ सोना और चाँदी औद्योगिक तथा कलात्मक कामों के के लिए उपयोग किया जा सकता है। एडम स्मिथ ने कहा है: "कागज के नोट आकाश मार्ग की भाँति है—उनके नीचे की भूमि भी काम में लाई जा सकती है और उस पर अन्न आदि उत्पन्न करके मनुष्य की अन्य आवश्यकताएँ पूरी की जा सकती हैं।"*

(२) पत्र-मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में भारी सुविधा रहती है, क्योंकि मूल्य के अनुपात में कागज के नोट का बोझ लगभग कुछ भी नहीं होता है। पत्र-मुद्रा में वहनीयता का विशाल गुण है। सौ रुपये के सिक्कों की अपेक्षा सौ रुपये के एक नोट को ले जाने में कठिनाई तथा व्यय बहुत ही कम होता है और सुरक्षा भी अधिक रहती है।

* *See* Adam Smith : *Wealth of Nations, p.*

(३) कागज के नोट सिक्कों की घिसांवट द्वारा होने वाले बहुमूल्य धातुओं के व्यय की बचत करते हैं। प्रचलन के अन्तर्गत सिक्के घिस-घिस कर पुराने होते जाते हैं और उनमें से धातु की मात्रा धीरे-धीरे घटती जाती है। यदि सिक्कों के स्थान पर कागज के नोट चलाये जाते हैं तो यह हानि बच जाती है।

(४) पत्र-मुद्रा सरकार के दृष्टिकोण से बहुत सस्ती तथा मितव्ययी होती है। इसके उत्पादन का व्यय बहुत ही कम होता है। इसके विपरीत धातु-मुद्रा के सम्बन्ध में खानों से धातु को निकालने, गलाने, साफ करने तथा उसे सिक्कों में ढलाने पर काफी व्यय होता है। इस प्रकार कागज के नोटों का उपयोग करके श्रम और पूँजी की बचत की जा सकती है और उन्हें अन्य उपयोगी कार्यों में लगा कर अधिक लाभ उठाया जा सकता है।

(५) पत्र-मुद्रा देश की मुद्रा प्रणाली में लोच उत्पन्न कर देती है, जो एक महत्त्वपूर्ण गुण होता है। पत्र-मुद्रा की मात्रा शीघ्रतापूर्वक बिना भारी व्यय के घटाई-बढ़ाई जा सकती है और इस प्रकार मुद्रा की माँग और पूर्ति को समान रखा जा सकता है। सोने और चाँदी के सिक्कों क मात्रा को बढ़ाना बहुत ही कठिन होता है, क्योंकि इन धातुओं के स्टॉक कठिनाई से प्राप्त होते हैं।

(६) संकट काल के लिए पत्र-मुद्रा ही देश की डूबती हुई नौका का एक मात्र सहारा होती है। संकट काल में सरकार कागज के नोट छाप कर आय प्राप्त कर सकती है। युद्ध-काल में लगभग सभी सरकारों ने ऐसा ही किया था। यदि सरकार ऋणों द्वारा आय प्राप्त करने का प्रयत्न करती है तो प्रथम तो, सदा ही ऋणों का मिलना कठिन होता है और दूसरे, ऐसे ऋणों के ब्याज चुकाने और उनके शासन पर सरकार को काफी व्यय करना पड़ता है।

(७) पत्र-मुद्रा के गिनने और हिसाब करने में सुविधा होती है।

(८) पत्र-मुद्रा में समानता और एकरूपता पाई जाती है। यह इस मुद्रा का विशेष गुण है।

(९) इस मुद्रा का उपयोग लोगों में बैंकिंग प्रवृत्ति उत्पन्न करता है, जो कि देश के लिये बहुत लाभदायक है।

(१०) यदि जाली नोट चलन में आ जायँ तो इनके नम्बरों को अखबारों में छपवाकर प्रजा को इन्हें स्वीकार करने से मना किया जा सकता है।

पत्र-मुद्रा की हानियाँ—

यद्यपि पत्र-मुद्रा के अनेक लाभ हैं और वर्तमान संसार ने इसे स्थाई

तथा सर्वव्यापी रूप में स्वीकार भी कर लिया है, परन्तु इसके दोष भी गम्भीर हैं। प्रमुख हानियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) पत्र-मुद्रा में कुछ भी निहित मूल्य (Intrinsic Value) नहीं होता है। यदि ऐसी मुद्रा का विमुद्रीकरण हो जाता है तो पदार्थ के रूप में इसका कुछ भी मूल्य शेष नहीं रहता है। इस मुद्रा का मूल्य अस्थिर तथा अस्थाई होता है, क्योंकि यह सरकार की इच्छा पर निर्भर होता है। यही कारण है कि पत्र-मुद्रा के प्रति जनता का विश्वास सबसे कम होता है।

(२) कागज के नोट सरकार अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी मात्रा में छाप सकती है। ऐसी मुद्रा की अत्यधिक निकासी का भय सदा ही बना रहता है। प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा में इस प्रकार का भय नहीं रहता है, परन्तु परिवर्तनशील पत्र-मुद्रा प्रणाली में निधि-अनुपात को घटाकर कागज के नोटों की संख्या में इच्छानुसार वृद्धि की जा सकती है। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा तथा प्रादिष्ट मुद्रा में तो चलन के विस्तार पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होते हैं। चलन के इस प्रकार के विस्तार के परिणाम काफी भयानक हो सकते हैं। इसके कारण कीमतों में अत्यधिक वृद्धि होती है और भीषण मुद्रा-प्रसार के कारण जनता को घोर कष्ट होता है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी की दशा अत्यन्त खराब हो गई थी और मुद्रा-स्फीति की प्रचण्डता के कारण सारी अर्थ-व्यवस्था छिन-भिन्न हो गई थी। दूसरे महायुद्ध के काल में भारत में मुद्रा विस्तार के कारण ही कीमतें बढ़ी थीं और युद्ध तथा युद्धोत्तर काल में मुद्रा-प्रसार ने आतंक मचा दिया था।

(३) कागजी नोटों के फट जाने, गल जाने तथा तेल से खराब हो जाने का भय काफी रहता है। वैसे तो सरकार इस प्रकार के खराब नोटों को बदलने का आश्वासन देती है, परन्तु फिर भी जनता को इसमें असुविधा होती है और नोटों के उपयोग में सावधानी से काम लेना पड़ता है।

(४) पत्र-मुद्रा के चलन का क्षेत्र सीमित होता है। देश के बाहर कोई भी उसे स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि इन नोटों को केवल सरकार के विशेष कानून द्वारा मूल्य प्रदान किया जाता है। पाकिस्तानी नोट भारत में विधि-ग्राह्य नहीं हैं और यही कारण है कि लोग उन्हें स्वीकार नहीं करते हैं।

(५) पत्र-मुद्रा का मूल्य साधारणतया बहुत अनिश्चित तथा अस्थिर होता है। उसमें अकस्मात ही घोर उच्चावचन (Fluctuatio[illegible] सकते हैं। इस अनिश्चितता का देश के कीमत-स्तर और [illegible]

व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है और विदेशी विनिमय दरों में भारी उथल-पुथल होने लगती है। परिणाम यह होता है कि व्यापार और उत्पादन अनियमित हो जाते हैं।

(६) सरकार द्वारा आय प्राप्त करने के हेतु जो पत्र-मुद्रा निकाली जाती है वह करारोपण की ही प्रकृति रखती है, परन्तु यह करारोपण न्याय विरुद्ध होता है और समाज के निर्धन वर्गों के लिए अत्यधिक कष्ट-दायक होता है। वैसे भी इस प्रकार की मुद्रा-निकासी का आधार ही गलत होता है, क्योंकि चलन की निकासी व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुसार नहीं होती है, बल्कि सरकार की वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार होती है।

(७) पत्र-मुद्रा में सभी प्रकार की परिकल्पना (Speculation) को प्रोत्साहित करने का दोष होता है। साख-मुद्रा तो विशेषतया खतरनाक होती है। पूँजीवादी देशों में व्यापार चक्रों (Trade Cycles) का एक महत्त्वपूर्ण कारण साख-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा की निकासी की अनियमितता तथा अनिश्चितता ही होती है। यही कारण है कि कुछ अर्थशास्त्रियों ने पत्र-मुद्रा को एक प्रकार का सामाजिक धोखा (Social Fraud) कहा है। "पत्र-मुद्रा किसी देश की सबसे भयङ्कर महामारी है। कोई भयङ्कर से भयङ्कर बीमारी किसी व्यक्ति को जितना अधिक से अधिक कष्ट दे सकती है, उससे भी अधिक कष्ट पत्र-मुद्रा के कारण समाज को होता है।"

(८) जनता को इस मुद्रा में विश्वास कम होता है, क्योंकि उन्हें इस बात का डर रहता है कि सरकार कभी भी इस मुद्रा को अमान्य घोषित कर सकती है।

इस सम्बन्ध में यह निर्णय कठिन है कि दोष पत्र-मुद्रा का है, अथवा मनुष्य का। संसार में कोई भी चीज बुरी नहीं होती है। प्रत्येक वस्तु की अच्छाई और बुराई उसके उपयोग पर निर्भर होती है। पत्र-मुद्रा के विषय में तो उपरोक्त कथन और भी अधिक सही है। पत्र-मुद्रा में स्वयं तो कुछ भी बुराई नहीं होती। यह तो सरकार की इच्छा है कि वह उसे समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए उपयोग करती है, अथवा उनके विनाश के लिए। कागजी नोट निकाल कर समुचित नियन्त्रण द्वारा देश के आर्थिक नियोजन को सफल बनाया जा सकता है और आर्थिक तथा सामाजिक जीवन को उन्नति के शिखर पर ले जाया जा सकता है, परन्तु यह सब तभी सम्भव है जबकि सरकार समझदारी से काम लेती है और राष्ट्रीय हितों को ही प्रधानता देती है। पत्र-मुद्रा के अधिकाँश दोष मुद्रा-संचा-

लक की मूर्खता, अज्ञानता, संकुचित दृष्टिकोण तथा स्वार्थपरता के कारण उत्पन्न होते हैं।

पत्र-मुद्रा का वर्गीकरण—

पत्र-मुद्रा को दो बड़े-बड़े भागों में बाँटा जा सकता है :—पत्र-मुद्रा-चलन (Paper Currency) तथा पत्र-मुद्रा-मान (Paper Standard)। इनमें से पत्र मुद्रा-चलन का अध्ययन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। प्रस्तुत विवेचना में केवल पत्र-मुद्रा-मान का ही अध्ययन किया जायगा। पत्र-मुद्रा-मान की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि इस मान में किसी धातु को मुद्रा का आधार नहीं बनाया जाता है। देश में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का चलन होता है और वही देश की प्रामाणिक मुद्रा होती है।

पत्र-मुद्रा-मान, प्रबन्धित प्रत्र-चलन अथवा चलन-विनिमय-मान (Paper Standard, Managed Paper Currency or Currency Exchange Standard)—

इस मुद्रा पद्धति में पत्र-मुद्रा ही प्रामाणिक मुद्रा होती है। देश का मुद्रा-संचालक पत्र-मुद्रा को स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु में बदलने की जिम्मेदारी नहीं लेता है। सन् १६२६ के महान अवसाद के पश्चात् संसार के बहुत से देशों को स्वर्णमान का परित्याग करने पर वाध्य होना पड़ा था। इन सभी देशों ने पत्र-मुद्रा-मान ग्रहण कर लिया था। इस पद्धति में विनिमय माध्यम का कार्य पत्र-मुद्रा ही करती है। पहले तो इस मान का उपयोग सङ्कट-कालीन परिस्थितियों में किया जाता था, परन्तु अब इसका उपयोग बिना संकोच किया जाता है। इस पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) पत्र-मुद्रा देश में प्रामाणिक तथा अपरिमित विधि-ग्राह्य मुद्रा होती है।

(२) पत्र-मुद्रा का मूल्य स्वतन्त्र रूप में निश्चित होता है। स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातु द्वारा उसका मूल्य नियत नहीं होता है और पत्र-मुद्रा को धातु में बदलने की व्यवस्था नहीं की जाती है।

(३) इस पद्धति में चलन का प्रबन्ध अथवा नियमन (Regulation) मुद्रा-संचालक द्वारा किया जाता है। उद्देश्य यह होता है कि कीमत-स्तर की समानता बनी रहे, जिसके लिए मुद्रा-संचालक चलन की मात्रा को आवश्यक अंश तक बढ़ाता-घटाता रहता है। चलन की पूर्ति को उसकी माँग के बराबर बनाये रख कर कीमतों की स्थिरता प्राप्त की जाती है।

(४) इस प्रणाली में भी विदेशी ऋणों के भुगतान के लिए स्वर्ण-कोषों की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि विदेशी देश के चलन को स्वीकार नहीं करते हैं। इस कार्य के लिये सोना जमा किया जाता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के पश्चात् अब अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के भुगतान में सोने की आवश्यकता नहीं रही है।

इस पद्धति के कार्यवाहन को समझने के लिए भारत सरकार के वर्तमान चलन-मान की विवेचना उपयुक्त होगी। सन् १९३१ में स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् भारत में स्टर्लिङ्ग-विनिमय-मान स्थापित हुआ। भारतीय पत्र-मुद्रा ब्रिटिश पौंड स्टर्लिङ्ग में परिवर्तनीय थी। जब तक स्टर्लिङ्ग की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता बनी हुई थी, भारतीय कागजी नोटों के बदले में स्टर्लिङ्ग के माध्यम से सोना प्राप्त किया जा सकता था, परन्तु जब स्टर्लिङ्ग ही एक अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा बन गया तो भारतीय मुद्रा प्रणाली पत्र-मुद्रा-मान का ही एक रूप बन गई। भारत का मुद्रा-संचालन रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा किया जाता है। रिजर्व बैंक रुपये की कीमत १ शिलिंग ६ पैंस के बराबर रखती थी। इस उद्देश्य से रिजर्व बैंक १०,००० पौंड अथवा उससे अधिक कीमत का स्टर्लिङ्ग १ शिलिंग ५$\frac{४९}{६४}$ पैंस प्रति रुपया की दर से खरीदती थी और १ शिलिंग ६$\frac{३}{१६}$ पैंस फी रुपया की दर से बेचती थी। भारत के इस मान को हम चलन-विनिमय-मान प्रणाली (Currency Exchange Standard) कह सकते थे, क्योंकि स्वयं स्टर्लिङ्ग स्वर्ण पर आधारित नहीं थे। देश के भीतर रुपया ही विनिमय माध्यम तथा मूल्य मापक का कार्य करता है। रुपये के बदले में किसी भी समय पत्र-मुद्रा तथा गौण सिक्के ही लिये जा सकते हैं। सन् १९४७ तक स्टर्लिङ्ग तथा भारतीय रुपया दोनों में से किसी का भी स्वर्ण से कोई सम्बन्ध न था, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता के कारण अब रुपये को स्वर्ण में एक निश्चित मूल्य दिया गया है। सन् १९४७ में रुपये का स्वर्ण मूल्य ०.२६८६०१ ग्राम रखा गया है वैसे तो भारतीय रुपये तथा स्टर्लिङ्ग का वैधानिक गठबन्धन ८ अप्रैल सन् १९४७ से टूट चुका है, परन्तु व्यवहार में दोनों का यह सम्बन्ध अभी तक भी बना हुआ है।

पत्र-मुद्रा-मान प्रणाली के दोष—

पत्र-मुद्रा-मान प्रणाली के अनेक दोष हैं। प्रमुख अवगुण निम्न प्रकार हैं:—

(१) पत्र-मुद्रा के पीछे किसी प्रकार की धातु-निधि न होने के कारण

मुद्रा की अत्यधिक निकासी का भारी भय रहता है। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के सभी दोष इस प्रणाली में मौजूद रहते हैं।

(२) इस प्रणाली के अन्तर्गत कीमतों के परिवर्तनों की कोई भी सीमा नहीं होती है। पत्र-मुद्रा में निहित मूल्य कुछ भी नहीं होता, इसलिए उसके मूल्य-पतन को कोई भी अन्तिम सीमा नहीं होती। धातु-मुद्रा की कीमत तो सिक्के की निहित कीमत से नीचे नहीं जा सकती है, परन्तु पत्र-मुद्रा की कीमत की ऐसी कोई सीमा नहीं होती है। इसी कारण कीमतें किसी भी हद तक ऊपर जा सकती हैं।

(३) देश की आन्तरिक कीमतों को भाँति विदेशी विनिमय दरों के परिवर्तनों की भी कोई सीमा नहीं होती है। पत्र-मुद्रा-मान में विनिमय दरों में अपरिमित उच्चावचन हो सकते हैं। इससे विदेशी व्यापार में अनेक अड़चनें पैदा होती हैं। सन् १९३१ के पश्चात इस मान के सर्वव्यापी उपयोग के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विदेशी ऋणों की मात्रा में भारी कमी आ गई है।

(४) जिस प्रकार स्वर्णमान के अन्तर्गत एक देश की आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तनों का प्रभाव सभी स्वर्णमान देशों पर पड़ता है, इसी प्रकार यदि सभी देशों में पत्र-मुद्रा-मान का चलन हैं तो एक देश के आर्थिक संकटों का प्रभाव दूसरे पर अवश्य पड़ेगा, परन्तु ऐसा तभी होगा जबकि व्यापार स्वतन्त्र है, परन्तु अनुभव यह है कि पत्र-मुद्रा-मान का युग विदेशी व्यापार सम्बन्धी प्रतिबन्धों का भी युग होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक की स्थापना ने संसार में पत्र-मुद्रा-मान की कठिनाइयों को एक बड़े अंश तक दूर कर दिया है। प्रत्येक देश के चलन का मूल्य सोने में परिभाषित किया जाता है और विनिमय दरों की स्थिरता के लिए मुद्रा-कोष की कुछ विशेष व्यवस्थायें हैं। यद्यपि मुद्रा-कोष सोने को मुद्रा का आधार बनाने पर जोर नहीं देता है, परन्तु विदेशी मुद्राओं को बेच कर तथा उधार देकर यह कोष विनिमय दरों में स्थिरता लाता है और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा मौद्रिक सहयोग के लिए अनुकूल दशाएँ उत्पन्न करता है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का कार्य विदेशी पूँजी के आवागमन में सहायता करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों को प्रोत्साहित करके उनकी मात्राओं को बढ़ाना है।

प्रादिष्ट-मान (Fiat Standard)—

इस मान को कभी-कभी नियन्त्रित पत्र-चलन मान (Managed Paper Currency Standard) भी कहा जाता है। प्रामाणिक प्रादिष्ट मुद्रा को सरलता से पहिचाना जा सकता है। कैन्ट के अनुसार

इसकी तीन प्रमुख विशेषतायें होती हैं:—(१) पदार्थ के रूप में इसका निहित मूल्य लगभग कुछ भी नहीं होता है। (२) इसे किसी ऐसी वस्तु में नहीं बदला जा सकता है जिसका मूल्य प्रादिष्ट मुद्रा के अंकित मूल्य के बराबर हो और (३) इसकी क्रयः शक्ति किसी भी वस्तु की क्रयः शक्ति के समान नहीं रखी जाती है।[1] इस प्रकार प्रादिष्ट मुद्रा साधारणतया ऐसी पत्र-मुद्रा होती है जो स्वर्ण अथवा अन्य किसी वस्तु में परिवर्तनशील नहीं होती और जिसकी क्रयः शक्ति स्वर्ण अथवा अन्य किसी वस्तु द्वारा नियत नहीं की जाती है। ऐसी मुद्रा कभी-कभी तो सरकार द्वारा जान-बूझकर निकाली जाती है, परन्तु कभी-कभी देश में बैंक नोटों को प्रादिष्ट-मुद्रा बना दिया जाता है।

हाल के वर्षों में बहुत से अर्थशास्त्रियों ने यह विश्वास प्रकट किया है कि प्रादिष्ट-मुद्रा-मान को सरकारी नीति का एक स्थाई आधार बनाना उपयुक्त होगा, यद्यपि साधारणतया भूत-काल में इसका उपयोग संकट-कालीन परिस्थितियों में हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि धातु-मुद्राओं की परिवर्तनशीलता केवल एक भ्रम ही है और इसी प्रकार यह भी मिथ्या है कि धातु-कोष मुद्रा के प्रति विश्वास उत्पन्न करते हैं। अनुभव बताता है कि ये दोनों बातें केवल साधारण परिस्थितियों में ही सम्भव होती हैं और ऐसी परिस्थितियों में किसी भी प्रकार की मुद्रा समुचित रूप में चालू रहती है। संकटकाल में यह व्यवस्था टूट जाती है और धातु-मुद्रा की परिवर्तन-शीलता तथा उसको विश्वास बनाये रखने की विशेषता समाप्त हो जाती है। प्रादिष्ट मुद्रा में भी बिल्कुल ऐसा ही होता है। तो फिर उसी को प्रामाणिक मुद्रा के रूप में क्यों न उपयोग किया जाय? किसी भी देश में मुद्रा की माँग व्यावसायिक कार्यों के परिमाण, औद्योगिक संगठन, यातायात तथा सम्वादवाहन के विकास, बैंकिंग प्रणाली के रूप तथा साख और साख के साधनों के विकास पर निर्भर होती है, परन्तु इनमें से किसी का भी धातु-कोष से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। राबर्टसन का विचार है कि बहुत बार देश के भौतिक तथा मानव साधनों का पूर्ण उपयोग केवल इसी कारण नहीं हो सका है कि स्वर्ण-कोषों की कमी के कारण साख का समुचित विकास नहीं हो पाया था।[2] इसलिए स्वयं-सञ्चालक धातु-मान के स्थान पर एक नियन्त्रित प्रादिष्ट-मान का उपयोग अधिक उपयुक्त हो सकता है। स्वर्णमान के 'खेल के नियमों' के स्थान पर मानव नियन्त्रण का उपयोग अधिक लाभदायक होगा, इससे औद्योगिक समाज की आवश्यकतायें अच्छी तरह से पूरी होंगी।

---

1. *See* Raymond P. Kent : *Money and Banking,* p. 55.
2. *See* D. H. Robertson : *Essays in Monetary Theory,* p. 51.

एक नियन्त्रित प्रादिष्ट-मान वित्तीय सुविधाओं को बढ़ाता है और आर्थिक अनियमितता को दूर करता है। इसके अन्तर्गत मुद्रा का विस्तार तथा संकुचन इस प्रकार आयोजित किया जा सकता है कि देश के सभी साधनों का पूर्ण उपयोग हो सके। साथ ही, इसमें बदलती हुई आर्थिक दशाओं के अनुसार शीघ्रतापूर्वक फेर-बदल की जा सकती है। इस प्रणाली में लोच भी बहुत होती है, परन्तु ऐसे मान के विपक्ष में दो गम्भीर तर्क रखे जाते हैं :—

प्रथम, क्योंकि इसमें मुद्रा की इकाई का किसी भी वस्तु के मूल्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, इसलिये विभिन्न देशों के बीच विनिमय दरों के निर्धारण में कठिनाई होती है। वे स्थिर नहीं रह सकती हैं और उनके उच्चावचनों की कोई सीमा नहीं होती है। ऐसी दशा में उधार पर किये गये विदेशी व्यवसायों की मात्रा में भारी कमी आ जायगी, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य में उलझन पैदा हो जायगा।

दूसरे, प्रादिष्ट मुद्रा की अत्यधिक निकासी का भय बहुत अधिक रहता है। इस अत्यधिक निकासी से सारी आर्थिक प्रणाली छिन्न-भिन्न हो सकती है और इस प्रकार यह मान स्वयं अपने उद्देश्य को ही समाप्त कर सकता है। धातुमान में अत्यधिक निकासी के विरुद्ध कुछ न कुछ उपचार अवश्य किये जा सकते हैं, परन्तु प्रादिष्ट मुद्रा प्रणाली में कोई व्यावहारिक रोक-थाम सम्भव नहीं होती है।

पत्र-मुद्रा का निर्गम अथवा नोटों की निकासी (The Issue of Paper Currency)—

पत्र-मुद्रा का निर्गम कौन करे ?—आरम्भ से ही यह प्रश्न विवादग्रस्त रहा है कि नोटों की निकासी सरकार द्वारा की जाय, अथवा बैंकों द्वारा। साथ ही, इस विषय में भी सभी का एक मत नहीं है कि यदि बैंकों को नोटों की निकासी का अधिकार दिया जाता है तो यह एक बैंक को मिलना चाहिये अथवा बहुत सी बैंकों को एक ही साथ। ऐसे अर्थशास्त्रियों की कमी नहीं है जो इस बात के पक्ष में हैं कि नोट-निकासी का एकाधिकार सरकार के पास रहना चाहिये। इसके विपरीत बहुत से आर्थिक पण्डित यह अधिकार बैंकों को देना चाहते हैं। वर्तमान-काल में भी यह वाद-विवाद समाप्त नहीं हुआ है, यद्यपि नोटों की निकासी पर सरकारी नियन्त्रण के सिद्धान्त को अब सभी ने मान लिया है।

सरकार द्वारा नोटों की निकासी के पक्ष में अनेक तर्क रखे जाते हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) सरकार द्वारा निकाली हुई पत्र-मुद्रा पर जनता का विश्वास सबसे अधिक रहता है, क्योंकि जब तक जनता का सरकार के

प्रति विश्वास बना रहेगा, इस मुद्रा पर अविश्वास का प्रश्न नहीं उठेगा। इसके अतिरिक्त भले ही ऐसी पत्र-मुद्रा के पीछे कोई धातु-आड़ न हो, राष्ट्र की सारी सम्पत्ति और सरकार की सारी प्रतिष्ठा आड़ का काम करती है।

(२) राज्य को एक बहुत बड़े संगठन की सेवाएँ प्राप्त होती हैं और वह समाज की मौद्रिक माँगों का विशेषज्ञों द्वारा पता लगा सकता है। इसके अतिरिक्त उसके हाथ में नियम और कानून बनाने की भारी शक्ति होती है, जिसके कारण वह मुद्रा और साख के उत्पादन की प्रत्येक अवस्था पर समुचित नियन्त्रण रख सकता है। इसी कारण आवश्यकता पड़ने पर मुद्रा की मात्रा को घटाने-बढ़ाने में अन्य सभी संस्थाओं की अपेक्षा राज्य को अधिक सुविधा तथा अधिक शक्ति प्राप्त होती है।

(३) पत्र-मुद्रा की निकासी में लाभ भी काफी होता है, परन्तु यह लाभ सारी जनता के विश्वास के कारण पैदा होता है, इसलिये यह आवश्यक है कि इस लाभ का उपयोग भी जनता अथवा समाज के हितों को उन्नत करने के लिये किया जाय। सरकारी कोषागार में इस लाभ के जाने से इसके सार्वजनिक हितों की उन्नति में व्यय होने की सम्भावना अधिक रहती है।

(४) अनुभव बताता है कि उन देशों में भी जहाँ पत्र-मुद्रा की निकासी व्यक्तिगत बैंकों द्वारा की जाती है, मुद्रा-नीति के निर्माण में सरकार का हाथ काफी रहता है। मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय सरकार द्वारा ही किया जाता है। फिर सरकार इस काम को स्वयं ही क्यों न करे।

(५) ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी मुद्रा निर्माण का कार्य राज्य द्वारा होता चला आया है।

(६) पत्र-मुद्रा के सम्बन्ध में अनुपयुक्त नीति अपनाने के परिणाम बहुधा इतने गम्भीर होते हैं कि इस कार्य को किसी ऐसी संस्था पर छोड़ देना घातक हो सकता है जो राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अपने ही स्वार्थ पर अधिक ध्यान दे।

इसके विपरीत व्यक्तिगत बैंक अथवा बैंकों को यह अधिकार सौंपने के पक्ष में भी बहुत से महत्त्वपूर्ण तर्क रखे जा सकते हैं :—

प्रथम, सरकारी विभागों का व्यापार, उद्योग तथा व्यवसाय से कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं रहता है। उनका आर्थिक तथा वाणिज्य जगत से भी विशेष सम्बन्ध नहीं होता है। इस कारण सरकार द्वारा चलाई गई मुद्रा-

प्रणाली में लोच का अभाव होता है, क्योंकि वह व्यावसायिक आवश्यकता पर आधारित नहीं होती है।

दूसरे, सरकारी काम में ढील-ढाल रहती है और बहुधा विलम्ब भी होता है। किसी काम का ठीक समय पर हो जाना कठिन होता है। मुद्रा की बहुत आवश्यकता होते हुए भी उसकी वृद्धि में कष्टदायक तथा हानिकारक देर होती है।

तीसरे, राज्य द्वारा पत्र-मुद्रा के संचालन में यह भी भय रहता है कि मौद्रिक नीति स्वस्थ आर्थिक विचारों के स्थान पर राजनैतिक तथा वित्तीय आवश्यकताओं से प्रभावित हो। प्रत्येक राजनैतिक दल अपने मत पक्ष को निभाने का प्रयत्न करता है और जनता तथा करदाताओं से प्रशंसा प्राप्त करने के लिए करारोपण के स्थान पर पत्र-मुद्रा की निकासी द्वारा सरकारी वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करता है।

चौथे, भूतकालीन अनुभव बताता है कि अधिकाँश सरकारें अपनी पत्र-मुद्रा की परिवर्तनशीलता बनाये रखने में असमर्थ रही हैं। बजट की हानि को पूरा करने के लिये नोट छाप कर आय प्राप्त करने की प्रवृत्ति काफी व्यापक रही है और उसके कारण समाज को मुद्रा-प्रसार के भारी कष्ट उठाने पड़े हैं।

अन्त में, यह प्रथा स्वतन्त्र उपक्रम के विरुद्ध है। यह आशा करना भूल होगी कि एक अच्छा राजनीतिज्ञ अच्छा बैंकर भी एक ही साथ होगा।

उपरोक्त सभी बातों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि शायद नोटों की निकासी के लिये राज्य की अपेक्षा बैंक ही अधिक उपयुक्त संस्थाएँ हैं, क्योंकि उनका व्यापारी तथा व्यावसायिक जगत से सीधा और घनिष्ट सम्बन्ध होता है और उन्हें मुद्रा तथा साख सम्बन्धी व्यावहारिक तथा विशेषज्ञ ज्ञान भी प्राप्त होता है। ये संस्थाएँ मुद्रा-प्रणाली में आवश्यक लोच उत्पन्न कर सकती हैं। जहाँ तक जनता के विश्वास का सम्बन्ध है, बैंक द्वारा निकाले हुये नोटों की प्रतिष्ठा सरकारी नोटों से कम नहीं होती है और यदि सरकार नोट-निकासी के लिए समुचित विधान बना दे तथा बैंक द्वारा निकाले हुए नोटों की परिवर्तनशीलता की गारन्टी ले ले तो फिर अविश्वास का प्रश्न ही नहीं उठता है। चलन के सम्बन्ध में बैंकों को जो भारी लाभ होता है, उसका अधिकाँश भाग सरकार करों के रूप में ले सकती है। यह व्यवस्था अधिक उपयुक्त तथा मितव्ययी रहेगी।

एक अथवा अनेक बैंकों द्वारा पत्र-मुद्रा निर्गम—

इस निर्णय के पश्चात् कि नोटों की निकासी का कार्य बैंक द्वारा होना चाहिए, इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि यह कार्य किसी एक बैंक द्वारा सम्पन्न किया जाय, अथवा इसमें बहुत सी बैंक सामूहिक रूप में हिस्सा

लें। दूसरे शब्दों में, नोट निर्गम की एकाकी निर्गम प्रणाली (Single Issue System) को अपनाया जाय, अथवा बहुबाही निर्गम प्रणाली (Multiple Issue System) को। भूतकाल में अधिकाँश देशों में बहुत सी बैंकों द्वारा नोटों की निकासी का काम किया जाता था, परन्तु आधुनिक प्रवृत्ति एकाकी निर्गम प्रणाली की ही ओर है। इस प्रणाली में अनेक लाभ हैं :—प्रथम, इस प्रणाली में देश के धातु-कोषों को एक ही बैंक में एकत्रित कर दिया जाता है, जिसके कारण उनका अधिक सप्रभाविक, मितव्ययी तथा लाभपूर्ण उपयोग हो सकता है। दूसरे, अलग-अलग बैंकों द्वारा निकाले हुए नोट भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। प्रत्येक बैंक की साख में भी अन्तर होता है, इसलिए जनता के लिए अच्छी और बुरी मुद्रा में भेद करना कठिन हो जाता है। वैसे भी ऐसी व्यवस्था में झंझट और उलझन का भय रहता है। तीसरे, एकाकी प्रणाली में सरकार का नियन्त्रण भी अधिक सप्रभाविक तथा व्यापक हो सकता है। चौथे, इस प्रणाली में बैंकों की पारस्परिक प्रतियोगिता का प्रश्न ही नहीं उठता है। पाँचवे, जब नोटों की निकासी का एकाधिकार एक ही बैंक के पास होता है और सरकार इन नोटों की गारन्टी देती है तो नोटों के प्रति विश्वास बहुत अधिक रहता है।

इस प्रकार यही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि नोट निकासी का एकाधिकार एक ही बैंक के पास रहे, परन्तु यह बैंक कौन सी होनी चाहिए? निस्संदेह अन्य बैंकों की अपेक्षा देश की केन्द्रीय बैंक इस कार्य के लिये सबसे अधिक उपयुक्त होती है। इङ्गलैंड, भारत, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में नोटों की निकासी का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक के ही पास है। अमरीका तथा जापान में उपरोक्त देशों की भाँति केन्द्रीय बैंक तो नहीं हैं, परन्तु वहाँ पर भी एकाकी प्रणाली का ही एक दूसरा रूप प्रचलित है।

नोट निर्गम के सिद्धान्त (Principles of Note-issue)—

नोटों की निकासी के सम्बन्ध में दो विपरीत विचारधाराएँ हैं और दोनों ही के समर्थक अपने-अपने सिद्धान्तों को सही बताते हैं। इन सिद्धान्तों को चलन सिद्धान्त (Currency Principle) तथा बैंकिंग अथवा अधिकोषण सिद्धान्त (Banking Principle) के नाम से पुकारा जाता है। दोनों सिद्धान्तों में आधारभूत भिन्नता है, इसलिये दोनों को ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक है। सिद्धान्तों की व्याख्या नीचे दी जाती है :—

चलन सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि कागजी नोटों की

निकासी का उद्देश्य केवल यही होता है कि बहुमूल्य धातुओं के सिक्कों के कम खर्च वाले स्थानापन्न (Substitutes) निकाले जायँ, जिससे मुद्रा के हस्तान्तरण में सुविधा हो और प्रचलन के कारण धातु नष्ट न होने पाये। इस कारण नोटों को बहुमूल्य धातुओं में पूर्ण रूप में परिवर्तनशील होना चाहिये और मुद्रा-संचालक को उनके पीछे १०० प्रतिशत सोने-चाँदी की आड़ रखनी चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार देश की पत्र-मुद्रा की मात्रा देश में स्थित स्वर्ण अथवा अन्य बहुमूल्य धातुओं के कोषों पर निर्भर रहती है। यदि देश में बहुमूल्य धातु का आयात होता है तो धातु-कोष की वृद्धि के अनुपात में पत्र-मुद्रा स्वयं ही बढ़ जायगी। ठीक इसी प्रकार बहुमूल्य धातु के निर्यात के अनुपात में पत्र-मुद्रा की मात्रा घट जायगी। जन-विश्वास को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि स्वर्ण अथवा अन्य किसी बहुमूल्य धातु के कोष पर ही पत्र-मुद्रा की निकासी हो। यदि ऐसा किया जाता है तो पत्र-मुद्रा पर जनता को पूरा विश्वास होगा और इस मुद्रा के अति-निर्गम (Over-issue) की सम्भावना नहीं रहेगी।

इसमें तो सन्देह नहीं है कि इस सिद्धान्त ने सुरक्षा को भारी महत्त्व दिया है, परन्तु इसमें साख की उपयोगिता तथा उसकी आवश्यकता पर ध्यान नहीं दिया गया है। केवल सुरक्षा होने से ही काम नहीं चल सकता, मुद्रा प्रणाली में लोच का होना भी आवश्यक है, ताकि आवश्यकता पड़ने पर चलन की मात्रा का बढ़ाना और घटाना सम्भव हो सके। लोच के बिना व्यापार और उद्योग के विकास में भारी बाधा पड़ जायगी। इसके अतिरिक्त इस पद्धति में काफी मात्रा में सोना और चाँदी सुरक्षित निधि के रूप में बेकार पड़ा रहता है। इस प्रकार ऐसी प्रणाली मितव्ययी नहीं होगी।

बैंकिंग सिद्धान्त—

यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि मुद्रा द्वारा विनिमय माध्यम का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि मुद्रा-प्रणाली में लोच हो। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रचलित नोटों की कीमत का केवल एक भाग ही सोने अथवा चाँदी के रूप में सुरक्षित कोषों में रहना चाहिये। सौ प्रतिशत कीमत का इस प्रकार रखना आवश्यक नहीं है। बैंकों को पत्र-मुद्रा की निकासी के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता रहनी चाहिये, क्योंकि यदि वे आवश्यकता से अधिक नोट निकालती हैं तो फालतू नोट नकदी में बदलवाने के लिए बैंक के पास लौट आयेंगे [illegible] यदि वास्तविक आवश्यकता के अनुसार ही नोटों की निकासी [illegible] है तो अति-निर्गम का भय नहीं रहेगा और नोटों की प[illegible]लता बनी

रहेगी। परिवर्तनशीलता के लिए १०० प्रतिशत धातु निधि की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि अपने अनुभव द्वारा बैंक को यह ज्ञान होता है कि एक निश्चित काल में कुल नोटों का केवल एक निश्चित भाग ही सोने अथवा चाँदी में बदलने के लिए प्रस्तुत किया जाता है और यदि इस भाग के लिए धातु कोष की समुचित व्यवस्था की जाती है तो जनता के विश्वास के टूट जाने अथवा नोटों के बदले में धातु न दे सकने का भय नहीं रहता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा-प्रणाली का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण लोच होता है। औद्योगिक तथा व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार चलन की मात्रा को बढ़ाना और घटाना सदा ही सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त सोने और चाँदी के उपयोग में बचत होती है, परन्तु ऐसी मुद्रा प्रणाली में सुरक्षा कम रहती है और नोटों के अति-निर्गम का भय बना रहता है।

आधुनिक युग में यह निर्णय करना कठिन नहीं है कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से दोनों में से कौनसी प्रणाली अधिक उपयुक्त है। चलन सिद्धान्त के आधार पर मुद्रा प्रणाली का निर्माण करना तो आज के संसार में सम्भव ही नहीं है। स्वर्ण कोषों की कमी तथा सोने के विभिन्न देशों के बीच असमान वितरण के कारण नोटों को १०० प्रतिशत सोने की आड़ प्रदान करना सम्भव नहीं है। चाँदी की आड़ भी लगभग असम्भव ही है। इस कारण बैंकिंग सिद्धान्त के आधार पर ही मुद्रा प्रणाली का निर्माण किया जाता है। ऐसी प्रणाली में धातु-निधि तथा अन्य साधनों की व्यवस्था करके सुरक्षा का गुण भी प्राप्त किया जा सकता है। एक आदर्श मुद्रा-प्रणाली वही होगी जिसमें सुरक्षा तथा लोच ये दोनों ही गुण हों और जो साथ ही साथ व्यावहारिक भी हो। समुचित नियन्त्रण द्वारा बैंकिंग सिद्धांत में ये सभी गुण प्राप्त किये जा सकते हैं और यही कारण है कि वर्तमान संसार में इसी का चलन है।

नोट निर्गम की पद्धतियाँ (The Methods of Note-issue)—

नोट निर्गम के सिद्धान्तों का अध्ययन करने के पश्चात् नोटों की निकासी की विभिन्न रीतियों का अध्ययन भी आवश्यक है। नोट की निकासी की सात रीतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं :—(१) निश्चित विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली, (२) अधिकतम् विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली, (३) अनुपातिक निधि पद्धति, (४) साधारण निधि प्रणाली, (५) आंशिक निधि पद्धति, (६) न्यूनतम् निधि पद्धति और (७) कोषागार-विपत्र निधि प्रणाली।

निश्चित विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System)—

इस प्रणाली में मुद्रा संचालक को यह अधिकार दिया जाता है कि वह एक निश्चित मात्रा तक बिना किसी प्रकार की धातु-निधि के नोटों की निकासी कर ले, परन्तु इस निश्चित मात्रा के ऊपर प्रत्येक कागज़ी नोट के पीछे १०० प्रतिशत धातु निधि रखी जाती है। जो पत्र-मुद्रा बिना धातु निधि के निकाली जाती है, उसके पीछे सरकारी प्रतिभूतियों की आड़ होती है और ऐसे निर्गम को विश्वासाश्रित निर्गम (Fiduciary issue) कहा जाता है। इस प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य पत्र-मुद्रा की धातु में परिवर्तनशीलता बनाये रखना होता है।

इङ्गलैंड में यही प्रणाली चालू रही है। सन् १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट के अनुसार बैंक ऑफ इंगलैंड को १४० लाख पौंड की कीमत के नोटों की विश्वासाश्रित निर्गम का अधिकार दिया गया था, परन्तु स्वर्ण कोषों की कमी और मुद्रा-विस्तार की आवश्यकता के कारण ऐसे निर्गम की मात्रा सन् १९२८ में बढ़ा कर २६ करोड़ पौंड कर दी गई थी। सन् १९३९ में यह सीमा ३० करोड़ पौंड कर दी गई थी। सन् १९४६ में यह १४५ करोड़ पौंड थी, परन्तु जनवरी सन् १९५० में यह केवल १३० करोड़ पौंड रह गई थी। इङ्गलैंड के अतिरिक्त जापान तथा नॉरवे ने भी कुछ संशोधनों के साथ इसी प्रणाली को अपनाया था। सन् १८६१ और सन् १९२० के बीच भारत में भी यही प्रणाली चालू थी।

इस प्रणाली का मुख्य लाभ यह है कि इसमें पत्र-मुद्रा के बदले में सोना मिलना निश्चय होता है। कुछ मूल्य के नोट ऐसे अवश्य होंगे जिनके पीछे स्वर्ण निधि नहीं रहेगी, परन्तु सभी नोट सोने में नहीं बदले जाते हैं, इसलिए नोटों की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता सदा बनी रहती है। इसके अतिरिक्त पत्र-मुद्रा से अति-निर्गम का भय नहीं रहता, क्योंकि नोटों की प्रत्येक अगली निकासी के लिए समान कीमत का सोना कोष में रखा जाता है। जनता का विश्वास भी इस प्रकार की पत्र-मुद्रा प्रणाली के प्रति अधिक होता है। इस प्रणाली का मुख्य दोष लोच का अभाव है। यदि राष्ट्रीय संकट के काल में अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है तो उसे प्राप्त करने के दो ही उपाय हो सकते हैं:—या तो विदेशों से सोना मंगाया जाय, जो लगभग असम्भव होता है या प्रणाली के नियमों को तोड़ा जाय, जो प्रणाली के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर देगा। इंगलैंड में इस प्रणाली [illegible] का इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि उस देश को [illegible] पर [illegible] साश्रित निर्गम की मात्रा में काफी परिवर्तन करने पड़े हैं और [illegible] बार [illegible] इससे सम्बन्धित नियमों को तोड़ना पड़ा है। [illegible] मुद्रा-संचा-

लक को इस कारण भी कठिनाई होती है कि चलन की माँग बढ़ने पर सोने की कीमत भी बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त यह प्रणाली व्ययपूर्ण है और केवल उन्हीं देशों में सफल हो सकती है, जहाँ सोना काफी है तथा जहाँ साख-मुद्रा का इतना अधिक प्रचार हो चुका है कि उसके उपयोग के कारण चलन की माँग में समय-समय पर भारी परिवर्तन नहीं होता है। इंगलैंड में इसकी सफलता का मुख्य कारण यही रहा है। भारत में चलन की माँग में समय-समय पर इतने अधिक परिवर्तन होते रहते हैं कि सन १६२० के पश्चात् इसके अपनाने का प्रश्न ही नहीं उठा है।

अधिकतम् विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली (The Fixed Maximum Fiduciary System)—

इस प्रणाली के अन्तर्गत विधान द्वारा पत्र-मुद्रा की एक अधिकतम् मात्रा निश्चित कर दी जाती है। इस निर्धारित सीमा तक मुद्रा संचालक बिना किसी प्रकार के धातु-कोष के ही नोटों को निकाल सकता है, परन्तु इस प्रणाली में नियत अधिकतम् सीमा के परे मुद्रा संचालक को नोट निकालने का अधिकार नहीं होता है, चाहे उसके लिए १०० प्रतिशत स्वर्ण-कोषों की ही व्यवस्था क्यों न हो। कितना सोना चलन की आड़ में रखा जाय, इसका निर्णय मुद्रा-संचालक स्वयं करता है। इस प्रणाली में विश्वासाश्रित निर्गम की अधिकतम् सीमा निश्चित करने में सावधानी बर्ती जाती है। देश की वाणिज्यिक तथा व्यावसायिक आवश्यकताओं का ठीक-ठीक अनुमान लगाकर देश में चलन की माँग निश्चित की जाती है। विश्वासाश्रित निर्गम की मात्रा साधारणतया इतनी रखी जाती है कि देश की चलन सम्बन्धी साधारण आवश्यकताएँ बिना किसी कठिनाई के पूरी होती रहें। इन आवश्यकताओं में परिवर्तन होने की दशा में समय-समय पर नियत अधिकतम् विश्वासाश्रित निर्गम की मात्रा में भी परिवर्तन कर दिये जाते हैं।

सन् १६२८ तक फ्रान्स में यही प्रणाली प्रचलित थी। इंगलैंड में भी मैकमिलन समिति ने इसी के ग्रहण करने की सिफारिश की थी। फ्रान्स में जब कभी भी पत्र-मुद्रा की मात्रा अधिकतम् सीमा के निकट पहुँचती थी तो सरकार मुद्रा-प्रणाली में लोच बनाये रखने के लिए सीमा को आगे बढ़ा देती थी। समय-समय पर सरकार बैंक ऑफ फ्रान्स की साख नीति की जाँच करती रहती थी और उसे आवश्यक चेतावनी भी देती रहती थी, परन्तु सन् १६२८ में फ्रान्स ने इसे छोड़ दिया।

इस प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें स्वर्ण को अनावश्यक रूप में खजानों में बन्द करके रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। स्वर्ण-निधि की मात्रा का निर्णय बैंक की स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाता है।

दूसरा गुण यह है कि सरकार सोच-समझ कर देश की व्यापारिक तथा वाणिज्यिक आवश्यकताओं के अनुसार पत्र-चलन की निकासी निश्चित करती है। इससे मुद्रा-प्रणाली में आवश्यक लोच बनी रहती है और आवश्यकता से अधिक निकासी का भय नहीं रहता है, परन्तु यह प्रणाली भी दोषों से विमुक्त नहीं है। सरकार इसका दुरुपयोग कर सकती है। केवल आय प्राप्त करने के लिए निश्चित् अधिकतम् सीमा का विस्तार किया जा सकता है, जिसके कारण चलन की मात्रा व्यापार और व्यवसाय की आवश्यकता सें अधिक हो जाती है और अति-निर्गम के सभी परिणाम दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस प्रणाली में मुद्रा-प्रसार के विरुद्ध किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं है। दूसरे, इस प्रणाली में लोच का अंश भी कम होता है।

अनुपातिक निधि प्रणाली (The Proportional Reserve System)—

इस पद्धति में नोटों की सम्पूर्ण निकासी के पीछे धातु की आड़ रखी जाती है, परन्तु यह आड़ १०० प्रतिशत नहीं होती है, बल्कि नियम द्वारा १०० प्रतिशत से कम नियत की जाती है,—जैसे ३०% अथवा ४०%। सभी पत्र- मुद्रा के पीछे आड़ रहती है और विश्वासाश्रित निर्गम नहीं होता है। पत्र-मुद्रा के जिस भाग के पीछे स्वर्ण निधि नहीं होती है उसकी आड़ में प्रतिभूतियाँ रखी जाती हैं। इस प्रकार पत्र-मुद्रा निर्गम का एक निश्चित प्रतिशत ही धातु निधि के रूप में रखा है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यह पद्धति काफी लोकप्रिय हुई थी। सन् १९२८ में फ्रांस ने निश्चित अधिकतम विश्वासाश्रित प्रणाली को त्याग कर इसी पद्धति को अपनाया था। संयुक्त राज्य अमरीका के फैडरल रिजर्व सिस्टम् ने भी इसी पद्धति को अपनाया है। हिल्टन-यंग आयोग की सिफारिशों के आधार पर सन् १९२७ में भारत सरकार ने भी इसे ग्रहण किया था और सन् १९३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट में इसे स्थान दिया था।

इस प्रणाली का एक मात्र गुण इसकी लोच है। यदि पत्र-मुद्रा के पीछे २५% स्वर्ण निधि रखी जाती है तो खजाने में एक सोने के सिक्के के आते ही चार कागज के नोट निकाले जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर स्वर्ण निधि का प्रतिशत घटाकर पत्र-चलन का आवश्यक विस्तार किया जा सकता है। साथ ही, यदि सरकार सोच-समझ कर काम करती है तो नोटों की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता बराबर बनी रहती है, परन्तु इस पद्धति के अनेक दोष हैं। इसमें मुद्रा का विस्तार करना तो सरल होता है, परन्तु मुद्रा-संकुचन में कठिनाई होती है। सुरक्षित निधि से सोने का एक सिक्का निकलने पर तीन-चार नोटों को रद्द करना पड़

एक निर्धारित अधिकतम् मात्रा में कुछ प्रकार के सरकारी बॉंडों पर नोट निकालने का अधिकार दिया गया था।

नोट निकासी और उसके नियन्त्रण का सबसे सही सिद्धान्त क्या है?—

ऊपर हमने नोट निर्गम की अनेक रीतियों को देखा है और उनके गुणों और दोषों का भी अध्ययन किया है। अब प्रश्न यह उठता है कि नोटों की निकासी का सही सिद्धान्त क्या होना चाहिए? इस समस्या को दो भागों में बाँटा जा सकता है:—पहला प्रश्न तो यह उठता है कि क्या धातु-निधि तथा पत्र-मुद्रा के बीच किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहना चाहिये? दूसरा प्रश्न यह है कि पत्र-चलन के निर्गम के लिए किसी देश को सोने अथवा चाँदी का कितना कोष रखना चाहिए? पहले प्रश्न के उत्तर के लिए हमें पहले तो यह जानना आवश्यक है कि पत्र-मुद्रा के पीछे धातु निधि रखने का क्या उद्देश्य होता है? निस्सन्देह नोटों की सोने-चाँदी में परिवर्तनशीलता इसीलिए रखी जाती है कि नोटों के प्रति जनता का विश्वास बना रहे और विदेशी भुगतानों को स्वर्ण में चुकाया जा सके। धातु-निधि का उद्देश्य विश्वास को बनाये रखना है। ऐसी दशा में यह आवश्यक प्रतीत नहीं होता है कि पत्र-मुद्रा के निर्गम को किसी भी प्रकार सोने की मात्रा के साथ सम्बन्धित किया जाय। दूसरे शब्दों में, देश में पत्र-चलन की मात्रा स्वर्ण कोषों की मात्रा से स्वतन्त्र रूप में निश्चित होनी चाहिये। नोटों की निकासी के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंक पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है। स्वर्ण-निधि का नोटों के चलन के साथ किसी प्रकार का गठबन्धन नहीं होना चाहिए। ऐसा सोचना भूल होगी कि केन्द्रीय बैंक अपनी जिम्मेदारी को नहीं निभायेगी। यदि हम केन्द्रीय बैंक को साख मुद्रा के नियन्त्रण का अधिकार दे सकते हैं तो फिर चलन के संचालन में कौन सी बात है।

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, उसके विषय में हम यह कह सकते हैं कि यदि मुद्रा का मान स्वर्ण हो तो सोने का उपयोग विदेशी भुगतानों में विनिमय माध्यम के रूप में ही हो सकता है। इस कारण यह अधिक उपयुक्त है कि स्वर्ण-कोष की मात्रा नोटों के निर्गम पर निर्भर न रह कर विदेशी भुगतानों की मात्रा पर निर्भर रहे। स्वर्ण-कोषों में इतना सोना रहना चाहिये कि केन्द्रीय बैंक अल्पकालीन भुगतानों को तुरन्त चुका सके, क्योंकि दीर्घकाल में तो व्यापाराशेष के सन्तुलन के अनेक उपाय किये जा सकते हैं। यही स्वर्ण-कोषों की मात्रा का आधार होना चाहिये।

एक अच्छी चलन पद्धति वही है जिसमें मितव्ययिता, लोच, परिवर्तन-शीलता तथा अति-निर्गम के विरुद्ध सुरक्षा हो। अच्छा यही है कि पत्र-मुद्रा

निर्गम केन्द्रीय बैंक को पूर्णतया सौंप दिया जाय और उसे चलन की मात्रा तथा धातु-निधि का प्रबन्ध करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय। यदि सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता ही हो तो वह दो दिशाओं में होना चाहिये :— प्रथम, सरकार को न्यूनतम स्वर्ण-निधि की मात्रा नियत कर देनी चाहिए और दूसरे, पत्र-मुद्रा की निकासी की अधिकतम् सीमा निश्चित कर देनी चाहिए। ऐसी मात्रा तथा ऐसी सीमा में समय-समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने होंगे। इस प्रकार एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली निश्चित अधिकतम् . विश्वासाश्रित प्रणाली तथा न्यूनतम् निधि प्रणाली का एक सामूहिक तथा संशोधित रूप है।

एक अच्छी चलन प्रणाली के गुण—

एक अच्छी चलन प्रणाली में, चाहे वह धातु-मुद्रा पर आधारित हो अथवा पत्र-मुद्रा पर, निम्न गुणों का होना आवश्यक होता है:—

(१) **लोच**—लोच का अर्थ यह होता है कि चलन प्रणाली में शीघ्रतापूर्वक फैलने तथा सिकुड़ने का गुण होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, आवश्यकता पड़ने पर चलन की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी करना सम्भव ही नहीं, सरल भी होना चाहिए। यदि चलन प्रणाली में लोच का अभाव है तो संकट काल में उसके कारण बड़ी कठिनाई होगी। लोच की आवश्यकता इस कारण भी है कि उद्योग तथा व्यापार की आवश्यकताओं के अनुसार चलन की मात्रा को बदला जा सके।

(२) **मितव्ययिता**—यह भी चलन प्रणाली का एक आवश्यक गुण है। इसका अर्थ यह होता है कि चलन प्रणाली के संचालन पर बहुत व्यय नहीं होना चाहिए। एक अच्छी प्रणाली में सोने और चाँदी के उपयोग में बचत होगी और संचालन व्यय कम होगा। एक व्ययपूर्ण प्रणाली अच्छी होते हुए भी राष्ट्र के लिए भार बन जाती है। निर्धन देशों के लिए तो मितव्ययिता का महत्त्व और भी अधिक होता है, क्योंकि उनके पास स्वर्ण-कोषों तथा अच्छी प्रतिभूतियों की कमी होती है।

(३) **परिवर्तनशीलता**—एक अच्छी चलन प्रणाली का यह भी उद्देश्य होना चाहिए कि उसमें पत्र-मुद्रा की सोने अथवा चाँदी में परिवर्तनशीलता बनी रहे। परिवर्तनशीलता के दो उद्देश्य होते हैं :—प्रथम तो, इसके कारण चलन के प्रति जनता का विश्वास बना रहता है। दूसरे, इसके द्वारा विदेशी भुगतानों में सुविधा होती है। वर्तमान संसार में मुद्रा का प्रचलन साधारणतया सरकार की साख पर निर्भर होता है [illegible] की आन्तरिक आवश्यकताओं के लिए सोना नहीं दिया [illegible] विदेशी भुगतानों में भी सोना प्रायः नहीं दिया जाता है, [illegible] व्यापाराशेष

की अल्पकालीन प्रतिकूलता को दूर करने के लिए सोने का उपयोग कभी-कभी आवश्यक होता है, इसलिए सरकार को इतना स्वर्ण-कोष अवश्य रखना चाहिये कि इस सम्बन्ध में कठिनाई न हो। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना ने तो स्वर्ण में भुगतान करने की सम्भावना को और भी कम कर दिया है।

(४) सरलता—अच्छी चलन प्रणाली सरल भी होनी चाहिये। प्रणाली के सम्बन्ध में जटिलता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जटिलता प्रबन्ध के व्यय को बढ़ा देती है और इसमें अकुशलता का भी भय रहता है। साथ ही साथ, चलन प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि आर्थिक विशेषज्ञ, उद्योगपति, व्यापारी तथा जन-साधारण सभी उसे भली भाँति समझ लें। इससे प्रणाली के प्रति विश्वास की वृद्धि होगी और मुद्रा संचालक को समाज के सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त हो जायेगा।

(५) स्थिरता—चलन प्रणाली में यह भी गुण होना चाहिए कि उसके द्वारा मुद्रा की आन्तरिक तथा बाहरी कीमतों में स्थिरता लाई जा सके। देश के भीतर कीमतों के अत्यधिक उच्चावचन अच्छी चलन प्रणाली के लक्षण नहीं होते हैं। ठीक इसी प्रकार विदेशी व्यापार के विकास के लिए विनिमय दरों की स्थिरता आवश्यक होती है। स्थिरता निश्चितता को उत्पन्न करके विकास और उन्नति की अनुकूल दशाएँ उत्पन्न करती है। स्थिरता तभी सम्भव है जबकि चलन प्रणाली में अत्यधिक निकासी का भय न हो। इसके लिए सरकारी नियन्त्रण की आवश्यकता होती है और मुद्रा संचालक को केवल आर्थिक परिस्थितियों पर ही अपनी निर्गम नीति को निर्धारित करना होता है।

को प्रत्येक दशा में समान दर्शाने से एक सैद्धान्तिक संतोष के अतिरिक्त कुछ [illegible] प्राप्त नहीं होता है।[1]

[illegible] का विचार है कि कीन्ज ने बचत और विनियोग की जो परिभाषाएँ [illegible] हैं वे प्रवैगिक परिवर्तनों अथवा साख नीति के अध्ययन में बेकार [illegible]। ऐसी दशा में कीन्ज के मत का व्यावहारिक महत्त्व कुछ भी नहीं होगा।[2]

अध्याय ८

मुद्रा-स्फीति, मुद्रा-संकुचन तथा मुद्रा-संस्फीति

(Inflation, Deflation and Reflation)

पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि मुद्रा के मूल्य अथवा कीमत-स्तर में निरन्तर परिवर्तन होते रहे हैं। पूँजीवादी देशों में एक निश्चित क्रम के अनुसार अभिवृद्धि अथवा वैभव (Boom or Prosperity) तथा अवसाद अथवा मन्दी (Depression or Slump) के काल आते रहते हैं और इनके अनुसार ही आर्थिक जगत में उथल-पुथल होती रहती हैं। तेजी और मन्दी के इस क्रम को अर्थशास्त्र में व्यापार चक्र अथवा व्यावसायिक चक्र (Trade Cycles or Business Cycles) के नाम से पुकारा जाता है। व्यावसायिक चक्रों के कारण उत्पन्न होने वाले कीमतों के परिवर्तनों ने संसार में काफी आतङ्क मचा रखा है और पूँजीवादी संसार इनसे बहुत भयभीत है। कठिनाई यह भी है कि इनके निवारण का कोई पूर्णतया सफल उपाय अर्थशास्त्र के पण्डित नहीं निकाल पाये हैं। कीमतों के इस प्रकार के उच्चावचनों का अध्ययन अर्थशास्त्र में एक नितान्त आवश्यक विषय बन गया है। प्रस्तुत अध्याय में इन उच्चावचनों के विभिन्न रूपों, उनके कारणों और उनकी प्रकृति का अध्ययन किया जायगा।

---

1 W. Leontief : *Implicit Theorising--a Mathematical Criticism of the Neo-Cambridge School,* Quarterly Journal of Economics, Vol. 51, p. 337.

2. F. A. Lutz : *The Outcome of the Saving-Investment Discussion*. Quarterly Journal of Economics, Vol. 52, p. 613.

उत्पादकी तुलना में मुद्रा की मात्रा अधिक होने के कारण कीमत बढ़ती है तो मुद्रा-स्फीति है।

यह परिभाषा बहुत अंश तक सन्तोषजनक है, क्योंकि इसमें मुद्रा-स्फीति के आधारभूत कारण को स्पष्ट किया गया है। मुद्रा-स्फीति की अवस्था भी उत्पन्न होती है जबकि आवश्यकता से अधिक मात्रा में मुद्रा की निकासी हो जाती है, अथवा उत्पादन इतना घट जाता है कि उसकी तुलना में मुद्रा की प्रस्तुत मात्रा भी आवश्यकता से अधिक हो जाती है, परन्तु इस परिभाषा का भारी दोष इसकी अस्पष्टता है। आवश्यकता से अधिक मात्रा में मुद्रा के होने का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता है और यदि होता भी है तो उसकी पहिचान क्या है? यदि कीमतों की वृद्धि को मुद्रा के आवश्यकता से अधिक होने का लक्षण मान लिया जाता है तो उस दशा में कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति को सूचित करेगी; परन्तु केमरर स्वयं इस विचार के विरुद्ध हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि आवश्यकता से अधिक मात्रा में मुद्रा के होने का यह अर्थ होता है कि मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग से अधिक हो। निम्नलिखित [illegible] वस्तुएँ, व्यापार और उद्योग की स्थिति आदि मुद्रा की माँग को सूचित करती हैं और मुद्रा की पूर्ति विभिन्न रूपों में मुद्रा की मात्रा और उसके प्रचलन वेग द्वारा सूचित होती है। यदि पूर्ति के माँग से अधिक [illegible] कारण मुद्रा की [illegible] घटती है और कीमतें बढ़ती हैं तो [illegible] मुद्रा-स्फीति होगी। परन्तु मुद्रा-स्फीति की यह परिभाषा भी असन्तोषजनक [illegible] परिभाषा में दो कठिनाइयाँ हैं :—प्रथम, मुद्रा की माँग और पूर्ति का ठीक-ठीक [illegible] लगा लेना कठिन होता है। किसी देश में व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकता का प्रत्येक अनुमान अनिश्चित होता है। ठीक इसी प्रकार मुद्रा के प्रचलन वेग का सही अनुमान न लगने के कारण भी मुद्रा की पूर्ति का ठीक-ठाक पता लगाना कठिन होता है। दूसरे, किसी भी वस्तु के मूल्य के परिवर्तन उसकी माँग और पूर्ति के [illegible] परिवर्तनों के परिणाम होते हैं। कीमतों की वृद्धि केवल उसी दशा में होती है जबकि मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से कम होती है। ऐसी दशा में कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग से अधिक होने के कारण पैदा होगी।

मुद्रा-स्फीति की सबसे अच्छी परिभाषा Pigou ने की है। उनका विचार है कि—"मुद्रा-स्फीति की अवस्था तब होती है जबकि मौद्रिक आय उत्पादन [illegible] की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रही हो।"*

*[illegible] expanding more than in [illegible] activity. *See* Pigou: *Types of War [illegible]*, [illegible] Journal, Dec. 1941, p. 439.

एक दूसरे स्थान पर पीगू ने फिर लिखा है :—"मुद्रा-स्फीति उस होती है, जबकि उत्पादक साधनों द्वारा किये गये काम की तुलना जिनको शोधन के रूप में मौद्रिक आय प्राप्त होती है, मौद्रिक आय अधिक तेजी के साथ बढ़ रही हो।"* इस परिभाषा के अनुसार कीमतों की वृद्धि मुद्रा-स्फीति का आवश्यक लक्षण है, परन्तु कीमतों की प्रत्येक वृद्धि मुद्रा-स्फीति नहीं होती है। यदि कीमतें इस कारण बढ़ रही हैं कि समाज को प्राप्त होने वाली मौद्रिक आय उसके द्वारा किये जाने वाले उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ बढ़ रही है और इसके परिणामस्वरूप कीमतें बढ़ रही हैं तो यह मुद्रा-स्फीति होगी। कीमतों के बढ़ने की निम्न दशायें मुद्रा-स्फीति को दिखायेंगी :—

(१) जबकि मौद्रिक आय और उत्पादन दोनों बढ़ रहे हैं, परन्तु मौद्रिक आय उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ बढ़ती है।

(२) जबकि मौद्रिक आय बढ़ती है, परन्तु उत्पादन यथास्थिर रहता है।

(३) जबकि मौद्रिक आय बढ़ती है, परन्तु उत्पादन घटता है।

(४) जबकि मौद्रिक आय यथास्थिर रहती है, परन्तु उत्पादन घटता जाता है।

(५) जबकि मौद्रिक आय तथा उत्पादन दोनों ही घटते हैं, परन्तु उत्पादन मौद्रिक आय की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ घटता है।

मुद्रा स्फीति के रूप (Types of Inflation)—

कारणों तथा उद्देश्यों के आधार पर अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा-स्फीति के विभिन्न रूपों को अलग-अलग नाम दे दिए हैं। कीन्ज के अनुसार एक साधारण प्रकार के मुद्रा-प्रसार को, जिसमें वस्तुओं की कीमतें बढ़ती हैं, 'वस्तु-स्फीति' (Commodity Inflation) कहा जा सकता है। यदि स्फीति का कारण यह है कि सङ्कट काल में वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सरकार द्वारा अत्यधिक मात्रा में कागज के नोट छाप कर कीमतों को बढ़ा दिया जाता है तो इसको 'चलन-स्फीति' (Currency Inflation) का नाम दिया जाता है। युद्धकालीन मुद्रा-स्फीति का यही रूप होता है।

कीन्ज का विचार है कि बहुत बार ऐसा भी देखने में आता है कि जबकि

---

* Inflation is taking place when money income is expanding relatively to the output of work by productive agents for which it is the payment. *See* Pigou : *The Veil of Money*, p. 14.

उत्पादन व्यय घटता है तो उसके फलस्वरूप कीमतों में नीचे गिरने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, परन्तु सरकार कृत्रिम उपायों से कीमतों की स्थिरता बनाये रखती है। ऐसी दशा में कीमतें बढ़ती तो नहीं हैं, परंन्तु ये उन कीमतों की अपेक्षा ऊँची रहती हैं जो कि उस दशा में रहतीं जबकि सरकार उनके गिरने पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न लगाती। ऐसी अवस्था को कीन्ज ने 'लाभ स्फीति' (Profit Inflation) का नाम दिया है। इस प्रकार की स्फीति में कीमतें पुराने कीमत-स्तर पर ही बनी रहती हैं।

पीगू ने पूर्ण-स्फीति (Full Inflation) तथा आंशिक स्फीति (Partial Inflation) में भी भेद दिया है। उनका विचार है कि साधारणतया कीमतों के बढ़ने के कारण उत्पादन की भी वृद्धि होती है और उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ उत्पत्ति के साधनों की वृत्ति का भी विस्तार होता है, जिनके फलस्वरूप अन्त में ऐसी व्यवस्था आ सकती है कि पूर्ण वृत्ति स्थापित हो जाय, अर्थात् देश में उत्पति के सभी साधनों को पूर्ण रूप में रोजगार मिल जाय। ऐसी अवस्था में यदि मौद्रिक आय के उत्पत्ति की अपेक्षा अधिक तेजी के साथ बढ़ने के कारण कीमतें बढ़ती हैं तो इसे पूर्ण स्फीति कहा जाता है, परन्तु पूर्ण वृत्ति के पूर्व भी मौद्रिक आय का विस्तार उत्पत्ति के विस्तार से अधिक तेजी के साथ हो सकता है। ऐसी दशा में आंशिक स्फीति होती है।

आधुनिक युग में मुद्रा-स्फीति उत्पन्न किये बिना युद्ध के लिए वित्तीय-व्यवस्था करना लगभग असम्भव होता है। यदि जनता करों तथा ऋणों के रूप में लड़ाई के खर्चों के लिए काफी रकम नहीं दे पाती है तो सरकार को नई मुद्रा का निर्माण करके बजट के घाटे को पूरा करने पर बाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार बजट के घाटे को पूरा करने के लिए जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे 'घाटा अथवा हीनार्थ प्रोत्साहित स्फीति' (Deficit-induced Inflation) कहा जाता है। इसी प्रकार यदि श्रम संघों के जोर पर सेवायोजकों (Employers) को अधिक मजदूरियाँ देने पर बाध्य होना पड़ता है, परन्तु उत्पत्ति की मात्रा न बढ़ने के कारण कीमतें बढ़ जाती हैं तो ऐसी दशा में 'मजदूरी प्रोत्साहित स्फीति' (Wage-induced Inflation) उत्पन्न होती है।

कुछ लेखकों के अनुसार मुद्रा-स्फीति स्वतन्त्र अथवा निष्कंटक (Open) तथा शमन (Suppressed) हो सकती है। यदि ऊँची मौद्रिक आय और उसके व्यय पर किसी प्रकार के नियन्त्रण नहीं लगाये जाते हैं और मुद्रा-स्फीति का निष्कंटक विकास होता है तो ऐसी अवस्था में 'स्वतन्त्र-स्फीति' (Open Inflation) होती है, परन्तु यदि नियन्त्रण द्वारा जनता की

आय के स्वतन्त्र व्यय को रोक दिया जाता है, तो स्फीति का परिणाम कीमतों की वृद्धि के विपरीत उपभोग की कमी, नकदी की जोड़ तथा बैंकों की जमा के बढ़ने के रूप में प्रकट होता है। ऐसी अवस्था में दबी स्फीति होती है। स्वतन्त्र स्फीति के विकास पर यदि कोई भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है तो यह प्रचण्ड रूप धारण कर सकता है और कीमतें बेहिसाब बढ़ने लगती हैं। मुद्रा की मात्रा में अधिक भी वृद्धि होने से कीमतें कई गुनी बढ़ सकती हैं। एक एक मास में कीमतों में १,०००% की वृद्धि देखने में आई है। मुद्रास्फीति के इस रूप को अति, महा अथवा सरपट दौड़ने वाली स्फीति (Hyper, Super or Galloping Inflation) कहा जाता है।

मुद्रा-स्फीति की तीन अवस्थाएँ —

मुद्रा-स्फीति को देश के आर्थिक जीवन का क्षय रोग (Tuberculosis) कहा गया है। आर्थिक विद्वानों का मत है कि मुद्रा-स्फीति के विकास की तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था में स्फीति का निवारण सम्भव होता है और उपयुक्त उपाय करके इसे पूर्णतया समाप्त किया जा सकता है। क्षय रोग की भाँति दूसरी अवस्था में भी गम्भीर प्रयत्नों द्वारा इसका निवारण हो सकता है, यद्यपि सफलता एक अंश तक सन्देहयुक्त होती है, परन्तु तीसरी अवस्था में किसी भी प्रकार मुद्रा-प्रसार को नहीं रोका जा सकता है। इसका अन्तिम परिणाम यही होता है कि देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है।

इन तीनों अवस्थाओं को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। सरलता के लिए हम यह मान लेते हैं कि कीमतों की वृद्धि का एक मात्र कारण सरकार द्वारा चलन की मात्रा की वृद्धि है। ऐसी दशा में जब तक कीमतें चलन की वृद्धि के अनुपात से कम तेजी के साथ बढ़ेंगी, मुद्रा-स्फीति अपनी पहली अवस्था में रहेगी, जब चलन की वृद्धि तथा कीमतों की वृद्धि की दर एक ही होगी तो दूसरी अवस्था रहेगी और जब कीमतें चलन के विस्तार से भी अधिक तेजी के साथ बढ़ने लगेंगी तो स्फीति की अन्तिम अवस्था आरम्भ हो जायगी।

आरम्भ में यह मान लीजिए कि चलन में १०% की वृद्धि की जाती है। इसके फलस्वरूप कीमतें भी कुछ समय पश्चात् लगभग इसी अनुपात में बढ़ जायेंगी, परन्तु कीमतों की वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन लाभदायक हो जायगा और उसका विस्तार होगा। हो सकता है कि उत्पादन में १०% अथवा इससे भी अधिक वृद्धि हो जाय, अतः उत्पन्न वस्तुओं की मात्रा के बढ़ जाने के कारण कीमतें फिर गिर कर अपने पुराने स्तर तक आ जायेंगी। कुछ दशाओं में वह पहिले से भी नीचे गिर सकती हैं। इस प्रकार कीमतों

की वृद्धि अस्थाई रहेगी, परन्तु यदि फिर उसी प्रकार चलन की मात्रा में १०% वृद्धि कर दी जाती है तो कीमतें फिर बढ़ेंगी और उत्पत्ति का फिर विस्तार होगा। यदि यह क्रम बराबर बना रहता है तो कुछ समय पश्चात् वस्तुओं के उत्पादन का विस्तार चलन के विस्तार की अपेक्षा कम तेजी के साथ होने लगेगा। कारण यह है कि उत्पादन विस्तार के साथ-साथ उत्पत्ति के साधनों के रोजगार का भी विस्तार होता है और कुछ समय पश्चात् इन साधनों की दुर्लभता अनुभव होने लगती है। क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम की कार्यशीलता के कारण उत्पत्ति की वृद्धि की गति धीमी पड़ जाती है। ऐसी दशा में उत्पादन की वृद्धि चलन-विस्तार की अपेक्षा कम होगी। यहीं से मुद्रा-स्फीति का आरम्भ हो जायगा, परन्तु क्योंकि अभी उत्पादन में वृद्धि सम्भव है, इसलिये कीमतें चलन विस्तार की अपेक्षा कम तेजी के साथ बढ़ेंगी। यह मुद्रा-स्फीति की पहली अवस्था है।

यदि चलन के विस्तार का क्रम बराबर बना रहता है तो धीरे-धीरे ऐसी अवस्था आ जायगी जबकि उत्पत्ति के सभी साधनों को पूर्ण वृत्ति प्राप्त हो जायगी। उत्पत्ति के बढ़ाने के लिये अब कोई भी साधन शेष नहीं रहेगा। यह पूर्ण वृत्ति (Full Employment) की अवस्था होगी। यहाँ पर उत्पादन का विस्तार रुक जायगा। वस्तुओं की मात्रा यथास्थिर रहने के कारण कीमतों में उसी वेग अथवा अनुपात में वृद्धि होने लगेगी, जिस अनुपात में चलन का विस्तार किया जाता है। यही मुद्रा स्फीति की दूसरी अवस्था है।

पूर्ण वृत्ति विन्दु के पश्चात् भी यदि चलन के विस्तार का क्रम बना रहता है और थोड़े-थोड़े समय के बाद उसकी मात्रा में १०% वृद्धि होती रहेगी तो कुछ समय तक तो कीमतें चलन-विस्तार के अनुपात में ही बढ़ती रहेंगी, परन्तु कुछ समय बाद पत्र-मुद्रा की मात्रा इतनी बढ़ जायगी कि जनता का उस पर से विश्वास उठने लगेगा। जनता में भय की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जायगी। यह मनोवृत्ति इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लेगी कि कीमतों की वृद्धि की कोई सीमा ही न रहेगी। वे चलन-विस्तार की अपेक्षा बहुत अधिक तेजी से बढ़ने लगेंगी। चलन में १०% वृद्धि होने पर कीमतें २०, ३०, १०० अथवा १,०००% के हिसाब से भी बढ़ सकती हैं। यहाँ पर चलन के विस्तार को बन्द कर देने पर भी कीमतों का बढ़ना बराबर जारी रह सकता है। यही मुद्रा-स्फीति की अन्तिम अवस्था है, जिसके बहुत ही गम्भीर परिणाम होते हैं। सन १९२३ में जर्मनी में ऐसी ही प्रचण्ड मुद्रा-स्फीति हुई थी, जिसके फलस्वरूप देश में मुद्रा-विनिमय के स्थान पर वस्तु-विनिमय का प्रचलन हो गया था, क्योंकि कोई भी व्यक्ति

जर्मन सरकार द्वारा निकाले गये कागजी नोटों को लेने के लिये तैयार न था। इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति को अर्थशास्त्र में बड़े भयङ्कर शब्दों में वर्णित किया जाता है। यही दौड़ती हुई स्फीति (Runaway or Galloping Inflation) है। कुछ लेखकों ने तो इस स्फीति का भयङ्कर राक्षस (The Hydra-headed Monster of Inflation) भी कहा है।

मुद्रा-स्फीति के कारण (The Causes of Inflation)—

मुद्रा-स्फीति दो प्रकार के कारणों से उत्पन्न होती है :—(१) मौद्रिक आय के विस्तार के कारण और (२) उत्पादन की कमी के कारण। अब हमें यह देखना है कि मौद्रिक आय का विस्तार किन बातों पर निर्भर होता है और किस प्रकार किया जाता है तथा इसी प्रकार हमें यह भी देखना है कि कौन से कारण वस्तुओं की उत्पत्ति में कमी कर देते हैं? देश में मुद्रा की मात्रा की वृद्धि, जिससे कि वस्तुओं की कीमतें बढ़ने की सम्भावना पैदा हो जाती है, निम्न प्रकार होती है :—

(१) **सरकार की नीति के फलस्वरूप**—बहुत बार सरकार जान बूझ कर चलन की मात्रा को बढ़ा कर तथा साख विस्तार को प्रोत्साहन देकर कीमतों को बढ़ाती है। इसका उद्देश्य यह होता है कि मुद्रा की क्रय: शक्ति को कम करके ऋणी वर्ग के ऋण भार को कम किया जाय, अथवा धनहीन कृषक वर्ग के उन कष्टों को दूर किया जाय जो कीमतों के पतन के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस नीति के और भी बहुत से उद्देश्य होते हैं, जैसे—देश की विकास योजनाओं के लिए धन प्राप्त करना। इन उद्देश्यों से सरकार केवल चलन की मात्रा का ही विस्तार नहीं करती है, बल्कि बैंक दर को घटा कर तथा अन्य रीतियों से बैंक-मुद्रा के विस्तार को भी प्रोत्साहन देती है। साख मुद्रा के विस्तार का भी स्फीतिक प्रभाव होता है और इसे आर्थिक भाषा में कभी-कभी साख-स्फीति (Credit Inflation) कहा जाता है। उपरोक्त सभी रीतियाँ ऐच्छिक अथवा कृत्रिम स्फीति (Deliberate Inflation) को उत्पन्न करती हैं।

(२) **हीनार्थ-प्रबन्धन** (Deficit Financing)—बहुत बार सरकारें घाटे के बजट बनाती हैं। व्यय की मात्रा आय से अधिक रखी जाती है और सरकार प्रतिभूतियाँ निकाल कर बैंकों से ऋण लेती है। इन प्रतिभूतियों के आधार पर बैंक अपने निक्षेपों को बढ़ाते हैं और इस प्रकार साख-मुद्रा का विस्तार होने के कारण मुद्रा-प्रसार फैलता है। आधुनिक युग में सरकारों द्वारा ऐसा करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जब सरकार की साख इतनी कम होती है कि उसे खुले बाजार में आवश्यक मात्रा में ऋण नहीं मिलते हैं, अथवा जब सरकार और अधिक

करारोपण द्वारा जनता को असन्तुष्ट करना नहीं चाहती है तो हीनार्थ-प्रबन्धन द्वारा आय प्राप्त की जाती है।

([illegible]) प्राकृतिक कारण, जैसे स्वर्ण की मात्रा में वृद्धि—कभी कभी प्राकृतिक कारणों द्वारा भी मुद्रा-स्फीति फैलती है। यदि किसी ऐसे देश में जहाँ स्वर्ण को चलन का आधार बनाया गया है, अकस्मात् ही किसी कारण से बहुत अधिक मात्रा में सोना आ जाता है तो उस देश में मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। बहुमूल्य धातुओं का भारी आयात भी मुद्रा-प्रसार का कारण बन सकता है।

(४) **चलन तथा साख मुद्रा के प्रचलन वेग में वृद्धि**—वर्तमान काल में यह कारण बहुत महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। मुख्यतया साख-मुद्रा के प्रचलन वेग की वृद्धि के कारण मुद्रा की कुल मात्रा में काफी वृद्धि हो जाती है और कीमतों में स्फीतिक प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। सम्पन्नता (वैभव) के काल में बैंकों के निक्षेपों की मात्रा और साख-मुद्रा का प्रचलन वेग बढ़ने से स्फीति की उपयुक्त दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

साधारणतया उपरोक्त सभी कारण उत्पत्ति के विस्तार को भी प्रोत्साहित करते हैं। कीमतों की वृद्धि साधारणतया अधिक माँग तथा अधिक विक्री का सूचक होती है। इसके अतिरिक्त कच्चे माल की कीमतें तथा मजदूरियाँ भी तैयार माल की तुलना में नीची रहती हैं। ये सभी परिस्थितियाँ उत्पादक के लाभ को बढ़ाती हैं और उत्पादन के विस्तार का कारण बनती हैं, परन्तु यह सम्भव है कि उत्पादन की वृद्धि मौद्रिक आय के विस्तार की तुलना में कम रहे। ऐसी दशा में वस्तुओं और सेवाओं की एक तुलनात्मक कमी अनुभव होने लगती है। अनेक कारणों से उत्पत्ति की मात्रा घट भी सकती है, जो उस काल में भी सम्भव है जबकि मुद्रा की मात्रा यथास्थिर रहती है। उत्पादन की कमी के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) कुछ उत्पत्ति के साधनों की दुर्लभता, जिसके कारण उत्पत्ति क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत होने लगती है।

(२) औद्योगिक झगड़े, जिनके कारण काम बहुधा बन्द रहता है।

(३) प्राकृतिक आपत्तियाँ, जैसे—भूचाल, बाढ़, सूखा, महामारी इत्यादि।

(४) शिल्प सम्बन्धी परिवर्तन (Technological changes), जो कुछ काल के लिए उत्पादन कार्यों को स्थगित करा देते हैं।

(५) सरकार की व्यापार तथा प्रशुल्क नीति, जिसके अन्तर्गत विदेशों को इतना अधिक निर्यात कर दिया जाता है कि देश में वस्तुओं की कमी पैदा हो जाती है, अथवा जिसके अन्तर्गत

आयातों पर नियन्त्रण लगा कर [illegible] जाती है।

मुद्रा-प्रसार के [illegible] (The [illegible] of [illegible])

मुद्रा-प्रसार के प्रभाव आर्थिक जीवन के सभी पक्षों पर पड़ते हैं, यद्यपि यह सत्य है कि [illegible] विशाओं में इसके प्रभाव भी अलग-अलग होते हैं। समाज के कुछ वर्गों के लिए मुद्रा-स्फीति एक [illegible] आशीर्वाद के रूप में आती है, परन्तु समाज के [illegible] को इसके कारण भारी कष्ट होता है। [illegible] परिणाम इतने गम्भीर होते हैं कि लोग इसे दोषपूर्ण ही समझते हैं, परन्तु सभी दशाओं में मुद्रा-स्फीति हानिकारक नहीं होती है। नियन्त्रित [illegible] के विषय में तो यह कहा जाता है कि इसकी मदद से देश के आर्थिक जीवन के विकास तथा देश के भौतिक और मानव साधनों के पूर्ण उपयोग की [illegible] को सफल बनाया जा सकता है। [illegible] ऊपर उठती हुई प्रवृत्ति को बनाये रखना देश की [illegible] नीति का आवश्यक आधार समझते हैं।

आर्थिक नियोजन तथा [illegible] के सम्बन्ध में तो मुद्रा-स्फीति का महत्त्व सभी स्वीकार करते हैं। आर्थिक नियोजन द्वारा एक पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था को भी उन्नत बनाया जा सकता है और देश के बेकार पड़े हुए साधनों का उपयोग करके देश में उपभोग के स्तर को ऊँचा उठाया जा सकता है, परन्तु [illegible] के लिए सरकार को भारी मात्रा में पूँजी व्यय [illegible] साधनों, जैसे—करारोपण, लोक ऋण आदि [illegible] कठिन होता है। इस कारण सरकार [illegible] नोट छाप कर इस व्यय को पूरा करती [illegible] तो अवश्य होता है, परन्तु यह इसलिए [illegible] आर्थिक कष्टों का भविष्य में उत्पत्ति [illegible] जाता है। इसके अतिरिक्त मुद्रा-प्रसार के कारण देश के [illegible] हो जाता है, जिससे आर्थिक नियोजन को सफल बनाने के लिए पर्याप्त साधन मिल जाते हैं। इसी प्रकार युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार भी इस कारण उचित होता है कि इसके द्वारा सरकार रक्षा व्यय के लिए आवश्यक धन प्राप्त कर लेती है। मुद्रा-स्फीति के कारण जो [illegible] होता है वह देश की पराजय तथा दासता की तुलना में कुछ भी नहीं होता है। आधुनिक संसार का अनुभव यही है कि युद्ध की तैयारी तथा युद्ध के सफल संचालन के लिए मुद्रा-स्फीति आवश्यक है।

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति के भी अपने लाभदायक उपयोग होते हैं, परन्तु जन-साधारण के दृष्टिकोण से मुद्रा-स्फीति काफी बुरी होती है। प्रो० वकील ने मुद्रा-स्फीति की तुलना एक डाकू से की है, जो वैसे तो सारे राष्ट्र को लूटता है, परन्तु अदृश्य रहता है।* लोगों को साधारणतया यह पता भी नहीं चल पाता है कि उन्हें कौन लूट रहा है और किस प्रकार ?

समाज के विभिन्न वर्गों पर मुद्रा-स्फीति का प्रभाव—

मुद्रा-स्फीति के सामाजिक प्रभाव का अध्ययन करने के लिए कीन्ज ने समाज को ५ वर्गों में विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं :—(१) विनियोगी वर्ग (The Investors), (२) उत्पादक वर्ग (The Producers), (३) श्रमिक वर्ग (The Wage earners), (४) उपभोक्ता वर्ग (The Consumers) और (५) ऋणी वर्ग तथा साहूकार वर्ग (The Debtors and Creditors)। स्पष्ट तथा विस्तृत अध्ययन के लिए प्रत्येक वर्ग पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन अलग-अलग किया जायगा। यह निश्चय है कि इन विभिन्न वर्गों को एक दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता है। एक ही व्यक्ति एक साथ विनियोगी, उत्पादक, श्रमिक, उपभोक्ता तथा ऋणी और साहूकार सभी कुछ हो सकता है। यहाँ पर केवल यह देखने का प्रयत्न किया जायगा कि इन विभिन्न रूपों में समाज के सदस्यों पर मुद्रा-प्रसार का [illegible] प्रभाव किस प्रकार पड़ता है ? यह सम्भव है कि एक रूप में एक व्यक्ति को लाभ हो और दूसरे रूप में हानि।

(१) विनियोगी वर्ग—विनियोगी वर्ग से हमारा अभिप्राय उन लोगों से होता है जो उद्योग और व्यवसाय में रुपया लगाते हैं और इस प्रकार लगाये हुए रुपये से आय प्राप्त करते हैं। यही वर्ग साहसी का काम करता है और उत्पत्ति की जोखिम को उठाता है। इस वर्ग को दो भागों में बाँटा जा सकता है :—(१) वे विनियोगी जिन्हें निश्चित आय प्राप्त होती है और (२) वे विनियोगी जिनकी आय परिवर्तनशील होती है। प्रथम वर्ग के विनियोगियों का व्यवसाय के लाभ और हानि से कोई निकट सम्बन्ध नहीं होता है। चाहे व्यवसाय को अत्यधिक लाभ हो या हानि, उन्हें तो पहले से तय की हुई रकम ही मिलती है। एक सम्मिलित पूँजी कम्पनी के ऋण-पत्रधारी ([illegible] Holders) इसी प्रकार के विनियोगी होते हैं। इन व्यक्तियों को कम्पनी को उधार दी गई रकम पर

*Inflation may be compared to robbery. Both deprive the victim of some possession with the difference that the robber is visible, inflation is invisible; the robber's victim may be one or a few at a time, the victims of inflation are the whole nation, the robber may be dragged to a court of law, inflation is legal. See C. N. Vakil : *Financial Burden of War on India.*

एक निश्चित दर पर ब्याज मिलता है। व्यवसाय की सम्पन्नता अथवा कठिनाई का ब्याज की दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इस वर्ग को मुद्रा-स्फीति के काल में हानि होती है, क्योंकि इनकी आय तो स्थिर रहती है, परन्तु मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाने के कारण आय की वास्तविक कीमत घट जाती है। पहिले के बराबर आय से अब कम वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदी जा सकती हैं।

परिवर्तनशील आय वर्ग के विनियोगी वे लोग होते हैं जिनकी आय निश्चित नहीं होती, वरन् व्यवसाय के भाग्य पर निर्भर होती है। यदि व्यवसाय को खूब लाभ होता है तो इस वर्ग को भी लगभग उसी अनुपात में बढ़ी हुई आय प्राप्त होती है। व्यवसाय को हानि होने की दशा में यह भी सम्भव होता है कि इस वर्ग को कुछ भी आय प्राप्त न हो। मुद्रा-स्फीति का समय व्यवसायों के लिए सम्पन्नता का काल होता है, बिक्री खूब होती है, अच्छी कीमतें मिलती हैं और व्यापार तेजी के साथ होता है। लाभ का अंश अधिक रहता है और इस कारण इस वर्ग के विनियोगियों को भी अधिक आय प्राप्त होती है। सम्मिलित पूँजी कम्पनी के साधारण अंशधारी ऐसे ही विनियोगी होते हैं। इस प्रकार इस वर्ग की मौद्रिक आय बढ़ती है, परन्तु क्योंकि कीमतें भी बढ़ जाती हैं, इसलिए वास्तविक आय उतनी तेजी से नहीं बढ़ पाती है।

(२) उत्पादक वर्ग—इस वर्ग में हम उन सभी व्यक्तियों को सम्मिलित करते हैं जो उत्पादन के कार्यों में लगे रहते हैं। उद्योगपति, कृषक, खानों के मालिक, माईगीर आदि सभी प्रकार के उत्पादक इसी वर्ग में सम्मिलित किये जाते हैं। हमें यह देखना है कि मुद्रा-प्रसार का इस वर्ग पर क्या प्रभाव पड़ता है? मुद्रा-स्फीति में ऐसा होता है कि जनता के पास क्रय-शक्ति का विस्तार देश में उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी से होता है। सभी प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें निरन्तर ऊपर चढ़ती जाती हैं। सामान्य रूप में इस वर्ग के व्यक्तियों को मुद्रा-स्फीति के काल में लाभ होता है। उत्पादक के लाभों के निम्न तीन कारण होते हैं:—

(१) कीमतों की वृद्धि साधारणतया माँग की वृद्धि के कारण होती है। इसका अर्थ यह होता है कि वस्तुओं और सेवाओं की बिक्री तेजी के साथ होती है। माल तैयार होते ही बिक जाता है, जिसके फलस्वरूप एक ओर तो अधिक बिक्री के कारण लाभ अधिक होता और दूसरे, तैयर माल को जमा करके रखने, उसकी लागत पर ब्याज देने तथा माल का विज्ञापन करने पर व्यय कम होता है। तीसरे, कोई मशीन तथा कारखाना बेकार नहीं रहता है।

(२) कीमतों की अपेक्षा उत्पादन व्यय कम रहता है। कारण यह

है कि उत्पादन में समय लगता है। यदि आज कच्चा माल तथा औजार खरीदे जाते हैं, पूँजी उधार ली जाती है, अथवा श्रमिकों को भर्ती किया जाता है तो दो-चार महीने पीछे तैयार माल निकल पाता है। उपरोक्त सभी खर्चे, जो उत्पादन व्यय के अंग होते हैं, वर्तमान कीमत-स्तर के अनुसार होंगे, परन्तु इस बीच में कीमतें बढ़ जाती हैं तो तैयार माल की बिक्री ऊँचे कीमत-स्तर के अनुसार, अर्थात् ऊँची कीमतों पर होगी। इससे उत्पत्ति में लाभ का अंश बढ़ जाता है।

(३) मजदूरी में भी उत्पादक को बचत होती है। यह अर्थशास्त्र में एक साधारण सी बात है कि मजदूरियाँ कीमत-स्तर से पीछे ही रहती हैं। कीमतों के बढ़ने की दशा में मजदूरियों की दरें भी अवश्य बढ़ती हैं, परन्तु उतनी तेजी से नहीं जितनी तेजी से कीमतें बढ़ती हैं। इस प्रकार मजदूरी का एक भाग भी उत्पादक के लाभों में सम्मिलित हो जाता है। जिन उद्योगों में मजदूरी उत्पादन-व्यय का एक बड़ा भाग होती है उन्हें तो विशेष रूप में लाभ होता है।

इस प्रकार मुद्रा-स्फीति के काल में उत्पादक वर्ग को लाभ होता है, जिसके फलस्वरूप उत्पादन का विस्तार करके और अधिक लाभ कमाने का प्रयत्न किया जाता है। व्यापारी वर्ग को भी उत्पादकों में ही सम्मिलित किया जा सकता है। इस वर्ग को साधारणतया और भी अधिक लाभ होता है। रखे-रखे माल के दाम बढ़ते रहते हैं और प्रत्येक बार माल को कम कीमत पर खरीद कर अधिक कीमत पर बेच दिया जाता है। ग्राहकों को ढूँढ़ने तथा आकर्षित करने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती है।

(२) श्रमिक वर्ग—इस वर्ग में हम उन सब व्यक्तियों को सम्मिलित करते हैं जो अपनी सेवाओं अथवा अपने श्रम को बेच कर आय प्राप्त करते हैं। इस वर्ग में कारखानों और कृषि में काम करने वाले मजदूर, नौकरी करने वाले व्यक्ति तथा अन्य प्रकार के श्रमिकों को शामिल किया जाता है।

यदि कीमतें बढ़ती हैं तो एक दिशा में तो इस वर्ग को लाभ होता है, परन्तु दूसरी दिशा में हानि रहती है। बात यह है कि मुद्रा-स्फीति के काल में उत्पत्ति, व्यापार तथा व्यवसाय का विस्तार होता है। इस सारे विस्तार के लिए अधिक श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है, जिससे रोजगार की वृद्धि होती है। श्रम की माँग अधिक होने के कारण श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति भी बढ़ जाती है और वे अधिक अच्छी कार्य की दशाएँ प्राप्त कर लेते हैं। रोजगार के विस्तार के कारण श्रमिक वर्ग सुखी रहता है। परिवार के अधिक सदस्यों को रोजगार मिल जाने के कारण आय में वृद्धि हो जाती है, परन्तु दूसरी दिशा में श्रमिक वर्ग को हानि होती है।

है। ऋणों के सम्बन्ध में बहुधा ऐसा होता है कि ऋण एक निश्चित काल के लिए दिया जाता है और देते समय उस पर ब्याज की दर निश्चित कर ली जाती है। इसके पश्चात् कीमतों की घटा-बढ़ी का इस पहिले से तय की हुई ब्याज की दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

मुद्रा-स्फीति के काल में ऋणी वर्ग को लाभ होता है। कारण यह है के उसे एक पूर्व निश्चित मात्रा में मूलधन तथा ब्याज चुकाना होता है। कीमतों के बढ़ जाने के कारण भुगतान की इस रकम की वास्तविक कीमत कम रह जाती है। इस प्रकार ऋण का वास्तविक भार बहुत कम रह जाता है, परन्तु इस काल में साहूकार वर्ग को हानि होती है। मूलधन तथा ब्याज के रूप में इस वर्ग को जो रकम प्राप्त होती है उसकी वास्तविक कीमत उस समय की अपेक्षा बहुत कम रह जाती है जबकि ऋण दिया गया था। मुद्रा-स्फीति के काल में उत्पत्ति के बढ़ने के कारण ऋणों की माँग अधिक होती है और ब्याज की दरें ऊपर चढ़ती हैं। इस काल में बैंकों द्वारा अधिक साख का निर्माण किया जाता है। इसके अतिरिक्त बैंकिंग का विकास भी होता है। बैंकों के नकद कोषों और उनकी निक्षेपों का पारस्परिक अनुपात कम हो जाता है।

स्मरण रहे कि मुद्रा-स्फीति के उपरोक्त सभी परिणाम मुद्रा-स्फीति की पहली और दूसरी अवस्थाओं से सम्बन्धित हैं। अन्तिम अवस्था में तो उसके परिणाम बहुत भयंकर होते हैं। जर्मनी में सन् १९२३ में विनिमय व्यवस्था पूर्णतया वस्तु-विनिमय आधार पर आ गई थी। नोटों के बदले में कुछ भी प्राप्त कर लेना सम्भव न था। अत्यधिक मुद्रा-प्रसार सरकार पर से जनता का विश्वास उठा देता है। बहुत बार यह सामाजिक और राजनैतिक क्रान्ति को जन्म देता है। चीन की कॉमिटाँग सरकार की पराजय का कारण साम्यवादी फौजों की शक्ति के अतिरिक्त वह भीषण मुद्रा-स्फीति भी थी जो उसके राज्य-काल में चीन भर में फैल गई थी।

मुद्रा-संकुचन अथवा मुद्रा विस्फीति (Deflation)—

मुद्रा-संकुचन मुद्रा-स्फीति की विपरीत प्रवृत्ति है। वैसे तो बहुत से लोग कीमतों के प्रत्येक पतन को मुद्रा-संकुचन का नाम दे देते हैं, परन्तु जिस प्रकार कीमतों की प्रत्येक वृद्धि स्फीतिक नहीं होती ठीक उसी प्रकार कीमतों का प्रत्येक पतन विस्फीतिक नहीं होता है। कुछ लोगों का विचार है कि यदि मुद्रा की पूर्ति अथवा उसकी मात्रा, मुद्रा की माँग अर्थात उसकी व्यापार, व्यवसाय अथवा अन्य विनिमय कार्यों सम्बन्धी आवश्यकता से, कम होती है तो मुद्रा की क्रयः शक्ति बढ़ जाती है, तथा वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमतें गिरती हैं, यही विस्फीति है। जैसा कि हम मुद्रा-स्फीति के सम्बन्ध में देख चुके हैं कि मुद्रा की माँग

पूर्ति का कोई निश्चित अनुमान सम्भव नहीं होता है, इसलिए मुद्रा-विस्फीति के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण सन्तोषजनक नहीं है। मुद्रा-संकुचन की भी सबसे उपयुक्त परिभाषा पीगू ने ही की है। उनके अनुसार मुद्रा-विस्फीति कीमतों के गिरने की वह स्थिति है, जो उस समय उत्पन्न होती है, जबकि वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन मौद्रिक आय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ता है। इस प्रकार कीमतों का प्रत्येक पतन मुद्रा-संकुचन नहीं होता है। उनकी केवल एक विशेष दशा ही मुद्रा-स्फीति को सूचित करती है। निम्न दशाओं में कीमतों का गिरना विस्फीतिक होता है—

(१) यदि मौद्रिक आय घटती है, परन्तु उत्पादन यथास्थिर रहता है।
(२) यदि मौद्रिक आय तथा उत्पादन दोनों घटते हैं, परन्तु मौद्रिक आय अपेक्षतन अधिक तेजी से घटती है।
(३) यदि उत्पादन बढ़ता है, परन्तु मौद्रिक आय यथास्थिर रहती है।
(४) यदि उत्पादन तथा मौद्रिक आय दोनों बढ़ते हैं, परन्तु उत्पादन अधिक तेजी से बढ़ता है।
(५) यदि उत्पादन बढ़ता है और मौद्रिक आय घटती है।

[मुद्]रा-संकुचन के कारण—

मुद्रा-संकुचन प्रचलित चलन तथा साख-मुद्रा की मात्रा में [illegible] कमी करके किया जाता है। कभी-कभी जब मुद्रा-स्फीति के कारण [कीमतें] बहुत ऊँची हो जाती हैं तो सरकार उन्हें कम करने के लिए मुद्रा-संकुचन की नीति अपनाती है, परन्तु प्रवृत्ति कुछ इस प्रकार है कि संकुचन का क्रम भी एक बार शुरू होकर फिर रुकता नहीं है और कीमतें नीचे ही गिरती जाती हैं। मुद्रा-संकुचन साधारणतया निम्न प्रकार होता है:—

(१) सरकार भारी करारोपण द्वारा या बलात् ऋणों (Forced Loans) द्वारा देश में मुद्रा की प्रचलित मात्रा घटा देती है।
(२) सरकार देश में प्रचलित अपरिवर्तनशील नोटों तथा प्रातिनिधिक मुद्रा को रद्द करके देश में मुद्रा की मात्रा में कमी कर सकती है।
(३) प्रचलित मुद्रा की मात्रा यथास्थिर रहते हुए यदि अकस्मात् ही वस्तुओं की मात्रा बढ़ जाती है तो कीमतें गिर सकती हैं।
(४) केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर को ऊँचा उठाकर भी मुद्रा-संकुचन कर सकती है। इस नीति का परिणाम यह होता है कि अन्य बैंकों को ऋण मिलने में कठिनाई होती है और

अधिक ब्याज देना पड़ता है, जिसके कारण वे साख के उत्पादन को घटा देती हैं।

(५) केन्द्रीय बैंक और भी कई रीतियों से मुद्रा-संकुचन कर सकती हैं, जैसे—जनता से प्रत्यक्ष रूप में ऋण लेकर अथवा अपनी खुले बाजार क्रियाओं (Open Market Operations) द्वारा। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को बेच कर भी जनता से चलन को अपने पास खींच लेती है। इसके अतिरिक्त बहुत बार सरकार साख-निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा देती है।

मुद्रा-संकुचन के परिणाम—

विस्फीति कीमत-स्तर को नीचे गिराती है। स्फीति के विपरीत यह देश के जीवन को अवनति की ओर ले जाती है। विस्फीति के काल में कीमतें, मजदूरियाँ, उत्पादन, ब्याज की दरें तथा रोजगार सभी नीचे की ओर जाते हैं। देश में अति-उत्पादन दृष्टिगोचर होता है। व्यावसायिक भविष्य निराशाजनक होता है और समाज के लगभग सभी वर्गों को भारी कष्ट होता है।

मुद्रा-स्फीति की भाँति विस्फीति का भी समाज के विभिन्न वर्गों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। ये प्रभाव निम्न प्रकार होंगे:—

(१) विनियोगी वर्ग—इस वर्ग के उस भाग को लाभ होगा जिसकी आय निश्चित होती है, क्योंकि कीमतें घट जाने के कारण इस आय की वास्तविक कीमत बढ़ जाती है। परिवर्तनशील आय वर्ग के विनियोगियों की आय घटती है। कारण यह है कि विस्फीति के काल में बहुत से उद्योग और व्यवसाय बन्द हो जाते हैं और शेष को साधारणतया हानि होती है। भूमिपतियों और जमींदारों को लाभ होता है, क्योंकि ये लोग निश्चित आय वर्ग में होते हैं।

(२) उत्पादक वर्ग—इस वर्ग को सामान्य रूप में हानि होती है। कारण यह है कि (कीमतें गिरना माँग के गिरने का सूचक होता है,) इस कारण विस्फीति के काल में बिक्री कम होती है। कारखानेदारों, व्यापारियों और दुकानदारों के पास बिना बिके माल के स्टाक जमा हो जाते हैं। मन्दी इतनी हो जाती है कि माल को बेचने में भारी कठिनाई होती है। दूसरे, कीमतों की तुलना में उत्पादन व्यय अधिक रहता है, जिससे हानि की सम्भावना बढ़ जाती है। माल के तैयार होने से पहले ही कच्चा माल खरीदा जाता है, मजदूर रखे जाते हैं, औजार तथा अन्य सामान खरीदे जाते हैं, रुपया ब्याज पर लिया जाता है और फैक्टरी का लगान तय किया जाता है, परन्तु यदि माल तैयार होने के काल तक कीमतें गिर

जाती हैं तो उपरोक्त सभी वस्तुएँ प्रचलित सामान्य स्तर की तुलना में महँगी रहती हैं। इस प्रकार माल को बेचकर उत्पादन व्यय को पूरा करना भी कठिन हो जाता है। तीसरे, विस्फीति के काल में मजदूरियाँ गिरती तो अवश्य हैं, परन्तु कीमत-स्तर की तुलना में कम तेजी से घटती है। परिणाम यह होता है कि मजदूरियों पर प्रस्तुत कीमत-स्तर की तुलना में अधिक व्यय होता है। इन सब बातों के फलस्वरूप उत्पादकों को हानि होती है और वे उत्पादन को बन्द करना अथवा उत्पत्ति की मात्रा को घटाना आरम्भ कर देते हैं।

कृषकों को इस काल में और भी अधिक हानि होती है। [illegible] अनुभव बताता है कि विस्फीति के काल में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कृषि-उपज की कीमतें अधिक नीचे गिर जाती हैं। किसानों को लगान के रूप में तो एक पूर्व निश्चित रकम देनी पड़ती है, परन्तु कीमतों के गिर जाने और मुद्रा की क्रयः शक्ति बढ़ जाने के कारण इस रकम का वास्तविक भार बढ़ जाता है। किसानों पर ऋण का भार और भी अधिक बढ़ जाता है।

व्यापारी वर्ग को भी भारी हानि होती है। एक ओर तो माल की बिक्री नहीं होने पाती है, जिससे आय घटती है। दूसरे, रुपया या रुपये का फेर न बँधने के कारण पूँजी की कमी अनुभव होती है और तीसरे, रखे हुए माल की कीमत गिरती जाती है। इसके अतिरिक्त विज्ञापन तथा ग्राहकों की सन्तुष्टि के लिये भी विशेष प्रयत्न करना पड़ता है।

(३) श्रमिक वर्ग—इस वर्ग को विस्फीति के काल में भारी कष्ट होता है, यद्यपि एक दिशा में इस वर्ग को लाभ भी होता है। विस्फीति के काल में उत्पादन घटाया जाता है, बहुत से उद्योग और व्यवसाय बन्द हो जाते हैं और व्यापारी लोग माल का क्रय-विक्रय कम करते हैं। इन सभी कारणों से बेरोजगारी फैलती है। श्रमिकों को काम नहीं मिलता है और उनके भूखों मरने की नौबत आ जाती है। श्रमिक वर्ग में भारी निराशा फैलती है। इस काल में हड़तालों के स्थान पर तालाबन्दी का जोर होता है। प्रत्येक श्रमिक अपने काम पर जमा रहना चाहता है। मजदूर संघों की सदस्यता कम हो जाती है और उनका कार्य बहुत ही संकुचित हो जाता है।

इसके विपरीत उन श्रमिकों को लाभ होता है जिनका कि रोजगार बना रहता है। कारण यह है कि यद्यपि इस काल में मजदूरियाँ घटती हैं, परन्तु वे कीमतों की तुलना में ऊँची रहती हैं। इस प्रकार वास्तविक

विशेष रूप से लाभ उठाता है, क्योंकि वेतनों के घटने की सम्भावना कम होती है, परन्तु कीमतों के घट जाने के कारण इन वेतनों की क्रयः शक्ति बढ़ जाती है। उन श्रमिकों को हानि होती है जिन्हें वस्तुओं के रूप में मजदूरी मिलती है, जैसे—कृषि उद्योग के श्रमिक।

(४) उपभोक्ता वर्ग—विस्फीति का काल उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण से आनन्द का काल होता है। सभी वस्तुओं और सेवाओं की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है। वास्तविकता यह है कि वस्तुओं के खरीदने वाले ही नहीं मिलते हैं। कीमतों के गिरने के कारण उपभोग के स्तर को ऊँचा करना सरल हो जाता है। जो आवश्यकताएँ लम्बे काल से पूरी नहीं हो रही थीं वे भी अब सरलतापूर्वक पूरी हो जाती हैं। सभी ओर हर्ष और संतोष का संचार होता है।

(५) ऋणी तथा साहूकार—विस्फीति के काल में ऋणी वर्ग को हानि होती है, क्योंकि मूलधन तथा ब्याज के रूप में इस वर्ग को जो रकम लौटानी पड़ती है उसका वास्तविक मूल्य इस कारण बढ़ जाता है कि मुद्रा की क्रयः शक्ति बढ़ जाती है। परिणाम यह होता है कि ऋणों का भार लगभग असहनीय हो जाता है। कृषक वर्ग पर तो इस काल में और भी ऋण लद जाता है। पिछले ऋणों को चुकाना तो लगभग असम्भव हो जाता है।

साहूकारों को इस काल में लाभ होता है। बात यह है कि मुद्रा की क्रयः शक्ति बढ़ जाने के कारण ब्याज तथा मूलधन के रूप में मिलने वाली रकम की वास्तविक कीमत बढ़ जाती है। परन्तु एक दूसरे रूप में इस वर्ग को थोड़ी सी हानि भी होती है, क्योंकि व्यापार तथा उत्पादन के संकुचन के कारण ऋणों की माँग काफी घट जाती है और ब्याज की दरें नीचे गिर जाती हैं।

स्फीति और विस्फीति के सामूहिक परिणाम—

उपरोक्त अध्ययन में मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा विस्फीति के उन प्रभावों का अध्ययन किया है जो समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़ते हैं। हमने देखा है कि स्फीति के काल में उत्पादकों, कुछ प्रकार के विनियोगियों, ऋणदाताओं तथा कुछ दिशाओं में श्रमिकों को लाभ होता है। इसके विपरीत अधिकाँश विनियोगियों, श्रमिकों, उपभोक्ताओं और साहूकारों को हानि होती है। विस्फीति के काल में निश्चित आय वर्ग के विनियोगियों, उपभोक्ताओं तथा साहूकारों को लाभ होता है, परन्तु अन्य विनियोगियों, उत्पादकों, श्रमिकों और ऋणदाताओं को हानि होती है। विस्फीति के काल में उपभोक्ताओं को आनन्द मिलता है, परन्तु व्यवसाय बन्द हो जाते

(२) मुद्रा-संस्फीति अवसादकाल में होती है और उसका उद्देश्य कीमत को सामान्य स्तर पर लाना होता है। यह उसी समय तक रहती है जब तक कि कीमतें सामान्य स्तर पर नहीं आ जाती हैं। इसके विपरीत मुद्रा-स्फीति का आरम्भ ही तब होता है जबकि कीमतें सामान्य कीमत-स्तर से ऊपर उठ जाती हैं।

(३) मुद्रा-स्फीति के परिणाम घातक हो सकते हैं, परन्तु मुद्रा-संस्फीति का उद्देश्य देश को मन्दी की खाई से निकाल कर पुनर्जीवन प्रदान करना होता है। मुद्रा-संस्फीति निर्माणात्मक होती है, परन्तु स्फीति विनाशकारी हो सकती है।

(४) मुद्रा-संस्फीति में कीमतें धीरे-धीरे ही बढ़ती हैं, परन्तु मुद्रा-प्रसार में वे बहुत तेजी के साथ बढ़ सकती हैं।

एक लेखक ने कहा है कि बेकार पड़ी हुई पूँजी और वृत्तिहीन श्रमिकों को रोज़गार देने के उद्देश्य से जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे हम मुद्रा-संस्फीति कहते हैं, परन्तु यदि इस उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात् भी मुद्रा-प्रसार होता है तो उसे मुद्रा-स्फीति कहते हैं। नीचे का रेखा-चित्र मुद्रा-स्फीति, मुद्रा-संकुचन तथा मुद्रा-संस्फीति का भेद स्पष्ट करता है :—
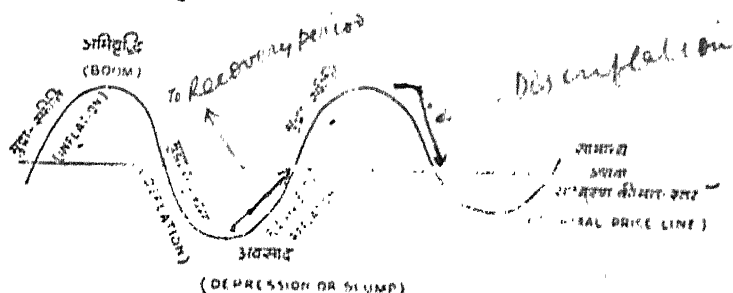
इस चित्र से स्पष्ट होता है कि सामान्य कीमत की रेखा से ऊपर अभिवृद्धि तक मुद्रा-स्फीति होती है। अभिवृद्धि से अवसाद तक मुद्रा-संकुचन होता है और तत्पश्चात् अवसाद से लेकर सामान्य कीमत-स्तर तक मुद्रा-संस्फीति रहती है। अभिवृद्धि से सामान्य कीमत रेखा तक की स्थिति को हम मुद्रा अपस्फीति (Disinflation) की स्थिति कह सकते हैं।

मुद्रा-अपस्फीति (Disinflation)—

इस शब्द का उपयोग अर्थशास्त्र में थोड़े ही काल से आरम्भ हुआ है, परन्तु युद्ध-काल तथा युद्धोत्तर-काल में यह शब्द बड़ा लोकप्रिय हुआ है। आरम्भ में तो इस शब्द का उपयोग बड़े अस्पष्ट तथा विभिन्न अर्थों में किया जाता था, परन्तु धीरे धीरे इसके उपयोग में स्पष्टता आ गई है।

मुद्रा-अपस्फीति मुद्रा-स्फीति को दूर करने की नीति होती है। जब किसी देश में मुद्रा-स्फीति एक प्रचण्ड रूप धारण करने लगती है तो सरकार उसकी प्रचण्डता को कम करने तथा उसके दोषों को दूर करने के लिये जो नीति अपनाती है वही मुद्रा-अपस्फीति की नीति होती है। इस प्रकार इस शब्द द्वारा वे सभी क्रियाएँ, नीतियाँ तथा उपाय सूचित होते हैं जो स्फीति के वेग को रोकने के लिए किये जाते हैं। इन उपायों की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि एक निश्चित सीमा के परे मुद्रा-स्फीति विशेष दुखदायी हो जाती है।

परन्तु यह समझना भूल होगी कि मुद्रा-अपस्फीति तथा मुद्रा-संकुचन एक ही चीज के दो अलग-अलग नाम हैं। वास्तव में दोनों में लगभग वैसा ही अन्तर होता है जैसा कि मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा-संस्फीति के बीच होता है। कुछ दिशाओं में तो मुद्रा-अपस्फीति तथा विस्फीति समान अवश्य होती हैं, क्योंकि दोनों का उद्देश्य कीमतों को नीचे गिराना होता है और दोनों के कारण लगभग एक से ही होते हैं, परन्तु वास्तव में दोनों में भेद होता है। मुद्रा-विस्फीति बहुत बार बिना सरकार की इच्छा के ही होती है, परन्तु अपस्फीति सदा ही कृत्रिम होती है। इसके अतिरिक्त अपस्फीति कीमतों को कम करने का उपाय है और इसके अन्तर्गत कीमतें घटा कर सामान्य कीमत-स्तर तक लाई जा सकती हैं। मुद्रा-संकुचन में कीमतें सामान्य स्तर से काफी नीचे तक जा सकती हैं, मुद्रा-संकुचन मन्दी की दशाएँ उत्पन्न करता है, परन्तु मुद्रा-अपस्फीति केवल आर्थिक जीवन की असाधारणता को दूर करती है।

अध्याय १०

मौद्रिक नीतियाँ

(Monetary Policies)

मुद्रा-प्रसार को रोकने की रीतियाँ—

मुद्रा-प्रसार के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण अध्ययन यही है कि उसे कैसे दूर किया जाय। जैसा कि विदित है कि मुद्रा की मात्रा का विस्तार तथा उत्पादन का घटना, यही मुद्रा-प्रसार के दो प्रमुख कारण होते हैं, अतः मुद्रा-प्रसार को रोकने के उपाय भी दो प्रकार के होते हैं:—वे उपाय

जिनके द्वारा मुद्रा के विस्तार को रोका जाता है और (२) [illegible] द्वारा उत्पत्ति को बढ़ाया जाता है। एक तीसरे प्रकार के उपाय [illegible] सकते हैं कि जिनके द्वारा बिना मुद्रा की मात्रा [illegible] उत्पत्ति को बढ़ाये कीमतों को बढ़ने से रोक दिया जाता है।

मुद्रा की मात्रा को कम करने के उपाय निम्न प्रकार हैं :—

(१) देश में किसी विशेष प्रकार की मुद्रा [illegible] अथवा नई मुद्रा [illegible] नये चलन की [illegible] के उपरान्त [illegible]

(२) वेतनों, मजदूरियों, [illegible] अनिवार्य तथा बलात् [illegible] परन्तु क्रान्तिकारी उपाय हैं।

(३) नए-नए करों द्वारा जनता से क्रय शक्ति [illegible]।

(४) जनता से सरकार द्वारा ऋण लेना।

(५) सरकार द्वारा सोना, प्रतिभूतियाँ तथा अन्य स्वीकृत वस्तुएँ बेचना और प्राप्त [illegible]।

(६) कम्पनियों के लाभांश बाँटने पर प्रतिबन्ध लगाना।

(७) चलन की निकासी को बन्द करना और [illegible] (Balanced Budgets) को तैयार करना।

(८) बैंकों की साख-निर्माण शक्ति को कम करना, [illegible] बैंक दर का ऊँचा उठाना, [illegible] व्यवसाय करना, वैधानिक नियन्त्रण आदि उपाय किये जाते हैं।

देश में वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा बढ़ाने के उपाय निम्न प्रकार हैं :—

(१) आयातों को प्रोत्साहन देना और निर्यातों को कम करना, जिससे कि देश के भीतर वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा बढ़ जाय।

(२) देश के भीतर कृषि तथा उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देना, जिसके लिए आर्थिक सहायता, करों में छूट, कच्चे मालों, कारीगरों तथा मशीनों की व्यवस्था आदि अनेक उपाय हो सकते हैं।

(३) सरकार द्वारा स्वयं उत्पत्ति करना, जिसके लिए सरकारी खेती करना तथा सरकारी उद्योगों का खोलना आवश्यक होता है।

इनके अतिरिक्त कीमतों को बढ़ने से रोकने के [illegible]
(Control) लगा दिए जाते हैं, [illegible]
की जाती है, सरकारी दुकानें खोली जाती हैं, [illegible]
जाती है, व्यवसायों के लाभ सीमित कर दिये जाते हैं और [illegible]
को रोकने के लिए कड़े नियम बनाए जाते हैं।

मुद्रा-संकुचन को दूर करने के उपाय

मुद्रा-संकुचन देश में क्रयः शक्ति अथवा मुद्रा [illegible] कमी हो जाने से पैदा होता है, परन्तु कभी-कभी अति-उत्पादन के कारण भी कीमतें गिरती हैं। संकुचन को दूर करने के उपाय साधारणतया मुद्रा [illegible] में वृद्धि करने से सम्बन्धित होते हैं। यद्यपि बहुत बार वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा को भी कम किया जाता है। प्रमुख उपाय निम्न प्रकार हैं:—

प्रथम, सरकारी व्यय को बढ़ाया जाता है। केन्द्रीय और [illegible] सरकारें राष्ट्रीय विकास की योजनाएँ बनाकर अधिक रोजगार उत्पन्न करने तथा जनता के हाथ में अधिक क्रयः शक्ति पहुँचाने का प्रयत्न करती हैं। महान् अवसाद के पश्चात् न्यू डील (New Deal) नीति के अनुसार अमेरिका में जङ्गलों और दलदलों को साफ करने, सड़कें बनाने, सिंचाई की व्यवस्था करने आदि के बहुत से कार्य किये गये थे, जिनसे राष्ट्रीय जीवन के उद्धार और कीमतों को ऊपर उठाने में काफी सहायता मिली थी।

दूसरे, केन्द्रीय बैंक साख विस्तार नीति को अपनाती है। इसके लिए बैंक दर को कम किया जाता है, जिससे कि अन्य बैंकों को सस्ते ब्याज पर ऋण मिल सकें। प्रतिभूतियों को जनता से खरीदा जाता है, ताकि जनता के हाथ में अधिक क्रयः शक्ति पहुँच जाय और उधार देने के सम्बन्ध में उदारता अपनाई जाती है।

तीसरे, आयातों को रोका जाता है और निर्यातों को प्रोत्साहित किया जाता है, जिससे कि माल की बिक्री होने के कारण कारखाने फिर से चालू होने लगें और व्यापार तथा यातायात सेवाओं को भी प्रोत्साहन मिले।

चौथे, करों तथा भूमि के लगान में छूट दी जाती है और पिछले ऋणों का भुगतान किया जाता है।

पाँचवे, कभी-कभी कीमतों को ऊपर उठाने के लिए पहिले से उत्पन्न की हुई वस्तुओं को नष्ट कर दिया जाता है।

छटे, उद्योगों का काम चालू रखने के लिए विशेष आर्थिक सहायता दी जाती है, ताकि उनकी हानि पूरी हो सके।

के साथ-साथ चलन की आन्तरिक कीमत भी कम की जाय, यद्यपि कभी-कभी अवमूल्यन तथा मूल्य-ह्रास दोनों एक ही साथ किये जाते हैं।

अवमूल्यन के उद्देश्य कई प्रकार के हो सकते हैं। यदि किसी देश ने भूल अथवा अन्य किसी कारण से देश की मुद्रा की आवश्यकता से अधिक बाह्य कीमत दे रखी है तो उसके फलस्वरूप आयात बढ़ जायेंगे और निर्यातों में कमी हो जायगी। ऐसी दशा में अवमूल्यन द्वारा इस त्रुटि को दूर किया जा सकता है। अधिकतर अवमूल्यन का उद्देश्य शोधनाशेष के असन्तुलन को दूर करना होता है। यदि कोई देश ऐसा अनुभव करता है कि उसका विदेशी व्यापार सम्बन्धी घाटा बराबर बना रहता है और वर्तमान दर पर विदेशी ऋणों, स्वर्ण आयात अथवा अन्य उपायों द्वारा उसे दूर करना सम्भव नहीं है तो वह अवमूल्यन द्वारा देश की विदेशी विनिमय दर को घटा कर इस घाटे को दूर कर सकता है। अवमूल्यन का परिणाम यह होता है कि अवमूल्यन करने वाले देश के माल की कीमतें विदेशों में घट जाती हैं और देश के भीतर विदेशी माल की कीमतें बढ़ जाती हैं। इससे निर्यात प्रोत्साहित होते हैं और आयातों की मात्रा घटती है। इस प्रकार शोधनाशेष का सन्तुलन फिर से स्थापित हो जाता है। कुछ देशों में अवमूल्यन का उपयोग उद्योग-संरक्षण (Protection) के लिए भी किया जाता है। अवमूल्यन का उपयोग विदेशों को दिये हुए ऋणों के भार को कम करने के लिए भी किया जा सकता है, परन्तु ऐसा करने से स्वयं अवमूल्यन करने वाले देश को हानि होती है।

परिणाम के दृष्टिकोण से मुद्रा-ह्रास तथा मुद्रा अवमूल्यन में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है, परन्तु दोनों की कार्य-विधि अलग-अलग होती है। मूल्य-ह्रास में देश की मुद्रा की आन्तरिक कीमत में कमी की जाती है, परन्तु अवमूल्यन में उसकी बाह्य कीमत में। इसमें तो संदेह नहीं है कि मुद्रा की आन्तरिक कीमत को कम कर देने से कुछ समय पश्चात् उसकी बाह्य कीमत भी कम हो जाती है, परन्तु मूल्य-ह्रास का उद्देश्य ऐसा करना नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार अवमूल्यन के कारण मुद्रा की आन्तरिक कीमत भी घट सकती है, क्योंकि इसका परिणाम देश में वस्तुओं की कमी उत्पन्न करना तथा उनकी कीमतों को बढ़ाना होता है, जिससे कि मुद्रा की आन्तरिक कीमत भी कम हो जाय। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक दशा में मुद्रा की आन्तरिक और बाह्य दोनों ही कीमतें एक ही साथ घटती हैं, परन्तु ह्रास तथा अवमूल्यन अलग-अलग रीतियों से इस कार्य को करते हैं।

भारत में मुद्रा अवमूल्यन—

स्मरण रहे कि अवमूल्यन का सदा ही यह अर्थ नहीं होता है कि देश

की मुद्रा की सभी विदेशी मुद्राओं में कीमत घटा दी जाय। ऐसा साधारणतया बहुत ही कम किया जाता है। अक्सर देश की मुद्रा का एक या कुछ विदेशी मुद्राओं में साथ कीमत घटा दी जाती है। अवमूल्यन का एक अच्छा उदाहरण भारतीय रुपये के अवमूल्यन में मिलता है। सितम्बर सन् १९४९ में इङ्गलैंड ने पौंड स्टर्लिङ्ग का अवमूल्यन किया था, जिसके द्वारा डालर में पौंड की कीमत ३०.५% घटा दी गई थी। स्टर्लिंग का अवमूल्यन होते ही स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशों ने अपनी अपनी मुद्राओं का डालर में अवमूल्यन कर दिया। कनाडा ने १०% और भारत, लंका और बर्मा ने ३०.५% के अनुपात में अपनी मुद्रा की कीमतें घटाईं। स्टर्लिङ्ग क्षेत्र में केवल पाकिस्तान ही एक ऐसा देश था, जिसने अवमूल्यन नहीं किया था। आगे चलकर सन् १९५५ में पाकिस्तान ने भी अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया।

अवमूल्यन के पश्चात् भारतीय रुपये की कीमत ३० सेन्ट (Cents) से घटकर २१ सेन्ट रह गई। स्टर्लिंग के अवमूल्यन के पश्चात् भारत सरकार के सामने अकस्मात् ही यह समस्या उठ खड़ी हुई थी कि अब क्या किया जाय? अवमूल्यन न करने से यह भय था कि रुपये और स्टर्लिंग का परम्परागत सम्बन्ध टूट जायगा और स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों से व्यापार में कठिनाई हो जायगी और साथ ही, देश के पौंड पावना शेषों की कीमत भी कम हो जायगी। इसके विपरीत अवमूल्यन करने से मुद्रा-स्फीति के और अधिक फैलने तथा आयातों की पहले से अधिक कीमत चुकाने का भय था, परन्तु सब कुछ सोच समझ कर भारत सरकार ने मुद्रा अवमूल्यन को ही अधिक उचित समझा।

भारत सरकार के निर्णय पर मुख्यतया इस बात का प्रभाव पड़ा कि कई वर्षों से भारत का व्यापाराशेष डालर देशों के साथ प्रतिकूल ही चल रहा था। भारत सरकार ने डालर की बचत करने का भरसक प्रयत्न किया था और सम्पूर्ण अधिकृत मात्रा मुद्रा कोष (I. M .F.) से उधार भी ली थी, परन्तु डालर का घाटा पूरा नहीं हो रहा था। आन्तरिक कीमत-स्तर डालर देशों की तुलना में ऊँचा था, जिसके कारण निर्यातों में भारी कठिनाई होती थी, परन्तु साथ ही साथ, खाद्यान्न, मशीनरी तथा पूँजीगत माल के लिए भारत को डालर देशों से आयातों का लेना आवश्यक था। अवमूल्यन द्वारा भारत सरकार ने डालर देशों को अधिक निर्यात करने की बात सोची थी। बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत सरकार का निर्णय ठीक था। निस्सन्देह ही इसके कारण भारत के शोधनाशेष की गड़बड़ काफी अंश तक दूर हो गई है, यद्यपि

इसने भारत और पाकिस्तान के व्यापार सम्बन्धों में काफी उलझनें पैदा कर दी हैं।

मौद्रिक नीतियाँ (Monetary Policies)—

इसमें तो सन्देह नहीं है कि मुद्रा के आविष्कार ने मानव समाज का काफी कल्याण किया है, परन्तु मुद्रा की कीमतों के उच्चावचनों के फल कभी कभी इतने दोषपूर्ण होते हैं कि मुद्रा के मूल्य पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता पड़ती है। मौद्रिक नीति का अभिप्राय एक ऐसी नीति से होता है, जिसमें मुद्रा की कीमत को आवश्यक रूप में नियन्त्रित रखा जाय। मौद्रिक नीति के तीन अलग-अलग उद्देश्य हो सकते हैं :—(१) कीमत स्थिरता (Price stabilization), (२) मुद्रा की तटस्थता (Neutrality of Money) और (३) साधनों का अधिकतम् उपयोग। इनमें से अन्तिम उद्देश्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि आर्थिक सन्तुलन, पूर्ण वृत्ति, राष्ट्रीय आय को अधिकतम् बनाना आदि सभी इसमें सम्मिलित होते हैं।

कीमतों की स्थिरता—

मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में सबसे लोकप्रिय मत यही है कि इस नीति का उद्देश्य कीमतों की स्थिरता को बनाये रखना होना चाहिये। यदि मुद्रा को मूल्य के मापक के रूप में उपयोग किया जाता है तो यह आवश्यक है कि उसके मूल्य में स्थिरता रहे। इसके अतिरिक्त कीमतों में भारी उथल-पुथल के भंयकर परिणामों से भी संसार परिचित है, परन्तु कीन्ज जैसे महान अर्थशास्त्रियों का मत है और व्यावहारिक जीवन में यह सत्य भी है कि एक धीरे-धीरे ऊपर उठता हुआ कीमत-स्तर वृत्तिहीनता को दूर करने तथा देश में बेकार पड़े हुये साधनों को काम में लगाने के लिए स्थिर कीमत-स्तर की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होता है। कीमतों की स्थिरता की नीति तीन कारणों से अनुपयुक्त होती है :—

(१) पहली कठिनाई यह है कि कौनसी कीमतों में स्थिरता लाई जाय, थोक कीमतों को स्थिर किया जाय, अथवा खेरीज की कीमतों को, अथवा मजदूरियों में स्थिरता लाई जाय ? इसके अतिरिक्त कीमतों के सामान्य परिवर्तनों का देश के आर्थिक जीवन पर इतना बुरा प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि उनके तुलनात्मक परिवर्तनों का, अतः सामान्य कीमतों की स्थिरता के स्थान पर तुलनात्मक कीमतों की स्थिरता अधिक उपयुक्त है, परन्तु यह सम्भव नहीं है।

(२) कीमतों के परिवर्तन आर्थिक जीवन की अस्थिरता के लक्षण होते हैं, उसके कारण नहीं होते। कीमतों की स्थिरता रहते

हुए भी उत्पादन तथा आर्थिक सम्बन्धों में काफी [illegible] हो सकता है। कीमतों की उच्चावचन में बहुत पहले ही आर्थिक जीवन में अस्थिरता आ चुकती है, इसलिये कीमतों की स्थिरता से किसी भी लाभ की आशा नहीं की जा सकती है।

) इस नीति में कीमतों के सभी परिवर्तनों को बुरा समझा जाता है, परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। मुद्रा की मात्रा के परिवर्तन से सम्बन्धित कीमतों के उच्चावचन तो बुरे होते हैं, परन्तु यदि ये उच्चावचन उत्पादन के वास्तविक व्यय से सम्बन्धित हैं तो पूर्ण तथा स्थिर वृद्धि के लिए इनका होना आवश्यक होता है।

इस सम्बन्ध में एक कठिनाई यह भी है कि कीमतों में स्थिरता कैसे लाई जाय ? इसके लिए दो उपाय बताये जाते हैं (प्रथम) मुद्रा की मात्रा को स्थिर रखना और दूसरे, मौद्रिक व्यय की दर को यथास्थिर रखना। प्रथम के सम्बन्ध में यह कठिनाई है कि मुद्रा की मात्रा को समान रखने से कीमतों में स्थिरता नहीं आ सकती। मुद्रा की मात्रा को व्यापार तथा व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुसार बदल देना आवश्यक होता है। दूसरी रीति अधिक उपयुक्त है।

तटस्थ मुद्रा (Neutral Money)—

इस विचारधारा के अर्थशास्त्रियों का विचार है कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य तटस्थ मुद्रा की स्थापना होना चाहिए। इस नीति के अन्तर्गत वस्तुओं की पूर्ति के परिवर्तनों के अनुसार मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन नहीं होने चाहिए। वस्तुओं की मात्रा में कमी और वृद्धि के कारण सामान्य कीमत-स्तर में होने वाले परिवर्तनों को रोकना ठीक नहीं होता है। इस नीति के समर्थकों का विचार है कि आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में सबसे दुःख-दायी परिवर्तन मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों के ही कारण उत्पन्न होते हैं। प्रो० हेयक इसी नीति के समर्थक हैं।

प्रो० हैनसेन (Hansen) ने इस नीति की आलोचना इस आधार पर की है कि एकाधिकार तथा औद्योगिक संघों के वर्तमान युग में यह नीति व्यावहारिक नहीं है। कोई भी केन्द्रीय बैंक एकाधिकार के अन्तर्गत नीची लागत पर उत्पादित वस्तुओं की कीमतें घटाने में सफल नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त मुद्रा की मात्रा को यथास्थिर रख कर तटस्थ मुद्रा का उद्देश्य पूरा नहीं किया जा सकता है। वस्तुओं और मुद्रा की मात्रा के अनुपात को बनाये रखने के लिए मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन आवश्यक होते हैं। विनियोगों की वृद्धि के काल में भी अधिक मुद्रा का

संचार अनिवार्य होता है, इस कारण निर्बाधावादी नीति से काम नहीं चल सकता है । मुद्रा-संचालक के लिए उत्पादन की वृद्धि को ध्यान में रखना आवश्यक होता है ।

कीन्ज का मत—

लार्ड कीन्ज ने राष्ट्रीय आय को अधिकतम् करने के लिये मौद्रिक नीति का उपयोग करने पर जोर दिया है ।* उनका विचार है कि वृत्तिहीनता को दूर करने का सबसे उपयुक्त उपाय यही है कि जब तक पूर्ण वृत्ति की दशायें उत्पन्न न हो जायँ, सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) द्वारा कीमत-स्तर को बराबर ऊपर उठाया जाय । इस मत के पक्ष में कीन्ज ने यह बताया है, कि :—(१) मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के कारण मुद्रा के व्यय में वृद्धि होगी, क्योंकि इसके द्वारा नकद शेषें बढ़ेंगी, बैंकों की साख-निर्माण क्षमता में वृद्धि होगी और ब्याज की दरें नीचे गिरेंगी । (२) मुद्रा की मात्रा के बढ़ने के कारण कीमतें बढ़ेंगी और (३) कीमतों में इस प्रकार होने वाली वृद्धि आय को बढ़ायेगी ।

इस मत के अनुसार जब तक किसी भी अंश तक वृत्तिहीनता शेष रहती है, मौद्रिक विस्तार द्वारा धीरे-धीरे ऊपर उठते हुये कीमत-स्तर को बनाये रखना आवश्यक होता है । व्यावसायिक चक्र के विरुद्ध कीन्ज ने यही उपाय बताया है कि ब्याज की दरों को नीचे रखना ही उपयुक्त होता है, ताकि वैभव (Boom) को एक आभास-स्थाई (Quasi-Permanent) रूप दिया जा सके । उस मौद्रिक नीति को अच्छी नहीं कहा जा सकता है जो देश में मन्दी की दशाएँ बनाये रखने का प्रयत्न करे । अच्छी नीति वही है जो अवसाद को आने ही न दे और आर्थिक जीवन को हल्की तेजी की अवस्था में रखे । इस दृष्टिकोण से मौद्रिक नीति का उद्देश्य कीमतों की स्थिरता बनाये रखने के स्थान पर उन्हें धीरे-धीरे ऊपर उठाना होना चाहिए ।

भारत में मुद्रा-स्फीति—

दूसरे महायुद्ध के काल में तथा युद्धोत्तर काल में भारत में मुद्रा-स्फीति का जोर रहा है, यद्यपि सन् १६४८ से पहले भारतीय राजनीतिज्ञों का ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं हुआ था । भारतीय मुद्रा-स्फीति के सम्बन्ध में एक हास्यरस लेखक ने बहुत ही अच्छा लिखा है । उनका कथन है कि युद्धकाल में सभी काम तेजी के साथ हो रहे थे । सबकी देखा-देखी भारतीय रुपये ने भी तेजी से दौड़ना आरम्भ कर दिया, परन्तु अकस्मात्

* *See* Keynes : *The General Theory of Employment, Interest and Money*, The Chapter on Monetary Policy.

ही १५ अगस्त सन् १९४७ को अंग्रेज लोग भारत से चले गये, हुए। रुपये को इस परिवर्तन का पता न चल सका, क्योंकि अंग्रेज राजा की मुहर उस पर अभी भी मौजूद थी और वह दौड़ता ही रहा। इस काल में भारत निवासी एक दूसरे को मुबारकबाद देने तथा सभी जगहों पर झण्डे लहराने में व्यस्त रहे। फुरसत मिलने पर उन्होंने देखा कि रुपया तेजी से दौड़ रहा था, बस एक दम उन्होंने इसे मुद्रा स्फीति का नाम दे डाला। इस हास्य में कटु सत्य छिपा है। भारत सरकार इतने लम्बे समय तक इस समस्या के प्रति उदासीन रही है कि शायद थोड़ा सा और विलम्ब देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए घातक हो सकता था।

इस सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद रहा है कि भारत में मुद्रा स्फीति का अंश कहाँ तक पहुँच गया था। प्रो० राव का विचार है कि सन् १९४८ के प्रथम छः महीनों में भारत में कीमतों की वृद्धि लगभग १९% थी, जबकि इसी काल में चलन का विस्तार केवल ४·७% ही था। निस्संदेह इससे यही पता चलता है कि मुद्रा प्रसार की तीसरी अवस्था आरम्भ हो गई थी। प्रो० वकील ने भी डा० राव का समर्थन किया है। इसके विपरीत श्री घनश्याम दास बिड़ला का कथन है कि भारत में मुद्रा स्फीति थी ही नहीं। कीमतों की वृद्धि केवल मुद्रा संस्फीति के कारण हुई थी। सत्य इन दोनों मतों के बीच है। देश में मुद्रा स्फीति काफी फैल गई थी, परन्तु अभी तीसरी अवस्था आरम्भ नहीं हुई थी।

भारत में मुद्रा-स्फीति के कारण—

मुद्रा-स्फीति के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) सबसे महत्त्वपूर्ण कारण देश में चलन तथा साख मुद्रा का विस्तार है। सन् १९३९ तथा सन् १९४८ के बीच चलन की मात्रा १७९ करोड़ से बढ़ कर १,३१० करोड़ रुपया हो गई और साख मुद्रा १२६ करोड़ से बढ़कर ४४४ करोड़ रुपया। चलन की इस अत्यधिक वृद्धि का प्रमुख कारण यह था कि युद्ध से सम्बन्धित खर्चों को चलाने के लिए सरकार ने पत्र-मुद्रा छाप कर आय प्राप्त की थी। कीमतों के बढ़ाने का उद्देश्य यह भी था कि वस्तुओं और सेवाओं की कीमत बढ़ा कर उनके नागरिक उपभोग को कम किया जाय। इस प्रकार चलन की मात्रा में वृद्धि होने के कई कारण थे :—प्रथम, इङ्गलैंड की सरकार ने भारतीय बाजार से काफी माल खरीदा था। इसके लिए स्टर्लिङ्ग में भुगतान किया गया था, जो इङ्गलैंड की सरकार को फिर से ऋण के रूप में दे दिया गया था, परन्तु इस प्रकार जिन स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों का निर्माण हुआ था उनको निधि के रूप में रख कर रिजर्व बैंक ने कागज के नोट छाप दिये थे और इङ्गलैंड

द्वारा खरीदी हुई वस्तुओं और सेवाओं की कीमत चुका दी गई थी। दूसरे, भारत ने निर्यातों द्वारा जो डालर प्राप्त किये थे वे साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) में जमा कर दिये जाते थे और ब्रिटिश सरकार उनके बदले में रिजर्व बैंक को स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ देकर कागज के नोट छपवाती रहती थी। इस प्रकार युद्ध के अन्त में भारत का इङ्गलैंड पर लगभग १,६०० करोड़ रुपये ऋण हो गया था। तीसरे, युद्ध-काल तथा उसके पश्चात् वेतनों और मंहगाई के भत्तों में जो वृद्धि हुई थी उसके कारण भी भारत सरकार को मुद्रा-स्फीति द्वारा आय प्राप्त करने पर वाध्य होना पड़ा था। करों की वृद्धि एक निश्चित सीमा तक ही हो सकती थी और सरकार की लोक ऋण नीति असफल रही थी, इसलिए नोट छापने के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा न था।

इसी प्रकार सरकार की हीनार्थ-प्रबन्धन नीति के कारण साख-मुद्रा का विस्तार हुआ। विनियोग और व्यापार की वृद्धि ने भी बैंकों को अधिक साख निर्माण करने के लिये प्रोत्साहित किया। बैंकों को इसके द्वारा लाभ कमाने का अच्छा अवसर मिल गया था।

(२) दूसरी ओर वस्तुओं की सामान्य दुर्लभता ने कीमतों को ऊँचा उठा दिया। इसका एक कारण तो यह था कि आयातों की मात्रा युद्धकालीन कठिनाइयों के कारण बहुत ही सीमित हो गई थी और दूसरे, विभिन्न कारणों से देश में उत्पादन का विस्तार मुद्रा के विस्तार के अनुपात में न हो सका था। खाद्यान्न की कमी ने तो भयंकर रूप धारण कर लिया था। लड़ाई से पहिले भारत को बर्मा, मलाया, स्याम तथा हिन्द-चीन से काफी चावल मिल जाता था, परन्तु जापानी अधिकार के पश्चात् इन देशों से आयात बन्द हो गये। देश के भीतर खाद्यान्न उत्पादन बराबर घट रहा था और भारत सरकार लंका, दक्षिणी अफ्रीका तथा मध्य-पूर्व युद्ध-क्षेत्रों को अनाज भेज रही थी। खाद्यान्न की इस भारी कमी का परिणाम सन् १९४३ के बङ्गाल दुर्भिक्ष के रूप में प्रकट हुआ। युद्ध के उपरान्त पाकिस्तान के निर्माण ने भारत की खाद्य स्थिति और भी खराब कर दी। सिन्ध तथा पश्चिमी पंजाब के अतिरिक्त अन्न उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान के पास चले गये। निर्मित वस्तुओं की कमी का प्रमुख कारण आयातों की कमी थी, परन्तु आवश्यक मशीनों और कच्चे मालों की कमी के कारण भी देश के उत्पादन में समुचित वृद्धि न हो सकी। सन् १९४२-४३ में ही आयात सन् १९३८-३९ का केवल ३७·६% थे। साथ ही, भारतीय उत्पादन का बहुत बड़ा भाग युद्धकालीन उद्देश्यों के लिए खरीद लिया गया। युद्ध के काल में लगभग २,००० करोड़ रुपये का माल इस प्रकार खरीदा गया था।

(३) [illegible] की प्रवृत्ति तथा [illegible] हो गई और वस्तुओं को जमा करने की [illegible] बढ़ गई। बड़े व्यापार[illegible] के [illegible] ने अनावश्यक ही कीमतों को बढ़ाना आरम्भ कर दिया। दुर्भाग्य के कारण अनेक दुकानदारों और [illegible] ने [illegible] लाभ कमाने के लिए माल जमा करना [illegible] नहीं समझा, बल्कि यह प्रवृत्ति सर्वव्यापी हो गई। पूर्ति के अनिश्चित रहने के कारण सभी ने [illegible] करना शुरू कर दिया था।

(४) यातायात सम्बन्धी [illegible] तथा वस्तुओं के [illegible] वितरण ने भारी भय की स्थिति उत्पन्न कर दी। [illegible] सामानों के यातायात ने रेलों को व्यस्त रखा। इसके अतिरिक्त पेट्रोल आदि की कमी के कारण अन्य यातायात सेवाओं से पूरा पूरा लाभ न मिल सका। स्थानीय [illegible] बराबर बनी रही, जिसके कारण आसंचन (Hoarding) तथा [illegible] को रोकना कठिन हो गया।

(५) सरकार की कीमत नियन्त्रण [illegible] की नीति एक बड़े अंश तक असफल [illegible]। शासन की [illegible] तथा भ्रष्टाचार के कारण चोरबाजारी को प्रोत्साहन मिला। राशन व्यवस्था कुछ थोड़े से शहरों तथा कुछ थोड़ी सी वस्तुओं पर ही लागू की गई थी, जिसके कारण कीमतों की वृद्धि रुक न सकी। वैसे भी अधिकांश दशाओं में राशन की मात्रा इतनी कम रखी गई थी कि लोगों को चोर बाजार से माल खरीदने पर बाध्य होना पड़ा था।

(६) युद्धोत्तर-काल में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की हीनार्थ प्रबन्धन नीति तथा विकास योजनाओं के संचालन ने कीमतों को नहीं गिरने दिया। इसके अतिरिक्त सन् १९४७ के उपद्रव तथा शरणार्थी समस्या ने सरकार को व्यस्त रखा। सितम्बर सन् १९४९ में भारत सरकार ने रुपये का अवमूल्यन कर दिया, जिसके कारण मुद्रा स्फीति को एक बार फिर बल प्राप्त हो गया।

भारत सरकार के मुद्रा-स्फीति विरोधी उपाय—

सन् १९४२ में ही भारत सरकार ने कीमत नियन्त्रण तथा राशनिंग द्वारा स्फीति का सामना किया था। इसके अतिरिक्त कुछ वस्तुओं की कीमतों में सट्टा बन्द कर दिया गया, करों में वृद्धि की गई और सरकार ने जनता से ऋण लिये। साथ ही, रक्षा बचत योजना लागू की गई और लोगों को बचत करने के लिए उत्साहित किया गया। कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' आरम्भ किया गया, परन्तु ये सब उपाय बहुत सफल सिद्ध न हो सके। देश की आजादी के

पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने अपनी मुद्रा-स्फीति विरोधी नीति की घोषणा की। इस नीति के दो प्रमुख आधार थे:—प्रथम, म[illegible]त्रा को कम करना और दूसरे, उत्पादन को बढ़ाना। मुद्रा की मात्रा को कम करने के लिए निम्न उपाय किये गये:—

(१) करों में वृद्धि करना—राज्य सरकारों को ५०० रुपया प्रति वर्ष से ऊपर की आय पर कृषि आय कर लगाने का अधिकार दिया गया।
(२) ऊँची ब्याज देकर जनता से अधिक ऋण प्राप्त करना।
(३) चलन के विस्तार को बन्द कर देना।
(४) हीनार्थ-प्रबन्धन की नीति का परित्याग कर देना।
(५) शासन के व्यय को कम करके तथा विकास योजनाओं के कार्य-वाहन को धीमा करके सरकारी व्यय में कमी करना।
(६) कम्पनियों के लाभाँश पर ६% की सीमा लगाना।
(७) तीन वर्ष के लिए जमींदारों को मुआवजे तथा दूसरे शोधनों को रोक देना।

उत्पत्ति को बढ़ाने के लिए सरकार ने निम्न प्रयत्न किये:—

(१) बीजों, खादों, तथा सिंचाई की सुविधा बढ़ाकर 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' को अधिक सफल बनाने का प्रयत्न किया गया।
(२) कृषि की सीमा का विस्तार करके कपास, पटसन तथा गन्ने का उत्पादन बढ़ाया गया।
(३) पहले तीन वर्ष के लिये नये उद्योगों को आय-कर से छूट दी गई।
(४) निजी विनियोगों को अधिक प्रोत्साहन देने के लिये उद्योगों का राष्ट्रीयकरण १० वर्ष के लिये स्थगित कर दिया गया।
(५) खाद्यान्न तथा निर्मित वस्तुओं के आयात बढ़ाये गये।
(६) अपव्यय को दूर करने के नियम बनाये गये और खाद्य पदार्थों के सुरक्षित संचय की सुविधाएँ प्रदान की गईं।
(७) सरकारी सहायता द्वारा उद्योगों की स्थापना की गई।
(८) मूल्य-नियन्त्रण तथा राशनिंग सम्बन्धी नियमों को कड़ा किया गया और उनका पालन कराने पर अधिक जोर दिया गया।

आरम्भ में तो सरकारी नीति को अधिक सफलता नहीं मिली थी, परन्तु धीरे-धीरे कीमतों की वृद्धि की गति शिथिल होती गई। सन् १९५१ में भारत सरकार ने देश में प्रथम पंच-वर्षीय योजना लागू की। अन्तर्राष्ट्रीय

नहीं जाती हैं। इस प्रकार एक बार फिर मुद्रा-प्रसार का राक्षस हमारे सामने उपस्थित है।

दूसरी योजना के निर्माण के समय कीमतों की वृद्धि की सम्भावना पर विचार न किया गया हो, ऐसी बात नहीं है। 'सरकार का विचार था कि खाद्यान्न तथा सूती कपड़े का उत्पादन बढ़ाकर इन दोनों की कीमतें यथास्थिर रखी जायेंगी और इस प्रकार यदि मुद्रा-प्रसार होता भी है तो उसका जन-साधारण पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ेगा। वास्तविकता यह है कि हमारा खाद्यान्न उत्पादन कार्यक्रम असफल रहा है और कपड़ा और अनाज दोनों की कीमतें बढ़ी हैं। परिणाम यह हुआ है कि बढ़ती हुई कीमतें दुखदायी हो गई हैं। अभी तक भी करारोपण तथा लोक ऋण के काफी विस्तार के बावजूद भी सरकार स्थिति पर काबू नहीं पा सकी है।

मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों का अध्ययन करने के पश्चात् अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कीमत-स्तर के उच्चावचनों को किस प्रकार नापा जाता है। यह काम निर्देशांकों अथवा सूचक अंकों की सहायता से किया जाता है, इसलिए प्रस्तुत अध्याय में निर्देशांकों का ही अध्ययन किया जायगा। स्मरण रहे कि मुद्रा की क्रयः शक्ति के परिवर्तनों को नापना कई दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण होता है। एक पिछले अध्याय में हम यह देख ही चुके हैं कि इन परिवर्तनों का देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। किसी वर्ग को लाभ होता है और किसी को हानि। इसके अतिरिक्त विभिन्न आर्थिक घटनाओं के बीच समायोजन भी इन्हीं परिवर्तनों के द्वारा होते हैं। मूल्य-यन्त्र (Price Mechanism) को पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की संचालक शक्ति कहा जाता है। किस वस्तु का

उत्पादन होगा और कितनी मात्रा में, कौन कौन से उत्पत्ति के साधनों को रोजगार मिलेगा और किस अंश तक, देश के भीतरी और बाहरी व्यापार का क्या रूप होगा, देश का आर्थिक विकास किस सीमा तक होगा और किन-किन दिशाओं में और देश में आय अथवा क्रय: शक्ति के वितरण का क्या रूप होगा, ये सभी बातें कीमत स्तर और उसके परिवर्तनों पर निर्भर होती हैं। यही नहीं, समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध, उनके बीच का सहयोग और उनके पारितोषण की मात्रा भी इन्हीं परिवर्तनों द्वारा निर्धारित होती है। कोई भी ऐसी विधि जिसके द्वारा इन परिवर्तनों को निश्चित रूप में नापा जा सके, अर्थशास्त्र में काफी महत्त्वपूर्ण होगी।

निर्देशांक क्या होते हैं?—

जिन वस्तुओं और सेवाओं पर मुद्रा का व्यय किया जाता है उनकी कीमतों के औसत को हम कीमत-स्तर कहते हैं और कीमत-स्तर की एक सूची (Series) को निर्देशांक अथवा सूचक-अंक कहा जाता है। इस प्रकार निर्देशांक कीमत-स्तर के अंकों की एक सूची होती है, जिसे एक तालिका के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि मुद्रा के मूल्य के उच्चावचनों को सूचित करने के उद्देश्य से वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य कीमत के परिवर्तनों को दिखाया जा सके। यदि एक निश्चित समय की तुलना में निर्देशांक ऊँचा है तो इसका अर्थ है कि सामान्य कीमतें ऊँची उठ गई हैं और मुद्रा का मूल्य कम हो गया है। इसके विपरीत जब सामान्य कीमत-स्तर का निर्देशांक गिरता है तो मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है, अतएव जब निर्देशांक वृद्धि दिखाते हैं तो मुद्रा का मूल्य गिरता है और जब निर्देशांक पतन दिखाते हैं तो मुद्रा का मूल्य ऊपर उठता है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में एक ही साथ एक ही दिशा में परिवर्तन नहीं होते हैं। एक ही काल में कुछ वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ती हैं और कुछ की नीचे गिरती हैं तथा इसके साथ ही विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में परिवर्तन का अंश भी अलग-अलग होता है, परन्तु कीमतों के इन सभी परिवर्तन की एक सामान्य दिशा भी होती है। विविधता के साथ-साथ उनमें एक अंश तक अनुरूपता भी रहती है। व्यक्तिगत कीमतों के परिवर्तन प्रतिविरोधी हो सकते हैं, परन्तु उनके बीच की एक सामान्य प्रवृत्ति का पता लगा लेना सम्भव होता है। निर्देशांक का उद्देश्य इसी प्रकार की केन्द्रीय प्रवृत्ति की ओर संकेत करना होता है। दूसरे शब्दों में, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि निर्देशांकों का व्यक्तिगत

कीमतों से कोई प्रत्यक्ष अथवा निकट सम्बन्ध नहीं होता है। उनका सम्बन्ध तो केवल कीमतों की सामान्य प्रवृत्ति से होता है, यद्यपि यह सत्य है कि स्वयं सामान्य प्रवृत्ति भी कीमतों के व्यक्तिगत परिवर्तनों पर ही निर्भर होती है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। निर्देशांक कीमतों के परिवर्तन के तुलनात्मक रूप को ही दिखाते हैं। उनका उद्देश्य दो विभिन्न कालों के बीच होने वाले सामान्य कीमत के तुलनात्मक परिवर्तनों को सूचित करना होता है। वे मुद्रा के मूल्य के निरपेक्ष (Absolute) मापक नहीं हैं। यह कहने का लगभग कुछ भी अर्थ नहीं होता है कि निर्देशांक ७५ अथवा ३५७ है। इसका कुछ अर्थ तभी हो सकता है जबकि यह बता दिया जाय कि किस वर्ष, मास, सप्ताह अथवा दिवस की तुलना में वह इतना है। निर्देशांक केवल दो विभिन्न कालों के कीमत-स्तरों की तुलना करने में हमें सहायता देते हैं।

ऊपर की सारी विवेचना में हमने यह मान लिया है कि निर्देशांक केवल मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को नापने के लिए ही काम में लाए जाते हैं, परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। प्रत्येक प्रकार के आर्थिक परिवर्तन निर्देशांक द्वारा सूचित किये जा सकते हैं। निर्देशांक तो आर्थिक घटनाओं के तुलनात्मक परिवर्तनों को नापने की विधि हैं। ये आर्थिक घटनायें कुछ भी हो सकती हैं।

सामान्य कीमतों के निर्देशांकों की निर्माण विधि—

सामान्य कीमतों के निर्देशांक औसत कीमतों पर आधारित होते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इन निर्देशांकों के बनाने में देश में उपलब्ध सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों का औसत निकालना चाहिए, परन्तु व्यवहार में ऐसा करना कठिन होता है, इसलिए कुछ वस्तुओं और सेवाओं को प्रतिनिधि के रूप में चुन लिया जाता है और उन्हीं की औसत कीमत को देश की सभी वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य औसत कीमत के रूप में ग्रहण कर लिया जाता है। स्मरण रहे कि निर्देशांकों का बनाना यथार्थ में सांख्यिकी (Statistics) की एक समस्या है और सांख्यिकी की सहायता से सही-सही परिणाम निकालना विशेषज्ञों का काम होता है। ऐसा कहा जाता है कि अङ्क विज्ञान की सहायता से इच्छानुसार कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है। यही कारण है कि निर्देशांकों के बनाने तथा उनका उपयोग करने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। निम्न सावधानियाँ महत्त्वपूर्ण हैं:—

(१) **आधार वर्ष का चुनाव**—निर्देशांक साधारणतया वार्षिक आधार पर बनाये जाते हैं, परन्तु सभी वर्षों की प्रचलित औसत कीमतों की तुलना

किसी एक निश्चित वर्ष की कीमतों से की जाती है। ऐसे वर्ष को आधार वर्ष (Base Year) कहा जाता है। निर्देशांक बनाने में पहले आधार वर्ष का सावधानीपूर्वक चुनना बड़ा आवश्यक होता है। सबसे बड़ी आवश्यकता यह होती है, कि किसी ऐसे वर्ष को आधार वर्ष के रूप में चुना जाय जो कि सभी दृष्टिकोणों से एक साधारण वर्ष (Normal Year) हो। दूसरे शब्दों में, किसी ऐसे वर्ष को आधार बनाना उपयुक्त होता है जिसमें कीमतें न तो बहुत ऊँची रही हों और न बहुत ही नीची। एक छोटे से उदाहरण द्वारा [illegible] स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि हम यह जानना चाहते हैं कि एक कक्षा में विद्यार्थियों का सामान्य बुद्धि-स्तर कैसा है। अब यदि हम प्रत्येक विद्यार्थी की बुद्धिमानी की तुलना एक विलक्षण बुद्धि वाले विद्यार्थी से करते हैं तो हमें ऐसा लगेगा कि कक्षा बड़ी ही बुद्धिहीन है। इसी प्रकार यदि किसी ऐसे विद्यार्थी को आधार के रूप में उपयोग किया जाता है, जो मूर्ख है तो तुलना करने पर यही पता चलेगा कि कक्षा का बुद्धि-स्तर बहुत ही ऊँचा है। कक्षा की सही योग्यता का पता लगाना दोनों ही दशाओं में कठिन होगा। सही अनुमान लगाने के लिये हमें एक औसत बुद्धि के बुद्धिमान विद्यार्थी को आधार स्वरूप मानना पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार कीमतों के सूचक-अङ्क बनाने के लिये एक असाधारण आर्थिक परिस्थितियों वाला वर्ष उपयुक्त नहीं हो सकता है। संसार के लगभग सभी देशों में सन् १६३६ को आधार के रूप में उपयोग किया गया है, क्योंकि उसकी सहायता से युद्ध तथा युद्धोत्तर-कालीन कीमतों के परिवर्तनों का एक लाभदायक अनुमान लगाया जा सकता है।

(२) **वस्तुओं और सेवाओं का निर्वाचन**—आधार वर्ष को निश्चित करने के पश्चात् उन वस्तुओं और सेवाओं के निर्वाचन की समस्या उठती है, जिनकी कीमतों का औसत निकालना है। सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों का औसत निकालना न तो सम्भव ही है और न आवश्यक ही, परन्तु वस्तुओं और सेवाओं को इस प्रकार सावधानीपूर्वक चुन लेना आवश्यक होता है कि वे देश की सभी वस्तुओं और सेवाओं की सामान्य प्रकृति को दिखा सकें। यह अति आवश्यक है कि वस्तुओं और सेवाओं का निर्वाचित समूह समस्त वस्तुओं और सेवाओं का प्रतिनिधित्व करे। साथ ही, यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि निर्वाचित वस्तुओं और सेवाओं की संख्या बहुत कम न हो।

(३) **कीमतों का निर्वाचन**—वस्तुओं और सेवाओं को चुन लेने के पश्चात् कीमतों का चुनना आवश्यक है। निर्देशांकों के उद्देश्य के अनुसार इस प्रकार चुनी हुई कीमतें अलग-अलग प्रकार की होनी चाहिये। कीमतें थोक भी हो सकती हैं और फुटकर भी। मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को

दिखाने के लिए थोक कीमतें अधिक सही अनुमान दे सकती हैं और उनका एकत्रित करना भी सुविधाजनक होता है, परन्तु जीवन निर्वाह व्यय के सूचक अंक बनाने के लिए फुटकर कीमतों का चुनना अधिक उपयुक्त होता है। इस निर्णय के पश्चात् कि कौन सी कीमतें एकत्रित की जायँगी, यह निश्चित करना होता है कि दैनिक, साप्ताहिक, मासिक अथवा अन्य किसी समय से सम्बन्धित कीमतों को लिया जायगा। इस निर्वाचन के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता है। यह निर्देशांक के उद्देश्य, निर्माणकर्त्ता की सुविधा तथा कीमतों की उपलब्धता पर निर्भर होता है।

(४) औसत का निर्धारण—यह भी एक महत्त्वपूर्ण निर्णय होता है, क्योंकि औसत अनेक प्रकार के होते हैं और प्रत्येक से एक सा ही फल प्राप्त नहीं होता है। अधिक उपयोग गणित या समानान्तर औसत (Arithmetic Average) का किया जाता है, परन्तु यदि विभिन्न मदों के अन्तर बहुत ही विशाल होते हैं तो गुणोत्तर औसत (Geometrical Average) अधिक विश्वासजनक फल देता है। इस प्रकार विभिन्न दशाओं में अलग-अलग औसत महत्त्वपूर्ण होते हैं।

इन सब सावधानियों के पश्चात् सूचक अंकों का बनाना सरल होता है। चुनी हुई वस्तुओं की कीमतें आधार वर्ष के नीचे क्रमशः रख दी जाती हैं और आधार वर्ष की प्रत्येक कीमत को १०० के बराबर मान लिया जाता है। जिस वर्ष का निर्देशांक निकालना है उसके नीचे भी चुनी हुई सभी वस्तुओं की कीमतें उसी क्रम में रख दी जाती हैं और आधार वर्ष की कीमत को १०० मान कर वर्ष विशेष की कीमत का सम्बन्धित मूल्य निकाला जाता है। यह मूल्य कीमत-सम्बन्धी (Price-relative) कहलाता है। इस प्रकार सभी कीमत-सम्बन्धियों द्वारा यह पता चल जाता है कि आधार वर्ष की तुलना में वर्ष विशेष की कीमत में कितने प्रतिशत का परिवर्तन हुआ है। अन्त में कीमत सम्बन्धियों को जोड़ कर मदों अथवा वस्तुओं की संख्या से भाग दे देते हैं और इस प्रकार आवश्यक निर्देशांक निकल आता है। नीचे की तालिका में इस क्रम को दिखाया गया है :—

वस्तुएँ	१९३९	मूल्य सम्बन्धी	१९५३	मूल्य सम्बन्धी
चावल (प्रति मन)	६ रुपया	१००	१८ रुपया	३००
गेहूँ (,,)	५ ,,	१००	२० ,,	४००
दाल (,,)	८ ,,	१००	१६ ,,	२००
कपड़ा (प्रति गज)	६ आना	१००	१ रुपया २ आना	३००
कोयला (प्रति मन)	८ ,,	१००	२ रुपया	४००
दूध (प्रति सेर)	३ ,,	१००	९ आना	३००
		६|६००		६|१९००
		१००		३१६·६

उपरोक्त तालिका में सन् १९३९ के आधार पर सन् १९५२ का निर्देशांक ३१६·६ है। सन् १९३९ की तुलना में सन् १९५२ में २१६·६% की वृद्धि हो गई है। स्मरण रहे कि सूचक अंक कीमतों के केवल औसत परिवर्तन को ही दिखाता है। निर्वाचित वस्तुओं में से किसी भी कीमत में इतना परिवर्तन नहीं हुआ है। उपरोक्त उदाहरण में हमने केवल ६ वस्तुओं को चुना है, परन्तु एक सन्तोषजनक निर्देशांक में बहुत सी वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित करना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त हमें इस बात का पता लगा लेना चाहिये कि दोनों वर्षों में एक वस्तु की (जिसके गुण अथवा परिमाण में अन्तर न हो) एक सी ही कीमतों को लिया गया है।

तालिका नं० १ में निकाला गया निर्देशांक साधारण औसत द्वारा तैयार किया गया है। इस प्रकार के निर्देशांक को साधारण निर्देशांक (Simple Index Number) कहते हैं। इसका सबसे बड़ा दोष यह होता है कि सम्मिलित की हुई प्रत्येक वस्तु को समान ही महत्त्व दिया जाता है, परन्तु वास्तविकता यह है कि समाज पर किसी आवश्यक वस्तु, जैसे—गेहूँ अथवा चावल की कीमतों के थोड़े से भी परिवर्तन का दूध, सिगरेट आदि कम आवश्यक वस्तुओं की कीमत के अत्यधिक परिवर्तन की अपेक्षा बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इस कारण निर्देशांक द्वारा दिखाया गया कीमत परि-वर्तन समाज के लिये स्थिति का सही अनुमान प्रस्तुत नहीं करता है। इस कठिनाई को इस प्रकार दूर किया जा सकता है कि निर्देशांक बनाते समय प्रत्येक कीमत परिवर्तन को आवश्यक भार (Weight) दे दिया जाय। ये भार वस्तु विशेष के तुलनात्मक महत्त्व पर निर्भर होंगे। पारिवारिक बजटों के अध्ययन द्वारा समुचित भारों का सरलता से पता लगाया जा सकता है। कीमत सम्बन्धियों को इन भारों से गुणा किया जाता है और औसत कीमत-स्तर को निकालने के लिए योग को भारों की कुल संख्या से भाग दे दिया जाता है। मान लीजिये कि तालिका नं० १ में चावल, गेहूँ, दाल, कपड़ा, कोयला तथा दूध को क्रमशः १२, १०, ५, ८, ४ और ३ भार दिये गये है तो इस दशा में सभार निर्देशांक (Weighted Index Number) का निर्माण निम्न प्रकार होगा :—

तालिका २

वस्तुएँ	मूल्य सम्बन्धी		भार	व्यय सम्बन्धी	
	१६३६	३००		१६३६	१६५३
चावल	१००	३००	१२	१,२००	३,६००
गेहूँ	१००	४००	१०	१,०००	४,०००
दाल	१००	२००	५	५००	१,०००
कपड़ा	१००	३००	८	८००	२,४००
कोयला	१००	४००	४	४००	१,६००
दूध	१००	३००	३	३००	६००
योग	६००	१,६००	४२	४,२००	१३,५००
औसत	१००	३१६·६		१००	३२१·४

परिवर्तन + २२१·४

इस दशा में सभार निर्देशांक ३२१·४ है और कीमत में २२१·४% की वृद्धि हुई है। यह स्पष्ट है कि साधारण तथा सभार निर्देशांक तथा उनके द्वारा सूचित कीमत-परिवर्तनों में काफी अन्तर है।

ऊपर की दोनों तालिकाओं में निर्देशांक बनाने के लिए हमने समानान्तर औसत (Arithmetic Average) का ही उपयोग किया है। सरलता के कारण यही औसत अधिक लोकप्रिय है, परन्तु इस प्रकार के निर्देशांक पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं होते हैं, यद्यपि भारों का उपयोग करके उनकी उपयोगिता काफी बढ़ाई जा सकती है। यह औसत कीमतों की वृद्धि अथवा उनके पतन को वास्तविक से अधिक दिखाने की प्रवृत्ति रखता है। इस दोष को दूर करने के लिए गुणोत्तर अथवा ज्योमैतिक औसत (Geometric Average) का उपयोग किया जाता है, परन्तु इस औसत में भी यह दोष बताया जाता है कि यह परिवर्तनों के अंश को वास्तविकता से भी कम दिखाता है। विभिन्न सांख्यिकी विशेषज्ञों ने अलग-अलग प्रकार के औसतों के उपयोग की सलाह दी है, परन्तु वास्तविकता यह है कि यद्यपि प्रत्येक औसत कुछ दृष्टिकोणों से सही फल प्रदान करता है, परन्तु कुछ दिशाओं में यह दोषपूर्ण अवश्य रहता है।

निर्देशांकों के प्रकार (Types of Index Numbers)—

(१) **मुद्रा की क्रयः शक्ति निर्देशांक**—यह तो हम देख ही चुके हैं कि अधिकाँश निर्देशांकों का उद्देश्य मुद्रा के मूल्य के तुलनात्मक परिवर्तनों को दिखाना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये इनके बनाने में उन सभी मदों को सम्मिलित करना चाहिए जिनका अन्तिम दशा में उपभोग किया

जाता है और फिर इन मदों को प्रत्येक पर व्यय की गई आय के अनुपात में भार दिये जाने चाहिए। कठिनाई यह है कि उपभोग की सभी वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित कर लेना व्यावहारिक जीवन में सम्भव नहीं होता है, अतः भारी संख्या में प्रतिनिधि स्वरूप वस्तुओं और सेवाओं को सम्मिलित करके ही सन्तोष कर लिया जाता है। ऐसे निर्देशांक को उपभोग निर्देशांक (Consumption Index Number) अथवा जीवन निर्वाह व्यय निर्देशांक (Cost of Living Index Number) कहा जाता है। ऐसे सभी निर्देशांकों में यह दोष रहता है कि व्यक्तिगत सेवाओं पर किये गये व्यय को कम महत्त्व दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि निर्देशांकों द्वारा मुद्रा की क्रयः शक्ति का निश्चित अनुमान ठीक-ठीक नहीं लगाया जा सकता है।

(२) आय निर्देशांक (Earning Index Number)—जबकि उपभोग निर्देशांक वस्तुओं और सेवाओं के सम्बन्ध में मुद्रा की क्रयः शक्ति को नापने का प्रयत्न करता है, आय निर्देशांक मुद्रा की क्रयः शक्ति को मानव प्रयत्न की इकाइयों में नापता है। यद्यपि इस दशा में किया हुआ प्रयत्न लाभदायक होता है, परन्तु कठिनाई यह है कि विभिन्न प्रकार के मानव प्रयत्नों की तुलना करने के लिए कोई सामूहिक माप की इकाई नहीं होती है। कुछ अंश तक तो दक्षता तथा चतुराई के अनुसार भार निश्चित करना सम्भव हो सकता है, परन्तु यह विधि बहुत दूर तक नहीं ले जाई जा सकती है।

(३) श्रमिक वर्ग जीवन व्यय निर्देशांक (Working Class Cost of Living Index Numbers)—ये निर्देशांक उन प्रमुख वस्तुओं की खेरीज कीमतों पर आधारित होते हैं जो श्रमिकों के उपभोग में साधारणतया सम्मिलित होती हैं। इस प्रकार के निर्देशांकों में उपभोग निर्देशांकों से यह भेद होता है कि इनमें सेवाओं की कीमतों को सम्मिलित नहीं किया जाता है। इन निर्देशांकों के निर्माण में उपभोग की विभिन्न मदों को समुचित भार अथवा प्रभाव देना आवश्यक होता है। भारों की मात्राएँ किसी विशेषज्ञ मण्डल द्वारा सावधानीपूर्वक निश्चित की जाती हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश श्रम मन्त्रालय ने सरकारी निर्देशांकों में इस प्रकार भार निश्चित किये हैं:—भोजन ६०, किराया और भाड़ा १६, वस्त्र १२, ईंधन और रोशनी ८ और विविध ४। इन निर्देशांकों को मजदूरियों के निश्चित करने तथा उनमें परिवर्तन करने के लिए उपयोग किया जाता है। मजदूरियों में जीवन निर्वाह व्यय निर्देशांकों के अनुपात में ही परिवर्तन किये जाते हैं।

(४) थोक कीमतों के निर्देशांक (The Wholesale Price Index Numbers)—इस प्रकार के निर्देशांक आधारभूत वस्तुओं की थोक कीमतों पर आधारित होते हैं साधारणतया इस सम्बन्ध में केवल कच्चे मालों की कीमतों को ही सम्मिलित किया जाता है। वस्तुओं को या तो खाद्य सामग्री तथा अन्य वस्तुओं में विभाजित किया जाता है, अथवा कृपक और अकृपक वस्तुओं में। पुराने जमाने में इन निर्देशांकों में भारों के इस्तेमाल करने का रिवाज या तो था ही नहीं, या भारों का निर्धारण अवैज्ञानिक रीति से नहीं किया जाता था, परन्तु अब थोक कीमतों को राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में विभिन्न वस्तुओं के तुलनात्मक महत्त्व के आधार पर भार दिया जाता है। अमेरिकन श्रम विभाग द्वारा थोक कीमतों का जो निर्देशांक तैयार किया जाता है वह एक प्रकार आदर्श स्वरूप होता है। यह ५५० वस्तुओं की कीमतों पर आधारित होता है और उसमें भारों को वैज्ञानिक रीति से निश्चित किया जाता है।

मुद्रा की क्रयः शक्ति के परिवर्तनों को नापने के लिए बहुधा थोक कीमतों के निर्देशांकों का ही उपयोग किया जाता है, परन्तु इस दृष्टिकोण से इन निर्देशांकों में कुछ गम्भीर दोष होते हैं। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं:—

(१) इन निर्देशांकों में अनिर्मित वस्तुओं की कीमतों को सम्मिलित किया जाता है, परन्तु अनिर्मित वस्तुओं का आर्थिक जीवन में जो महत्त्व होता है वह उनकी निर्मित अवस्था से बिल्कुल भिन्न हो सकता है।

(२) थोक कीमतों के निर्देशांकों में व्यक्तिगत सेवाओं तथा बिक्री व्यय को सम्मिलित नहीं किया जाता है, यद्यपि उपभोक्ता के व्यय का काफी बड़ा भाग इन मदों पर खर्च होता है।

(३) ऐसे निर्देशांकों में परिवर्तनों का अंश काफी रहता है, क्योंकि उपभोग निर्देशांकों की तुलना में इनकी मदें अधिक विशिष्ट होती हैं।

उपरोक्त सभी कारणों से थोक कीमतों के निर्देशांक मुद्रा की क्रयः शक्ति के परिवर्तनों के पूर्णतया विश्वासजनक सूचक नहीं होते हैं।

निर्देशांकों के निर्माण में कठिनाइयाँ—

निर्देशांकों के निर्माण में कुछ भारी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। इन कठिनाइयों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं:—सैद्धान्तिक कठिनाइयाँ तथा व्यावहारिक कठिनाइयाँ। सैद्धान्तिक कठिनाइयाँ कई प्रकार की होती हैं:—प्रथम, भारों के निर्धारण में तथा औसतों के चुनने में भारी सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। कितना भी प्रयत्न क्यों न

किया जाय, प्रत्येक दशा में भार तथा औसत का चुनाव अनुमानात्मक ही रहता है। ऐसा देखने में आता है कि भारों तथा औसतों के परिवर्तनों के कारण एकसी ही कीमतों से अलग-अलग सूचक अंक प्राप्त होते हैं। दूसरे, वस्तुओं की मात्राओं के निर्वाचन में भी कठिनाई होती है। यदि आधार वर्ष में निश्चित की गई मात्राओं का ही उपयोग किया जाता है तो फल ठीक ही निकलते हैं, परन्तु यदि किसी निश्चित वर्ष की मात्राओं के आधार पर भूतकालीन वर्ष के लिए निर्देशांक बनाये जाते हैं तो दूसरा ही फल प्राप्त होता है। तीसरे, निर्देशांकों के बनाने में वस्तुओं और सेवाओं के एक पूर्व निश्चित समूह को लिया जाता है, परन्तु रुचियों के परिवर्तन के कारण उपयोग की वस्तुओं तथा उनका महत्त्व बदलता रहता है। कितनी ही पुरानी वस्तुएँ समाप्त हो जाती हैं और पूर्णतया नई वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो आर्थिक जीवन में महान महत्त्व प्राप्त कर सकती हैं। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मार्शल ने शृंखलाकारी निर्देशांक (Chain Index) के उपयोग का सुझाव दिया है। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष की कीमतों की उससे अगले वर्ष की कीमतों से तुलना की जाती है। इस दृष्टिकोण से ऐसी वस्तुओं की कीमतों को सम्मिलित नहीं किया जाता है जो दोनों वर्षों के उपभोग में सम्मिलित नहीं होती हैं। उपभोग के परिवर्तनों के अनुसार प्रति वर्ष भारों की मात्राओं में भी आवश्यक परिवर्तन किये जा सकते हैं। किसी दिए हुए वर्ष की कीमतें उससे पिछले वर्ष की कीमतों से सम्बन्धित की जा सकती हैं। उपभोग सम्बन्धी परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए निर्देशांक बनाने की सबसे उपयुक्त विधि यही हो सकती है, परन्तु यह प्रणाली भी दोषरहित नहीं है। यह प्रणाली इस मान्यता पर आधारित है कि खरीदारी के वार्षिक परिवर्तन लगभग अर्थहीन होते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि कालान्तर में उन परिवर्तनों का सामूहिक परिणाम काफी महत्त्वपूर्ण होता है।

व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी अनेक हैं। आधार वर्ष का चुनाव ही कठिन होता है, क्योंकि सामान्य आर्थिक परिस्थितियों के अतिरिक्त इस वर्ष में विभिन्न वस्तुओं की कीमतों के बीच सामान्य सम्बन्ध भी होना चाहिए। दूसरे, हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन वस्तुओं की कीमतों की तुलना की जा रही है वे सभी प्रकार समान हों। वस्तु का नाम ही काफी नहीं होता है। एक ही नाम की वस्तुओं में विभिन्न कालों में भारी भिन्नता हो सकती है और वस्तुओं में गुणात्मक परिवर्तन तो बराबर होते ही रहते हैं। ठीक इसी प्रकार कीमतों का निर्वाचन भी कठिनाइयों से

निदेशांकों के उपयोग अथवा लाभ—

निर्देशांकों को आर्थिक जगत का दबाव नापने का यन्त्र (Economic Barometer) कहा जाता है। इनकी सहायता से सभी आर्थिक घटनाओं के जोर को नापा जा सकता है। इनके लाभ निम्न प्रकार हैं:—

(१) इनके द्वारा हम मुद्रा की क्रयः शक्ति के घटने-बढ़ने का एक सामान्य परन्तु व्यावहारिक अनुमान लगा सकते हैं, जिसकी सहायता से देश के जीवन-स्तर का पता लगाया जा सकता है और उसकी उन्नति के उपाय सोचे जा सकते हैं।

(२) जीवन निर्वाह व्यय सम्बन्धी निर्देशाँकों की सहायता से यह पता लगाया जा सकता है कि देश में वास्तविक मजदूरी घट रही है अथवा बढ़ रही है और किस अनुपात में। इसके द्वारा मजदूरों के असन्तोष को दूर किया जा सकता है, औद्योगिक शान्ति स्थापित की जा सकती है और श्रमिक की कार्य-कुशलता बढ़ाई जा सकती है, क्योंकि आवश्यकता के अनुसार मजदूरी और जीवन निर्वाह व्यय के बीच समायोजन किया जा सकता है।

(३) उत्पादन सम्बन्धी निर्देशांक यह बता देते हैं कि कौन से उद्योग उन्नति कर रहे हैं और कौन-कौन से उद्योगों को प्रोत्साहन अथवा आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता है।

(४) मौद्रिक नीति को सफल बनाने में भी इनसे भारी सहायता मिलती है।

(५) स्थगित शोधनों अथवा दीर्घकालीन ऋणों के भुगतान में भी इनके द्वारा न्यायशीलता, समता तथा संतुलन स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि क्रयः शक्ति के परिवर्तनों का सामान्य रुख जाना जा सकता है।

(६) विदेशी व्यापार से सम्बन्धित निर्देशांकों से विदेशी व्यापार के शोधनाशेष के सन्तुलन में सहायता मिलती है।

प्रो० फिशर ने ठीक ही कहा है :—"वस्तुओं का कीमत-स्तर स्थाई बने तथा व्यापार में स्थिरता और स्थाईपन स्थापित करने के लिये निर्देशांक बहुत ही उपयोगी हैं। इनकी सहायता से आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्त सम्बन्धी सभी समस्याओं को समझने में आसानी होती है।" हम सरलतापूर्वक यह जान लेते है कि व्यापार का क्या रुख है। पूँजी की गतिशीलता का क्या हाल है और लाभ-हानि सम्बन्धी स्थिति किस प्रकार है? एक व्यापारी के लिये ये बहुत लाभदायक होते हैं, क्योंकि व्यावसायिक

वर्ग का मुद्रा की क्रय: शक्ति के परिवर्तनों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इसी के ऊपर उसका लाभ, उसकी हानि तथा उसकी [illegible] नीति आधारित होती है। मजदूरों के साथ झगड़े निबटाने में भी सहायता मिलती है, क्योंकि वास्तविक मजदूरी के परिवर्तनों को भली भाँति जाना जा सकता है। दो विभिन्न कालों तथा स्थानों में होने वाले लाभों की तुलना करने में भी ये उपयोगी होते हैं। सट्टा बाजार की तो निर्देशांक जान ही होते हैं। सट्टा बाजार का संगठन ही कीमतों के परिवर्तनों के आधार पर होता है।

एक राजनीतिज्ञ के लिए भी निर्देशांक बहुत उपयोगी होते हैं। इनकी सहायता से देश की आर्थिक स्थिति को समझा जा सकता है और सरकार की आर्थिक नीति की [illegible] आलोचना की जा सकती है। सरकार को भी इनके द्वारा देश की आर्थिक स्थिति के परिवर्तनों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। मुद्रा के मूल्य, जीवन निर्वाह व्यय और उत्पादन व्यय के आधार पर राज्य की कर नीति का निर्माण होता है। सरकार जब आर्थिक नियोजन की बात सोचती है तो इन निर्देशांकों से भारी सहायता मिलती है। सूचक अङ्क देश के आर्थिक जीवन की भूतकालीन तथा वर्तमान स्थिति का ज्ञान करा कर जीवन [illegible] विकास के लिए उपयुक्त मार्ग दर्शाते हैं। निर्देशांक आर्थिक परिवर्तनों का ज्ञान दिला कर समाज के सभी वर्गों की सेवा करते हैं।

निर्देशांकों की हानियाँ तथा उनकी सीमाएँ—

निर्देशांकों के बनाने में कितनी ही सावधानी क्यों न बरती जाए, वे फिर भी मुद्रा के मूल्य परिवर्तन का बिल्कुल सही माप नहीं दे पाते हैं, क्योंकि वे केवल कीमत स्तर का ही ज्ञान देते हैं। [illegible] के शब्दों में :—"मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों को ठीक-ठीक नाप लेना न तो सैद्धान्तिक दृष्टि से ही सम्भव है और न व्यवहार में ही। इतना अवश्य है कि यदि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होते हैं और काफी सावधानी बरती जाती है तो प्रत्यक्ष उपयोग के लिए उसकी माप ठीक रीति से की जा सकती है।" प्रो० मार्शल ने भी कहा है :—"क्रय शक्ति की निश्चित माप केवल असम्भव ही नहीं है, बल्कि अविचारनीय भी है।" निर्देशांक बहुधा अनुमानजनक होते हैं और क्योंकि वे सामान्य प्रकृति को सूचित करते हैं, व्यावहारिक जीवन में उनको बहुत अधिक महत्त्व देना ठीक न होगा। ये अङ्क केवल अस्पष्ट रूप में ही हमारा ध्यान आर्थिक परिवर्तनों की केन्द्रीय प्रवृत्ति की ओर आकर्षित करते हैं। वास्तव में आर्थिक जीवन का आकार बड़ा जटिल है और उसको निर्देशांक जैसी सरल विधि से पूर्णतया समझ लेना कठिन होता है।

अध्याय १२

भारतीय चलन का इतिहास

(The History of Indian Currency)

भारत में मुद्रा का उपयोग बड़े लम्बे काल से होता आया है। सभी प्राचीन ग्रन्थों में इसका प्रमाण मिलता है। वेद, मनुस्मृति तथा बौध साहित्य में अनेक स्थानों पर मुद्रा तथा चलन के उपयोग का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त बहुत से पुराने सिक्के, शिला लेख तथा अन्य प्रकार के ऐतिहासिक प्रमाण ऐसे मिलते हैं जिनसे मुद्रा के उपयोग की प्राचीनता सिद्ध होता है। ऋगवेद में गाय को मूल्य की सामूहिक माप के रूप में उपयोग करने का वर्णन बहुत स्थानों पर पाया जाता है। मुस्लिम काल में तो सम्राट द्वारा सिक्कों और मुहरों का निकालना और चालू करना एक साधारण सी घटना बन गई थी। मुस्लिम-काल में मुहम्मद तुगलक ने सांकेतिक सिक्के तथा पत्र-मुद्रा का निर्गम करके एक अनुपम तथा महत्त्व-पूर्ण प्रयोग किया, परन्तु यह प्रयोग सफल न हो सका। १७ वीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी अपनी शिल्पशालाओं तथा अपनी आधीन बस्तियों के लिए सिक्कों का ढालना आरम्भ कर दिया था। इसके पश्चात् जैसे-जैसे कम्पनी का अधिकार और अधिक भू-भाग पर होता गया, इन सिक्कों का प्रचलन बढ़ता ही गया, परन्तु इस काल में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि सिक्कों की भारी विविधता थी। अनेक धातुओं के सिक्के प्रचलित थे और स्वयं एक ही धातु के सिक्कों में भी रूप, मूल्य, वजन तथा शुद्धता में भारी अन्तर होता था। ऐसी दशा में व्यापार में भारी असुविधा होती थी, क्योंकि सिक्कों की परख आवश्यक होती थी और विभिन्न सिक्कों का विनिमय उनकी शुद्धता की परख के पश्चात् तोल कर किया जाता था। सन् १८३५ तक द्वि-धातुमान पद्धति चालू थी तथा सोने और चाँदी दोनों के ही सिक्के विधि-ग्राह्य थे।

सन् १८३५ में ईस्ट कम्पनी ने सर्वप्रथम अपने आधीन क्षेत्रों में प्रचलित सिक्कों में अनुरूपता स्थापित करने का प्रयत्न किया। कम्पनी की राज्य सीमाओं के भीतर चाँदी के रुपये को, जिसका वजन एक तोला अथवा १८० ग्रेन होता था और जिसमें चाँदी की मात्रा १६५ ग्रेन थी, प्रामाणिक सिक्का घोषित कर दिया गया और यह भी आदेश निकाला गया कि भविष्य में ...नी के राज्य क्षेत्र में सोने का सिक्का कहीं भी विधि-ग्राह्य नहीं होगा।

इस प्रकार रजतमान के रूप में देश में एक धातुमान स्थापित किया गया। चाँदी को स्वतन्त्र मुद्रण प्रदान किया गया और उसकी ढलाई [illegible] रखी गई। सोने में रुपये की कीमत चाँदी के स्वर्ण मूल्य पर निर्भर होने लगी। सन् १८६४ में भारतीय रुपये का स्वर्ण मूल्य सावरेन में दस रुपया प्रति सावरेन अथवा १ रुपया = २ शिलिंग रखा गया, परन्तु इस समय तक चाँदी की बहुत सी नई खानों का पता लग जाने तथा अधिकांश देशों द्वारा चाँदी के विमुद्रीकरण के कारण स्वर्ण में चाँदी की कीमत काफी घट चुकी थी। सन् १८७३ में लेटिन संघ (Latin Union) देशों ने फ्रांस का अनुकरण करके द्वि धातुमान को समाप्त कर दिया और चाँदी के सिक्कों को चलन से निकाल कर स्वर्ण-मुद्रा तथा एक-धातुमान को स्वीकार किया और यूरोप के देशों में स्वर्ण-मान पद्धति का प्रसार हुआ। सन् १८७४ में फ्रांस, इटली तथा स्विटजरलैण्ड ने चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण स्थगित कर दिया। जर्मनी, डेनमार्क, स्वीडन नार्वे तथा हालैण्ड ने पहले से ही चाँदी का विमुद्रीकरण कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वर्ण में चाँदी की कीमत बराबर गिरती ही रही। सन् १८७१ में यह २ शिलिंग के बराबर थी, परन्तु सन् १८९२ में यह केवल १ शिलिंग ३ पैंस रह गई थी।

चाँदी की कीमतों के इस भारी पतन का कारण यह था कि माँग की तुलना में चाँदी की पूर्ति बहुत बढ़ गई थी। अधिकांश यूरोपीय देशों द्वारा स्वर्णमान ग्रहण कर लेने के कारण चाँदी के सिक्कों को गला कर धातु के रूप में बेचा जाने लगा था। चाँदी की नई खानों की खोज तथा चाँदी निकालने की विधियों के सुधार ने चाँदी के उत्पादन में भारी वृद्धि की। सन् १८९१ में चाँदी की उत्पत्ति सन् १८७६ की दूनी हो गई थी। इसके विपरीत स्वर्णमान की ग्राह्यता के कारण सोने की माँग बहुत बढ़ गई थी, यद्यपि उसका उत्पादन घट रहा था।

चाँदी की स्वर्ण में कीमतों के गिर जाने का परिणाम यह हुआ कि भारत में चाँदी के आयातों में भारी वृद्धि हुई, जिसके कारण मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो गई और कीमतें बढ़ने लगीं। सन् १८७३ और सन् १८९३ के बीच कीमतों में २९% की वृद्धि हो गई थी। इसके अतिरिक्त सोने में चाँदी की कीमतों के गिर जाने का देश के विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा और विदेशी पूँजी की सहायता से भारत के आर्थिक जीवन का विकास करने में कठिनाई होने लगी, क्योंकि पूँजी के आयात काफी घट गये थे। साथ ही, गृह खर्चों का भार बढ़ गया और ब्रिटिश अफसरों के वेतन तथा उत्तर-वेतन चुकाने के लिए धन भेजने में भारत सरकार को भारी कठिनाई होने लगी। इन सबकी कीमत स्टर्लिङ्ग में

निश्चित की जाती थी और रुपये की कीमत के प्रत्येक पतन के साथ इन दायित्त्वों को चुकाने के लिए अधिक मात्रा में रुपयों की आवश्यकता पड़ने लगी थी। सरकार को करों में भारी वृद्धि करनी पड़ी और बजटों के सन्तुलन में भारी कठिनाई अनुभव होने लगी। कई वर्षों तक भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय द्वि-धातुमान की स्थापना का प्रयत्न किया। सन् १८६७ तथा सन् १८६२ के बीच इस कार्य के लिए चार बड़े-बड़े अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन भी हुए, परन्तु जब सफलता प्राप्त न हो सकी तो भारत सरकार ने स्थिति की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्ति की।

हरशैल समिति (The Herschell Committee)—

यह समिति सन् १८६२ में लार्ड हरशैल की अध्यक्षता में नियुक्त की गई थी और समिति को भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत निम्न प्रस्तावों पर विचार प्रकट करने का आदेश दिया गया था :—(१) क्या भारत में चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण समाप्त कर दिया जाय और स्वर्णमान ग्रहण कर लिया जाय, (२) क्या भारत में सोने के सिक्के चालू किए जायें और (३) क्या रुपया की स्टर्लिंग विनिमय दर घटा कर १ रुपया = १ शिलिंग ६ पैंस कर दी जाय ?

समिति का विचार था कि भारत में सोने के सिक्कों का चालू करना अनावश्यक तथा अनुपयुक्त था, क्योंकि बिना सोने के सिक्कों को चलाये भी स्वर्णमान स्थापित हो सकता था। साथ ही, यह भी कहा गया कि इसके ग्रहण करने से सोने में चाँदी की कीमतों के और अधिक गिर जाने की सम्भावना थी। समिति ने १ शिलिंग ६ पैंस की विनिमय दर को भी इस कारण अनुपयुक्त बताया कि इसका देश के व्यापार, उद्योग तथा आर्थिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। समिति ने दो सुझाव दिये :—(१) चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द होना चाहिए, परन्तु सरकार यह घोषणा करे कि यद्यपि जनता का यह अधिकार नहीं रहेगा कि वे चाँदी की सिलों को रुपयों में ढलवा सके, परन्तु सरकार अपनी टकसालों में १ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपया की कीमत पर चाँदी के रुपयों को ढालने का काम बराबर करती रहेगी। (२) सरकारी खजानों में सभी प्रकार के लोक दायित्त्वों के भुगतान में सोना इसी दर पर स्वीकार होता रहेगा।

इन सिफारिशों के तीन परिणाम हुए:—प्रथम, सोना तथा चाँदी दोनों का स्वतन्त्र मुद्रण समाप्त कर दिया गया। दूसरे, रुपया एक सांकेतिक सिक्का बन गया, क्योंकि एक ओर तो इसकी विनिमय कीमत इसकी निहित कीमत से अधिक रखी गई थी और दूसरे, उसका मुद्रण सीमित और प्रतिबन्धित था। तीसरे, इन सिफारिशों में स्वर्णमान की स्थापना

की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं की गई थी, यद्यपि यह विचार प्रकट किया गया था कि भविष्य में स्वर्णमान स्थापित किया जायगा ।

भारत सरकार ने हर्शेल समिति की सिफारिशों को स्वीकार करके भारतीय मुद्रण एक्ट सन् १८९३ पास कर दिया । इससे रुपये की विनिमय दर चाँदी की कीमतों के प्रभाव से स्वतन्त्र हो गई और चाँदी का मूल्य के मान के रूप में उपयोग बन्द हो गया, यद्यपि चलन हेतु प्रमुख धातु अभी भी चाँदी ही रही । स्वर्ण को अब भी विधि-ग्राह्य स्थान प्रदान नहीं किया गया था । चाँदी के स्वतन्त्र मुद्रण को समाप्त करने का उद्देश्य रुपये की विदेशी विनिमय दरों को ऊँचा करना था । सन् १८९३ में रुपये की विनिमय दर केवल १ शिलिंग २½ पैंस थी और सरकार ने उसे बढ़ा कर १ शिलिंग ४ पैंस कर देने का प्रयत्न किया । इसके लिये रुपयों की कुल मात्रा में कमी की गई । [illegible] ने लोगों को सशंकित कर दिया । गाढ़ कर रखे हुये रुपये चलन के लिए निकलने लगे और जेवरात बनाने में रुपयों का उपयोग घटने लगा । परिणाम यह हुआ कि रुपयों का प्रचलन घटने के स्थान पर बढ़ गया । १ शिलिंग ४ पैंस की विनिमय दर बनी न रह सकी और सरकार को १ शिलिंग १½ पैंस की दर पर रुपये बेचने पड़े । जनवरी सन् १८९६ में यह दर गिर कर १ शिलिंग १ पैंस हो रह गई, परन्तु तत्पश्चात् यह धीरे-धीरे बढ़ कर सन् १८९८ में १ शिलिंग ४ पैंस हो गई, क्योंकि अब चाँदी की कीमतों का विनिमय दर पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था । रुपये की यह कीमत सन् १९१६ तक स्थिर तथा स्थायी रही । केवल सन् १९०७–०८ में कुछ आर्थिक संकटों के कारण यह थोड़े समय के लिये नीचे गिर गई थी

भारत में स्वर्ण-विनिमय-मान (सन् १८९९-१९१९)—

विनिमय दर के १ शिलिंग ४ पैंस पर स्थिर हो जाने के पश्चात् भारत सरकार ने मार्च सन् १८९८ में भारत सचिव से भारत में पूर्ण स्वर्णमान स्थापित करने की फिर प्रार्थना की, अतः सर हेनरी फाऊलर (Sir Henry Fowler) की अध्यक्षता में एक और समिति नियुक्त की गई । फाऊलर समिति के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार थे :—

(१) भारतीय टकसालों में चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण नहीं होना चाहिये, क्योंकि भारत का ⅔ व्यापार स्वर्णमान देशों के साथ ही था ।

(२) ब्रिटिश सावरेन को भारत में अपरिमित विधि-ग्राह्य मुद्रा घोषित कर देना चाहिये और उसका भारत में प्रचलन होना चाहिए । भारत में सोने की स्वतन्त्र ढलाई होनी चाहिए ।

सावरेन की ढलाई और उसका प्रचलन इंगलैंड और भारत दोनों में होना चाहिए।

(३) रुपया सांकेतिक सिक्का रहते हुए भी अपरिमित विधि-ग्राह्य बना रहना चाहिए।

(४) रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर १ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपया रहनी चाहिये।

(५) क्योंकि स्वर्ण कोष का सबसे महत्त्वपूर्ण उपयोग यही था कि विदेशी भुगतानों के लिये वे स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त होते रहें, इस कारण भारत सरकार को स्वर्ण निर्यात् के लिये सोने का संचित कोष रखना चाहिए, जिससे कि विनिमय दर की स्थिरता स्थापित की जा सके।

(६) भारत सरकार को सोने के बदले में रुपये देने की प्रथा को बनाये रखना चाहिये, परन्तु नये रुपये के सिक्कों की ढलाई उस समय तक बन्द रहनी चाहिये जब तक कि चलन में स्वर्ण का अनुपात जनता की स्वर्ण आवश्यकता से अधिक न हो जाय।

(७) निर्यात के लिये जनता को पर्याप्त स्वर्ण देने के लिये सरकार को स्वर्ण कोष रखने चाहिये। रुपयों के मुद्रण पर जो भी लाभ प्राप्त हो उसे सरकार की साधारण आय में हस्तान्तरण नहीं करना चाहिये और न ही उसे सरकार की साधारण जमा (Balances) के रूप में रखना चाहिए। इस लाभ को सोने में एक विशेष सुरक्षित कोष के रूप में रखना चाहिये और यह सुरक्षित कोष साधारण पत्र-मुद्रा निधि तथा सरकार की साधारण कोषागार जमा (Treasury Balances) से पूर्णतया अलग होना चाहिये।

भारत सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और इन्हें कार्य रूप देने का प्रयत्न किया। सितम्बर सन् १८९९ में सावरेन को विधि-ग्राह्य मुद्रा घोषित किया गया, परन्तु रुपया भी अपरिमित विधि-ग्राह्य बना रहा। ब्रिटिश कोषागार की स्वीकृति न मिलने के कारण भारत में सोने के सिक्कों की ढलाई के लिये शाही टकसाल की शाखा खोलने की योजना रद्द कर दी गई। इस प्रकार देश में जो मौद्रिक मान स्थापित हुआ उसे स्वर्ण-विनिमय-मान कहा गया। यह एक ऐसा स्वर्णमान था जिसमें सोने के सिक्कों का प्रचलन न था। इस मान की चार प्रमुख विशेषताएँ थीं :—(१) इसमें देश के भीतर सोने के सिक्कों का प्रचलन न था। (२) देश की भीतरी आवश्यकताओं के लिए रुपये को सोने में परि-

...न करना आवश्यक न था। (३) भारत सरकार द्वारा देशी मुद्रा के बदले में एक निश्चित अधिकतम विनिमय दर पर विदेशी विप्रेषों (Remittances) को सोने में भेजने की व्यवस्था की गई थी। (४) इन विप्रेषों के लिये सुरक्षित कोषों का एक आवश्यक भाग इंगलैंड में रक्खा जाता था।

इस मौद्रिक मान की देश में कड़ी आलोचना हुई, यद्यपि इसके अन्तर्गत विनिमय दरों की स्थिरता तो प्राप्त हो गई थी, परन्तु कीमतों की स्थिरता प्राप्त न हो सकी। सन् १८९३ और सन् १९२३ के बीच संसार के अन्य देशों की तुलना में भारत में ही कीमतों के सबसे अधिक उच्चावचन रहे थे। सन् १९०७-०८ के संकटकालीन वर्षों में यह मुद्रा प्रणाली टूटते-टूटते बची और सन् १९१९-२० में तो यह एक दम टूट ही गई। कीमतों के इन भारी उच्चावचनों ने आर्थिक जीवन में अनिश्चितता उत्पन्न करके देश के व्यापार और पूँजी विकास के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित कर दीं। इसके अतिरिक्त यह मौद्रिक मान प्रबन्धित मान था और इसके सफल संचालन के लिए पग पग पर सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ती थी। यह एक जटिल प्रणाली थी और कैनन के शब्दों में मूर्ख-सिद्ध तथा मक्कार-सिद्ध न थी।

चैम्बरलेन आयोग (The Chamberlain Commission)—

सन् १८९९ के पश्चात् भारत में जो मौद्रिक प्रणाली स्थापित हुई थी उसकी भारत में कड़ी आलोचना हुई थी। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली की स्थापना के सम्बन्ध में भारत सरकार तथा भारत सचिव के बीच भी भारी मतभेद था। इन आलोचनाओं तथा इस मतभेद की जाँच करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने अप्रैल सन् १९१३ में मिस्टर चैम्बरलेन की अध्यक्षता में एक शाही आयोग नियुक्त किया। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट फरवरी सन् १९१४ में प्रस्तुत की, जिसके प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार थे।

(१) आयोग ने स्वर्ण-विनिमय-मान को चालू रखने की सिफारिश की क्योंकि आयोग का विचार था कि इस मान ने सन् १९०७-०८ के आर्थिक संकट का सफलतापूर्वक सामना किया था और वैसे भी इसका विकास अनेक प्रकार के प्रयोगों के बाद हुआ था।

(२) सोने के सिक्कों की ढलाई के लिए भारत में टकसाल का खोलना अनावश्यक था। इसके विपरीत भारत में बम्बई की टकसाल को रुपये देकर बराबर सोना खरीदना चाहिए।

(३) स्वर्णमान निधि में वृद्धि होनी चाहिये और इन कोषों को लन्दन में ही रखा जाना चाहिए। सिक्कों की ढलाई पर जो भी लाभ हो वह सबका सब इसी निधि कोष में जाना चाहिए।

(४) भारत सरकार को यह गारन्टी देनी चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर, विशेष रूप से विनिमय दरों के गिरने की दशा में, वह १ शिलिंग ३$\frac{२९}{३२}$ पेंस प्रति रुपया की दर पर भारत में लन्दन पर बिल बेच देगी।

(५) पत्र-मुद्रा प्रणाली को अधिक लोचदार बना देना चाहिये और स्वर्ण-मुद्रा के स्थान पर सोने के उपयोग को अधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

(६) स्वर्णमान की रजत शाखा (Silver Branch) को बन्द कर देना चाहिए।

प्रथम महायुद्ध और भारतीय चलन—

अभी चैम्बरलेन आयोग की सिफारिशों को कार्य रूप देने का अवसर भी न आया था कि प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध के आरम्भ ने अन्य देशों की भाँति भारत में भी भय की स्थिति उत्पन्न कर दी, जिसके कारण व्यापार और व्यवसायों में भारी अस्थिरता तथा अनिश्चितता आ गई। इस भयपूर्ण स्थिति के लक्षण विनिमय दरों के पतन, सेविङ्ग बैंक जमा के निकालने, कागज के नोटों को रुपये के सिक्कों अथवा सोने में बदलने तथा भारत सरकार के स्वर्ण कोषों से सोना माँगने के रूप में प्रकट हुए। विनिमय दर के पतन को रोकने के लिए ६ अगस्त सन् १९१४ तथा २८ जनवरी सन् १९१५ के बीच भारत सचिव को ८७,०७,००० पौंड की कीमत के प्रति परिषद् विपत्र (Reverse Council Bills)* बेचने पड़े। लोगों का पत्र-मुद्रा पर से विश्वास उठने लगा और १० करोड़ रुपये की कीमत के कागजी नोट कोषागार को लौटा दिये गये। लोगों ने रुपयों और सोने के सिक्कों को जमा करके रखना आरम्भ कर दिया और कागज के नोटों को रुपये के सिक्कों और सोने में बदलने की माँग बहुत बढ़ गई। बैंकों में से भी भारी मात्रा में जमा का निकालना आरम्भ हो गया। नोटों को सोने में बदलने की माँग इतनी बढ़ गई कि पहिली और चौथी अगस्त सन् १९१४ के बीच में ही भारत सरकार को १८,००,००० पौंड की कीमत का सोना देना पड़ा। ५ अगस्त सन् १९१४ को भारत सरकार ने

* प्रति परिषद् विपत्र इङ्गलैंड में स्टर्लिङ्ग में बेचे जाते थे। इनका उद्देश्य यह होता था कि स्टर्लिङ्ग में ऋण प्राप्त करके विदेशी विनिमय बाजार में स्टर्लिङ्ग की मात्रा को बढ़ाया जाय, ताकि स्टर्लिङ्ग की पूर्ति कम होने से रुपये में उनकी कीमत बढ़ने न पाये। यह भारत सचिव की ओर से जारी किये हुये ऋण-पत्र थे।

्वेट व्यक्तियों को सोना देना बन्द करने की घोषणा कर दी गई
ार कुछ काल के लिए स्वर्णमान स्थगित कर दिया गया।

सन् १६१५ के अन्त तक भारत का निर्यात व्यापार फिर उन्नति करने
ा, जिसका कारण यह था कि विदेशों में अच्छी कीमतों पर भारतीय
ल की मांग काफी बढ़ गई थी। इसके विपरीत भारत के आयात
पार का संकुचन हुआ, क्योंकि बाहर के देश [illegible]
कारण भारत को काफी मात्रा में माल भेजने में असमर्थ थे। इस प्रकार
पाराशेष काफी अंश तक भारत के पक्ष में हो गया। साधारण परि-
तियों में भारत के अनुकूल व्यापाराशेष का निस्तारण विदेशों द्वारा
रत को सोना भेजकर तथा भारत सचिव द्वारा परिषद् विपत्र*
Council Bills) बेच कर किया जाता था, परन्तु युद्धकाल में स्वर्ण
कमी तथा यातायात सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण बहुमूल्य धातुओं के
र्यात सम्भव न हो सके। इसके विपरीत भारत सचिव की परिषद्
पत्र बेचने की क्षमता इस बात पर निर्भर होती थी कि वह भारत
रकार के लिए रुपयों की मात्रा बढ़ाने के लिए कितनी चांदी खरीद
कता था। इस सम्बन्ध में भारत सचिव को यह कठिनाई अनुभव हुई कि
द्धकाल में चाँदी की मांग बढ़ने और उसकी पूर्ति के घट जाने के कारण
ंदी की कीमतें बराबर बढ़ती गईं और अन्त में ऐसी स्थिति आ गई कि
शिलिंग ४½ पैंस प्रति रुपया के भाव पर भारत सचिव के लिये परिषद्
पत्र बेचना लाभदायक न रह सका। अगस्त सन् १६१६ तक चाँदी की
मत बढ़कर ४३ पैंस प्रति औंस हो गई और दिसम्बर सन् १६१६ में तो
ह बढ़ते-बढ़ते ७८ पैंस प्रति औंस तक पहुँच गई। चाँदी की कीमतों की
द्धि के साथ-साथ परिषद् विपत्रों की बिक्री दर भी बराबर बढ़ाई गई और
िसम्बर सन् १६१६ में वह २ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपया कर दी गई।
निजी व्यक्तियों द्वारा चाँदी के आयात बन्द कर दिये गये और रुपये के
सिक्कों की माँग को पूरा करने के लिये सरकार ने भारी मात्रा में चाँदी
खरीदी। अकेले अमरीका से ही २० करोड़ औंस चाँदी खरीदी गई।
इसी काल में भारत सरकार ने एक और दो रुपये के नोट भी चालू किये
तथा गिलट के और अधिक सिक्के ढाले, जिससे कि चाँदी के उपयोग में
संकुचन की जा सके। नोटों को रुपयों में बदलने पर भी प्रतिबन्ध लगाये
गये। इस काल में नोटों के प्रचलन में भारी वृद्धि हुई। युद्धकाल में स्वयं
इङ्गलैंड ने भी स्वर्णमान का संचालन स्थगित कर दिया था, जिसके

* परिषद् विपत्र प्रति परिषद् विपत्र के विपरीत भारत में रुपयों के बदले में बेचे
जाते थे, ताकि रुपयों की पूर्ति बढ़ाकर [illegible] बाजार में रुपये की कीमत को बढ़ने से
रोका जाय।

कारण स्टर्लिंग का भी स्वर्ण में मूल्य-ह्रास हो गया था, इसलिए परिषद् विपत्रों की दर थोड़ी अधिक ऊँची रखी गई, जिससे कि स्टर्लिंग के इस मूल्य ह्रास के लिये भी गुंजाइश हो सके। इस प्रकार युद्धकालीन परिस्थितियों की गहरी चोट के कारण स्वर्ण-विनिमय-मान पूर्णतया टूट गया।

बैबिंगटन-स्मिथ समिति (The Babington-Smith Committee)—

सन् १९१९ में लड़ाई तो समाप्त हो गई, परन्तु युद्धकालीन कठिनाइयाँ बराबर बनी रहीं। व्यापाराशेष की अनुकूलता भारत के लिये अभी तक भी काफी रही यद्यपि युद्ध कार्यों के लिए भारतीय माल की माँग अब शेष नहीं रही थी, परन्तु शान्ति स्थापना के पश्चात् यूरोप के युद्ध विध्वंश देशों में भारतीय माल की काफी माँग अभी तक भी बनी रही। इस कारण चाँदी की कीमतें बराबर बढ़ती रहीं और नोटों को चाँदी में बदलना कठिन हो गया। भारत सरकार ने ऐसा अनुभव किया कि सम्पूर्ण स्थिति की जाँच करने के लिये एक और समिति नियुक्त की जाय, अतः मई सन् १९१९ में बैबिंगटन-स्मिथ की अध्यक्षता में एक नई समिति नियुक्त की गई, जिसे उसके अध्यक्ष के नाम के पीछे बैबिंगटन-स्मिथ समिति कहा जाता है।

इस समिति ने १ रुपया = २ शिलिंग की विनिमय दर को स्थापित करने का सुझाव दिया। समिति का विचार था कि स्वर्ण में रुपये की कीमत २ शिलिंग के बराबर रखने से कई प्रकार के लाभ होने की आशा थी। चाँदी की कीमतें अभी कुछ और वर्षों तक ऊँची ही रहने का अनुमान लगाया गया था और समिति का विचार था कि ऊँची दर नियत किये बिना रुपये की साँकेतिक प्रकृति को बनाए रखना सम्भव न था। समिति का यह भी विचार था कि एक ऊँची विनिमय दर इस कारण भी उपयुक्त थी कि उसके द्वारा कीमतों की ऊपर उठने की प्रवृत्ति रुक जायगी और गृह खर्चों (Home Charges) में भी बचत हो जायगी। समिति का मत था कि इस नीति द्वारा भारतीय व्यापार के घटने का भय न था, क्योंकि संसार में कच्चे मालों और खाद्य पदार्थों की माँग बहुत अधिक होने के कारण ऊँची विनिमय दर पर भी भारतीय निर्यातों की अच्छी कीमत मिल सकेगी। इसके अतिरिक्त युद्धकालीन विनाश के कारण विदेशों में उत्पादन व्यय इतना ऊँचा बना रहेगा कि वे ऊँची विनिमय दर का कुछ भी लाभ नहीं उठा सकेंगे। समिति ने यह भी सुझाव दिया कि विनिमय दरों के पतन की दशा में भारत सरकार को प्रति परिषद् विपत्र बेचने चाहिये। समिति के अन्य सुझाव निम्न प्रकार थे :—

(१) सावरेन के बदले में रुपये देने की सरकारी जिम्मेदारी बन्द होनी चाहिये।

(२) भारत में स्वर्ण के आयात और निर्यात स्वतन्त्र होने चाहिए और सरकारी नियन्त्रण का अन्त होना चाहिए।

(३) स्वर्ण कोषों का अधिक से अधिक आधा भाग भारत में रखा जाय और शेष ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रखा जाय।

(४) भारतीय पत्र-मुद्रा प्रणाली में लोच उत्पन्न करने के लिए देश में अनुपातिक निधि प्रणाली ग्रहण की जाय।

(५) पत्र-चलन का विश्वासाश्रित भाग कुल चलन के ६०% से अधिक नहीं रहना चाहिए।

(६) रुपये की विनिमय दर स्टर्लिंग के स्थान पर स्वर्ण में निश्चित की जाय और भारत सरकार को भारत सचिव की आज्ञा के बिना भी प्रति परिषद् बिल जारी करने का अधिकार दिया जाय।

सर दादीबा दलाल, जो आयोग के एक मात्र भारतीय सदस्य थे, मेति के बहुमतीय विचारों से सहमत न थे। उन्होंने समिति के सामूहिक वृत्तलेख (Report) में अपने विरोधी विचार प्रकट किये, जिसमें उन्होंने भारत सचिव की चलन तथा विदेशी विनिमय नीति की कड़ी आलोचना की। उनका विचार था कि विनिमय दर स्वर्ण में १ शिलिंग ४ पैंस ही रहनी चाहिए थी और भारत में स्वर्ण विनिमय मान के स्थान पर पूर्ण स्वर्णमान स्थापित होना चाहिए था। उन्होंने बताया कि विनिमय दरों को ऊँचा उठाने का भारतीय व्यापार, उद्योग तथा समस्त आर्थिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ने का भय था।

समिति की बहुमतीय सिफारिशें भारत सचिव ने स्वीकार कर लीं और श्री दलाल के विरोध पर ध्यान नहीं दिया गया। सन् १९२० के भारतीय मुद्रण (संशोधन) एक्ट के अनुसार भारत में सावरेन को १०) की दर पर विधि-ग्राह्य घोषित कर दिया गया, परन्तु समिति की रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही लन्दन को विप्रेष भेजने की माँग एक दम बढ़ गई। भारत सरकार ने विनिमय दर को १ रुपया = २ शिलिंग पर बनाये रखने का प्रयत्न किया, परन्तु इससे सरकार को भारी हानि हुई और प्रयत्न सफल न हो सका। ब्रिटिश सरकार ने डालर और स्टर्लिंग की विनिमय दर पर से नियन्त्रण उठा लिया और क्योंकि बाजार में चाँदी की कीमत २ शिलिंग सोने से अधिक थी, सरकार ने बाजारी दर पर प्रति परिषद् विपत्र बेच कर विनिमय दर को स्थिर रखने का प्रयत्न किया, परन्तु सट्टे के विकास तथा सरकारी और वास्तविक दर के अन्तर के कारण प्रति परिषद् विपत्रों की माँग इतनी अधिक हो गई कि उनकी सरकारी तथा बाजारी दर में भारी अन्तर हो गया। इसके कारण मुद्रा-बाजार में भारी उथल पुथल

होने लगी। भारतीय आयात व्यापारियों ने विदेशों से माल मँगाने के भारी आदेश भेजे, जिससे प्रति परिषद् विपत्रों की माँग और भी बढ़ गई। निर्यात व्यापार का भारी संकुचन हुआ और भारत का व्यापाराशेष प्रतिकूल हो गया। इसके कारण तुरन्त ही विनिमय दरें नीचे गिर गईं और जून सन् १९२० के अन्त तक वे १ शिलिंग ८ पैंस पर आ गईं। कुछ समय तक भारत सरकार ने विनिमय दर को २ शिलिंग (स्टर्लिंग) पर बनाये रखने का प्रयत्न किया, परन्तु इससे सरकारी कोषागार को और भी हानि हुई। भारतीय जनता की ओर से इस प्रकार देश के साधनों का अपव्यय करने के विरुद्ध काफी आन्दोलन किया गया। भारत सरकार भी ५.३ करोड़ पौंड की कीमत के प्रति परिषद् विपत्र बेच चुकी थी, परन्तु विनिमय दर स्थिर नहीं हो सकी थी। भारत सरकार ने विनिमय दर को ऊपर चढ़ाने के लिए मुद्रा-संकुचन का भी प्रयत्न किया, परन्तु यह प्रयोग भी असफल रहा। जब सभी प्रयत्न असफल रहे तो सरकार ने विनिमय दर के नियन्त्रण की नीति ही छोड़ दी और उसका स्वतन्त्र निर्धारण होने दिया। जून सन् १९२० तक विनिमय दर गिर कर १ शिलिंग ५ पैंस रह गई।

वास्तव में भारत सरकार ने जल्दी में बैबिंगटन स्मिथ-समिति की सिफारिशों को स्वीकार करने में भारी भूल की थी। जिस समय समिति की सिफारिशों को कार्य-रूप दिया गया था, संसार की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ बहुत ही अनिश्चित थीं। सरकारी नीति के फल-स्वरूप व्यापारी तथा व्यवसायी वर्ग की भारी हानि हुई। "एक ऐसी नीति ने, जिसका उद्देश्य विनिमय दरों की स्थिरता थी, एक आरोग्य अर्थ-व्यवस्था में विनिमय दरों के भारी उच्चावचन उत्पन्न कर दिये, व्यापार में उथल-पुथल पैदा की, सरकार को भारी आर्थिक हानि पहुँचाई और सैकड़ों बड़े-बड़े व्यापारियों का दिवाला निकाल दिया।" थोड़े ही समय पश्चात् परिस्थितियाँ बदलने लगीं। सन् १९२१ के आरम्भ में ही विनिमय दर १ शिलिंग ३ पैंस (स्टर्लिंग) तथा १ शिलिंग (स्वर्ण) से भी नीचे गिर गई। वैधानिक दृष्टिकोण से तो विनिमय दर २ शिलिंग ही बनी रही, परन्तु सितम्बर सन् १९२० के पश्चात् यह वैधानिक दर कभी भी सप्रभाविक न रह सकी। सन् १९२३ से परिस्थितियों ने दूसरा ही रुख पलटा और विनिमय दर बढ़ कर १ शिलिंग ४ पैंस (स्टर्लिंग) हो गई। अक्टूबर सन् १९२४ में यह बढ़ कर १ शिलिंग ६ पैंस (स्टर्लिङ्ग) अथवा १ शिलिंग ४ पैंस (स्वर्ण) हो गई। इस काल से मार्च सन् १९२६ तक विनिमय दर ऊपर को ही चढ़ती रही। इसी बीच में सन् १९२५ में इङ्गलैंड ने स्वर्णमान ग्रहण करके स्टर्लिंग और स्वर्ण की कीमतों में समानता

उत्पन्न कर दी थी और तब से रुपये की कीमत बराबर १ शिलिंग ६ पेंस के आस-पास ही बनी रही। संसार की आर्थिक दशाओं में भी आर्थिक निश्चितता और स्थिरता उत्पन्न हो गई। वास्तविकता यह है कि सन् १९१९ और सन् १९२५ के बीच का काल [illegible] का काल था। इस काल में युद्धकालीन वैभव का अन्त होने के पश्चात् मन्दी का आना आवश्यक था और अन्त में आर्थिक जीवन की [illegible] एक बार फिर स्थापित हो गई। भारत सरकार ने बहुत समझ से काम नहीं लिया था और उसकी मौद्रिक नीति से देश को काफी हानि हुई थी।

अध्याय १२

भारतीय चलन का इतिहास (क्रमशः)

(सन् १९२५–३९)

(The History of Indian Currency (Contd.)

प्रथम महायुद्ध के बाद का काल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारी आर्थिक अस्थिरता और अनिश्चितता का काल था। यह संक्रान्ति काल (Transitional Period) था, जिसमें युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था शान्ति-कालीन अर्थ-व्यवस्था में बदल रही थी। संसार की आर्थिक दशाओं के विषय में किसी भी प्रकार का निश्चित अनुमान सम्भव न था। इस कारण भारत सरकार ने २ शिलिंग प्रति रुपया की विनिमय दर स्थगित करके अच्छा ही किया था। रुपये को अपनी सही विनिमय दर ढूँढने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। साथ ही युद्ध-काल में स्टर्लिङ्ग का स्वर्ण से सम्बन्ध टूट गया था और इङ्गलैंड द्वारा मुद्रा-प्रसार के कारण स्टर्लिङ्ग की कीमत गिर गई थी। सन् १९२५ के अन्त तक इङ्गलैंड ने स्वर्णमान फिर ग्रहण कर लिया था। इसके कारण रुपये की कीमत स्टर्लिङ्ग तथा स्वर्ण दोनों में समान ही हो गई, अर्थात् १ शिलिंग ६ पेंस के बराबर हो गई थी। संसार की आर्थिक दशाओं में भी स्थिरता आ गई थी। संक्रान्ति-काल समाप्त हो चुका था और युद्धोत्तर कालीन उद्धार (Reco-

[illegible]) ने काफी उन्नति कर ली थी। भारत सरकार ने भी ऐसा अनुभव किया कि ऐसी दशा में रुपए की नई स्थिति के निर्धारण की आवश्यकता थी।

हिल्टन यंग आयोग (The Hilton-Young Commission)—

सन् १९२५ के अन्तिम काल में श्री० हिल्टन-यङ्ग की अध्यक्षता में एक नया शाही आयोग नियुक्त किया गया। इसका उद्देश्यः—"भारतीय चलन और विनिमय प्रणाली तथा व्यवहार की जाँच करना और उस पर अपना मत प्रकट करना था।" आयोग ने सम्पूर्ण मौद्रिक तथा विदेशी विनिमय प्रणाली की विस्तृत जाँच करके जुलाई सन् १९२६ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह रिपोर्ट एक बहुमतीय रिपोर्ट थी, क्योंकि आयोग के एकमात्र भारतीय सदस्य श्री० पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास इससे सहमत न थे। रिपोर्ट की प्रमुख सिफारिशें निम्न प्रकार थीं :—

(१) अब तक भारत सरकार जिस स्वर्ण-विनिमय-मान को चला रही थी वह समाप्त होना चाहिये और चलन के प्रति जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए मुद्रा का स्वर्ण से ऐसा सम्बन्ध स्थापित होना चाहिये जो वास्तविक और सदृश्य (Visible) हो। इस उद्देश्य से स्वर्ण पाटमान को ग्रहण करना उपयुक्त होगा। इस मान की विशेषताएँ निम्न प्रकार होती हैं :—

(अ) सोने के सिक्कों का प्रचलन नहीं होता है।

(ब) मुद्रा-संचालक के ऊपर यह जिम्मेदारी होती है कि वह नियत कीमतों पर असीमित मात्रा में सोना खरीदे और बेचे।

(स) सरकार प्रत्येक व्यक्ति को अपरिमित मात्रा में नोटों के बदले में सोना देने की गारन्टी देती है।

(द) इस सम्बन्ध में कोई भी शर्त नहीं लगाई जाती है कि मुद्रा-संचालक से सोना किस उद्देश्य के लिये खरीदा जायगा ?

(२) रुपये तथा स्टर्लिङ्ग अथवा रुपये और स्वर्ण की विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पैंस पर स्थिर रहनी चाहिये।

(३) भारत में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना होनी चाहिए, जिसका प्रमुख कार्य देश में चलन और साख पर नियन्त्रण रखना हो तथा जो रुपये की विदेशी विनिमय दर का भी प्रबन्ध करे। इस बैंक के कार्य निम्न प्रकार होंगे :—

(अ) इसे २५ वर्ष के लिए नोट-निर्गम का एकाधिकार होगा।

(ब) बैंक के द्वारा निकाले हुए नोट अपरिमित विधि-ग्राह्य होंगे और उन पर भारत सरकार की गारन्टी होगी।

(स) जनता को आगे के लिए कागज के नोटों के बदले में रुपये के सिक्के प्राप्त करने का वैधानिक अधिकार न होगा। इसके विपरीत मुद्रा-संचालक के रूप में यह केन्द्रीय बैंक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह नोटों को विधि ग्राह्य मुद्रा अर्थात् छोटी कीमतों के नोटों और रुपयों के सिक्कों में बदल दे।

(४) अब तक स्वर्णमान निधि तथा पत्र-चलन निधि को अलग-अलग रखने की जो प्रथा थी वह समाप्त की जाय और इन दोनों कोषों को मिला कर एक कर दिया जाय।

(५) भारत सरकार द्वारा एक रुपये के जो नोट निकाले गये थे उनका केन्द्रीय बैंक अर्थात् रिजर्व बैंक द्वारा पुनः निर्गम होना चाहिए।

ये आयोग के बहुमत की सिफारिशें थीं। श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, जो आयोग के एक सदस्य थे, इनसे सहमत नहीं थे। उनका विरोध दो बातों के विषय में था:—प्रथम, उनका मत था कि देश में स्वयंचालन स्वर्ण विनिमय-मान के स्थान पर पूर्ण स्वर्णमान स्थापित किया जाय, जिसमें सोने के सिक्के प्रचलन में हों। दूसरे, वे चाहते थे कि विनिमय दर १ शिलिंग ६ पैंस के स्थान पर १ शिलिंग ४ पैंस होनी चाहिए। उनका तर्क इस बात पर आधारित था कि १ शिलिंग ६ पैंस की विनिमय दर [illegible] थी, क्योंकि यह उस सम्पन्नता के कारण स्थापित हुई थी जो एक कृषि प्रधान देश होने के कारण भारत में लगातार चार अच्छी फसलों के होने से उत्पन्न हो गई थी, परन्तु यह सम्पन्नता बहुत समय तक बनी नहीं रह सकती थी। यदि फसलें अच्छी न हुईं तो रुपये का अतिमूल्यन होने का भय था, जिसका भारत पर दुष्प्रभाव पड़ना आवश्यक था। श्री ठाकुरदास का यह भी मत था कि क्योंकि आयोग की सुझाई हुई दर वास्तविक न थी, देश के उद्योगों को उसके अनुसार समायोजन करना आवश्यक था और यह कार्य काफी दुखदाई तथा कठिन होता है। ऊँची दर के कारण विदेशी स्पर्धा के बढ़ने और देश के उद्योग-धन्धे ठप्प हो जाने, बेरोजगारी फैलने और देश से सोने का निर्यात होने का भी भय था।

आयोग के बहुमतीय सुझाव भारतीय धारा-सभा ने मन्जूर कर लिए और मार्च सन् १९२७ में करेन्सी बिल पास कर दिया गया। इस बिल ने विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पैंस नियत किया। इसने भारत सरकार का यह भी उत्तरदायित्व रखा कि वह प्रत्येक बेचने वाले से २१ रुपया ३ आना १० पाई प्रति तोला की दर से सोना खरीदे और इसी प्रकार ४०-४० तोले की छड़ों में प्रत्येक खरीदने वाले को सोना बेचे। सोना बेचने के बदले में सरकार ऐसा भी कर सकती थी कि विदेशी व्यापार

के लिए १ शिलिंग ६ पैंस की दर पर विदेशी विनिमय प्रदान कर दे। साथ ही साथ सावरेन तथा अर्ध-सावरेन का, जिन्हें पहले विधि-ग्राह्य घोषित किया था, विमुद्रीकरण (Demonetisation) कर दिया गया। इस प्रकार आरम्भ में भारत सरकार ने आयोग के सुझावों को केवल विनिमय दर तथा स्वर्ण-पाटमान के सम्बन्ध में ही स्वीकार किया। रिजर्व बैंक की स्थापना के प्रश्न को कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया गया।

विनिमय दर सम्बन्धी वाद-विवाद—

विनिमय दर के प्रश्न ने एक लम्बे वाद-विवाद को जन्म दिया। यह वाद-विवाद आयोग की सिफारिशों के प्रकाशित होते ही आरम्भ हो गया और दूसरे महायुद्ध के बाद भी चलता रहा। सन् १९२७ में भारत सरकार के वित्त सदस्य सर बासिल ब्लैकेठ (Sir Basil Blackett) ने १ शिलिंग ६ पैंस की दर के पक्ष में निम्न तर्क रखे थेः—

(१) यह कि इस दर पर रुपया पिछले दो वर्षों से स्थिर था, जिससे पता चलता था कि यही प्राकृतिक दर थी, जो भारत तथा संसार की आर्थिक दशाओं ने उत्पन्न की थी।

(२) यह कि कीमतों, उत्पादन व्यय और लगभग सारी ही अर्थ-व्यवस्था का इस दर से समायोजन हो चुका था। इस कारण इसमें परिवर्तन करने की दशा में फिर से समायोजन की आवश्यकता पड़ेगी।

(३) यह कि केन्द्रीय और प्रान्तीय (राज्य) बजट इस दर के आधार पर पहले से ही बनाये जा चुके थे। दर को बदलने का अर्थ यह था कि बजटों का सन्तुलन भंग हो और अधिक करारोपण की आवश्यकता पड़े।

(४) यह कि यदि १ शिलिंग ४ पैंस की दर स्वीकार की गई तो दूसरे देशों की तुलना में भारत में कीमतें नीची हो जायँगी, जिन्हें ऊपर उठाने के लिए मुद्रा-प्रसार आवश्यक हो जायगा।

(५) यह कि क्योंकि १ शिलिंग ४ पैंस की दर कृत्रिम होगी, इसे केवल मुद्रा-प्रसार द्वारा ही बनाये रखना सम्भव होगा, जिससे श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी घटेगी और औद्योगिक अशान्ति फैलेगी।

सरकारी दृष्टिकोण के विरुद्ध गैर-सरकारी वर्गों ने बहुत से तर्क रखे। इनमें से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार हैंः—

(१) यह कि पिछले २० वर्षों से रुपये की कीमत १ शिलिंग ४ पैंस पर बनी हुई थी।

(२) यह कि भारत में सन् १९२६ तथा सन् १९१४ के [illegible] कीमत-स्तर समान हो गये। इससे पता चलता था कि सन् १९२७ में भी सन् १९१४ की भांति विनिमय दर १ शिलिंग ४ पैंस ही रहनी चाहिए।

(३) १ शिलिंग ६ पैंस की दर कृत्रिम थी और पिछले [illegible] वर्षों की चार अच्छी फसलों पर आधारित थी और कीमतें, उत्पादन व्यय तथा आर्थिक जीवन का अभी तक इसी दर में समायोजन नहीं हो पाया था।

(४) इस नीति का परिणाम यह होगा कि सरकार ने विभेदात्मक उद्योग संरक्षण (Discriminating Protection) की जो नीति अपनाई है उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ पायेगा, क्योंकि ऊँची विनिमय दर एक प्रकार विदेशी व्यापारियों के लिए आर्थिक सहायता होगी, अतः विदेशी स्पर्धा के कारण देश के उद्योग ठप्प हो जायेंगे।

(५) क्योंकि भारतीय निर्यातों की कीमत उनके आयातों की कीमत से अधिक थी, ऊँची दर के ग्रहण करने से यह स्थिति बदल जायगी और देश की हानि होगी।

(६) १ शिलिंग ६ पैंस की नई दर को बनाये रखने के लिए काफी मुद्रा-संकुचन की आवश्यकता पड़ेगी, जिसके कारण मजदूरी, उत्पादन तथा आर्थिक उन्नति का वेग कम हो जायगा।

(७) संसार में सोने की कीमतों के नीचे गिरने की सम्भावना के कारण १ शिलिंग ६ पैंस की दर को बनाये रखना कठिन होगा।

(८) इस बात का भारी भय था कि इस दर को केवल सोने का निर्यात करके ही स्थिर किया जा सकता था और इस प्रकार देश के स्वर्ण कोषों में भारी कमी की आशंका थी।

(९) ऊँची विनिमय दर का अभिप्राय एक प्रकार का अदृश्य मुद्रा-प्रसार होता है, जो परोक्ष और अदृश्य शोषण होगा।

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है कि सरकार ने गैर सरकारी विचारों पर ध्यान नहीं दिया और मार्च सन् १९२७ में ही एक बिल के द्वारा १ शिलिंग ६ पैंस विनिमय दर को लागू कर दिया। तब से दिखाने को तो यह दर स्थिर रही थी, परन्तु वास्तव में इसे बनाये रखने के लिए भारी मुद्रा-संकुचन किया गया था और मुद्रा-बाजार को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। दर को बनाये रखने के लिए भारत सरकार को इङ्गलैण्ड में स्टर्लिङ्ग ऋण भी लेना पड़ा था।

भारत में स्वर्ण-पाट-मान—

हिल्टन-यङ्ग आयोग ने भारत के सम्बन्ध में लगभग सभी मौद्रिक मानों की जाँच की थी। आयोग को स्वर्ण-विनिमय-मान, स्टर्लिङ्ग-विनिमय-मान, स्वर्णमान-मुख्य तथा स्वर्ण-पाट-मान में से किसी एक को चुनना था। सभी मानों के गुण और दोषों की जाँच करने के पश्चात् आयोग ने स्वर्ण-पाट-मान के स्थापित करने का सुझाव दिया था। स्वर्ण-विनिमय-मान के सम्बन्ध में आयोग का विचार था कि यद्यपि यह मान स्वर्ण में रुपये की कीमत की स्थिरता ला सकता था, परन्तु इसमें कई गम्भीर दोष थे:— प्रथम, इसकी कार्य-विधि जटिल थी और जन-साधारण की समझ से बाहर थी। दूसरे, इस प्रणाली में मुद्रा का विस्तार तथा संकुचन मौद्रिक कारणों द्वारा स्वयं ही नहीं हो जाता था, उसे परिषद् तथा प्रति परिषद् विपत्रों की विधि द्वारा घटाया-बढ़ाया जाता था। तीसरे, इस प्रणाली में लोच का अभाव था और यह विनिमय दरों के लिए प्राकृतिक सुधारक (Curatives) उपलब्ध नहीं करती थी। चौथे, इस प्रणाली में स्वर्ण की बचत के स्थान पर उसका बहुत ही बुद्धिहीन और अपव्ययी खर्च होता था तथा मुद्रा और साख के नियन्त्रण की विभाजित जिम्मेदारी थी।

इसी प्रकार आयोग ने स्टर्लिंग-विनिमय-मान की भी जाँच की, परन्तु आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस प्रणाली में स्वर्ण-विनिमय-मान के सभी दोषों के अतिरिक्त एक गम्भीर दोष यह था कि यह भारत की मुद्रा प्रणाली और मुद्रा नीति को इंगलैंड का दास बना देती थी। ऐसी स्थिति संकट से खाली न थी।

स्वर्णमान मुख्य के विरुद्ध दो तर्क रखे थे :—प्रथम, यह कि भारत के लिए इसके संचालन हेतु पर्याप्त मात्रा में सोना प्राप्त करना लगभग असम्भव था। दूसरे, इसमें यह भय था कि स्वर्ण में चाँदी की कीमतें गिरेंगी, जिसके कारण भारतवासियों को भारी हानि होगी, क्योंकि उनके रजत कोषों की कीमत रखे-रखे गिर जायगी।

इन सभी कारणों से आयोग ने स्वर्ण-पाट-मान की स्थापना का सुझाव दिया, परन्तु यद्यपि हिल्टन-यंग आयोग ने स्वर्ण-विनिमय-मान को समाप्त करने और भारतीय रुपये का प्रत्यक्ष रूप में स्वर्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का सुझाव दिया था, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं किया गया था। अब भी रुपये का सम्बन्ध विदेशी मुद्राओं से स्वर्ण के स्थान पर स्टर्लिंग के द्वारा ही बना रहा। यहाँ तक कि जब स्टर्लिंग का स्वर्ण में अवमूल्यन भी हो गया तो रुपए और स्टर्लिंग की विनिमय दर ज्यों की त्यों बनी रही। सन् १९२७ और सन् १९२८ के वर्ष भारत तथा बाहर के देशों में आर्थिक स्थिरता और संतुलन के वर्ष थे, परन्तु सन् १९२९ में अन्तिम काल में विश्वव्यापी

अवसाद आरम्भ हुआ। इस मन्दी का सबसे बुरा प्रभाव कृषक देशों पर पड़ा। भारत में इसके दुष्परिणाम सन् १९३० में दृष्टिगोचर हुए। भारतीय निर्यातों में कमी होने लगा और इसके व्यापारिक शेष की अनुकूलता घटने लगी। इस कारण विनिमय दर की स्थिरता को बनाये रखना कठिन हो गया। सन् १९३३ के मध्यकाल तक यूरोप के देशों की दशायें काफी बिगड़ गईं थीं। जिन विदेशियों ने भारतीय कोषागार विपत्रों में अपना रुपया लगा रखा था उन्होंने उसे वापस लेना आरम्भ कर दिया। इसके कारण भारत में विदेशी मुद्राओं की माँग काफी बढ़ गई और इसके विपरीत विदेशी विनिमय बाजारों में रुपये की माँग में कमी आ गई। परिस्थितियों के क्रम में २१ सितम्बर सन् १९३१ के पश्चात्, जबकि इङ्गलैंड ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया, और भी परिवर्तन हो गया। २२ सितम्बर को भारत सरकार ने सन् १९२७ के करेन्सी एक्ट के कार्यपालन को स्थगित कर दिया, परन्तु इसके तीन ही दिन पश्चात् अर्थात् २५ सितम्बर सन् १९३१ को रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध पुनः स्थापित कर दिया गया। भारत में रुपये की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता समाप्त कर दी गई, क्योंकि स्टर्लिङ्ग का अब स्वर्ण से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा था। भारत का मौद्रिक मान स्वर्ण-पाट-मान तो क्या स्वर्ण-विनिमय-मान भी न रह सका। रुपये की केवल स्टर्लिङ्ग में ही परिवर्तनशीलता रखी गई थी, इसलिए हमारा मौद्रिक मान केवल स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान ही रह गया।

सन् १९३१ के पश्चात्—

स्वर्णमान के स्थगित करने का तुरन्त परिणाम यह हुआ कि स्वर्ण में स्टर्लिङ्ग की कीमत घटने लगी और साथ ही साथ भारतीय रुपये का स्वर्ण मूल्य भी तेजी के साथ गिरने लगा। इस मूल्य पतन को रोकने के लिए भारत सरकार ने विनिमय नियन्त्रण लागू कर दिया। इसका आशय यह था कि कोई भी व्यक्ति भारत के साथ विदेशी विनिमय व्यवसाय केवल भारत सरकार द्वारा ही कर सकता था। भारत में विनिमय नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य विनिमय दरों में होने वाले सट्टे को रोकना था, परन्तु अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि विनिमय नियन्त्रण अनावश्यक था और इसलिए जनवरी सन् १९३२ के अन्त तक इसे समाप्त कर दिया गया। वास्तविकता यह है कि सितम्बर सन् १९३१ और मार्च सन् १९३८ के बीच रुपया स्टर्लिंग विनिमय दर में साधारणतया काफी स्थिरता रही है। केवल सन् १९३८ में कुछ उथल-पुथल हुई थी। अन्त में सन् १९३९ में दूसरे महायुद्ध के आरम्भ हो जाने पर भारत सरकार ने देश में कड़ा विनिमय नियन्त्रण लागू कर दिया, जिसके फलस्वरूप देश में भारी मुद्रा-

प्रसार के फैलने के बावजूद भी विनिमय दर की स्थिरता बराबर बनी रही।

इसका अर्थ यह नहीं है कि सन् १६३८ तक विनिमय दर की स्थिरता का कारण यह था कि १ शिलिंग ६ पैंस की विनिमय दर समुचित तथा वास्तविक थी। यथार्थ में सन् १६३१ और सन् १६३८ के बीच के काल में इस विनिमय दर को ग्रहण करने की बुद्धिहीनता पूर्ण रूप से स्पष्ट हुई। इस स्थिरता का प्रमुख कारण यह था कि भारत बराबर भारी मात्राओं में सोने का निर्यात कर रहा था। महान अवसाद के काल में हमारे व्यापाराशेष की अनुकूलता पहले ही कम हो गई थी। केवल इसी के कारण विनिमय दरों की स्थिरता को बनाये रखना कठिन हो सकता था, यदि वस्तुओं के निर्यात की कमी को स्वर्ण निर्यात द्वारा पूरा नहीं किया जाता। सन् १६३१ के मध्य में सोने का भाव २१ रुपये १३ आने ३ पाई प्रति तोला था, जो उसी वर्ष के अन्त तक २६ रुपये २ आने हो गया था। सोने की कीमतों के बढ़ने के कारण लोगों ने उसे संचित जोड़ तथा जेवरात में से निकाल कर बेचना आरम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त अवसाद के काल में कीमतों के गिरने के कारण देश में उत्पादकों और व्यापारियों को काफी हानि हुई थी और उनके पास पैसे की कमी थी। इस कमी को उन्होंने भी सोना बेच कर पूरा करने का प्रयत्न किया। सितम्बर सन् १६३१ और सन् १६३२ के अन्त तक लगभग ५० करोड़ रुपये का सोना देश से बाहर भेजा गया। सन् १६३५ में सोने का भाव ३५ रुपये फी तोला हो गया और सोने का निर्यात बराबर होता रहा। सन् १६३८ के मध्य तक लगभग ३५० करोड़ रुपये का सोना भारत से चला गया था। इस प्रकार विदेशी सरकार की घृणित तथा बुद्धिहीन नीति के कारण भारतीय जनता की युगों की कमाई कुछ ही वर्षों में समाप्त हो गई। यह ऐसा समय था जबकि संसार का प्रत्येक देश सोने का संचय करने में लगा हुआ था, परन्तु भारत सरकार सोने का निर्यात करके ही प्रसन्न थी। भारतीय जनता की सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने की प्रार्थना ठुकराई जाती थी और उत्तर में यह कहा जाता था कि सोने का निर्यात इसलिए हो रहा था कि एक ओर तो भारतवासियों के पास सोना बहुत है और दूसरी ओर उन्हें उसकी अच्छी कीमत मिल रही है। इस काल में भारत सरकार ने सोने को स्वयं खरीदने का काम भी नहीं किया। स्वर्णपाट-मान तथा १ शिलिंग ६ पैंस की विनिमय दर ने, जिसे हमने स्थिर रखने का प्रयत्न किया था, हमें यही फल प्रदान किये थे।

इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है कि सोने का इतनी भारी मात्रा में निर्यात क्यों हुआ था। कुछ लोगों का कहना है कि वह केवल महान

अवसाद का ही एक आवश्यक परिणाम था। कहा जाता है कि कीमतों के पतन और आय की कमी ने लोगों को सोने के उन संचित स्टॉकों को बेचने पर बाध्य किया जो उन्होंने अच्छे वर्षों में जमा किये थे। आय की वर्तमान हानि की पूर्ति पिछली बचत में से की गई और भारत में बचत को सोने के रूप में ही रखने की प्रथा थी। कुछ लोगों का विचार है कि इन स्वर्ण निर्यातों का कारण यह था कि रुपये का स्टर्लिङ्ग से गठबन्धन किया गया था और स्टर्लिङ्ग की कीमत सोने में बराबर गिर रही थी। स्टर्लिंग की कीमतों के इस प्रकार बराबर गिरते रहने के कारण सोने की भारतीय और विदेशी कीमतों का अन्तर बराबर बना रहा। विदेशों में सोने की कीमतें ऊँची थीं और निर्यात पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध न होने की दशा में यह स्वाभाविक ही था कि सोना देश से बाहर भेजा जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि देश के भीतर की आर्थिक कठिनाई और विनिमय दर की अवास्तविकता दोनों ही कारणों ने स्वर्ण निर्यातों को प्रोत्साहन दिया था, परन्तु यह निर्णय कठिन है कि इन दोनों में से कौनसा कारण अधिक प्रभावशाली था। इतना अवश्य निश्चय है कि यदि रुपये की विदेशी कीमत स्वतन्त्र रूप में निर्धारित होती तो भारतीय सोने का एक बड़ा भाग देश के भीतर ही रहता।

रिजर्व बैंक की स्थापना—

हिल्टन-यंग आयोग की एक सिफारिश रिजर्व बैंक की स्थापना के सम्बन्ध में थी, जिसे केन्द्रीय बैंक का रूप देने का सुझाव दिया गया था। सन् १९२७ में इस प्रश्न पर विचार को स्थगित कर दिया गया था, परन्तु केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (सन् १९३१) ने फिर इसकी स्थापना पर जोर दिया, अतः ६ अगस्त सन् १९३४ को भारत सरकार ने रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट पास किया, जिसके अनुसार १ अप्रैल सन् १९३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना हुई। इस बैंक की स्थापना से भारतीय चलन प्रणाली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। नोटों की निकासी का एकाधिकार इसी बैंक को प्रदान किया गया और पहली बार भारतीय चलन पद्धति, साख नियन्त्रण एवं मुद्रा-संचालन एक ही मौद्रिक संस्था को सौंपा गया। पत्र-मुद्रा चलन कोष, स्वर्ण कोष तथा अधिकोषण कोष इन तीनों का केन्द्रीयकरण कर दिया गया और रुपये की विनिमय दर का प्रबन्ध करने की जिम्मेदारी केन्द्रीय बैंक को दे दी गई।

चाँदी का निर्यात—

सन् १९३१ और सन् १९३९ के बीच सोने के निर्यात के साथ-साथ भारत सरकार ने भारी मात्रा में चाँदी भी विदेशों को बेची। चाँदी के

निर्यात के भी दो मुख्य कारण थेः—प्रथम, विदेशों में चाँदी की कीमत भारत की अपेक्षा ऊँची थी और दूसरे, हिल्टन-यंग आयोग की सिफारिशों पर भारत सरकार ने नोटों को रुपयों में बदलने का दायित्व हटा लिया था, जिससे रजत कोषों की अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी। सरकार ने भी चाँदी के निर्यातों का कोई विरोध नहीं किया और ३१ मार्च सन् १९३४ तक लगभग २ करोड़ औंस चाँदी बाहर भेज दी गई। जुलाई सन् १९३३ में एक अन्तर्राष्ट्रीय रजत समझौता हुआ था, जिसके अनुसार अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, मैक्सिको तथा पीरू की सरकारों ने प्रति वर्ष ३·५ करोड़ औंस चाँदी खरीदने का निर्णय किया था। इस प्रकार सोना ही नहीं, चाँदी भी भारत से बराबर बाहर जाती रही। इन निर्यातों के दुष्परिणाम दूसरे महायुद्ध के काल में भारत सरकार के सम्मुख आये जबकि उसे चाँदी को फिर सेखरीदने पर बाध्य होना पड़ा।

सन् १९३५ में अमरीका ने बहुत ही अधिक मात्रा में चाँदी खरीदना आरम्भ कर दिया, जिसके फलस्वरूप चाँदी की कीमतें बढ़ कर ३६$\frac{1}{8}$ पैंस प्रति औंस तक पहुँच गई। भारत से चाँदी के निर्यातों को और भी प्रोत्साहन मिला, परन्तु चाँदी की कीमतों की इस अत्यधिक वृद्धि का परिणाम यह हुआ कि चीन के लिए रजतमान का सञ्चालन कठिन हो गया और उसने रजतमान का परित्याग कर दिया। भारत सरकार ने भी ऐसा अनुभव किया कि संकट का समय दूर न था और उसने एक-एक रुपये के नोट छाप कर रख लिए, ताकि आवश्यकता पड़ने पर रुपयों की माँग को पूरा करने में कठिनाई न हो, परन्तु चीन द्वारा रजतमान के परित्याग करने का परिणाम यह हुआ कि अमरीका ने भी अपनी नीति बदल दी और चाँदी की कीमतें फिर गिरने लगीं। भारत सरकार को एक-एक रुपये के नोटों को चलन में लाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। सन् १९३६ में चाँदी के भाव १९ पैंस और २२ पैंस प्रति औंस के बीच रहे, परन्तु फिर भी सन् १९३९ तक चाँदी का निर्यात होता ही रहा।

क्या भारतीय चलन पद्धति का विकास हिल्टन-यंग आयोग की सिफारिशों के अनुसार हुआ है ?—

इस प्रश्न का उत्तर थोड़ा कठिन है कि भारतीय चलन पद्धति का विकास हिल्टन-यंग आयोग की सिफारिशों के अनुसार किस अंश तक हुआ है। इसमें तो सन्देह नहीं कि भारत सरकार ने आयोग की सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली थीं और उनके अनुसार चलन पद्धति का संचालन करने का भी पूरा प्रयत्न किया था। भारत में सैद्धान्तिक रूप में स्वर्ण-पाट-मान की स्थापना कर दी गई थी। विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पैंस पर बनाये रखने के पीछे सरकार ने देश का सारा सोना और

चाँदी विदेशों को भेज दिया था तथा देश के आर्थिक जीवन को विदेशी स्पर्धा से बचाने का कोई महत्त्वपूर्ण प्रयत्न नहीं किया था। सन् १९३५ में रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया की स्थापना करके साख, चलन और विदेशी विनिमय के नियन्त्रण की भी एक केन्द्रीय संस्था स्थापित कर दी गई थी। इस प्रकार सभी दिशाओं में आयोग की सिफारिशों को कार्य रूप देने का प्रयत्न किया गया था।

परन्तु यह समझना भूल होगी कि आयोग की सिफारिशों का वास्तविक उद्देश्य पूरा हो गया था। आयोग ने स्वर्णमान की स्थापना का सुझाव देकर रुपये और स्वर्ण के बीच स्पष्ट और प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की सिफारिश की थी, परन्तु व्यवहार में भारत सरकार ने रुपये का सोने से सम्बन्ध परोक्ष रूप में स्टर्लिङ्ग द्वारा ही रक्खा। विदेशी बाजार में रुपये को कोई स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त न थी। उसे सभी लोग केवल स्टर्लिङ्ग के माध्यम द्वारा ही जानते थे। यही कारण है कि जिस मान को भारत में स्वर्ण-पाट-मान का नाम दिया गया था वह वास्तव में स्टर्लिङ्ग विनिमय मान ही था, क्योंकि जब स्वर्ण में स्टर्लिंग का मूल्य ह्रास भी होता था तो तब भी रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर स्थिर ही रक्खी जाती थी। सन् १९३१ के पश्चात् तो यह मान प्रत्यक्ष रूप में ही स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान रह गया था। सच्चे अर्थ में भारत में स्वर्ण पाट मान कभी स्थापित ही नहीं हुआ था।

जहाँ तक विनिमय दर का प्रश्न है, आयोग ने १ शिलिंग ६ पैंस की दर को स्थापित करने तथा उसके बनाये रखने की सिफारिश अवश्य की थी, परन्तु आयोग ने यह नहीं सोचा था कि निकट भविष्य में ही इङ्गलैंड स्वर्णमान का परित्याग कर देगा। आयोग की यह भी मन्शा न ही थी कि स्टर्लिङ्ग के मूल्य-ह्रास की दशा में भी रुपये और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर में परिवर्तन नहीं होने चाहिये। आयोग ने तो रुपये का सम्बन्ध स्वर्ण से स्थापित करने की सलाह दी थी। वह रुपये और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर को स्थायी रखने के पक्ष में न था। इस प्रकार भारत की चलन पद्धति यथार्थ में आयोग के सुझावों के अनुसार विकसित न हो सकी।

अध्याय १४

भारतीय चलन का इतिहास (क्रमशः)

(सन् १९३९—१९५८)

(The History of Indian Currency Contd.)

३ सितम्बर सन् १९३९ को द्वितीय महायुद्ध की घोषणा की गई। उस समय भारत में स्टर्लिङ्ग विनिमय मान प्रचलित था। भारत की प्रामाणिक मुद्रा रुपया था और रुपये के सिक्के, अठन्नी तथा नोटों को असीमित विधि-ग्राह्यता प्राप्त थी। रुपया स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर १ रुपया = १ शिलिंग ६ पैंस थी और सरकार इस दर पर स्टर्लिङ्ग खरीदने और बेचने की जिम्मेदारी लेती थी। रुपये के सिक्के, अठन्नी तथा कागज के नोटों के अतिरिक्त देश में चाँदी और गिलट की चुवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी और ताँबे के पैसे प्रचलित थे। देश का व्यापाराशेष साधारणतया अनुकूल रहता चला आया था। यद्यपि भारतीय रुपये को कोई स्वतन्त्र बाजार प्राप्त न था, ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग होने के कारण भारत को भी मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में भाग लेना पड़ा। युद्ध में सम्मिलित अन्य देशों की भाँति भारत सरकार को भी युद्धकालीन स्थिति का सामना करने के लिये देश की अर्थ-व्यवस्था में समय-समय पर आवश्यक समायोजन करने पड़े। युद्ध के कारण देश की अर्थ-व्यवस्था पर बहुत खिंचाव पड़ा। मुद्रा-प्रसार इतना अधिक हुआ और जनता को इतना कष्ट हुआ कि मुद्रा प्रणाली टूटते-टूटते बची।

युद्ध के आघात के प्रथम प्रभाव साधारणतया अर्थ-व्यवस्था के लिए हितकारी सिद्ध हुए। देश में उत्पादन तथा व्यापार का विस्तार हुआ, वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ीं और अनेक वर्षों के पश्चात् कृषकों की आर्थिक दशा में सुधार हुआ। आरम्भ में ऐसा प्रतीत हुआ कि देश की अर्थ-व्यवस्था ने युद्ध की टक्कर को सरलतापूर्वक बिना किसी विशेष आतङ्क के सह लिया था। रुपया स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर १ शिलिंग ६ पैंस पर ही जमी रही और इसी दर पर रिज़र्व बैंक ने देश की आन्तरिक तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारी मात्रा में स्टर्लिङ्ग खरीदा, परन्तु डालर तथा येन (Yen) में रुपये का मूल्य-पतन हो गया। ब्रिटिश सरकार ने स्टर्लिङ्ग और डालर की विनिमय दर १ पौंड = ४·०३ डालर रखी और इस आधार पर रुपये तथा डालर की दर १ डालर = ३·३२ रुपया हो गई। युद्ध काल में व्या-

ार की तेजी तथा कीमतों के बढ़ने के कारण चलन की माँग में काफी ृद्धि हुई। इस माँग की पूर्ति के लिए सिक्कों तथा कागज के नोटों का चलन बढ़ा। कागज के नोटों का प्रचलन सितम्बर सन् १९३९ में १८०·६ करोड़ रुपये से बढ़कर जून सन् १९४६ में १२७२·६ करोड़ रुपया हो ाया। पत्र मुद्रा का यह अत्यधिक विस्तार भारत सरकार ने स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों तथा कोषागार विपत्रों की सहायता से किया था।

चाँदी के उपयोग में बचत (The Conservation of Silver)—

दूसरे महायुद्ध के काल में भारतीय चलन पद्धति की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि रुपए के सिक्कों में प्रचलन से निकलने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई और एक-एक रुपये के नोट चालू किये गये। युद्ध के आरम्भ काल में पत्र-मुद्रा के प्रति विश्वास बना रहा था, परन्तु फ्रान्स के पतन के पश्चात् मई और जून सन् १९४० में कागजी नोटों को रुपये के सिक्कों में बदलने की माँग बहुत बढ़ गई और क्योंकि रिजर्व बैंक का यह वैधानिक उत्तरदायित्व था कि वह नोटों के बदले में रुपये के सिक्के उपलब्ध करे, लोगों ने नोटों को रुपयों में तेजी के साथ भुनाना आरम्भ कर दिया। साधारणतया नोटों को रुपयों में बदलने की माँग एक करोड़ रुपया प्रति सप्ताह से भी कम रहती थी, परन्तु मई सन् १९४० में यह एकदम ४·५ करोड़ रुपया प्रति सप्ताह तक पहुँच गई। जून सन् १९४० के प्रथम सप्ताह तक रिजर्व बैंक का संचित रुपया कोष युद्ध के आरम्भ में ७५·४७ करोड़ रुपया से घट कर केवल ३२ करोड़ रुपया रह गया। भारतीय टकसालों के लिये रुपयों के सिक्कों को उतनी तेजी के साथ ढालना असम्भव था जितनी तेजी से कि वे प्रचलन से निकल कर संचित कोषों में गायब हो रहे थे, यद्यपि भारत सरकार के पास चाँदी के स्टॉकों की कमी न थी। इस कारण १५ जून सन् १९४० को भारत सरकार ने एक अध्यादेश द्वारा रुपयों का अनिगमन तथा व्यावसायिक आवश्यकता से अधिक मात्रा में जमा करना दण्डनीय बना दिया। कुछ समय तक रुपये के सिक्के की कीमत नोटों से अधिक रही और रुपये के सिक्कों और खेरीज के छोटे-छोटे सिक्कों की भारी कमी अनुभव हुई। इस परिस्थिति का सामना रिजर्व बैंक ने एक रुपये का नोट निकाल कर किया, जिन्हें अपरिमित विधि-ग्राह्य घोषित किया, परन्तु इन्हें चाँदी के रुपयों में बदलने का बैंक पर किसी भी प्रकार का उत्तरदायित्व न था।

चाँदी के उपयोग में बचत करने का दूसरा उपाय भारत सरकार ने यह किया कि सभी चाँदी के सिक्कों की प्रमापित शुद्धता (Fineness) में कमी कर दी। अप्रैल सन् १९४० में केन्द्रीय धारा सभा ने भारत सरकार को यह अधिकार प्रदान किया कि वह चुवन्नी की शुद्धता ११/१२ से घटा कर १/२ कर दे। तत्पश्चात् २६ जुलाई सन् १९४० को अठन्नी की

शुद्धता भी ११/१२ से घटा कर १/२ कर दी गई। २३ दिसम्बर सन् १९४० को यह कमी रुपये के सिक्के पर भी लागू कर दी गई। ये सभी उपाय इसीलिए किये गये थे कि भारत सरकार चाँदी के प्रस्तुत स्टॉकों से अधिक काम लेना चाहती थी। सरकार ने चाँदी के पुराने रुपयों का प्रचलन भी बन्द कर दिया। ११ अक्टूबर सन् १९४० को एक आदेश निकाला गया, जिसके द्वारा महारानी विक्टोरिया के छापे के रुपयों और अठन्नियों का विमुद्रीकरण कर दिया गया तथा सरकार ने १ अप्रैल सन् १९४१ तक उन्हें वापस माँग लिया। ४ नवम्बर सन् १९४१ को एडवर्ड के छापे वाले रुपये और अठन्नियाँ भी बन्द कर दी गईं और ये सिक्के ३० सितम्बर सन् १९४२ तक सरकारी खजाने तथा रेल्वे स्टेशनों पर वापस माँगे गये। १ नवम्बर सन् १९४३ से जार्ज पंचम तथा जार्ज षष्टम के वे रुपये और अठन्नियाँ भी बन्द कर दिये गये जिनकी शुद्धता ११/१२ थी। इस प्रकार पुराने सिक्कों को बन्द करके तथा नये सिक्के चला कर, जिनमें चाँदी की मात्रा कम रखी गई थी, चाँदी के उपयोग में बचत की गई।

सन् १९४२-४३ में छोटे-छोटे सिक्कों की भी भारी कमी अनुभव हुई थी। लोगों ने ताँबे के पैसों तथा अन्य छोटे-छोटे सिक्कों को गलाना और जोड़ कर रखना आरम्भ कर दिया था। बड़े-बड़े शहरों में छोटे-छोटे सिक्कों के स्थान पर डाकखाने के टिकट खेरीज के रूप में चलने लगे। भारत सरकार ने भारत सुरक्षा विधान के अन्तर्गत रेजगारी का सञ्चय दण्डनीय घोषित कर दिया। रेजगारी की कमी को दूर करने के लिए बम्बई और कलकत्ते की टकसालों ने पैसों का ढालना आरम्भ कर दिया। छोटे सिक्कों की ढलाई के लिये लाहौर में भी एक नई टकसाल स्थापित की गई। जनवरी सन् १९४२ में गिलट का अधन्ना चालू किया गया। इकन्नी और दुअन्नी में भी गिलट की मात्रा बढ़ा दी गई। सन् १९४३ में छेद वाला पैसा निकाला गया, परन्तु इसका वाशर (Washer) के रूप में इतना अधिक उपयोग होने लगा कि थोड़े ही समय में सरकार को इसकी ढलाई बन्द करनी पड़ी। सरकार ने तेजी के साथ छोटी कीमत के सिक्के निकालने आरम्भ कर दिये और सन् १९४४ में ऐसे सिक्कों का उत्पादन २१ करोड़ ९० लाख प्रति मास तक पहुँच गया। इस प्रकार धीरे-धीरे रेजगारी की कमी दूर हो गई।

मुद्रा-विस्तार, मुद्रा-स्फीति तथा कीमतों की वृद्धि—

भारतीय चलन के इतिहास में दूसरे महायुद्ध के काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना चलन और साख-मुद्रा का अत्यधिक विस्तार और उसके कारण उत्पन्न होने वाली कीमत-वृद्धि थी। इस काल में सरकार की सामान्य नीति अधिक से अधिक पत्र-मुद्रा निकाल कर युद्ध-व्यय को पूरा करना थी।

सन् १६३६ और सन् १६४५ के बीच नोटों का प्रचलन १८० करोड़ रुपये से बढ़कर १,०३४ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। इसी काल में साख-मुद्रा की मात्रा भी दो गुने से ऊपर पहुँच गई। पत्र-मुद्रा की इस वृद्धि के साथ कीमत-स्तर भी बराबर ऊपर उठता गया। निम्न आँकड़े स्थिति का अच्छा अनुमान प्रदान करते हैं:—

वर्ष	नोटों की संख्या (करोड़ रुपयों में)	आर्थिक सलाहकार का मूल्यांक (१६३६ = १००)
१६३६	१८०	१००
१६४०	२३८	१२२
१६४१	२४५	११४
१६४२	३५३	१५१
१६४३	५६३	१६५
१६४४	८८२	२३६
१६४५	१,०३४	२५०

आर्थिक सलाहकार के मूल्यांक से स्थिति का वास्तविक अनुमान नहीं मिलता है, क्योंकि ये केवल सरकार द्वारा नियन्त्रित कीमतों के आधार पर बनाये गये हैं। वास्तव में अनियन्त्रित वस्तुओं और चोर-बाजार की कीमतें बहुत ऊँची थीं और सन् १६४५ का मूल्यांक ४०० से भी ऊपर होना चाहिए था।

कीमतों की इस अत्यधिक वृद्धि ने सन् १६४३ से ही मुद्रा-स्फीति की दशाएँ उत्पन्न कर दी थीं। रिजर्व बैंक ने भी यह स्वीकार किया कि मुद्रा-स्फीति बढ़ रही थी, परन्तु रिजर्व बैंक ने इसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। सन् १६४३ की वार्षिक रिपोर्ट में रिजर्व बैंक ने यह स्वीकार कर लिया था कि जीवन रक्षक वस्तुओं की कीमतों के बढ़ने के कारण स्फीति को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला था। बैंक की सन् १६४४ की वार्षिक रिपोर्ट में बताया गया था :—"मुद्रा-स्फीति को दूर करने के लिये सरकार ने जनता से ऋण लेना आरम्भ कर दिया है और नये-नये कर लगाये हैं। यदि इन दोनों कामों में सरकार को सफलता न मिली तो देश में कीमतों को बढ़ने से रोकना और जीवन निर्वाह व्यय को कम करना असम्भव हो जायगा।"

कीमतों की इस भारी वृद्धि के अनेक कारण थे, परन्तु प्रमुख कारण चलन और साख-मुद्रा का अत्यधिक विस्तार था। युद्ध-काल में चलन की कुल वृद्धि १,१६८.६४ करोड़ रुपया थी, जिसका ८२.५% पत्र-मुद्रा की वृद्धि, ११.८% रुपये के सिक्कों की वृद्धि तथा ५.६% छोटे सिक्कों की मात्रा की वृद्धि के कारण हुआ था।

युद्ध के काल में भारत का व्यापाराशेष भी निरन्तर अनुकूल ही बना रहा। युद्ध-कालीन व्यापाराशेष की स्थिति निम्न प्रकार थी :—

वर्ष	व्यापाराशेष की अनुकूलता (करोड़ रुपयों में)
१९३८—३९	+ १७·५९
१९३९—४०	+ ४८·८१
१९४०—४१	+ ४१·९९
१९४१—४२	+ ७९·६०
१९४२—४३	+ ८४·२५
१९४३—४४	+ ९१·३२
१९४४—४५	+ २६·०८

इस अनुकूल व्यापाराशेष के बदले में न तो भारत को सोना ही प्राप्त हुआ और न इसके बदले में वस्तुएँ ही प्राप्त हुईं। ब्रिटिश सरकार ने इसके बदले में हमें केवल स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ ही दीं, जिनको रिजर्व बैंक ने निधि के रूप में उपयोग करके कागज के और अधिक नोट छाप दिये। युद्ध के काल में सोना तो देश से बाहर भी भेजा गया। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि अकेले सन् १९४० में लगभग ३४ करोड़ रुपये का सोना देश के बाहर भेजा गया।* इस सोने के बदले में भी हमें स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ ही प्राप्त हुईं तथा उनके आधार पर पत्र-मुद्रा में और भी वृद्धि की गई। इसी काल में भारत सरकार का रक्षा व्यय भी बहुत अधिक रहा था। स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों के अतिरिक्त भारत सरकार ने कोषागार विपत्रों के आधार पर भी नोट छापे। सन् १९३९-४० में ऐसे कोषागार विपत्रों की मात्रा, जिनके आधार पर नोट छापे गये थे, केवल ३७ करोड़ रुपया थी, परन्तु सन् १९४१-४२ में यह ७५ करोड़ रुपया हो गई थी और सन् १९४२-४३ में १३९ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी।

भारत में विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control in India)—

युद्ध का आरम्भ होते ही भारत रक्षा अध्यादेश (Defence of India Ordinance) के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने रिजर्व बैंक को सिक्कों, धातुओं प्रतिभूतियों तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवसायों के नियन्त्रण और इस नियन्त्रण के शासन का काम सौंप दिया। आरम्भ से ही देश में कड़ा विनिमय नियन्त्रण लागू कर दिया गया। विदेशी विनि-

* *See The 14 th Annual Report*, Federation of Indian Chamber of Commerce and Industries, 1940.

मय सम्बन्धी व्यवसाय केवल कुछ स्वीकृत फर्मों तथा संस्थाओं द्वारा ही किये जा सकते थे और इस उद्देश्य से कुछ भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों तथा विदेशी विनिमय बैंकों को अनुज्ञापन (Licences) प्रदान कर दिये गये थे। विनिमय नियन्त्रण की सामान्य नीति यह थी कि [illegible] साम्राज्य देशों की मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता था, परन्तु साम्राज्य से बाहर के देशों की मुद्रा के [illegible] को वास्तविक व्यापार आवश्यकताओं के अनुसार सीमित रखा जाता था। फिर भी यात्रा-व्यय तथा व्यक्तिगत विप्रेषों (Remittances) के लिए कुछ गुन्जाइश रखी जाती थी। भारतीय विनिमय नियन्त्रण अधिकारियों की नीति यही थी कि भारत में सभी प्रकार के विदेशी विनिमय व्यवसाय उन विनिमय दरों के आधार पर किये जायें जो समय समय पर लन्दन विनिमय नियन्त्रण द्वारा घोषित की जाती थी और साथ ही रुपये और स्टर्लिङ्ग की विनिमय दर १८ पैंस पर स्थिर रखी जाय। बिना रिजर्व बैंक से आज्ञा प्राप्त किये कोई भी व्यक्ति न तो विदेशियों से प्रतिभूतियाँ खरीद सकता था और न ही उनका निर्यात कर सकता था। प्रतिबन्धों का प्रमुख उद्देश्य पूँजी के निर्यात और विदेशी दरों में होने वाले सट्टे को रोकना था। विनिमय नियन्त्रण के दृष्टिकोण से साम्राज्य तथा समधन (Commonwealth) देशों को एक ही चलन इकाई अर्थात् स्टर्लिङ्ग का क्षेत्र मान लिया गया था। इस क्षेत्र के भीतर कोषों के हस्तान्तरण पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये गये थे, परन्तु इस क्षेत्र के बाहर चलनों के क्रय-विक्रय पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाता था।

आयात नियन्त्रण—

आरम्भ में तो बैंकों को विदेशी विनिमय के बेचने के विषय में काफी छूट दी गई थी, परन्तु जैसे-जैसे युद्ध आगे को बढ़ता गया, बैंकों के अधिकारों में निरन्तर कमी की गई। अन्त में ऐसी व्यवस्था की गई कि बैंक केवल रिजर्व बैंक से आज्ञा प्राप्त करके ही कुछ अनुज्ञापित आयातों तथा व्यक्तिक विप्रेषों का भुगतान करने के लिए विदेशी विनिमय बेच सकती थीं। इस प्रकार एक कड़ा आयात नियन्त्रण स्थापित किया गया और बिना अनुज्ञापन के स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के बाहर के देशों अर्थात् दुर्लभ मुद्रा देशों (Hard Currency Countries) से कोई भी माल नहीं मँगाया जा सकता था। इस नियन्त्रण के दो उद्देश्य थे :—प्रथम, विदेशी व्यापार के भारी असंतुलन को रोकना और दूसरे, ऐसे आयातों को प्राथमिकता (Priority) देना जिनका युद्ध कार्यों अथवा आवश्यक नागरिक कार्यों के लिए अधिक महत्त्व था।

निर्यात नियन्त्रण—

विनिमय नियन्त्रण के साथ ही साथ यह भी आवश्यक समझा गया कि स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से बाहर भारत से जो भी माल भेजा जाय उसको प्राप्त कीमत पर भी नियन्त्रण रखा जाय। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए रिजर्व बैंक ने एक निर्यात नियन्त्रण योजना भी लागू की। इस योजना के भी दो उद्देश्य थे :—प्रथम, यह कि निर्यातों की कीमत विदेशों में न रहे, बल्कि भारत में आ जाय। दूसरे, यह कि निर्यातों की कीमतों का भुगतान एक निश्चित रीति से हो, जिससे उनका अधिकतम् मूल्य प्राप्त हो सके। भारत द्वारा अमेरिका को किये जाने वाले निर्यातों से जो भी मूल्य प्राप्त किया जाता था वह ब्रिटिश सरकार को दे दिया जाता था, जो उसे साम्राज्य डालर कोष में रखकर उसका उपयोग युद्ध सम्बन्धी सामानों के खरीदने के लिए करती थी। इस योजना का उद्देश्य युद्ध का सफल संचालन था।

साम्राज्य डालर कोष (The Empire Dollar Pool)—

सन् १६३६ में ही ब्रिटिश सरकार ने स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के विदेशी विनिमय कोषों का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया था। क्षेत्र के किसी देश का ब्रिटेन के साथ व्यापाराशेष जितना भी अनुकूल होता था उसका निस्तारण ब्रिटेन स्टर्लिङ्ग देकर किया करता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देश के स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के बाहर के देशों के व्यापाराशेष का निस्तारण भी ब्रिटेन ने इसी प्रकार करना आरम्भ कर दिया। ६ मार्च सन् १६४० को भारत में एक नई योजना चालू की गई, जिसका उद्देश्य दुर्लभ मुद्रा देशों को भेजे जाने वाले निर्यातों से प्राप्त कीमत को सुरक्षित रखना था। इन देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विटजरलैंड, हॉलैंड, बेलजियम आदि सम्मिलित थे, जिनकी मुद्राएँ माँग की तुलना में दुर्लभ हो गईं थीं। योजना के दो उद्देश्य थे :—प्रथम, दुर्लभ मुद्राओं की प्राप्त मात्राओं पर नियन्त्रण रखना, ताकि युद्ध के सफल संचालन के लिए उनका समुचित उपयोग किया जा सके और दूसरे, दुर्लभ मुद्राओं को नियत दरों पर खरीदने और बेचने की योजना को सफल बनाना।

युद्ध से पूर्व प्रचलित प्रथा यह थी कि स्टर्लिंग क्षेत्र के अधिकाँश देश अपने लगभग सभी विदेशी विनिमय कोषों को लन्दन में स्टर्लिङ्ग के रूप में रखते थे। उस समय स्टर्लिङ्ग को अन्य सभी मुद्राओं में स्वतन्त्र परिवर्तनशीलता प्राप्त थी, जिसके फलस्वरूप उसके बदले में कोई भी मुद्रा प्राप्त की जा सकती थी। लड़ाई का आरम्भ होते ही स्टर्लिंग की यह परिवर्तनशीलता कठिन हो गई। इस कारण स्टर्लिंग क्षेत्र के कुछ देशों ने अपनी

विदेशी विनिमय आय को अपने ही कोष में जमा करना आरम्भ कर दिया। क्षेत्र के कुछ देशों ने युद्ध के सफल संचालन हेतु अपनी विदेशी विनिमय आय के व्यय पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिये। स्टर्लिंग क्षेत्र की सारी की सारी विदेशी विनिमय आय एक सामूहिक कोष में जमा की जाती, जो बैंक ऑफ इंगलैण्ड तथा ब्रिटिश सरकार के संरक्षण में रक्खा जाता था। इस कोष की सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्रा अमरीकन डालर थी। इसी कारण इस व्यवस्था का नाम साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) पड़ा। इस कोष में से स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्य देशों को व्यय के लिए कोई निश्चित अभ्यंश (Quota) नहीं दिया जाता था। क्षेत्र के सभी देशों ने यह स्वीकार किया कि उनमें से कोई भी विदेशी विनिमय का अनावश्यक व्यय नहीं करेगा। साथ ही सबने साथ साथ कोष से विदेशी विनिमय देने के लिए युद्ध का संचालन तथा नागरिक अर्थव्यवस्था को युद्ध-कालीन आधार पर बनाये रखना ही सर्वोचित उद्देश्य स्वीकार किया, परन्तु आवश्यकता का निर्णय सदस्य देश के ऊपर ही छोड़ दिया गया था और यदि सदस्य देश यह प्रमाणित कर देता था कि व्यय आवश्यक था तो कोष कभी भी उसके निर्णय का विरोध नहीं करता था। लड़ाई का अन्त हो जाने के पश्चात् कोष ने अपनी नीति को अधिक उदार बना दिया था।

ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि सन १९३९ और सन १९४६ के बीच भारत ने लगभग ४०५ करोड़ रुपये की कीमत का डालर प्राप्त किया था, जो सारा का सारा इस कोष में जमा कर दिया था, परन्तु इस काल में भारत का डालर व्यय केवल २०८ करोड़ रुपये की कीमत का था और इसके अतिरिक्त भारत द्वारा ५.१ करोड़ रुपये की कीमत का अन्य दुर्लभ मुद्राओं का व्यय किया गया था। इस प्रकार सब कुछ देखते हुए भारत की ओर से कोष को १४४ करोड़ रुपये का डालर अर्पित किया गया था।

मई सन् १९४० में भारत सरकार ने आयातों के अनुज्ञापत्र की एक नई प्रणाली ग्रहण की, जिससे कि विदेशी विनिमय के उपयोग में बचत हो सके और कुछ प्रकार के मालों के आयात बन्द हो जायँ। आरम्भ में तो वस्तुओं की एक छोटी सी सूची पर ही प्रतिबन्ध लगाये गये थे, परन्तु सन् १९४१ में वस्तुओं की सूची का इस प्रकार विस्तार किया कि उसमें विदेशों से आने वाली सभी वस्तुओं को सम्मिलित किया गया। केवल कनाडा से आने वाले कुछ प्रकार के मालों को इस सम्बन्ध में छूट दी गई थी। ऐसा करने का केवल यही उद्देश्य न था कि विदेशी विनिमय के व्यय को कम किया जाय, बल्कि इसके द्वारा जहाजों के भीतर के स्थान (Tonnage) में बचत करने का तथा अमरीका की उत्पादन शक्ति की रक्षा करने का

भी प्रयत्न किया गया था। जापान के युद्ध में सम्मिलित होने के पश्चात् जलयानों के यातायात में और भी अधिक कठिनाई अनुभव होने लगी, परन्तु सन् १९४२-४३ में उधार-पट्टा प्रणाली (Lend-lease System) के विकास ने डालर में भुगतान करने की आवश्यकता काफी कम कर दी। इस प्रणाली के अन्तर्गत भारत में भारी मात्रा में मशीनरी, इस्पात तथा अन्य सामानों का आयात किया गया, परन्तु इनकी कीमत आयात व्यापारियों ने भारत सरकार को केवल रुपयों में ही चुकाई और क्योंकि भारत सरकार के लिए डालर में भुगतान करने की आवश्यकता ही नहीं थी, इसलिये विदेशी विनिमय खरीदने का प्रश्न ही नहीं उठता था। जैसे-जैसे युद्धकालीन स्थिति का तनाव कम होता गया, आयातों के अनुज्ञापन प्रदान करने में अधिक उदारता दिखाई गई। देश में मुद्रा-स्फीति को रोकने तथा अनाज की कमी को दूर करने के लिये भारत सरकार ने अमरीका से भारी मात्रा में खाद्यान्न तथा उपभोगीय वस्तुओं के आयात किये, जिसके कारण अमरीका के साथ हमारा व्यापाराशेष प्रतिकूल हो गया, इसलिये भारत सरकार ने स्टर्लिंग क्षेत्र के सम्बन्ध में प्रतिबन्धों को ढीला किया और डालर के उपयोग में मितव्ययिता लाने के लिए डालर क्षेत्र के आयातों पर और भी कड़े नियन्त्रण लगाये।

सोने के सम्बन्ध में ब्रिटिश भारत के भीतर इसके हस्तान्तरण पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये गये थे, परन्तु बिना रिजर्व बैंक से आज्ञा-पत्र प्राप्त किये सोने के निर्यात नहीं हो सकते थे। स्वर्ण आयात के आज्ञा-पत्र तो सरलतापूर्वक प्रदान कर दिये जाते थे, परन्तु निर्यात् अनुज्ञापन तभी दिये जाते थे जबकि सोना या तो बैंक ऑफ इंगलैंड को भेजा जाता था, अथवा बैंक ऑफ इंगलैंड द्वारा माल खरीदने के लिये उपयोग किया जाता था। युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण यह आवश्यक था कि सभी स्वर्ण कोषों की भारत तथा ब्रिटेन के उपयोग के लिए बचत की जाय।

हमारे पौंड पावने (The Sterling Balances)—

भारतीय चलन के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना हमारे पौंड पावना ऋणों का जमा होना भी था। युद्ध से पूर्व भारत के ऊपर इंगलैंड का साम्राज्यवादी ऋण लदा हुआ था, परन्तु युद्ध के काल में यह सब ऋण चुका दिया गया और इसके अतिरिक्त भारत का इङ्गलैंड पर अरबों रुपयों का ऋण चढ़ गया। इस ऋण के चढ़ने की कहानी बड़ी मर्मस्पर्शी है, क्योंकि यह ऋण भारतवासियों के आधा-पेट खाने तथा नंगे तन रहने का परिणाम था। भारत ने इङ्गलैंड के युद्ध-व्यय को चलाने और इङ्गलैंड को

आवश्यक माल भेजने में भारी सहायता पहुँचाई, जिसके लिये भारी मात्रा में इङ्गलैंड को ऋण दिया गया। भारत के इस ऋण की माप स्टर्लिंग में की जाती थी और इसी कारण इसका नाम पौंड पावना अथवा स्टर्लिङ्ग पावना पड़ा।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट सन् १९३४ की धारा ३३ के अनुसार रिजर्व बैंक को स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों की आड़ पर नोट निकालने का अधिकार था। युद्ध-काल में भारत सरकार ने इस धारा की व्यवस्थाओं का पूरा-पूरा उपयोग किया। इङ्गलैण्ड भारत से जो कुछ भी माल खरीदता था उसके बदले में ब्रिटिश सरकार रिजर्व बैंक को स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ दे देती थी और इन प्रतिभूतियों को निधि के रूप में उपयोग करके रिजर्व बैंक बराबर नोट छापती रहती थी, जिनके द्वारा भारत में शोधन दे दिए जाते थे। पहले तो भारत सरकार ने इन प्रतिभूतियों का उपयोग अपने स्टर्लिङ्ग ऋणों के चुकाने के लिए किया, परन्तु धीरे-धीरे सारे ऋण का भुगतान हो गया और पौंड पावने ब्रिटिश ऋणों के रूप में जमा होते गये। ये पावने उस व्यय का फल हैं जो भारत ने इङ्गलैण्ड की ओर से किया था। इनकी वृद्धि के दो कारण उल्लेखनीय हैं:—

(१) भारत सरकार ने इङ्गलैण्ड की ओर से भारत में जो भी सामग्री खरीदी उसकी कीमत स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों में चुकाई गई और इस प्रकार पौंड पावनों की मात्रा बढ़ती गई। सरकार ने यह सभी माल नियन्त्रित कीमतों पर खरीदा था और भारतवासियों के लिए इसका बेचना बहुधा अनिवार्य होता था। परिणाम यह हुआ था कि देश में सन् १९४३ का बंगाल दुर्भिक्ष आया था और मुद्रा-प्रसार के कारण जनता को घोर कष्ट उठाने पड़े थे।

(२) भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार के लेखे पर मुद्रा-संचालन के लिये जो व्यय किया था उसकी रकम ने भी पौंड पावनों को बढ़ाया, क्योंकि इसके बदले में भी हमें स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ ही मिली थीं।

यही नहीं, भारत के अनुकूल व्यापाराशेष तथा डालर कोष में जमा किये हुये विदेशी विनिमय के बदले में भी स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ ही दी गई थीं और उन्होंने भी ऋण की मात्रा को बढ़ाया था। सन् १९४७ में ये पौंड पावने लगभग १,७०० करोड़ रुपए की कीमत के आँके गये थे। युद्ध के विभिन्न वर्षों में ये निम्न प्रकार जमा हुये थे :—

वर्ष	राशि (करोड़ रुपयों में)
१६३६–४०	१४५
१६४०–४१	१४८
१६४१–४२	२८४
१६४२–४३	५११
१६४३–४४	६८४
१६४४–४५	१,४७२
१६४५–४६	१,६८०

पौंड पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में युद्धकाल से ही बात-चीत चल रही थी। इंगलैंड-वासियों की ओर से बहुत बार यह कहा गया है कि ब्रिटिश सरकार द्वारा या तो इन ऋणों को पूर्णतया रद्द कर दिया जाय, अथवा इनकी मात्रा में भारी कमी कर दी जाय। इस विचार के पक्ष में बहुधा यह कहा जाता था कि युद्ध के सफल संचालन और शत्रु को परास्त करने में भारत का भी इतना ही हित था जितना कि इङ्गलैण्ड का। इङ्गलैण्ड द्वारा किया गया व्यय भारत की रक्षा से भी सम्बन्धित था, इसलिये इसके चुकाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। दूसरी ओर, कुछ व्यक्तियों ने यह तर्क रखा कि इतने बड़े ऋणों का चुकाना इङ्गलैण्ड की शोधनक्षमता से बाहर था, जिसके कारण इसमें कमी करना आवश्यक था। इन तर्कों में कटु सत्यता थी, परन्तु भारत की ओर से यह कहा गया था कि भारत ने यह ऋण स्वेच्छा से नहीं दिया था, यह उससे जबरदस्ती लिया गया था, अन्यथा इतने बड़े ऋणों का देना भारत की क्षमता से बाहर था। इसके अतिरिक्त इस ऋण के पीछे भारतवासियों का महान त्याग तथा उनका घोर आर्थिक कष्ट छिपा हुआ था, इसलिये इसका रद्द करना अथवा कम कर देना न्यायपूर्ण नहीं था।

काफी लम्बे काल तक इस विषय पर तर्क-वितर्क चलता रहा और अनेक रीतियों से इङ्गलैंड इस ऋण के भुगतान को टालता रहा। भारत ने पौंड पावनों का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् के सम्मुख भी प्रस्तुत किया, परन्तु उसने इस पर विचार करने से इन्कार कर दिया। इसी परिषद् में इङ्गलैंड के प्रतिनिधि लार्ड कीन्ज ने बड़े स्पष्ट शब्दों में यह विश्वास दिलाया था कि इङ्गलैंड अपनी जिम्मेदारी को पूर्ण रूप में निभाने को तैयार था और पौण्ड पावनों के घटाने अथवा रद्द करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। इङ्गलैंड ने इस दायित्व को भली-भांति निभाया है और अब हमारे पौंड पावने धीरे-धीरे समाप्त हो रहे हैं।

युद्धोत्तर काल सन् १६४५-४६—१६५६-५८—

भारतीय चलन पद्धति की युद्धकालीन प्रवृत्तियाँ युद्धोत्तर काल में भी बनी रहीं और इस काल का इतिहास साधारणतया पुराने ही इतिहास का एक अगला पृष्ठ है। चलन पद्धति के सम्बन्ध में भारत की प्रमुख घटनाएँ मुद्रा-कोष की सदस्यता, भारत सरकार की मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति, रुपये का अवमूल्यन, रिजर्व बैंक और इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण, व्यापाराशेष का सन्तुलन, कीमतों में कमी की प्रवृत्ति और हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) हैं। इसी काल में दो और भी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई हैं, अर्थात् पौंड पावने का भुगतान और भारत की पंच-वर्षीय योजनाएँ। प्रथम योजना के आरम्भ में यह अनुमान लगाया गया था कि इस मद से २६० करोड़ रुपये निकाले जाएंगे। वास्तव में पौंड-पावनों का उपयोग बहुत कम हो पाया है और दूसरी योजना में इस मद से लगभग २०० करोड़ रुपया निकाल लेने का अनुमान है।"

रुपये का अवमूल्यन—

भारतीय रुपये के अवमूल्यन का संक्षिप्त अध्ययन अध्याय ८ में किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में इसके परिणामों का विस्तृत अध्ययन किया जायगा। १८ सितम्बर सन् १६४६ को ब्रिटिश सरकार ने अकस्मात् ही स्टर्लिंग का अवमूल्यन कर दिया, जिसके कारण उसका डालर मूल्य ४·०३ डालर प्रति पौंड से घट कर केवल २·८० डालर रह गया। ब्रिटेन ने यह निर्णय इतनी शीघ्रतापूर्वक किया था कि राष्ट्रमंडल (Commonwealth) देशों को इसका पहले से कुछ पता नहीं लग पाया था। ब्रिटेन ने अवमूल्यन प्रधानतया इस कारण किया था कि डालर देशों के साथ उसके व्यापाराशेष का घाटा बहुत ही अधिक था। सन् १६४६ में इस घाटे का वार्षिक अनुमान ६० करोड़ पौंड प्रति वर्ष लगाया गया था। ब्रिटेन द्वारा इस घाटे को पूरा करने के लिए लगभग सभी प्रयत्न असफल रहे थे। विवश होकर इङ्गलैंड ने घाटे को दूर करने के लिए एक मात्र उपाय के रूप में स्टर्लिंग का अवमूल्यन कर दिया।

स्टर्लिंग के अवमूल्यन ने भारत सरकार के सम्मुख एक बड़ी जटिल समस्या उपस्थित कर दी, जिसने उसे शीघ्रतापूर्वक अवमूल्यन के सम्बन्ध में निर्णय करने पर वाध्य किया। रुपये और स्टर्लिंग का सम्बन्ध इतना पुराना हो चुका था कि उसे अकस्मात् ही तोड़ देना सरल न था। भारत सरकार को यह भय था कि अवमूल्यन न करने का उसके विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि भारतीय रुपये को अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में

कोई स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त न थी। दूसरे, अवमूल्यन न करने से यह भी भय था कि इससे पौण्ड पावना ऋण की कीमत में काफी कमी आ जायगी। इसके विपरीत अवमूल्यन कर देना भी भय से ख़ाली न था। विशेषकर, ऐसी दशा में जबकि देश में पहले से ही मुद्रा-प्रसार था। अवमूल्यन के कारण वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात बढ़ जाते हैं और आयात घटते हैं, जिसके कारण कीमतें बढ़ जाती हैं। बहुत सोच-विचार के पश्चात् भारत सरकार ने अवमूल्यन का ही निर्णय किया, यद्यपि पड़ौसी देश पाकिस्तान ने अवमूल्यन न करने का निश्चय किया।

बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत का निर्णय ठीक ही था। श्री चिन्तामणि देशमुख का विचार है कि सन् १९४९ के पश्चात् हमारे व्यापाराशेष के सम्बन्ध में जो सुधार हुआ उसका प्रमुख कारण अवमूल्यन ही है। सितम्बर सन् १९४९ और जून सन् १९५० के बीच के काल में ही घाटे में १७२ करोड़ रुपये की कमी हो गई थी, परन्तु वास्तविकता यह है कि इस सुधार का एक मात्र कारण अवमूल्यन ही नहीं था, बल्कि आयातों पर लगाये हुए प्रतिबन्ध भी थे। सन् १९५०-५१ में तो व्यापाराशेष का घाटा केवल ४ करोड़ रुपये के बराबर ही रह गया, परन्तु अगले वर्षों में घाटे में फिर वृद्धि हुई और सन् १९५२-५३ में यह २३२·६२ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। हाल के वर्षों में घाटे की वृद्धि का प्रमुख कारण यह रहा है कि कोरिया की लड़ाई के बन्द होते ही व्यावसायिक मन्दी आरम्भ हो गई और कच्चे मालों की कीमतों के गिरने के कारण हमारा निर्यात व्यापार काफी कम हो गया था। सन् १९५६-५७ के वर्ष में व्यापाराशेष का घाटा ३४० करोड़ रुपया रहा है। सम्पूर्ण स्टर्लिंग क्षेत्र को तो अवमूल्यन से लाभ ही हुआ है। भारत के व्यापाराशेष का घाटा डालर देशों के साथ सन् १९४९ में ५३ करोड़ रुपये के बराबर था, परन्तु सन् १९५० में इसके विपरीत उसे २९ करोड़ रुपये की बचत रही थी।

अवमूल्यन के पश्चात् कीमतें ऊपर उठनी शुरू हुईं। सितम्बर सन् १९४९ में थोक कीमतों का निर्देशांक ३९० था, जो अप्रैल सन् १९५१ में ४५८ तक पहुँच गया था, परन्तु अप्रैल सन् १९५३ में यह गिर कर फिर ३४३ पर आ गया था और तब से फिर इसकी प्रवृत्ति गिरने की ओर ही रही है। अवमूल्यन का एक बड़ा परिणाम भारत और पाकिस्तान के व्यापारिक सम्बन्धों के खिंचाव के रूप में भी प्रकट हुआ। अवमूल्यन न करने के कारण पाकिस्तानी रुपये की कीमत २ शिलिंग १·९ पैंस या १·४४ भारतीय रुपये के बराबर हो गई। भारत सरकार ने पाकिस्तानी रुपये की इस नई दर को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया जिसके फलस्वरूप

दोनों देशों के बीच व्यापार पूर्णतया स्थगित हो गया, परन्तु जब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने पाकिस्तानी रुपये की इस नई दर को स्वीकार कर लिया तो भारत सरकार ने भी सन् १६५१ के भारत-पाकिस्तान व्यापार समझौते में इस दर पर पाकिस्तान से एक लम्बा-चौड़ा व्यापार समझौता कर लिया। सब कुछ होते हुए भी दोनों देशों का पारस्परिक व्यापार उन्नति न कर सका। यह स्थिति अब तक भी बनी हुई है, यद्यपि अब पाकिस्तान ने भी अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया है। विगत वर्षों में डालर देशों से हमारा व्यापार बराबर बढ़ता गया है और व्यापाराशेष में सन्तुलन ही नहीं, आधिक्य की भी थोड़ी सी प्रवृत्ति है। एक बड़े अंश तक यह स्थिति अवमूल्यन का ही परिणाम है, यद्यपि इस पर अन्य बातों का भी प्रभाव पड़ा है। अब स्टर्लिंग के अवमूल्यन की अफवाहें फिर उठ रही हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना और रुपया-स्टर्लिङ्ग का सम्बन्ध विच्छेद—

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में युद्धोत्तर काल की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण मौद्रिक घटना अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक की स्थापना है। मुद्रा-कोष ने मार्च सन् १६४७ से अपना कार्य आरम्भ कर दिया। भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिषद के सम्मुख, जिसकी सिफारिशों के फलस्वरूप उपरोक्त दोनों संस्थाएँ स्थापित हुई थीं, दो प्रस्ताव रखे थे :—एक तो, यह कि उसे मुद्रा-कोष की कार्यकारिणी में एक स्थाई जगह दी जाय और दूसरी, यह कि पौंड-पावना ऋण का भुगतान मुद्रा-कोष के कार्यों में सम्मिलित कर लिया जाय। परिषद् ने दोनों ही प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये थे, अतः भारत में काफी लम्बे समय तक इस सम्बन्ध में वाद-विवाद चलता रहा है कि मुद्रा-कोष की सदस्यता ग्रहण करना कहाँ तक उपयुक्त था, परन्तु अन्त में भारत सरकार ने मुद्रा-कोष की योजना में शामिल होकर उसकी प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त कर ली। भारतीय निर्णय पर सबसे बड़ा प्रभाव इस बात का पड़ा था कि मुद्रा-कोष की सदस्यता के द्वारा विश्व बैंक की सदस्यता का अवसर मिलता था।

मुद्रा-कोष की सदस्यता के कारण भारत सरकार को रुपये की कीमत स्वर्ण में घोषित करनी पड़ी। ८ अप्रैल सन् १६४७ को रुपये और स्टर्लिङ्ग का वैधानिक सम्बन्ध विच्छेद कर दिया गया और रुपये की कीमत स्वतन्त्र रूप में ०·२६८६०१ ग्राम सोना रखी गई, परन्तु स्मरण रहे कि स्वर्ण में रुपये की यह कीमत १ शिलिंग ६ पैंस प्रति रुपया की विनिमय

दर के आधार पर ही नियत की गई थी। व्यवहार में रुपये और स्टर्लिङ्ग का पुराना गठबन्धन पहले की भाँति बना रहा है।

रिजर्व बैंक और इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण—

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण की माँग बहुत पुरानी है। जब इस बैंक की स्थापना पर विचार ही किया जा रहा था तो उस समय भी कुछ लोगों ने आरम्भ से ही इसे एक सरकारी बैंक के रूप में खोलने के सुझाव दिये थे, परन्तु सन् १९३४ के एक्ट में बैंक को एक प्राइवेट बैंक के रूप में स्थापित करने का निश्चय किया गया। युद्धोत्तर काल में सन् १९४६-४७ में इसके राष्ट्रीयकरण की माँग फिर रखी गई और अन्त में सन् १९४७-४८ के बजट में इसके राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था को सम्मिलित कर लिया गया और १ जनवरी सन् १९४९ से रिजर्व बैंक एक राष्ट्रीय संस्था बन गई। हिस्सेदारों के हिस्से सरकार ने खरीद लिये और प्रत्येक १०० रुपये के हिस्से के ११८ रुपये १० आने देना स्वीकार किया। इस राशि का भुगतान इस प्रकार किया कि १८ रुपये १० आने तो नकद दे दिये गये और प्रत्येक १०० रुपये के लिए ३% ब्याज का सरकारी बॉंड (Bond) दे दिया गया। राष्ट्रीयकरण के साथ ही साथ बैंक सम्बन्धी नियमों में भी आवश्यक संशोधन कर दिये गये।

पहले रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य था कि वह निश्चित दरों पर रुपये के बदले में स्टर्लिङ्ग खरीदा और बेचा करती थी, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की सदस्यता के पश्चात् यह स्थिति बदल गई और बैंक सम्बन्धी नियमों में ऐसा परिवर्तन कर दिया गया है कि मुद्रा-कोष द्वारा नियत दरों पर रिजर्व बैंक रुपये के बदले में कोई भी विदेशी मुद्रा खरीद और बेच सकती है।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की माँग भी अन्त में स्वीकार कर ली गई और उसे १ जुलाई सन् १९५५ से सरकारी अधिकार में ले लिया गया है। अब उसका नया नाम स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया है। इसका संगठन एक नये आधार पर किया गया है।

व्यापाराशेष का सन्तुलन और कीमतों की कमी—

सन् १९४८ तथा उसके पहले काल में भारत का व्यापाराशेष काफी असन्तुलित रहा है। युद्धोत्तर काल में देश के भीतर अन्न की भारी कमी को दूर करने और मुद्रा-प्रसार की स्थिति को सुधारने के लिए आयातों के सम्बन्ध में उदारता की नीति अपनाई गई थी। साथ ही, देश के आर्थिक जीवन की उन्नति तथा चालू विकास योजनाओं की सफलता के लिये भी सरकार को मशीनरी, आवश्यक कच्चे माल तथा अन्य वस्तुएँ विदेशों से

मँगानी पड़ी थीं। यही कारण है कि भारत को व्यापाराशेष पर घाटा होने लगा, यद्यपि युद्ध-काल में बराबर बचत हो रही थी। सन् १९४९ में अवमूल्यन के पश्चात् इस स्थिति में कुछ सुधार हुआ और अगले वर्ष अर्थात् सन् १९५० में डालर देशों के साथ होने वाले व्यापार में थोड़ी सी बचत हुई। भारत सरकार ने आयातों पर प्रतिबन्ध लगाना तथा निर्यातों को प्रोत्साहन देना आरम्भ कर दिया। वर्तमान स्थिति यह है कि कोरिया युद्ध समाप्त होने के पश्चात् कीमतें फिर गिरी हैं और सन् १९५३ में हमारा व्यापाराशेष फिर प्रतिकूल ही हो गया था। सन् १९५३-५४ में भी स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हो पाया है। बाद के वर्षों में यह घाटा कम होता गया है। मार्च सन् १९५६ में इसका अनुमान केवल ९२ लाख रुपया था। सितम्बर सन् १९५८ का अनुमान यह है कि घाटे की मात्रा बहुत बढ़ गई है और ६ महीने में ३५५ करोड़ रुपये है।

हाल ही के वर्षों की एक महत्त्वपूर्ण घटना कीमतों में घटने की एक सामान्य प्रवृत्ति रही है। सन् १९५०-५१ में बचत का बजट बनाने का काम आरम्भ हो गया था और अमेरिका से मिला हुआ गेहूँ भारत ने बेच लिया था। इसके अतिरिक्त सन् १९५१ में रिजर्व बैंक ने बैंक दर को ३% से बढ़ा कर ३½% कर दिया। इस कार्य का परिणाम यह हुआ कि सोना और चाँदी की कीमतों में भारी परिवर्तन हुए। मार्च सन् १९५२ में सोने की कीमत ११४ रुपये फी तोला से घट कर ७७ रुपए पर पहुँच गई। इसी प्रकार मार्च सन् १९५१ और सन् १९५२ के बीच चाँदी की कीमतें १९८ रुपया फी सैकड़ा तोला से गिरकर १३९ फी सैकड़ा तोला रह गईं। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् रिजर्व बैंक साख तथा कीमतों के नियन्त्रण का कार्य अधिक सप्रभाविक रीति से कर रही है। दूसरी पंच-वर्षीय योजना में सरकार ने कीमतों की स्थिरता बनाये रखने की नीति अपनाई है। योजना में हीनार्थ-प्रबन्ध के कारण मुद्रा-प्रसार का भय है। भारत सरकार की नीति यह भी है कि योजना काल में कृषि उपज की कीमतों को घटने न दिया जाय, चाहे इसके लिए कृत्रिम उपाय ही क्यों न किए जायँ।

पौंड पावना ऋण का भुगतान—

युद्धोत्तर काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना ब्रिटिश सरकार द्वारा पौंड पावना ऋण का भुगतान भी है। आरम्भ में भारत और ब्रिटेन के बीच जनवरी सन् १९४७ में इस सम्बन्ध में एक समझौता हुआ था, परन्तु शीघ्र ही इंगलैंड और अमेरिका के बीच एक नया आर्थिक समझौता हो गया, जिसने स्थिति को इतना बदल दिया कि उपरोक्त समझौते के अनुसार कार्य न हो सका। १४ अगस्त सन् १९४७ को भारत और इंगलैंड के बीच एक नया समझौता हुआ, जिसके अनुसार हमारे पौंड पावनों के दो खाते खोले

गये। खाता नं० १ में ६'५ करोड़ पौंड जमा किया गया, जिसके बदले में किसी भी देश से माल मँगाया जा सकता है। खाता नं० २ में ११६ करोड़ पौंड जमा किया गया और इसका उपयोग केवल पूँजीगत माल खरीदने के लिए ही किया जा सकता था। यह समझौता दिसम्बर सन् १६४७ तक के लिए था, परन्तु बाद को इसे ६ महीने के लिए और बढ़ा दिया गया तथा इंगलैंड ने १ करोड़ पौंड और देने का वायदा किया, परन्तु कोई निश्चित आयात योजना न होने के कारण हम इस काल में पूरी राशि को निकालने में असमर्थ ही रहे।

जुलाई सन् १६४८ का समझौता—

पहिले समझौते का अन्त होते ही एक नया समझौता किया गया, जिसकी शर्तें १५ जुलाई सन् १६४८ को प्रकाशित की गईं। इस समझौते की प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार थीं :—

(१) अप्रैल सन् १६४७ को भारत सरकार ने इंगलैंड द्वारा छोड़े हुए कुल फौजी सामान को अपने अधिकार में ले लिया। इसकी कीमत १३३'३ करोड़ रुपया तय की गई और यह राशि हमारे पौंड पावनों में से घटा दी गई। इस प्रकार इस माल की कीमत का भुगतान हमने अपने पौंड-पावना ऋण में कमी करके कर दिया।

(२) भारत सरकार द्वारा इंगलैंड को पुराने अंग्रेज अधिकारियों के उत्तर-वेतन के रूप में जो रकम दी जाती थी उसके चुकाने के लिए भारत सरकार ने इंगलैंड की सरकार से एक वार्षिकी (Annuity) खरीद ली। इस प्रकार वार्षिकी के रूप में इन उत्तर-वेतनों का मूल्य १६७ करोड़ रुपया निश्चित किया गया। यह राशि भी पौंड पावनों में से निकाल दी गई। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय सरकारों के अधिकारियों के उत्तर-वेतनों की वार्षिकी की कीमत २७ करोड़ रुपया तय हुई। इस प्रकार कुल २२४ करोड़ रुपया इस मद पर पौंड पावनों में से कम किया गया।

(३) पिछले समझौते के अनुसार भारत को १११ करोड़ रुपयों के पौंड-पावने लेने का अधिकार मिला था, परन्तु वास्तव में केवल ४ करोड़ रुपयों का ही माल लिया गया। नये समझौते में भारत सरकार को शेष १०७ रुपए के पौंड-पावने निकालने का अधिकार फिर से दे दिया गया। इनके अतिरिक्त अगले ३ वर्षों अर्थात् ३० जून सन् १६५१ तक इंगलैंड ने इतनी ही कीमत के पौंड-पावने और देने का वायदा किया। इस प्रकार

अपने ऊपर ली और पाकिस्तान ने अपने हिस्से की राशि को किश्तों में भारत को चुकाने का वचन दिया, परन्तु पाकिस्तान से वायदा पूरा करने की अभी तक तो कोई आशा नहीं हो पाई है। उस देश का सामान्य व्यवहार शत्रुता का है और वह उचित तथा अनुचित रीति से भारत को हानि पहुँचाना चाहता है। अविभाजित भारत के ऋण को चुकाने की जिम्मेदारी भारत ने अपने ऊपर ली थी, परन्तु पाकिस्तान ने अभी तक भी अपने हिस्से की किश्त नहीं चुकाई हैं। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान को जो पानी और बिजली सप्लाई की गई है उसकी कीमत भी उसने नहीं चुकाई है। वह 'हमारा शत्रु देश है और शायद शीघ्र ही सरकार को भी यह मानना ही पड़ेगा।

भारतीय रुपये के पुनर्मूल्यन का प्रश्न (Revaluation)—

पिछले कुछ दिनों से कुछ व्यक्तियों ने यह विचार प्रकट किया है कि भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन करके उसकी विदेशी कीमत में वृद्धि करनी चाहिए। इस मत के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(१) इसके द्वारा आवश्यक आयातों, जैसे—खाद्यान्न, मशीनों और जरूरी कच्चे मालों की कीमत घट जायगी।

(२) इससे हमारे निर्यातों का पहले से अधिक मूल्य प्राप्त होगा। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि हमारे अधिकांश निर्यात ऐसे हैं कि उनकी माँग लगभग बेलोच है और कीमतों की वृद्धि के कारण उनकी माँग में कोई विशेष कमी हो जाने का भय नहीं है।

(३) यह कहा जाता है कि सन् १९४९ में रुपये के अवमूल्यन के कारण देश में कीमतें ऊपर चढ़ गई थीं। पुनर्मूल्यन द्वारा ये कीमतें फिर नीचे गिर जायेंगी।

(४) इससे भारत और पाकिस्तान के व्यापारिक, आर्थिक तथा राजनैतिक सम्बन्ध सुधर जायँगे और दोनों को आर्थिक विकास का अच्छा अवसर मिलेगा।

ऐसा कहा जाता है कि यदि देश में मुद्रा-प्रसार को नहीं रोका जाता है तो हमारी आर्थिक विकास योजनाओं के संचालन में कठिनाई होगी, क्योंकि इसके कारण एक ओर तो देश के भीतर औद्योगिक सम्बन्धों में तनाव बना रहेगा और दूसरे, इसके कारण मशीनों, स्थिर यन्त्रों तथा कच्चे मालों की कीमत ऊँची हो जायगी, जिससे सरकारी तथा व्यक्तिगत योजनाओं का संचालन कठिन हो जायगा। साथ ही, यह भी कहा जाता है कि कीमतों की स्थिरता को बनाये रखना स्वयं पंच-वर्षीय योजना की सफलता के लिए भी आवश्यक है। योजना के अन्तर्गत जो व्यय किया

जायगा वह स्वयं ही स्फीतिक प्रवृत्तियाँ रखता है। संक्षेप में, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि रुपये का पुनर्मूल्यन देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था की रक्षा हेतु उपयुक्त बताया जाता है और मान्यता यह है कि इसका देश की बाहरी अर्थ-व्यवस्था पर कुछ भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

पुनर्मूल्यन के आलोचकों के तर्क भी महत्त्वपूर्ण हैं, जो कि निम्न प्रकार हैं:—

(१) रुपये की मूल्य-वृद्धि के फलस्वरूप आयात की वस्तुओं में जो कमी होने की आशा की जाती है उसका होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि विदेशी निर्यातकर्त्ता उनकी कीमतों में वृद्धि कर सकते हैं अथवा देशी आयातकर्त्ता ऐसा कर सकते हैं। जिन अधिकांश आवश्यक वस्तुओं का भारत द्वारा आयात किया जाता है (जैसे खाद्यान्न, मशीनरी आदि) उनकी पूर्ति माँग से कम है और उनकी बिक्री साधारणतया एकाधिकारी संघों द्वारा की जाती है। भारत के साथ मूल्य-विभेद सम्भव है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि हमारे आयातों की समस्या उनकी ऊँची कीमत की समस्या नहीं है, बल्कि उनके मिल जाने की समस्या है।

(२) भारत द्वारा पुनर्मूल्यन का परिणाम यह हो सकता है कि प्रति विरोध में पाकिस्तान, लंका, बर्मा आदि भी ऐसा ही करें।

(३) यह समझना भी भूल होगी कि हमारे अधिकांश निर्यातों की माँग बेलोच है। कुछ वस्तुओं, जैसे मैंगनीज और अबरक में तो हमें एक बड़े अंश तक एकाधिकार अवश्य प्राप्त है, परन्तु अन्य सभी में काफी प्रतियोगिता है। जूट के माल की कीमतों को भी बहुत ऊँचा कर देना सम्भव नहीं है, क्योंकि पाकिस्तानी प्रतियोगिता के अतिरिक्त स्थानापन्नों का प्रचलन बढ़ जाने का भय है। चाय के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है।

(४) भारत के भूतपूर्व वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख ने लोक सभा में बताया था कि उनके अनुमानों के अनुसार यदि रुपये की कीमत में १५% की भी वृद्धि की गई तो इसके कारण देश के व्यापाराशेष का घाटा ५० करोड़ रुपया हो जायगा और यदि वृद्धि ३०% होती है तो घाटे की मात्रा १३५ करोड़ रुपया हो जायगी।

(५) समय-समय पर थोड़ा सा लाभ उठाने के लिए विनिमय दर में परिवर्तन करना दीर्घकालीन दृष्टिकोण से बुद्धिमानी नहीं है, क्योंकि इससे राष्ट्रीय सम्मान को चोट लगती है। जहाँ तक पुनर्मूल्यन द्वारा निर्यात से लाभ कमाने का प्रश्न है, वह तो निर्यात कर से भी प्राप्त किया जा सकता है।

श्री देशमुख ने कड़े शब्दों में पुनर्मूल्यन का विरोध किया था। उनका विचार था कि हमारे लिए इस समय विदेशी मुद्राओं का प्राप्त करना आवश्यक है, ताकि हमारे व्यापाराशेष के सन्तुलन के अतिरिक्त आवश्यक आयातों की कमी न रहे, परन्तु विदेशी विनिमय प्राप्त करने का एक मात्र उपाय यही है कि निर्यात बढ़ाये जायें और इसके लिए पुनर्मूल्यन वाँछनीय नहीं है। पिछले कुछ समय से तो देश में वस्तुओं की कीमतें भी गिरने लगी हैं और इसलिये पुनर्मूल्यन का महत्त्व बहुत ही कम रह गया। श्री देशमुख ने सरकारी नीति को स्पष्ट करते हुए कहा था:—"अभी हम पुनर्मूल्यन न करने का निश्चय कर चुके हैं, क्योंकि देश का हित इसी में है, परन्तु इस निर्णय को अन्तिम अथवा स्थाई नहीं कहा जा सकता है। यदि परिस्थितियों में अनुकूल परिवर्तन होते हैं तो सम्भव है भविष्य में हमें इस पर विचार करना पड़े।" इस समय तो स्थिति बिल्कुल ही बदल गई है। अब तो सरकार की नीति कृषि उपज की कीमतों में कमी रोकने की है। पाकिस्तान ने अपने रुपये का पुनर्मूल्यन करके भारतीय रुपये के पुनर्मूल्यन की आवश्यकता लगभग समाप्त ही कर दी है।

आर्थिक नियोजन और हीनार्थ-प्रबन्धन (Economic Planning and Deficit Financing)—

सन् १९५१ से भारत में आर्थिक नियोजन को कार्यशील किया गया है। प्रथम पंच-वर्षीय आयोजन में कुल विकास व्यय २,२४९ करोड़ रुपया रखा गया था। सरकार का ऐसा अनुमान था कि इस व्यय का अधिकांश भाग तो करारोपण, सरकारी और व्यक्तिगत बचत तथा इसी प्रकार के दूसरे शीर्षकों से पूरा हो जायगा, परन्तु कुछ अंश तक घाटे के बजटों और विदेशी सहायता पर निर्भर रहना पड़ेगा। अनुमान यह था कि २९० करोड़ रुपये के हीनार्थ प्रबन्धन से काम चल जायगा और लगभग १९५ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता की जरूरत पड़ेगी। इस हीनार्थ प्रबन्धन के कारण किसी विशेष कठिनाई के पैदा होने के भय का अनुमान नहीं लगाया गया था, क्योंकि इस राशि के पौंड-पावना मद से प्राप्त होने की आशा थी। बाद के अनुभव से सिद्ध हुआ है कि अनुमान गलत थे। आशा के अनुसार आय प्राप्त न होने के कारण घाटा अधिक रहा है। सन् १९५४ के अन्त में ही घाटे का सरकारी अनुमान २५० करोड़ रुपये के

लगभग था, यद्यपि गैर सरकारी अनुमान ४००-५०० करोड़ रुपये के आस-पास था।

दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में सार्वजनिक क्षेत्र में ४,८०० करोड़ रुपये के व्यय का प्रस्ताव रखा गया है, जिसमें से ८०० करोड़ रुपया विदेशी सहायता के रूप में मिलने का अनुमान लगाया गया है। १,२०० करोड़ रुपये के हीनार्थ प्रबन्धन का अनुमान है और ४०० करोड़ रुपये के लिए किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं हो पाई है। इस रकम पर ध्यान देने से पता चलता है कि शायद हीनार्थ प्रबन्धन १,६०० करोड़ रुपये से भी ऊपर रहेगा। इसमें से कोई २०० करोड़ रुपये की राशि तो पौंड-पावना मद से प्राप्त होने का अनुमान है और यदि ४०० करोड़ रुपये का घाटा अन्य सूत्रों से पूरा भी हो जाय तो पाँच वर्ष में फिर भी १,००० करोड़ रुपये के हीनार्थ प्रबन्धन की जरूरत होगी।

यह विषय विवादग्रस्त है कि हीनार्थ प्रबन्धन के फलस्वरूप कीमतों में किस हद तक वृद्धि हुई है। १५ अगस्त सन् १९४७ से ३१ मार्च सन् १९५४ तक ६८१ करोड़ रुपयों का हीनार्थ प्रबन्धन हुआ था। इसमें से २५२ करोड़ रुपया ऐसा था कि उसके कारण मुद्रा की मात्रा में वृद्धि नहीं हुई थी। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि इस प्रकार की मदों को निकाल देने के बाद भी इस काल में कोई ५० करोड़ रुपया का प्रति वर्ष हीनार्थ प्रबन्धन रहा है। निम्न तालिका हीनार्थ प्रबन्धन के प्रभाव को स्पष्ट करती है :—

वर्ष	बजट घाटा (—) बचत (+)	हीनार्थ-प्रबन्धन	मुद्रा की पूर्ति	थोक कीमतों का निर्देशांक अगस्त १९३९ = १००
१९४७–४८	—११०·६८	—१६०·१७	१९·६५	३०८·२
१९४८–४९	— ८१·५७	—१४७·६६	१८·८४	३७६·२
१९४९–५०	— ४३·८०	— ६६·३२	१८·६५	३८५·४
१९५०–५१	+ १२·४४	— ४७·४५	१८·३४	४०९·७
१९५१–५२	+ ०·९१	+ २०·०१	१७·६३	४३४·६
१९५२–५३	— ६३·५४	— ४२·७६	१६·८३	३८०·६
१९५३–५४	— ४८·२९	— १०·१९	१७·१५	३९७·५
१९५४–५५	—	—	—	३५७·४
१९५५–५६	—	—	१०·८	३४५·०
१९५६–५७	—	—	—	४१९·८

इस प्रकार इसमें तो सन्देह नहीं है कि हीनार्थ प्रबन्धन नीति के फलस्वरूप मुद्रा की मात्रा तथा कीमतें बढ़ती हैं, परन्तु इस प्रकार हमारे देश

में इसकी सम्भावना कम है। योजना कमीशन का अनुमान है कि प्रथम पंच-वर्षीय आयोजन में पाँच वर्षों में ५० करोड़ रुपया प्रति वर्ष का हीनार्थ प्रबन्धन हुआ है, जिसमें से ३५ से ४७ करोड़ रुपये तक के हीनार्थ प्रबन्धन में मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्ति न थी। रिजर्व बैंक की एक नई रिपोर्ट के अनुसार प्रथम पंच-वर्षीय आयोजन में घाटा लगभग २५० करोड़ रुपये का ही रहा है। दूसरी पंच-वर्षीय योजना में लगभग २०० करोड़ रुपया प्रति वर्ष के हीनार्थ-प्रबन्धन की आवश्यता दिखलाई गई है। यह घाटा और भी बढ़ सकता है, यदि योजना व्यय में४०० करोड़ रुपये के घाटे को पूरा करने का कोई दूसरा उपाय सफल नहीं हो पाता है।

दूसरी योजना में हीनार्थ-प्रबन्ध—

दूसरी पंच-वर्षीय योजना के आरम्भ में ही कीमतों ने ऊपर उठना आरम्भ किया। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि दूसरी योजना के प्रस्तावित लक्ष्यों को पूरा करने के लिए अब ४,८०० करोड़ रुपये के स्थान पर लगभग ५,५०० करोड़ रुपये की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार वित्तीय घाटा और भी बढ़ जायेगा। उधर हीनार्थ-प्रबन्धन नीति के फलस्वरूप मुद्रा-प्रसार का भय भी पैदा हो गया है, जिसकी गम्भीरता इस कारण और भी बढ़ गई है कि हमारा खाद्यान्न उत्पादन कार्यक्रम आवश्यकतानुसार सफल नहीं हो पाया है। दिसम्बर सन् १९५६ में राष्ट्रीय विकास परिषद् ने हीनार्थ-प्रबन्धन को घटाने का सुझाव दिया था। परिषद् का विचार था कि दूसरी योजना के पहले तीन वर्षों में शायद २५० करोड़ रुपये प्रति वर्ष के हिसाब से हीनार्थ प्रबन्धन निभ जाय, किन्तु तत्पश्चात् मुद्रा-प्रसार का दबाव इतना बढ़ जायगा कि और अधिक हीनार्थ-प्रबन्धन शायद उचित न रहे। वास्तविकता यह है कि मार्च सन् १९५८ तक, अर्थात् योजना के पहले दो वर्षों में लगभग ६०० करोड़ रुपये का हीनार्थ-प्रबन्ध हो चुका है। सन् १९५८-५९ के लिए २०५ करोड़ रुपये के हीनार्थ-प्रबन्ध की व्यवस्था की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि हीनार्थ-प्रबन्ध से उत्पन्न मुद्रा-प्रसार का आरम्भिक दबाव अपना वेग समाप्त कर चुका है। आशा यह है कि शायद भविष्य में नियन्त्रित तथा सीमित हीनार्थ-प्रबन्ध दुखदायी न हो, किन्तु यह आशा इस विश्वास पर आधारित है कि सरकार दूसरी योजना के लिए अन्य सूत्रों से आवश्यक वित्त प्राप्त करने में सफल रहेगी।

अध्याय १५

भारतीय पत्र-चलन का इतिहास

(The History of Indian Paper Currency)

१६ वीं शताब्दी से पहले भारत में पत्र-मुद्रा चलन का रिवाज बिल्कुल न था। सबसे पहले बैंक ऑफ बंगाल ने, जिसकी स्थापना सन् १८०६ में हुई थी, सरकारी आज्ञानुसार नोटों की निकासी आरम्भ की। तत्पश्चात् सन् १७४० में बैंक ऑफ बम्बई तथा सन् १८४३ में बैंक ऑफ मद्रास को भी यह अधिकार दिया गया। इस प्रकार सन् १८६१ के पूर्व इन तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को नोट निकालने का अधिकार था। इन बैंकों द्वारा निकाले हुए नोटों का वाहक को माँग पर भुगतान करना आवश्यक होता था। इन नोटों के प्रचलन का क्षेत्र भी साधारणतया कलकत्ते, बम्बई तथा मद्रास के शहरों तक ही सीमित था। तीनों प्रेसीडेन्सी बैंक अंशधारियों की बैंक थीं और व्यक्तिगत संस्थायें थीं, परन्तु इनमें सरकार के भी अंश रहते थे और इनके प्रबन्ध में भी सरकार का हाथ रहता था। सरकार द्वारा प्रत्येक बैंक के लिए नोट निर्गम की अधिकतम् सीमा निश्चित की गई थी और प्रत्येक बैंक को नोट निर्गम का एक तिहाई (जो बाद को $\frac{1}{4}$ कर दिया गया था) धातु-निधि के रूप में रखना पड़ता था। इन बैंकों द्वारा निकाले हुए नोटों को विधि-ग्राह्यता भी प्राप्त न थी।

सन् १८६१ में सरकार ने इन नोटों के प्रचलन को बन्द कर दिया और नोट निर्गम का कार्य अपने हाथ में ले लिया। उपरोक्त वर्ष में पत्र-चलन एक्ट (Paper Currency Act) पास किया गया जिसके अनुसार सरकार ने १०, २०, ५०, १००, ५००, १,००० तथा १०,००० रुपए के नोट चालू किए। आरम्भ में देश को कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के तीन निर्गम क्षेत्रों (Issue Circles) में विभाजित किया गया और प्रत्येक क्षेत्र में निकाले हुए नोट केवल उसी क्षेत्र के भीतर विधि-ग्राह्य होते थे। सन् १९१० तक क्षेत्रों की संख्या बढ़ा कर ७ कर दी गई। क्षेत्र विशेष के भीतर ये नोट अपरिमित विधि-ग्राह्य होते थे। ऐसे नोटों को प्रत्येक क्षेत्र के केवल प्रधान कार्यालय पर ही रुपयों के सिक्कों में बदला जा सकता था, परन्तु सरकारी भुगतानों को चुकाने के लिए किसी भी क्षेत्र के नोटों में भुगतान किया जा सकता था। इस क्षेत्रवर्ती प्रणाली ने नोटों की लोकप्रियता को काफी कम कर दिया, इसलिए धीरे-धीरे इसे

तोड़ने का प्रयत्न किया गया। सन् १६०३ में ५ रुपया का नोट सभी क्षेत्रों में अपरिमित विधि-ग्राह्य बनाया गया। तत्पश्चात् सन् १६१० में १० तथा ५० रुपये के नोटों और सन् १६११ में १०० रुपये के नोटों को सभी क्षेत्रों में विधि-ग्राह्य कर दिया गया।

पत्र-चलन निधि का प्रारम्भिक विधान (Original Constitution of the Paper Currency Reserve)—

इङ्गलैण्ड की नोट निर्गम प्रणाली के आधार पर सन् १८६१ के नियम में निश्चित विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary System of Note Issue) की स्थापना की गई थी। ४ करोड़ रुपये की कीमत तक के नोट सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर निकाले जा सकते थे, परन्तु इससे ऊपर के प्रत्येक नोट के पीछे रुपये के सिक्कों, धातुओं अथवा भारत सरकार की रुपया प्रतिभूतियों की १००% निधि आवश्यक होती थी। बाद को विभिन्न संशोधनों द्वारा धीरे-धीरे विश्वासाश्रित निर्गम की मात्रा बढ़ा दी गई थी और सन् १६१६ में यह २० करोड़ रुपया हो गई थी। सन् १८६८ के एक नियम के अनुसार भारत सरकार को यह अधिकार दे दिया गया था कि वह निधि का एक भाग सोने में रख ले। इसी प्रकार सन् १६०० के एक नियम के अनुसार सरकार निधि का कोई भी भाग लन्दन में रखने की अधिकारी हो गई थी, परन्तु रुपये के सिक्कों को लन्दन में रखने का अधिकार नहीं दिया गया था। विश्वासाश्रित सीमा के परे १००% निधि की जो व्यवस्था की गई थी। उसने पत्र-मुद्रा प्रणाली को अत्यधिक सुरक्षा तो अवश्य दे दी, परन्तु इसके कारण यह प्रणाली व्ययपूर्ण हो गई, क्योंकि निधि के अधिकांश भाग को अनुत्पादक रूप में रखना आवश्यक था। इस प्रणाली के प्रमुख गुण सुरक्षा, परिवर्तनशीलता तथा अति-निर्गम विरोधी रोक थी।

साथ ही, इस प्रणाली में कुछ गम्भीर दोष भी थे। इसमें स्वयं-संचालकता का गुण न था और समय-समय पर विश्वासाश्रित निर्गम की मात्रा में वृद्धि करने के लिए नये-नये कानूनों की आवश्यकता पड़ती थी। दूसरे, इसमें धातु-निधि का अंश काफी अधिक था और उसका अधिकांश भाग देश के बाहर ही रखा जाता था। तीसरे, केन्द्रीय बैंक के न होने के कारण सरकार को अपनी कोष-निधि कोषागारों में बन्द करके रखनी पड़ती थी, जिसके कारण व्यस्त व्यावसायिक काल में धन की कमी अनुभव होने लगती थी। चौथे, इसने देश की चलन प्रणाली को पूर्णतया बेलोच बना दिया था। भारत में बैंकिंग विकास, मौद्रिक बाजार तथा बिल बाजार के अभाव के कारण यह प्रणाली विशेष रूप में असुविधाजनक थी और आवश्यकता के काल में चलन की मात्रा में परिवर्तन करना

कठिन होता था। चैम्बरलेन आयोग ने अपनी रिपोर्ट में पत्र-मुद्रा चलन की लोच तथा लोकप्रियता को बढ़ाने के कुछ सुझाव रखे थे, परन्तु इस दिशा में बहुत सुधार नहीं हो पाया था।

प्रथम महायुद्ध के काल में भारतीय मुद्रा प्रणाली ने भारी खिंचाव का अनुभव किया। पहले से ही कागजी नोट बहुत लोकप्रिय न थे। युद्ध का आरम्भ होते ही विश्वास में और भी अधिक कमी होने लगी। लड़ाई के पहले ८ महीनों में ही १० करोड़ रुपये की कीमत के नोट खजाने को लौटा दिये गये थे, क्योंकि नोटों को रुपये के सिक्कों में बदलने की माँग बहुत बढ़ गई थी। सन् १९१४ में सरकार ने विश्वासाश्रित निर्गम की मात्रा को बढ़ा कर १४ करोड़ रुपया कर दिया और सन् १९१९ में वह २० करोड़ रुपया कर दी गई। इसी काल में रुपये के सिक्कों के स्थान पर एक तथा दो रुपए के नोट निकाले गये और सरकार ने नोटों को रुपयों में बदलने की जिम्मेदारी स्थगित कर दी।

युद्ध के पश्चात् बैबिंगटन-स्मिथ समिति ने भारतीय चलन प्रणाली की फिर जाँच की। इस समिति का विचार था कि भारतीय पत्र-मुद्रा चलन में लोच का भारी अभाव था। समिति ने इस कमी को दूर करने के लिये दो सुझाव रखे—प्रथम, यह कि विश्वासाश्रित निर्गम के ऊपर ५ करोड़ रुपए के नोटों की और अधिक व्यवस्था होनी चाहिए और यह राशि प्रेसीडैन्सी बैंकों को निर्यात बिलों की आड़ पर ऋणों के रूप में मिलनी चाहिए और दूसरे, यह कि निधि का धातु भाग कुल पत्र-मुद्रा चलन का कम से कम ४०% रहना चाहिए। समिति के सुझाव सरकार ने स्वीकार कर लिए और उनके आधार पर नोटों को रुपयों में बदलने से सम्बन्धित प्रतिबन्ध भी हटा दिये।

पत्र-चलन एक्ट सन् १९२३—

सन् १९२० के कई छोटे-छोटे नियमों द्वारा भारत की पत्र-मुद्रा प्रणाली में कुछ परिवर्तन किये गये थे। इन सभी संशोधनों को एक सामूहिक बिल में शामिल करके भारत सरकार ने सन् १९२३ का एक्ट पास किया। इस एक्ट ने पत्र-मुद्रा निधि सम्बन्धी नियमों में निम्न प्रकार परिवर्तन किए :—

(१) कुछ निधि का कम से कम ५०% धातु-निधि के रूप में रखना आवश्यक बनाया गया।

(२) शेष निधि को २० करोड़ रुपए की प्रतिभूतियों के रूप में भारत में रखा जा सकता था और इससे ऊपर की सारी निधि का अल्पकालीन प्रतिभूतियों में, जिनकी समय अवधि १२ मास से अधिक न हो, लन्दन में रखना आवश्यक कर दिया गया।

(३) सरकार को यह अधिकार मिला कि ५ करोड़ रुपए की कीमत

तक के नोट ऐसे भुनाये हुए विनिमय बिलों की आड़ पर निकाल दे, जिनकी परिपक्वता (Maturity) ९० दिन से अधिक न हो।

(४) भारत सचिव लन्दन में ५० लाख पौंड की कीमत से अधिक सोना नहीं रख सकता था।

हिल्टन-यंग आयोग ने भी पत्र-मुद्रा प्रणाली में सुधार के कुछ सुझाव रखे थे। आयोग के सुझाव चार प्रकार के थे :—(१) एक केन्द्रीय बैंक स्थापित की जाय, जिसे नोट निर्गम का एकाधिकार प्राप्त हो, (२) नोटों को रुपयों में बदलने की जिम्मेदारी का अन्त होना चाहिए। (३) पत्र चलन निधि तथा स्वर्णमान निधि का संघनन (Consolidation) होना चाहिए और (४) भारत में अनुपातिक निधि निर्गम प्रणाली की स्थापना होनी चाहिए। सन् १९२७ के एक्ट में सरकार ने इनमें से कुछ सुझावों को कार्य रूप दे दिया, सरन्तु केन्द्रीय बैंक की स्थापना का प्रश्न स्थगित कर दिया गया था। सन् १९३४ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पास हुआ, जिसने १ अप्रैल सन् १९३५ से अपना कार्य आरम्भ किया।

भारत की वर्तमान नोट निर्गम प्रणाली—

भारत में नोट निर्गम के वर्तमान नियम सन् १९३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पर आधारित हैं, परन्तु इस एक्ट में सन् १९४८ में कुछ संशोधन कर दिए गये हैं। एक्ट के अनुसार नोट निर्गम का एकाधिकार केवल रिजर्व बैंक के ही पास है। अन्य किसी व्यक्ति अथवा बैंक को ऐसे नोटों के निकालने का अधिकार नहीं है जो वाहक (Bearer) को माँग पर शोधनीय हों। रिजर्व बैंक द्वारा निकाले हुए नोट अपरिमित विधि-ग्राह्य होते हैं और इन पर भारत सरकार की गारन्टी रहती है। दो रुपए के ऊपर के सभी नोटों को रिजर्व बैंक रुपये के सिक्कों अथवा छोटी कीमत के नोटों में बदलने की गारन्टी देती थी। बैंक के दो विभाग हैं :—अधिकोषण विभाग तथा निर्गम विभाग। दोनों विभागों को एक दूसरे से पूर्णतया अलग-अलग रखा जाता है और नोटों की निकासी केवल निर्गम विभाग ही करता है।

निर्गम विभाग के लिए यह आवश्यक है कि वह कुल नोटों की कीमत की ४०% निधि सोने के सिक्कों, सोने अथवा विदेशी प्रतिभूतियों या विदेशी मुद्राओं के रूप में रखे। सन् १९४८ के संशोधन के पूर्व विदेशी मुद्राओं का अभिप्राय केवल स्टर्लिंग से होता था, परन्तु अब मुद्रा-कोष के किसी भी सदस्य देश की मुद्रा को निधि के रूप में रखा जा सकता है। कुल निधि में से कम से कम ४० करोड़ रुपये की कीमत का सोना रखना

आवश्यक है। शेष ६०% पत्र-चलन के पीछे निम्न प्रकार की आड़ हो सकती है :—

(१) रुपये के सिक्के तथा सरकारी प्रतिभूतियाँ।

(२) स्वीकृत विनिमय बिल तथा प्रतिज्ञा-पत्र।

विधान के अनुसार सरकारी प्रतिभूतियों की मात्रा कुल आदेयों के २५% अथवा ५० करोड़ रुपये की कीमत से अधिक नहीं हो सकती है, परन्तु विशेष परिस्थितियों के लिए यह व्यवस्था की गई है कि भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति से इस मात्रा में १० करोड़ रुपए की वृद्धि की जा सकती है। जहाँ तक विनिमय बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों का प्रश्न है, रिजर्व बैंक केवल उन्हीं बिलों अथवा पत्रों को खरीद सकती है जिन पर किसी अनुसूचित बैंक (Scheduled Bank) की गारन्टी हो और कम से कम एक और आदरणीय पार्टी के हस्ताक्षर हों।

व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि विशेष परिस्थितियों में रिजर्व बैंक के निर्गम सम्बन्धी नियमों में ढील दी जा सकती है, परन्तु यह केवल निम्न दशाओं में किया जा सकता है :—(१) राष्ट्रपति से आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक है। (२) नियमों को केवल ३० दिन तक के लिए तोड़ा जा सकता है, यद्यपि इसमें राष्ट्रपति की आज्ञा से १५ दिन की और वृद्धि की जा सकती है और (३) नियत निर्गम के ऊपर के प्रत्येक निर्गम पर बैंक को एक विशेष कर देना होता है, जिसकी दर ऐसे निर्गम की प्रत्येक वृद्धि के साथ बढ़ती रहती है।

भारत की यह पत्र-मुद्रा चलन प्रणाली अमरीका के संघ निधि बैंक एक्ट (Federal Reserve Bank Act) पर आधारित है। इस प्रणाली के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) देश में अनुपातिक निधि निर्गम प्रणाली प्रचलित है, क्योंकि कुल निर्गम का कम से कम ४०% सोने, सोने के सिक्कों अथवा विदेशी प्रतिभूतियों में रखा जाता है।

(२) विदेशी प्रतिभूतियों को निधि के रूप में उपयोग करने की व्यवस्था ने प्रणाली में काफी लोच पैदा कर दी है। इस व्यवस्था के कारण विनिमय नियन्त्रण भी सरल हो जाता है।

(३) देश की चलन निधि को एक ही कोष में एकत्रित कर दिया गया है। कई प्रकार के कोषों को रखने की पुरानी अपव्ययी प्रणाली समाप्त कर दी गई है, जिसमें कई प्रकार के सुरक्षित कोष रखे जाते थे।

(४) स्वीकृत विनिमय बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों की आड़ पर नोट निर्गम की व्यवस्था करके नोट निर्गम प्रणाली में और भी

अधिक लोच उत्पन्न कर दी गई है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में इस व्यवस्था का काफी महत्त्व है, क्योंकि इसके कारण कृषि की फसलों के बेचने के अर्थ-प्रबन्ध के लिए सामयिक वित्त (Seasonal Finance) मिलता रहता है।

(५) निधि सम्बन्धी नियमों में छूट मिल जाने की सम्भावना के कारण संकटकालीन परिस्थितियों के लिए समुचित व्यवस्था हो जाती है, परन्तु अतिरिक्त निर्गम पर बढ़ती हुई दरों में कर लगाने की व्यवस्था की गई है, जिसके कारण एक सीमा के परे रिजर्व बैंक के लिए नोट निर्गम काफी महँगा हो जाता है।

जहाँ तक भारत में प्रचलित कागज के नोटों का प्रश्न है, इस समय १ रुपया, २ रुपया, ५ रुपया, १० रुपया, १०० रुपया और १,००० रुपए के नोट चालू हैं। १,०००, ५,००० और १०,००० रुपये के नोट भी काफी समय तक स्थगित रहने के बाद १ अप्रैल सन् १६५६ से फिर चालू किये गये हैं।

प्रणाली के दोष—

यह प्रणाली दोषों से विमुक्त हो, ऐसी भी बात नहीं है। इसका एक दोष तो यही है कि भारत सरकार अस्थायी प्रतिभूतियाँ उत्पन्न करके नोट निर्गम को बढ़ा सकती है, जिसके विरुद्ध कोई समुचित उपचार भी प्राप्त नहीं है। साथ ही, नोटों की परिवर्तनशीलता स्टर्लिंग पर निर्भर है। स्टर्लिंग की कीमतों के उच्चावचनों का रुपये की कीमत पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है। इसके अतिरिक्त क्योंकि स्वयं स्टर्लिंग की भी सोने-चाँदी में परिवर्तनशीलता नहीं है, इसलिए भारतीय कागजी नोट अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा मात्र हैं।

(१) इस प्रणाली में व्यावसायिक आवश्यकताओं और विकासशील अर्थव्यवस्था के अनुसार विस्तृत होने तथा सिकुड़ने का गुण नहीं है। सभी दृष्टिकोणों से यह एक कृत्रिम तथा प्रबन्धित प्रणाली है, जिसके संचालन के लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है।

(२) हमारी पत्र-मुद्रा प्रणाली का उद्देश्य केवल विदेशी विनिमय में स्थिरता ही रहा है। यह प्रणाली आन्तरिक कीमतों में स्थिरता स्थापित करने में सफल नहीं रही है।

(३) इस प्रणाली में समुचित लोच का भी अभाव है। निधि व्यवस्थाएँ बहुत ही कड़ी हैं। प्रणाली का देश की आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी मौद्रिक आवश्यकताओं से कोई भी प्रत्यक्ष तथा घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। स्टर्लिङ्ग ही इस

प्रणाली की जान है। इसमें देशी अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकता के अनुसार मुद्रा की मात्रा को घटाने-बढ़ाने का गुण नहीं है।

(४) यह प्रणाली इस प्रकार संचालित है कि इसमें देश की समस्त प्रचलित मुद्रा तथा देश की आर्थिक आवश्यकता, उत्पादन शक्ति और वितरण सम्बन्धी आवश्यकताओं के बीच किसी भी प्रकार का समचय नहीं रहता है। इस दृष्टिकोण से आर्थिक विकास के हेतु यह प्रणाली बहुत उपयुक्त नहीं हो सकती है।

भारत में पत्र-मुद्रा प्रकाशन का एकाधिकार रिजर्व बैंक को प्राप्त है, जिसके लिए उसने निर्गम विभाग (Issue Department) खोल रखा है। पत्र-मुद्रा की निकासी के लिए रिजर्व बैंक का यह वैधानिक कर्त्तव्य है कि वह जितनी कीमत के कागज के नोट निकाले उतने ही रुपये का सोना, स्वर्ण-मुद्रा, स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ अथवा ब्रिटिश सरकार के साख-पत्र, भारत सरकार की प्रतिभूतियाँ और रुपये के साख-पत्र सामूहिक रूप में पत्र-मुद्रा निधि (Paper Currency Reserve) के रूप में रखे। नियमानुसार इस निधि का ४०% स्वर्ण, स्वर्ण-मुद्रा तथा विदेशी सरकारों के साख-पत्रों के रूप में होना आवश्यक है। इस कार्य के लिए सोने का मूल्य २१ रुपये ३ आना १० पाई फी तोला की दर पर लगाया जाता है। सन् १९४७-४८ तक ४४·४२ करोड़ रुपये की कीमत का सोना रखना आवश्यक था, परन्तु अब केवल ४०·०२ करोड़ रुपये की कीमत का सोना रखना ही जरूरी है। पत्र-मुद्रा निधि का शेष ६०% भारत सरकार के साख-पत्रों तथा अन्य स्वीकृत साख-पत्रों के रूप में होना चाहिए, किन्तु भारत सरकार के साख पत्र कुल निधि के ¼ अथवा ५० करोड़ रुपये की कीमत से अधिक नहीं होने चाहिए।

अध्याय १६

भारत में दशमिक मुद्रण की समस्या

(The Problem of Decimal Coinage in India)

प्रारम्भिक—

स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारे देश के सामने अनेक समस्याएँ आई हैं, जिन्हें हमने धीरे-धीरे सुलझाने की कोशिश की है। साधारणतया स्वतन्त्रता के बाद का काल राजनीतिज्ञों, अर्थशास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों के लिए इतना अधिक व्यस्त काल रहा है कि छोटी-छोटी समस्याओं की ओर कम ध्यान दिया गया है, परन्तु देश की बहुत सी समस्याएँ ऐसी हैं जो ऊपर से तो बहुत मामूली मालूम पड़ती हैं, परन्तु देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन में उनका भारी महत्त्व है। दशमलवीय मुद्रण की समस्या एसी ही समस्याओं में से एक है। इस समय देश की मुद्रण प्रणाली में रुपया, आना और पाई का चलन है। जैसा कि विदित है कि एक रुपये में १६ आने होते हैं और एक आने में १२ पाई। विद्यार्थियों, विशेपकर छोटे-छोटे विद्यार्थियों के लिए, रुपये, आने और पाई का हिसाब कितना कठिन होता है, इसका अनुभव तो स्वयं पाठकों को भी होगा, परन्तु हममें से बहुत ने शायद यह कभी न सोचा होगा कि इस कठिनाई को मुद्रा प्रणाली में थोड़ा सा ही सुधार करके दूर किया जा सकता है। यह भी हमने कभी न सोचा होगा कि रुपये, आने और पाई की वर्तमान प्रणाली में कितना राष्ट्रीय श्रम और कितनी राष्ट्रीय शक्ति बेकार खर्च होती है। कठिनाई को दूर करने का सबसे सरल उपाय यह है कि देश में दशमिक मुद्रण क्रम (Decimal Coinage System) स्थापित किया जाय। दशमिक क्रम से हमारा अभिप्राय एक ऐसी मुद्रा प्रणाली से होता है जिसमें प्रत्येक मुद्रा इकाई अपने से ऊपर की मुद्रा इकाई का दसवाँ भाग होती है। ऐसी प्रणाली फ्रान्स में काफी लम्बे काल से प्रचलित है। इस प्रणाली में एक मुद्रा इकाई को १० से गुणा करके या १० से भाग देकर दूसरी मुद्रा इकाई निकाली जा सकती है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक रुपया १० आने के बराबर बना दिया जाय और १ आना १० पैसे के बराबर, तो किसी दी हुई रुपये की संख्या के आगे केवल बिन्दी लगा देने से आने निकाल आयेंगे और एक और बिन्दी लगाने से पैसे।

भारत में दशमिक क्रम की आवश्यकता—

ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है जो यह कहते हैं कि भारत में वर्तमान रुपए, मन, गज आदि के आधार पर प्रमापीकरण (Standardisation) सम्भव है और यद्यपि दशमिक क्रम इस काम के लिए अधिक उपयुक्त है, परन्तु इस समय इसके ग्रहण करने से भारी असुविधा होगी। इसलिए यही अच्छा बताया जाता है कि वर्तमान प्रणाली को ही प्रमापीकृत आधार पर बनाये रखा जाय, क्योंकि इससे सभी लोग भली-भांति परिचित हैं, जबकि नई प्रणाली को समझने और उसके अनुसार काम करने में काफी समय लगेगा। यह बात तो सत्य है, परन्तु इस समय देश के विभिन्न भागों में वजन और लम्बाई आदि की नाप के पैमानों में इतने अन्तर हैं कि वर्तमान आधार पर प्रमापीकरण करने में भी कुछ कम असुविधा न होगी। तो फिर दशमिक क्रम पर ही प्रमापीकरण क्यों न किया जाय, जिसकी श्रेष्ठता को सभी स्वीकार करते हैं। यदि वर्तमान प्रणाली में परिवर्तन ही करना है तो ऐसा परिवर्तन क्यों न किया जाय कि जो स्थाई हो तथा जिससे कुशलता और सुविधा बढ़ सके। निम्न कारणों से भारत में दशमिक क्रम की आवश्यकता है :—

(१) संसार के सभी सभ्य देशों में गणित के चिन्ह (Notations) दशमलवीय आधार पर ही बनाये गये हैं। नाप और तोल की कोई भी ऐसी इकाई सुविधाजनक न होगी जिसमें इस दशमलीय आधार को ग्रहण न किया जाय। संसार के लगभग सभी देशों में बहुमत दशमिक क्रम के ही पक्ष में है, क्योंकि इसकी श्रेष्ठता को सभी मानते हैं। यह निश्चय है कि यदि इस समय हम इस क्रम को ग्रहण भी नहीं करते हैं तो भविष्य में यह जरूर ही लागू होगा। फिर इसको अभी से क्यों न लागू किया जाय।

(२) संसार के ५० देशों ने, जिनमें सारे संसार की तीन-चौथाई जन-संख्या रहती है और जिनमें विभिन्न जलवायु और संस्कृति के लोग शामिल हैं, इस क्रम को पहिले से ही ग्रहण कर लिया है। व्यावहारिक अनुभव इस क्रम के ही पक्ष में है, क्योंकि यह भी निश्चय है कि जिस देश ने इस प्रणाली को एक बार ग्रहण कर लिया है उसने बाद में इसे छोड़ना आवश्यक नहीं समझा है। कुछ समय पश्चात् भारत को भी अन्य देशों का अनुकरण करना ही पड़ेगा।

(३) भारत में दशमिक क्रम के पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि इस क्रम का अन्तर्राष्ट्रीय आधार होने के कारण देश के सभी भागों में इसे बिना विरोध ग्रहण कर लिया जायगा। किसी दूसरी प्रणाली को ग्रहण करने का परिणाम यह हो सकता है कि कुछ क्षेत्रों में भारी

असन्तोष रहे, क्योंकि उत्तर और दक्षिण में पैमाने एक ही आधार पर नहीं हैं।

(४) दशमिक क्रम को ग्रहण करके भारत भी उन देशों की उस लम्बी सूची में शामिल हो जायगा जिन्होंने नाप के सामूहिक आधार को मान लिया है। ऐसा करने से भारत अपनी अन्तर्राष्ट्रीयवादी भावनाओं को कार्य रूप दे सकेगा और साथ ही उन जञ्जीरों को भी तोड़ सकेगा जिन्होंने अब तक उसकी उन्नति में रुकावटें उपस्थित की हैं।

इस सम्बन्ध में एक और प्रश्न का उत्तर भी आवश्यक प्रतीत होता है। दशमिक क्रम के कुछ आलोचक ऐसे भी हैं जो भारत के लिए इसकी उपयुक्तता को स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका विचार है कि इसका कार्य-रोपण १५-२० वर्ष के लिए स्थगित रखा जाय। यह कहा जाता है कि हमने आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाया है तथा सरकार और जनता दोनों ही निर्माण कार्यों में व्यस्त हैं। अभी कुछ समय तक और रुके रहने की जरूरत है, क्योंकि इस प्रणाली को ग्रहण करके हम इंगलैंड और अमेरिका जैसे देशों से अलग हो जायेंगे, जिनसे हमारा वाणिज्यिक सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ट है। ऐसे आलोचकों को जानना चाहिए कि अब समय आ गया है कि इस क्रम के लागू करने में और अधिक विलम्ब न किया जाय। क्रम को तुरन्त ग्रहण करने के पक्ष में अनेक तर्क रखे जा सकते हैं:—प्रथम, इस समस्या को इतने लम्बे काल तक टाला गया है कि अब इसको और अधिक टालना किसी भी प्रकार उचित नहीं हो सकता है। राष्ट्रीय हित इसी में है कि अन्तर्स्थानीय व्यापार और वाणिज्य की उलझन को और अधिक समय तक बना न रहने दिया जाय। जितनी जल्दी इसे दूर किया जायगा उतना ही अच्छा होगा। दूसरे, यह कहना असंगत प्रतीत होता है कि जब तक इंगलैंड और अमेरिका में यह प्रणाली नहीं अपनाई जाती है, भारत में भी इसके ग्रहण करने का विचार स्थगित किया जाय। बात यह है कि इन देशों को काफी लम्बे काल से पैमानों के प्रमापीकरण का लाभ प्राप्त है, जबकि भारत में मुद्रा के सम्बन्ध में हमने इसे अभी-अभी स्थापित किया है और दूसरी दिशाओं में हम अभी तक भी स्थापित नहीं कर पाये हैं। इस सम्बन्ध में सन् १९५४ में सर एडवर्ड बुलर्ड (Sir Edward Bullard) ने, जो इंगलैंड की नेशनल फिजीकल लेबोरेट्री (National Physical Laboratory) के संचालक हैं, ठीक ही कहा है—"यदि निर्णय यही है कि भारत में दशमिक क्रम को ग्रहण किया जाय तो इसे तुरन्त ही किया जाय, पहिले इसके कि औद्योगीकरण इस हद तक आगे बढ़ जाय कि इस प्रकार का परिवर्तन करना कठिन हो जाय।" अतः यह आवश्यक है कि औद्योगीकरण की समुचित प्रगति के पहले ही

इस आवश्यक परिवर्तन को सम्पन्न कर दिया जाय। तीसरे, स्थगित करने से किसी समस्या या कठिनाई के सुलझ जाने की भी कोई आशा नहीं हो सकती है। जैसे-जैसे समय गुजरता जायगा, इस प्रकार का परिवर्तन करने का खर्च बढ़ता ही जायगा, क्योंकि सभी प्रकार की शिल्पिक, औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा, जो वर्तमान प्रणाली के आधार पर दी जायगी, बेकार हो जायगी। चौथे, अनिश्चितता उन्नति के मार्ग में बाधक होती है। यदि अनिश्चितता बनी रहेगी तो उद्योगों को अपनी दीर्घकालीन योजनाएँ बनाने में कठिनाई होगी। अन्त में, यह तर्क भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है कि क्योंकि भारत का दो-तिहाई व्यापार ऐसे देशों से है जिनमें यह प्रणाली प्रचलित नहीं है, इसलिए अभी कुछ समय तक भारत में भी इसे लागू न किया जाय। बात यह है कि स्वयं इंगलैंड और अमरीका का आधा-आधा व्यापार दशमिक क्रम तथा अन्य देशों से होता है और इन्हें इसमें कोई कठिनाई भी नहीं है, अतः यही अच्छा है कि यदि हम इस प्रणाली को ग्रहण करना चाहते हैं तो इसे शीघ्र ही ग्रहण करें। मुद्रा के सम्बन्ध में तो सरकार ने इसे लागू करने का निर्णय कर ही लिया है, अन्य दिशाओं में भी इसकी आवश्यकता है।

भारत में दशमिक क्रम का इतिहास—

भारत में दशमिक क्रम की स्थापना के प्रयत्न का इतिहास काफी पुराना है। इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयत्न सन् १८६७ और सन् १८७१ के बीज के काल में किया गया था। सम्पूर्ण सम्भावनाओं की जाँच के पश्चात् भारत सरकार इस नतीजे पर पहुँची थी कि सभी कठिनाइयों का एक मात्र इलाज दशमिक क्रम की स्थापना थी, यद्यपि यह स्थापना धीरे-धीरे होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में सन् १८७० का दशमिक एक्ट (Metric Act of 1870) पास किया गया, जिसकी व्यवस्थाओं में भारत सचिव के आदेश पर कुछ संशोधन किये गये। तब से अब तक ८८ वर्ष बीत चुके हैं, परन्तु एक्ट को लागू नहीं किया जा सका है। सन् १६३६ में भारत सरकार ने वजन प्रतिमान संनियम (Standard of Weights Act) को पास करके तो सन् १८७० के एक्ट की व्यवस्थाओं को समाप्त ही कर दिया। इसके बाद सन् १६४० में भारतीय दशमिक सभा (Indian Decimal Society) स्थापित हुई। इस संस्था ने बराबर दशमिक क्रम की स्थापना पर जोर दिया है और सरकार तथा समाज को इसके विषय में उपयुक्त ज्ञान प्रदान किया है।

दशमिक मुद्रा विधेयक, १६४६—

फरवरी सन् १६४६ में भारत सरकार ने धारा सभा के सामने एक

बिल प्रस्तुत किया, जिसमें दशमिक मुद्रा प्रणाली के लागू करने की व्यवस्था की गई थी और रुपये को प्रामाणिक सिक्का मान कर उसे १०० सेंट में विभाजित करने का सुझाव दिया गया था। जन मत प्राप्त करने के लिए बिल पर जनता की राय माँगी गई। सभी ओर से बिल के पक्ष में ही राय आई। फरवरी सन् १९४७ में भारत सरकार ने राज्य सरकारों को आदेश दिया कि वे दशमिक नाप और तोल के ग्रहण करने के प्रश्न पर विचार करें। वाणिज्य और व्यापर संघों तथा वैज्ञानिक संस्थाओं ने सरकारी नीति का समर्थन किया और इस आवश्यक सुधार को लागू करने का अनुरोध किया।

तत्पश्चात् सन् १९४८ में भारतीय प्रतिमान संस्था विशेष समिति (Indian Standards Institution Special Committee, 1949) की स्थापना की गई, जिसकी रिपोर्ट सन् १९४९ में प्रकाशित हुई। इस समिति ने देश में दशमिक क्रम की स्थापना सम्बन्धी सभी समस्याओं की जाँच की। समिति ने देश के विभिन्न हितों और देश की विभिन्न संस्थाओं की राय जमा की। समिति अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँची कि दशमिक क्रम की सभी ओर माँग थी, परन्तु इस प्रणाली को धीरे-धीरे स्थापित किया जाय। विभिन्न राज्य सरकारों ने क्रम को धीरे-धीरे लागू करने के लिए ५ से लेकर १५ वर्ष तक की समय अवधि रखी थी। केवल बिहार और मध्य-प्रदेश दशमिक क्रम के ग्रहण करने के पक्ष में न थे। समिति ने खर्च और असुविधा को ध्यान में रखते हुए यह सुझाव दिया था कि दशमिक क्रम को धीरे-धीरे १०-१५ वर्ष में सभी दिशाओं में लागू कर दिया जाय।

समिति के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार थे :—

(१) पहिले ३ से लेकर ५ वर्षों तक कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन न किया जाय। इस काल में लोगों को समुचित सूचना और शिक्षा दी जाय। फिर धीरे-धीरे दशमिक क्रम अपनाया जाय।

(२) भारत सरकार दशमिक मुद्रा प्रणाली स्थापित करे, जिसमें मुद्रा की प्रत्येक इकाई उससे पहिली इकाई का दसवाँ अंश हो।

(३) इस सम्बन्ध में गहरा प्रचार होना चाहिए और शिक्षा संस्थाओं और प्रचार की अनेक विधियों का पूरा-पूरा उपयोग किया जाय।

(४) केन्द्रीय तथा राज्य सरकार प्रारम्भिक तैयारी आरम्भ कर दें और नई प्रणाली को लागू करने के खर्च का अनुमान लगायें।

(५) सरकार नियमित बाजारों (Regulated Markets) के

दैनिक कार्यों में यथासम्भव दशमिक क्रम के उपयोग को प्रोत्साहन दे, इत्यादि।

समिति की रिपोर्ट से सिद्ध होता है कि अन्य दिशाओं में दशमिक क्रम को लागू करने में चाहे जो कठिनाई रही हो, मुद्रा के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण कठिनाई न थी, क्योंकि मुद्रा की इकाइयों का प्रमापीकरण बहुत पहिले से ही हो चुका है। समिति ने सिफारिश की थी कि भारत सरकार शीघ्र ही लोक सभा में दशमिक मुद्रण सम्बन्धी नियम प्रस्तुत करे और दशमिक क्रम की स्थापना का आरम्भ मुद्रण प्रणाली के परिवर्तन द्वारा करे।

भारतीय मुद्रण संशोधन संनियम, १९५५—

भारतीय मुद्रण एक्ट, १९०६ में संशोधन करने का ठोस प्रस्ताव एक नये बिल के रूप में सन् १९४९ में रखा गया था। प्रस्ताव यह था कि भारत में दशमिक प्रणाली लागू की जाय, जिसमें एक रुपये को १९२ पाई में विभाजित करने के स्थान पर १०० सेंट (Cents) में विभाजित किया जाय। प्रस्ताव निम्न प्रकार था :—

१ रुपया	वर्तमान रुपये के अनुसार	रुपया
५० सेंट	,,	$\frac{1}{2}$ रुपया
२५ ,,	,,	$\frac{1}{4}$ रुपया
१० ,,	वर्तमान $\frac{1}{4}$ रुपये से कम कीमत के सिक्कों के स्थान पर	
५ ,,		
२ ,,		
१ ,, (पीतल)		
$\frac{1}{2}$,, (सम्भावित)		

यह विभाजन क्रम लंका की मुद्रा प्रणाली के आधार पर बनाया गया था। रुपए का सिक्का, अठन्नी और चवन्नी की शक्ल, वजन और आकार ज्यों का त्यों रहेगा, परन्तु इससे नीचे के सिक्के नये रहेंगे और उनके पुनः मुद्रण की आवश्यकता पड़ेगी। भारत सरकार के वित्त विभाग ने दशमलवीय प्रणाली के स्थाई लाभों की गणना निम्न प्रकार कराई है:—

(१) एक सरल तथा शीघ्र लेखा विधि का निर्माण।

(२) व्यय तथा मूल्य निर्धारण की एक सही और सप्रभाविक रीति।

(३) घरेलू कामों और उपभोगीय वस्तुओं की कीमतों को नापने का एक सरल उपाय।

(४) अनावश्यक तथा विविध प्रकार की मुद्रा इकाइयों को समाप्त करना और नई इकाइयों को दशमलवीय आधार पर परिभाषित करना।

(५) कीमतों के छोटे-छोटे परिवर्तनों की अधिक सही नाप करना जिससे कि मुद्रा का व्यय अधिक उपयुक्त रीति से किया ज सके।

(६) शिक्षा संस्थाओं में समय और परिश्रम की बचत करना।

भारत सरकार नई मुद्रा के चालू करने के सम्बन्ध में होने वाल कठिनाइयों को भी भली-भाँति समझती थी। तीन कठिनाइयाँ विशेष रू में महत्त्वपूर्ण हैं :—

प्रथम, आरम्भ में यह नई प्रणाली अरुचिकर तथा जटिल प्रतीत होगी, वर्तमान प्रणाली लम्बे काल से एक परम्परागत प्रणाली के रूप में चालू है और लोग भावनायुक्त रूप में नई प्रणाली का विरोध करेंगे, परन्तु सरकार ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए रुपया, अठन्नी और चवन्नी के सिक्कों में परिवर्तन न करने का फैसला किया है।

दूसरे, कुछ समय तक नई और पुरानी मुद्रायें साथ ही साथ चालू रहेंगी। इससे अनावश्यक उलझन होगी और भोले-भाले लोगों के ठगे जाने की सम्भावना रहेगी, परन्तु यदि नई प्रणाली चालू करनी है तो यह कठिनाई बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। गड़बड़ चवन्नी से नीचे के ही सिक्कों में होगी और वह भी थोड़े ही समय तक।

तीसरे, वर्तमान दशा में सभी कीमतें और दरें जिस आधार पर हैं वह आधार ही बदल जायगा, जिससे असुविधा होगी। रेल्वे और डाक-खाने की नई दरें कुछ और ही रहेंगी, परन्तु यह कठिनाई भी अस्थाई होगी। अन्त में तो नई मुद्रा ही स्थाई रूप में चालू रहेगी।

भारत सरकार द्वारा विचार परामर्श तथा सोच-विचार के बाद सन् १९५५ का भारतीय मुद्रा (संशोधन) नियम सन् १९५६ में पास किया गया है। नियम की प्रमुख व्यवस्थायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) इस एक्ट का नाम भारतीय मुद्रा (संशोधन) संनियम (Indian Currency Amendment Act) रखा गया है।

(२) एक्ट के अनुसार भारत की मुख्य मुद्रा इकाई रुपया रहेगी। सबसे छोटी मुद्रा इकाई का नाम पैसा रहेगा, परन्तु उसे कुछ समय तक (उस समय तक जब तक कि वर्तमान पैसा भी चालू रहेगा) नया पैसा कहा जायगा। एक रुपया १०० नये पैसों के बराबर होगा।

(३) रुपए और पैसे के अतिरिक्त ५० पैसे और २५ पैसे के दो

सिक्के और होंगे। वर्तमान अठन्नी और चवन्नी की कीमत क्रमशः ५० और २५ नये पैसों के बराबर होगी।

(४) इन सिक्कों के अतिरिक्त वर्तमान दुअन्नी, इकन्नी, दो पैसे और एक पैसे के सिक्कों के स्थान पर १०, ५, २ और एक नये पैसे के सिक्के बनाये जायेंगे।

(५) वर्तमान दो आने एक आने, दो पैसे और एक पैसे के सिक्के भी साथ-साथ चालू रहेंगे, परन्तु धीरे-धीरे इनका विमुद्रीकरण होगा। तीन वर्ष के पश्चात् अन्त में पूर्ण रूप में नई मुद्रा चालू हो जायगी, यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर इस अवधि को बढ़ाया जा सकता है।

(६) एक्ट की व्यवस्थाओं को १ अप्रैल सन् १९५७ से लागू किया गया है। रुपया, अठन्नी और चवन्नी के सिक्के गिलट (Nickle) के हैं, एक नया पैसा तांबे का है और अन्य सिक्के तांबे और गिलट की मिलावट के।

मुद्रा प्रणाली का नया रूप—

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, १ अप्रैल १९५७ से सरकार ने नये सिक्कों को चालू कर दिया है। ३ वर्ष तक, अथवा यदि आवश्यकता समझी गई तो और आगे तक, नये और पुराने दोनों ही प्रकार के सिक्के साथ-साथ चलेंगे। कुल मिलाकर सात नये सिक्के होंगे, जिनमें रुपये का वर्तमान रूप ज्यों का त्यों रहेगा। अन्तर केवल इतना होगा कि रुपए की पीठ पर "सौ नए पैसे" लिखा रहेगा। रुपए के अतिरिक्त ५० पैसे (रुपए का आधा भाग), २५ पैसे (रुपए का चौथा भाग), १० पैसे (रुपए का दसवां भाग), ५ पैसे (रुपये का बीसवां भाग), दो पैसे (रुपए का पचासवां भाग) और १ पैसे (रुपए का सौवां भाग) के भी सिक्के होंगे। कुछ काल के लिए भारत सरकार ने रुपये के नये सिक्कों और ५० तथा २५ नये पैसों के सिक्कों को न निकालने का फैसला किया है। रुपए का वर्तमान सिक्का तथा अठन्नी और चवन्नी इसके स्थान पर चालू रहेंगे। वर्तमान और नये दोनों ही सिक्कों में लेन-देन हो सकेगी। इन सिक्कों को लेने से कोई भी एतराज नहीं कर सकता है। कोई व्यक्ति नये, पुराने अथवा नये और पुराने सिक्के मिलाकर, जो भी उसके पास हों, भुगतान कर सकता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि रुपये के आधारभूत मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। उसके नीचे के सिक्के ही मूल्य में बदल गये हैं। निम्न तालिका में नए और पुराने सिक्कों की परिवर्तन दर दिखाई गई है :—

आने	पा०	नयेपैसे	आने	पाई	नयेपैसे	आने	पाई	नयेपैसे	आने	पाई	नये पैसे
०	३	२	४	३	२७	८	३	५२	१२	३	७७
०	६	३	४	६	२८	८	६	५३	१२	६	७८
०	९	५	४	९	३०	८	९	५५	१२	९	८०
१	०	६	५	०	३१	९	०	५६	१३	०	८१
१	३	८	५	३	३३	९	३	५८	१३	३	८३
१	६	९	५	६	३४	९	६	५९	१३	६	८४
१	९	११	५	९	३६	९	९	६१	१३	९	८६
२	०	१२	६	०	३७	१०	०	६२	१४	०	८७
२	३	१४	६	३	३९	१०	३	६४	१४	३	८९
२	६	१६	६	६	४१	१०	६	६६	१४	६	९१
२	९	१७	६	९	४२	१०	९	६७	१४	९	९२
३	०	१९	७	०	४४	११	०	६९	१५	०	९४
३	३	२०	७	३	४५	११	३	७०	१५	३	९५
३	६	२२	७	६	४७	११	६	७२	१५	६	९७
३	९	२३	७	९	४८	११	९	७३	१५	९	९८
४	०	२५	८	०	५०	१२	०	७५	१६	०	१००

अधिक संक्षिप्त रूप में परिवर्तन सारिणी निम्न प्रकार दी जा सकती है:—

१ रुपया	१०० नया पैसा	२ आने	१२ नये पैसे
८ आने	५० ,, ,,	१ आना	६ ,,
४ ,,	२५ ,, ,,	२ पैसे	३ ,,
३ ,,	१९ ,, ,,	१ पैसा	२ ,,

नये सिक्कों को चलते हुए अब एक वर्ष बीत चुका है। आशा यह की जाती थी एक साल में नये सिक्कों की लोकप्रियता इतनी बढ़ जायगी कि पुराने सिक्के काफी हद तक समाप्त हो जायेंगे, किन्तु अनुभव इसके विपरीत है क्योंकि अभी तक पुराने सिक्कों के प्रचलन में कोई कमी दिखाई नहीं पड़ती है।

तोल की दशमलवीय प्रणाली (The Metric System of Weights)–

इस समय भारत में तोल और माप की कोई भी एक प्रणाली देशव्यापी नहीं है। देश में कम से कम १४३ प्रणालियाँ प्रचलित हैं। इतनी अधिक प्रणालियों के कारण धोखे का अवकाश काफी रहता है। यदि देश में माप और तोल की दशमलवीय प्रणाली लागू कर दी जाय तो हिसाब लगाने में काफी आसानी हो जायगी। मुख्यतया जबकि देश में दशमलवीय मुद्रण प्रणाली पहले से ही चालू है। इस दिशा में सन् १९५६ के तोल और माप परिमान संनियम ने दशमलवीय प्रणाली की आधारभूत इकाइयाँ

निश्चित कर दी हैं। भारत सरकार ने अक्टूबर सन् १९५८ से माप और तोल की दशमलवीय प्रणाली चालू करने का निश्चय किया है। नई प्रणाली को धीरे-धीरे लागू किया जायगा और ३ साल तक नई और पुरानी माप-तोल साथ-साथ चलेगी। तोल की नई आधारभूत इकाई किलोग्राम (Kilogram) रखी गई है, जिसका वजन १ सेर ६ तोला अथवा ८६ तोला अथवा २ पौंड ३ औंस होगा। पूरी प्रणाली निम्न प्रकार रहेगी :—

१० मिलीग्राम	१ सेन्टीग्राम
१० सेन्टीग्राम	१ डेसीग्राम
१० डेसीग्राम	१ ग्राम
१० ग्राम	१ डेकाग्राम
१० डेकाग्राम	१ हैक्टोग्राम
१० हैक्ट्रोग्राम	१ किलोग्राम
१०० किलोग्राम	१ कुइन्टल
१० कुइन्टल अथवा १००० किलोग्राम	१ मेट्रिक टन

अध्याय १७

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(International Trade)

एक देश के व्यापार को दो भागों में बाँटा जा सकता है :—आन्तरिक, देशी अथवा घरेलू व्यापार तथा विदेशी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार। आन्तरिक व्यापार से हमारा अभिप्राय उस व्यापार से होता है जो एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों अथवा स्थानों के बीच होता रहता है। इसको कभी-कभी अन्तर्स्थानीय व्यापार (Inter-regional Trade) अथवा क्षेत्रवर्ती व्यापार भी कहा जाता है। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हमारा आशय उस व्यापार से होता है जो दो अलग-अलग देशों या

राष्ट्रों के बीच होता है। उदाहरणस्वरूप, यदि दिल्ली और अमृतसर के व्यापारी आपस में क्रय-विक्रय करते हैं तो इसे भारत का आन्तरिक व्यापार कहा जायगा, परन्तु यदि अमृतसर के व्यापारी लाहौर के व्यापारियों के साथ व्यापार करते हैं तो यह भारत का विदेशी व्यापार होगा। कारण यह है कि दिल्ली और अमृतसर ये दोनों तो एक ही देश में स्थित हैं, परन्तु लाहौर एक दूसरे देश में स्थित है। इस सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि एक देश अथवा राष्ट्र किसे कहते हैं। फ्रीमैन (Freeman) के अनुसारः—"राष्ट्र भू-भाग का वह लगातार भाग है जिसके रहने वाले एक सी ही भाषा बोलते हैं तथा एक ही राज्य के शासन के भीतर आते हैं।" इसी प्रकार बेजहोट (Bagehot) के अनुसार :—"राष्ट्र उत्पादकों का एक ऐसा समूह है जिसके बीच श्रम और पूँजी की स्वतन्त्र गतिशीलता होती है।" स्मरण रहे कि फ्रीमैन की परिभाषा राजनैतिक दृष्टिकोण से है और बेजहोट की आर्थिक दृष्टिकोण से, परन्तु क्योंकि एक देश की आर्थिक और राजनीतिक सीमाएँ प्रायः एक ही होती हैं, इसलिए दोनों परिभाषाओं में लगभग कुछ भी अन्तर नहीं है।

आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भेद—

ऊपर से देखने पर किसी देश के आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ भी भेद दृष्टिगोचर नहीं होता है। दोनों का आधार विनिमय द्वारा ऐसी वस्तुओं और सेवाओं के बदले में जो कि स्थान विशेष में फालतू अथवा प्रचुर हैं ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का प्राप्त करना होता है जो या तो उपलब्ध ही नहीं हैं अथवा दुर्लभ हैं। दोनों का इस प्रकार विनिमय द्वारा अधिकतम् आवश्यकताओं को पूरा करके अधिकतम् संतोष प्राप्त करना ही उद्देश्य होता है। जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों में अलग-अलग काम करने की विशेषता अथवा योग्यता अधिक होती है इसी प्रकार प्राकृतिक तथा तथा अन्य कारणों से विभिन्न देश अलग-अलग वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। यही कारण है कि जिस प्रकार विनिमय द्वारा विनिमय करने वाले दोनों व्यक्तियों को लाभ होता है ठीक उसी प्रकार विदेशी व्यापार, उसमें सम्मिलित होने वाले सभी देशों के लिए हितकारी होता है। स्वभाव में आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक से ही होते हैं, परन्तु आर्थिक विद्वानों ने निम्न कारणों से इन दोनों के बीच भेद करने का प्रयत्न किया है :—

(१) एक देश के भीतर साधारणतया श्रम और पूँजी में गतिशीलता होती है। इसका परिणाम यह होता है कि देश के सभी स्थानों पर मजदूरी और ब्याज की दरें एक सी ही रहती हैं और उत्पादन व्यय

भी लगभग समान रहता है। श्रम और पूँजी की इस गतिशीलता के अनेक कारण होते हैं। ऐसा देखने में आता है कि विदेशों में काफी ऊँचे वेतन मिलने पर भी लोग अपने देश को छोड़ना नहीं चाहते हैं। कारण यह है कि विभिन्न देशों में भाषा, धर्म, आचार-विचार, रीति-रिवाज, खान-पान, सामाजिक और आर्थिक जीवन आदि के भारी अन्तर होते हैं। जहाँ तक पूँजी का प्रश्न है, वह श्रम की अपेक्षा अधिक गतिशील होती है, परन्तु अपनी बचत का भी लोग अपने ही देश में विनियोग करना अधिक पसन्द करते हैं। विदेशियों को ऋण देते समय प्रतिभूति सम्बन्धी शर्तें अधिक कड़ी रखी जाती हैं और ब्याज भी अधिक मांगा जाता है। लोगों का कुछ ऐसा विश्वास है कि देशी विनियोग विदेशी विनियोगों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित होते हैं।

गतिशीलता के इस अन्तर का प्रभाव यह होता है कि विभिन्न देशों में एक सी ही वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन व्यय में समानता नहीं आने पाती है। इस प्रकार विभिन्न देशों को अलग-अलग वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ प्राप्त होने लगते हैं और उत्पादन का इस प्रकार विशिष्टीकरण (Specialisation) हो जाता है कि विभिन्न देशों के बीच स्पर्धा नहीं हो पाती है। गतिशीलता के इस अभाव का एक और भी महत्त्वपूर्ण आर्थिक परिणाम होता है। दीर्घकाल में प्रत्येक वस्तु की कीमत में उसके उत्पादन व्यय के बराबर हो जाने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु उत्पादन व्यय में अन्तर रहने के कारण विभिन्न देशों में एक ही वस्तु की कीमतों के बीच भी अन्तर रहता है।

(२) एक देश के भीतर उत्पादन सम्बन्धी नियम सभी स्थानों पर एक से ही होते हैं। श्रम, उत्पादन विधि, वितरण आदि के विषय में सभी भागों के लिए समान नियम बनाये जाते हैं। उत्पादन के सम्बन्ध में सरकारी नीति भी एक सी ही रहती है। आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं में अनुरूपता रहती है। एक देश के नागरिकों के लिए राष्ट्रीय और स्थानीय कर भी एक से होते हैं। उनके लिये स्वास्थ्य, सफाई, कारखानों में काम करने की दशाओं और सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी नियम एक से रहते हैं, यातायात और लोक-सेवाएँ एक सी होती हैं, औद्योगिक सम्बन्धों और श्रम-संघों के लिये एक से ही नियम रहते हैं और व्यावसायिक कार्य प्रणाली में भी अन्तर नहीं होता, परन्तु विभिन्न देशों में इन सब दिशाओं में भारी विविधता रहती है, जिसके कारण उत्पादन सम्बन्धी सुविधाओं में अन्तर रहता है और उत्पादन व्यय में भिन्नता आ जाती है। विभिन्न देशों के बीच आर्थिक घटनायें स्वतन्त्रतापूर्वक अपना प्रभाव प्रकट नहीं कर पाती हैं।

(३) विभिन्न देशों के बीच भूमि की बनावट, जलवायु तथा प्राकृतिक साधनों के भी गम्भीर अन्तर हो सकते हैं। इनका परिणाम भौगोलिक श्रम विभाजन तथा उद्योगों के [illegible] के रूप में प्रकट होता है। कुछ देशों को खनिज पदार्थों के लाभ प्राप्त होते हैं, तो कुछ को उपयुक्त भूमि और अच्छी जलवायु के। इन लाभों का एक देश से दूसरे देश को हस्तान्तरण या तो असम्भव होता है या बहुत ही व्ययपूर्ण, यद्यपि देश के भीतर इसमें कोई बाधा नहीं होती है। इन लाभों के कारण भी उत्पादन व्यय की स्थिति में अन्तर हो जाता है।

(४) प्रत्येक देश की मुद्रा-प्रणाली अलग-अलग होती है। देश के भीतरी व्यवसाय में विदेशी विनिमय अर्थात् एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा में बदलने की समस्या उत्पन्न नहीं होती हैं, परन्तु विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में इन समस्याओं का भारी महत्त्व होता है। ये समस्यायें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जटिलता लाती हैं और उसके निष्कंटक संचालन में अनेक बाधायें उपस्थित करती हैं। प्रत्येक देश की मुद्रा देश के मुद्रा-संचालक की नीति के अनुसार चलती है और मुद्रा-संचालक की नीति के प्रत्येक परिवर्तन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतन्त्र देशों के बीच होता है, जो आयात-निर्यात, विनिमय नियन्त्रण आदि के सम्बन्ध में अपनी अलग-अलग नीतियों के अनुसार कार्य करते हैं। साधारणतया देश के भीतर वस्तुओं के आवागमन पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होते हैं, परन्तु विदेशी व्यापार में ऐसे प्रतिबन्ध लगभग सभी देशों में लगाये जाते हैं।

इस आधार पर अर्थशास्त्रियों का ऐसा विचार है कि आन्तरिक व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्यायें एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं और इसलिए साधारण विनिमय सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए उपयुक्त नहीं है। उसके लिए एक अलग ही सिद्धान्त की आवश्यकता है। परन्तु दोनों प्रकार के व्यापार के अन्तर को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि वे आधारभूत नहीं हैं। अन्तर केवल अंश का है। यद्यपि यह तो सही है कि विभिन्न देशों के बीच श्रम और पूंजी की गतिशीलता का भारी अभाव होता है, परन्तु यह समझना भी भूल होगी कि स्वयं देश के भीतर ये साधन पूर्ण रूप में गतिशील होते हैं। एक देश के भीतर भी अलग अलग स्थानों में भाषा, धर्म, रीति-रिवाज आदि के गम्भीर अन्तर हो सकते हैं। ठीक इसी प्रकार देश के भीतर पूँजी का आवागमन भी पूर्णतया निस्संकोच नहीं होता है। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि देश के भीतर दो अलग-अलग देशों के बीच की तुलना में श्रम औ

पूँजी की गतिशीलता अधिक होती है। कुछ दशाओं में तो यह भी सम्भव है कि दोनों में गतिशीलता का अंश समान ही रहे।

ठीक इसी प्रकार एक देश के भीतर भी उत्पादन सम्बन्धी नियमों में अन्तर हो सकता है। स्वयं भारत में कुछ नियम केन्द्रीय सरकार द्वारा बनाये जाते हैं और कुछ राज्य सरकारों द्वारा। विभिन्न राज्यों द्वारा बनाये हुए नियमों में विभिन्नता का रहना कोई कठिन बात नहीं है। साथ ही, एक देश के अलग-अलग भागों में प्राकृतिक साधन तथा भौगोलिक दशाएँ भी एक सी नहीं होती हैं। भारत इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है, जहाँ लगभग सभी प्रकार की भूमि तथा सभी प्रकार की जलवायु पाई जाती है। कुछ लोग तो इसी कारण भारत को एक छोटा-सा महाद्वीप कहते हैं। इसी प्रकार कभी-कभी तो यह भी देखने में आता है कि देश के भीतर मुद्राओं की भिन्नता हो और एक स्थान से दूसरे स्थान को माल के आवागमन पर रुकावटें रहें।

इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई मौलिक भेद तो नहीं है, परन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ऐसी अवश्य हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अपेक्षा आन्तरिक व्यापार में अधिकता से पाई जाती हैं। इनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पूर्णतया अलग प्रकार का तो नहीं हो जाता है, परन्तु उसमें विशिष्टता अवश्य आ जाती है। ओहलिन (Ohlin) ने ठीक ही कहा है:—"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्स्थानीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है।"*

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों होता है ?—

यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों और किन दशाओं में सम्भव होता है ? इस प्रश्न का उत्तर वैसे तो बड़ा ही सरल है। बात यह कि जिस प्रकार प्रत्येक विनिमय कार्य से विनिमय के दोनों पक्षों को लाभ होता है ठीक इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी उसमें सम्मिलित होने वाले दोनों देशों के लिए लाभदायक होता है, परन्तु हमें देखना तो मुख्यतया यह है कि किन दशाओं में तथा किन कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर प्रादेशिक श्रम विभाजन को प्रोत्साहन देता है। इसके कारण उत्पादन का इस प्रकार विशिष्टीकरण हो जाता है कि प्रत्येक देश ऐसी ही वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनका उत्पादन व्यय उसके लिए न्यूनतम होता है। यही कारण है कि भारत पटसन का उत्पादन

* "International trade is only a special case of the inter-regional trade." *See* Ohlin : *Inter-regional and International Trade*, p. 3.

करता है, बर्मा, चावल का, इंगलैंड ऊनी कपड़े का और जापान सूती कपड़े का। इससे निस्संदेह लाभ होता है, क्योंकि प्रत्येक देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा न्यूनतम् कीमतों पर वस्तुएँ प्राप्त करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ इस कारण प्राप्त होता है कि विभिन्न देशों में एक वस्तु के उत्पादन व्यय और कीमतों में अन्तर होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार उत्पादन व्यय तथा कीमतों का यह अन्तर ही है।

उत्पादन व्यय के अन्तर को हम दो भागों में बाँट सकते हैं:—(१) लागत का निरपेक्ष (Absolute) अन्तर और (२) लागत का तुलनात्मक अन्तर (Comparative Difference)।

(१) निरपेक्ष अन्तर (Absolute Difference)—एकाधिकार प्राप्त हो जाने के कारण किसी देश को कुछ वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त हो सकता है। कुछ देशों पर कुछ दिशाओं में प्रकृति की विशेष उदारता होने के कारण वहाँ पर कुछ वस्तुओं का उत्पादन बहुत ही कम लागत पर हो सकता है। इसका कारण कुछ विशेष खनिज पदार्थों का मिलना अथवा विशेष प्रकार की जलवायु अथवा पृथ्वी की बनावट हो सकती है। दक्षिणी अफ्रीका को संसार भर में हीरे के उत्पादन का एकाधिकार प्राप्त है। भारत को जूट, जावा को चीनी और ब्राजील को कहवे के सम्बन्ध में विशेष सुविधाएँ हैं। ऐसे देशों में इन वस्तुओं का उत्पादन व्यय काफी कम होता है, परन्तु दूसरे देशों को इन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए उपरोक्त देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार के व्यापार को जन्म देने वाली दशा को लागतों का निरपेक्ष अन्तर कहते हैं। नीचे का उदाहरण इसे स्पष्ट करता है:—

	पटसन	चावल	
भारत	२ इकाई	१ इकाई	एक दिन के श्रम का उत्पादन।
बर्मा	१ ,,	२ ,,	

यह उदाहरण स्पष्ट करता है कि पटसन के उत्पादन में भारत को श्रेष्ठता प्राप्त है। प्रत्येक देश उसी वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करेगा जिसमें उसे श्रेष्ठता प्राप्त होगी और उसी में दूसरे राष्ट्रों से व्यापार करेगा। इससे दोनों ही देशों को लाभ होगा। यदि व्यापार नहीं किया जाता है तो भारत अथवा बर्मा को तीन दिन के श्रम के फलस्वरूप केवल २ इकाई पटसन + २ इकाई चावल प्राप्त होता है, परन्तु व्यापार की दशा में इतने ही श्रम के फलस्वरूप ३ इकाई पटसन तथा ३ इकाई चावल मिल

सकता है। श्रम लागत के आधार पर पटसन और चावल का विनिमय अनुपात निम्न प्रकार होगा :—

भारत—चावल की एक इकाई = पटसन की दो इकाई।

बर्मा—चावल की एक इकाई = पटसन की $\frac{1}{2}$ इकाई।

भारत और बर्मा के बीच का व्यापार उस समय तक बराबर लाभदायक रहेगा जब तक कि भारत को पटसन की २ इकाइयों के बदले में चावल की एक से अधिक इकाई मिलती रहेगी। ठीक इसी प्रकार उस समय तक व्यापार बर्मा के लिये लाभदायक होगा जब तक कि उसके फलस्वरूप चावल की एक इकाई के बदले में पटसन की आधे से अधिक इकाई मिलती रहेगी। व्यापार के सम्बन्ध में होने वाले यातायात, बीमा आदि के व्यय को जोड़ देने पर भी लाभ की इस स्थिति में अन्तर नहीं पड़ेगा और इस प्रकार भारत तथा बर्मा का पारस्परिक व्यापार लाभदायक होगा।

(२) **सापेक्ष अन्तर** (Relative Differences)—उपरोक्त उदाहरण में हमने यह देखा है कि एक देश को ऐसी वस्तुओं का निर्यात करने में लाभ होता है जो वहाँ पर निरपेक्ष रूप में कम लागत पर उत्पन्न की जा सकती हैं और उन वस्तुओं के आयात से लाभ होता है जिनके उत्पादन में लागत अधिक बैठती है, परन्तु लागत के निरपेक्ष अन्तर साधारणतया कम ही होते हैं। वैसे तो प्रत्येक देश में लगभग सभी वस्तुएँ किसी न किसी प्रकार उत्पन्न की जा सकती हैं, परन्तु किसी-किसी वस्तु का उत्पादन व्यय कभी-कभी इतना ऊँचा हो सकता है कि वस्तु का उत्पादन अनार्थिक हो जाय। युद्ध काल में जर्मनी ने रसायनिक पैट्रोल (Synthetic Petrol) को भारी मात्रा में उत्पन्न किया था, परन्तु उसका उत्पादन व्यय प्राकृतिक पैट्रोल की तुलना में बहुत ही अधिक था। लागत के निरपेक्ष अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को निस्सन्देह लाभदायक बनाते हैं, परन्तु व्यावहारिक जीवन में उनका महत्त्व कम ही रहता है।

एक देश के लिए विदेशों से ऐसी वस्तुओं का मंगाना भी लाभदायक हो सकता है जिन्हें वह स्वयं विदेशों की अपेक्षा कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है। यह इस कारण होता है कि माल मँगाने वाला देश अन्य वस्तु के उत्पादन का विशिष्टीकरण करके और भी अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में दोनों के बीच लागत में निरपेक्ष अन्तर तो नहीं होते, अन्तर केवल तुलनात्मक अथवा सापेक्ष होते हैं। एक कॉलेज का प्रोफेसर घर के कामों को एक नौकर की अपेक्षा अधिक कुशलतापूर्वक कर सकता है, परन्तु उसके लिए नौकर रखना इसलिए अधिक लाभदायक हो सकता है कि इस प्रकार समय की जो बचत होती है उसका और भी अधिक लाभपूर्ण उपयोग सम्भव होता है। बिल्कुल यही बात एक देश के विषय में

भी ठीक हो सकती है। वह एक वस्तु को दूसरे देश से केवल इसी कारण मँगा सकता है कि देश में उस वस्तु का उत्पादन बन्द करने से साधनों की जो बंचत होती है उसका और भी अधिक लाभदायक उपयोग सम्भव होता है।

परन्तु लागत के सापेक्ष अन्तर दो प्रकार के हो सकते हैं :—(१) समान अन्तर और (२) तुलनात्मक अन्तर। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उसी दशा में लाभदायक होता है जबकि लागत के सापेक्ष अन्तर तुलनात्मक होते हैं। समान अन्तर रहने की दशा में लाभ की कोई सम्भावना नहीं रहती, और इसलिए व्यापार का प्रश्न ही नहीं उठता है। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। भारत और बर्मा के उपरोक्त उदाहरण में थोड़ा सा परिवर्तन कर देने से स्थिति बदल जायगी।

	पटसन	चावल	
भारत	२ इकाई	२ इकाई	एक दिन के श्रम
बर्मा	१ ,,	२ ,,	का उत्पादन

उपरोक्त उदाहरण समान सापेक्ष अन्तर को दिखाता है। जैसा कि विदित है कि भारत को बर्मा की तुलना में पटसन और चावल दोनों ही के उत्पादन में कम लागत लगानी पड़ती है, परन्तु यदि दोनों देशों के बीच व्यापार नहीं होता है तो भारत में पटसन और चावल का विनिमय अनुपात १ : १ होगा और ठीक यही अनुपात बर्मा में भी रहेगा। यदि भारत केवल पटसन का ही उत्पादन करता है और अपनी चावल की आवश्यकता बर्मा से चावल मँगा कर पूरी करता है तो भी उसे कोई लाभ नहीं होता है, क्योंकि बर्मा में भी चावल और पटसन का विनिमय अनुपात वही है जो कि भारत में। ऐसी दशा में व्यापार करना उल्टा हानिकारक हो सकता है, क्योंकि बाहर से माल मँगाने में उत्पादन व्यय के अतिरिक्त यातायात सम्बन्धी लागत और भी देनी पड़ेगी।

परन्तु दो देशों में लागत के तुलनात्मक अन्तर भी हो सकते हैं। ऐसे अन्तरों की दशा में, जैसा कि निम्न उदाहरण से सिद्ध हो जायगा, व्यापार लाभदायक होगा और यही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उपयुक्त दशा होगी :—

	चाय	मसाले	
भारत	२ इकाई	१ इकाई	एक दिन के श्रम
जावा	२ ,,	२ ,,	का उत्पादन

उपरोक्त उदाहरणों में यदि भारत और जावा के बीच व्यापार नहीं होता है तो दोनों देशों में चाय और मसालों के विनिमय अनुपात इस प्रकार

होंगे :—भारत—१ इकाई चाय = ½ इकाई मसाले और जावा—१ इकाई चाय = १ इकाई मसाला, परन्तु यदि भारत केवल चाय का ही उत्पादन करता है और जावा केवल मसालों का और दूसरी वस्तु व्यापार द्वारा प्राप्त की जाती है तो दोनों को लाभ होगा। भारत चाय की एक इकाई को जावा में भेज कर उसके बदले में जावा के विनिमय अनुपात के आधार पर १ इकाई मसाला प्राप्त कर सकता है और ठीक इसी प्रकार जावा १ इकाई मसाले को भारत भेज कर बदले में २ इकाई चाय ले सकता है। इस प्रकार यह व्यापार दोनों ही देशों के लिए लाभदायक है। स्मरण रहे कि जावा में चाय का उत्पादन व्यय ठीक उतना ही है जितना कि भारत में, परन्तु फिर भी जावा को भारत से चाय खरीदने में अधिक लाभ होता है। व्यावहारिक जीवन में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ साधारणतया इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सामान्य दशा यही होती है। इसी को अर्थशास्त्र में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का नाम दिया गया है।

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (The Doctrine of Comparative Cost)—

प्रतिष्ठित विचार-धारा—अर्थशास्त्र में तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का उपयोग सबसे पहिले रिकार्डो ने किया था। उनका विचार था कि एक देश के भीतर श्रम और पूँजी की गतिशीलता के कारण विभिन्न व्यवसायों में लाभ का अंश समान रहने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु दो देशों के बीच ऐसा नहीं हो पाता है। व्यावहारिक जीवन से एक उदाहरण लेकर रिकार्डो ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया था कि यद्यपि पुर्तगाल कपड़ा तथा शराब दोनों ही इङ्गलैंड की अपेक्षा कम कीमत पर उत्पन्न कर सकता था, परन्तु पुर्तगाल के लिए यही अधिक लाभदायक था कि वह शराब के उत्पादन पर अधिक ध्यान दे और कपड़े का आयात इंगलैंड से करे, क्योंकि उसे शराब के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ अधिक था। इस सम्बन्ध में रिकार्डो ने यह भी बताया था कि विदेशी विनिमय दरों की सीमायें भी तुलनात्मक लागत द्वारा ही निर्धारित होती हैं।

रिकार्डो के सिद्धान्त में मिल ने आवश्यक सुधार किये। उनका विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार तो तुलनात्मक लागत का अन्तर ही था और उसके लाभ भी इसी के कारण उत्पन्न होते हैं, परन्तु इस लाभ का अंश इस बात पर निर्भर है कि तुलनात्मक दृष्टिकोण से एक देश में दूसरे देश के माल की माँग कितनी आग्रहपूर्ण है। साम्य की दशा में आयातों तथा निर्यातों का मूल्य बराबर होता है, परन्तु यह साम्य इस प्रकार स्थापित होता है कि अधिक कीमत का माल मँगाने वाला देश

बहुमूल्य धातुओं का निर्यात करके वस्तुओं के निर्यात की कमी को पूरा करता है।

मिल तथा रिकार्डो दोनों ने ही इस मान्यता पर इस सिद्धान्त का निर्माण किया था कि एक देश के भीतर श्रम और पूँजी दोनों ही पूर्ण रूप में गतिशील होते हैं, परन्तु विभिन्न देशों के बीच उनकी गतिशीलता बिल्कुल भी नहीं होती है। कैरनीज (Cairnes) नामक अर्थशास्त्री ने इस मान्यता की आलोचना की है। उनका विचार था कि एक देश के भीतर भी श्रम और पूँजी की गतिशीलता पूर्ण नहीं होती है और इसके विपरीत यह भी सही नहीं है कि विभिन्न देशों के बीच उनकी गतिशीलता का पूर्णतया अभाव होता है। वास्तविकता केवल यह है कि देश के भीतर और देश के बाहर श्रम और पूँजी की गतिशीलता में अन्तर होता है, परन्तु कैरनीज का मत था कि रिकार्डो और मिल की मान्यता को हटा देने से भी तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त गलत नहीं हो जाता है। साधनों की गतिशीलता की अधिकता के कारण एक देश के भीतर लाभों में समानता आ जाने की प्रवृत्ति काफी बलवान होती है, परन्तु विभिन्न देशों के बीच यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। इस प्रकार, जबकि देश के भीतर वस्तुओं का विनिमय अनुपात उसके उत्पादन व्यय द्वारा निश्चित होता है, विभिन्न देशों के बीच यह अन्योन्य माँग (Reciprocal Demand) की आग्रहपूर्णता द्वारा ही निर्धारित होता है। कैरनीज ने भी निष्कर्ष रूप में रिकार्डो और मिल के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था।

तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को आधुनिक अर्थशास्त्री भी स्वीकार करते हैं, परन्तु उन्होंने इसमें तीन महत्त्वपूर्ण सुधार किये हैं :—प्रथम, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने रिकार्डो का अनुकरण करते हुये लागत की माप निर्माण में व्यय होने वाले श्रम की मात्रा में की थी, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री उसकी माप मुद्रा में करते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र में ऐसा कहा जाता है कि एक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिनका उत्पादन अपेक्षतन अधिक प्रचुर साधनों द्वारा किया जाता है, अर्थात् जिनका सीमान्त उत्पादन व्यय कम होता है और इसके विपरीत उन वस्तुओं का आयात करता है जिनका उत्पादन व्यय तुलना में अधिक होता है, अथवा जो अपेक्षतन दुर्लभ साधनों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। दूसरे, प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की विवेचना केवल इस आधार पर की थी कि उत्पादन क्रमगत उत्पत्ति स्थिरता नियम (Law of Constant Returns) के अन्तर्गत होता है और विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में होने वाले यातायात व्यय का कुछ भी महत्त्व नहीं होता है। वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने इन मान्यताओं को आवश्यक नहीं समझा है। उन्होंने

यातायात व्यय तथा उत्पत्ति ह्रास नियम की कार्यशीलता को मान कर इस सिद्धान्त में व्यावहारिकता उत्पन्न कर दी है। तीसरे, रिकार्डो और उनके समर्थकों ने यह तो बताया था कि सिद्धान्त के आधार पर किन-किन वस्तुओं में व्यापार करना लाभदायक होगा, परन्तु वे यह निश्चित नहीं कर पाये थे कि लाभ की मात्रा किन बातों पर निर्भर होगी। इस सम्बन्ध में आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि लाभ का अंश इस बात पर निर्भर होता है कि एक देश में दूसरे देश के माल की माँग की लोच कितनी है। जिस देश में दूसरे देश के माल की तुलनात्मक माँग की लोच अधिक होगी उसी को व्यापार से लाभ भी अपेक्षतन अधिक ही होगा।

सिद्धान्त का वर्तमान रूप—

ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल इस कारण सम्भव होता है कि विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं के उत्पादन व्यय में अन्तर होता है। ये अन्तर तीन प्रकार के हो सकते हैं :—(१) निरपेक्ष अन्तर, (२) समान अन्तर और (३) तुलनात्मक अन्तर। इनमें से केवल पहिली और तीसरी दशाओं में ही व्यापार हो सकता है। समान अन्तरों की दशा में व्यापार से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता है, इसलिये पहिली और तीसरी दशाओं का ही विस्तृत अध्ययन लाभदायक है। सबसे पहिले हम निरपेक्ष अन्तर को लेते हैं :—

प्रति मन सीमान्त व्यय (रुपयों में)

	चावल	कपास
भारत	८	१२
पाकिस्तान	१२	८
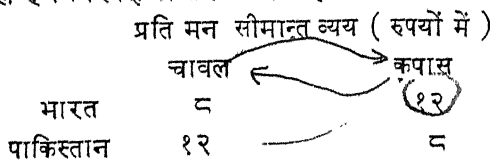
क्योंकि दीर्घकाल में कीमत सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होती है, भारत में १ मन कपास का १$\frac{1}{2}$ मन चावल में विनिमय होगा और पाकिस्तान में १ मन चावल का १$\frac{1}{2}$ मन कपास में। इस प्रकार भारत में चावल और कपास का विनिमय अनुपात २ : ३ होगा और पाकिस्तान में ३ : २। यहाँ पर यह स्पष्ट है कि भारत को चावल के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ प्राप्त है और पाकिस्तान को कपास के उत्पादन में। भारत को चावल का ही उत्पादन करने में लाभ होगा, क्योंकि पाकिस्तान के साथ व्यापार करके उसे १ मन चावल के बदले में $\frac{2}{3}$ मन से अधिक कपास मिल जायगी। इसी प्रकार पाकिस्तान के लिए कपास का उत्पादन अधिक लाभदायक होगा, क्योंकि वह भी भारत से १ मन कपास के बदले में $\frac{2}{3}$ मन से अधिक चावल प्राप्त कर सकता है। वास्तव में भारत को एक मन चावल के बदले में कितनी कपास मिलेगी और पाकिस्तान को १ मन

कपास के बदले में कितना चावल मिलेगा, यह दो बातों पर निर्भर होगा :—(१) यह कि यातयात पर कितना व्यय होता है और (२) यह कि भारत और पाकिस्तान में क्रमशः कपास और चावल की अन्योन्य माँग (Reciprocal Demand) की तुलनात्मक लोच का अंश कितना है। जब तक भी भारत को एक मन चावल के बदले में ३/५ मन से अधिक कपास मिलती रहेगी, वह व्यापार करने को तैयार रहेगा। इसी प्रकार जब तक पाकिस्तान १ मन कपास के बदले में ३/४ मन से अधिक चावल प्राप्त करता रहेगा, उसे व्यापार से लाभ ही होगा।

ठीक इसी प्रकार हम उत्पादन व्यय के तुलनात्मक अन्तर का भी उदाहरण दे सकते हैं। नीचे का उदाहरण इसी प्रकार का है :—

प्रति मन सीमान्त उत्पादन व्यय (रुपयों में)

	पटसन	चावल
भारत	७	१४
बर्मा	६	५

इस उदाहरण में बर्मा पटसन तथा चावल दोनों को ही भारत की अपेक्षा कम कीमत पर उत्पन्न करता है, परन्तु बर्मा को चावल के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ अधिक है। इसके विपरीत बर्मा की तुलना में भारत में दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन व्यय अधिक है, परन्तु पटसन के उत्पादन में उसकी तुलनात्मक हानि कम है। इस प्रकार भारत में १ मन पटसन = १/२ मन चावल और बर्मा में १ मन पटसन = ६/५ मन चावल विनिमय अनुपात होंगे। भारत के लिए पटसन के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करना लाभदायक होगा और बर्मा के लिए चावल के उत्पादन में। व्यापार द्वारा जब तक भारत को एक मन पटसन के बदले में १/२ मन से अधिक चावल मिलेगा, उसे लाभ ही होगा। इसी प्रकार जब तक बर्मा को १ मन चावल के बदले में ५/६ मन से अधिक पटसन मिलता रहेगा, उसे भी लाभ ही होगा। दोनों देशों के बीच पटसन और चावल का विनिमय अनुपात कहीं पर इन दोनों अनुपातों के बीच निश्चित होगा, अर्थात् एक मन पटसन के बदले में जितना चावल मिलेगा वह १/२ मन तथा ६/५ मन के बीच में ही रहेगा। चावल और पटसन के इस विनिमय अनुपात पर तीन बातों का प्रभाव पड़ेगा :—(१) यातायात व्यय, (२) अन्योन्य माँग की तुलनात्मक लोच और (३) उत्पत्ति का वह नियम जिसके अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है। इस सम्बन्ध में इतना कह देना ही काफी होगा कि क्रमगत उत्पत्ति वृद्धि नियम व्यापार के लाभ को और भी बढ़ा देता है, क्योंकि उसके अन्तर्गत उत्पत्ति की प्रत्येक वृद्धि के साथ सीमान्त उत्पादन व्यय घटता जाता है। क्रमगत उत्पत्ति स्थिरता नियम का व्यापार की लाभदायकता

पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है, क्योंकि उत्पादन के बढ़ने पर भी सीमांत उत्पादन व्यय ज्यों का त्यों ही रहता है, परन्तु यदि उत्पादन क्रमगत उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत होता है तो उत्पत्ति के बढ़ने से सीमान्त उत्पादन व्यय भी बढ़ जाता है और इसके कारण व्यापार के लाभों का अंश घटता जाता है। अन्त में एक ऐसी स्थिति आ सकती है, जबकि वह पूर्णतया समाप्त हो जाय। यहाँ पर व्यापार लाभदायक नहीं रहता है।

विदेशी व्यापार के लाभ—

देशी व्यापार की भाँति विदेशी व्यापार भी इसीलिए किया जाता है कि उससे लाभ होता है। विदेशी व्यापार के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं—

(१) इसके द्वारा विभिन्न देशों के बीच प्रादेशिक श्रम विभाजन सम्भव होता है। अलग-अलग देश केवल ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त कर सकते हैं, जिनके उत्पादन में उन्हें अधिकतम् योग्यता अथवा कुशलता प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक देश ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करता है जिन्हें वह न्यूनतम् लागत पर पैदा कर सकता है। इसके फलस्वरूप संसार भर में उत्पत्ति सबसे अधिक अनुकूल दशाओं के अन्तर्गत होती है और मानव कल्याण का विकास होता है।

(२) विदेशी व्यापार [illegible] उपभोक्ताओं को यह सुविधा मिलती है कि वे उन बाजारों से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ [illegible] जहाँ वे सबसे कम कीमत पर मिलती हैं। इससे संसार भर में मानव समाज का उपभोग-स्तर ऊँचा उठता है। साधारणतया विदेशों से माल मँगाया ही इसलिए जाता है कि वह देश में तैयार होने वाले वैसे ही माल की तुलना में सस्ता होता है। इसके अतिरिक्त इस व्यापार द्वारा बहुत सी ऐसी वस्तुएँ भी प्राप्त हो जा सकती हैं जो अपने देश में उत्पन्न ही नहीं हो सकती हैं।

(३) संकटकालीन कष्टों को विदेशी व्यापार की सहायता से काफी कम किया जा सकता है। कहा जाता है कि आधुनिक दुर्भिक्ष अनाज या वस्तुओं की कमी से उत्पन्न नहीं होते हैं, बल्कि क्रयः शक्ति के अभाव के कारण उत्पन्न होते हैं। ऐसे संकट के काल में दूसरे क्षेत्रों से अन्न तथा दूसरी आवश्यक वस्तुएँ मँगाई जा सकती हैं। इस प्रकार विदेशी व्यापार आर्थिक कष्टों को कम करता है।

(४) विदेशी व्यापार के कारण संसार भर में लगभग सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के समान रहने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। सभी देशों में अर्थ-व्यवस्था के विकास और उपभोग-स्तरों में समानता आ जाती है। इससे मजदूरियों तथा कार्य की दशाओं में भी समानता आती है, जिसके कारण लागत के तुलनात्मक अन्तरों के लाभ और भी सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं।

(५) विदेशी प्रतियोगिता का भय देशी उत्पादकों को सुधार की ओर कार्यशील रखता है। वे उत्पादन विधियों में इस प्रकार के सुधार करते रहते हैं कि उत्पादन व्यय कम से कम रहे। इसके अतिरिक्त इससे प्रबन्ध की कुशलता में भी उन्नति होती है। परिणाम यह होता है कि उपभोक्ताओं को कम से कम कीमत पर वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त हो जाती हैं।

(६) विदेशी व्यापार की सहायता से आवश्यक कच्चे माल, मशीनरी तथा शिल्प योग्यता विदेशों से मँगाकर देश के औद्योगीकरण को आगे बढ़ाया जा सकता है। इससे देश के साधनों का सर्वोत्तम उपयोग होता है।

(७) सामाजिक दृष्टिकोण से विदेशी व्यापार संसार के विभिन्न देशों के बीच सम्पर्क स्थापित करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना का विस्तार करता है।

[illegible] व्यापार की हानियाँ—

लाभों के साथ-साथ विदेशी व्यापार के कुछ गम्भीर दोष भी हैं, जो कुछ अंश तक इन लाभों के अच्छे परिणामों को नष्ट कर देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अधिकांश लाभ तभी प्राप्त होते हैं जबकि विभिन्न देशों के बीच पारस्परिक सद्भावना हो और व्यापार पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध न हों, परन्तु आधुनिक संसार में न तो पारस्परिक सद्भावना ही है और न अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मार्ग निष्कंटक ही है। विदेशी व्यापार की प्रमुख हानियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) विदेशी व्यापार द्वारा देश के बहुत से ऐसे साधन समाप्त हो सकते हैं जिनका प्रतिस्थापन भी सम्भव नहीं होता है। बहुत से देशों में कोयला, पैट्रोल तथा अन्य धातुएँ इसी प्रकार समाप्त होती जा रही हैं। भारत की मैंगनीज और अबरक की खानें बराबर खाली होती जा रही हैं और देश को इन आवश्यक धातुओं की समुचित कीमत भी नहीं मिल पा रही है। यदि इन धातुओं का उपयोग देश के भीतर ही

औद्योगिक मालों के तैयार करने में किया जाता तो एक ओर तो इनके उपयोग में बचत की जा सकती थी और दूसरी ओर इनका अधिक लाभपूर्ण उपयोग हो सकता था।

(२) विदेशी व्यापार देश के उद्योगों के लिए विदेशी प्रतियोगिता उपस्थित करता है। इसके द्वारा विकसित देशों को तो लाभ होता है, परन्तु अविकसित देशों में उद्योग धन्धे या तो स्थापित ही नहीं हो सकते हैं या स्थापित होने के पश्चात् पनपने नहीं पाते हैं।

(३) विदेशी व्यापार देश के आर्थिक विकास को एक-दिशायी करके देश के लिए भारी समस्याएँ उत्पन्न करता है। संकट-काल में ऐसे विकास के बुरे परिणाम भयंकर रूप में प्रकट होते हैं। दोनों महायुद्धों के काल का अनुभव यह बताता है कि जो देश खाद्य-पदार्थों अथवा अन्य आवश्यक वस्तुओं के लिए विदेशी व्यापार पर निर्भर रहते हैं, युद्धकाल में उनके कष्टों की कोई भी सीमा नहीं रहती है। विदेशी व्यापार के इसी दोष ने बीसवीं शताब्दी में आर्थिक राष्ट्रीयवाद को जन्म दिया है। उत्पत्ति के विशिष्टीकरण के कारण देश के कितने ही साधन बेकार पड़े रहते हैं, रोजगार का समुचित विकास नहीं होने पाता है और देश के आर्थिक जीवन की स्थिरता भी संकट में पड़ जाती है।

(४) विदेशी व्यापार विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्था को एक दूसरे पर अवलम्बित कर देता है। यह निर्भरता अच्छी नहीं होती है। किसी एक देश में आने वाले आर्थिक संकट का प्रभाव संसार भर में फैल जाता है।

(५) विदेशी व्यापार देश की उपभोग सम्बन्धी आदतों में भी हानिकारक परिवर्तन पैदा कर सकता है। लम्बे काल तक चीन के निवासी अफीम खाने के आदी बने रहे हैं, यद्यपि उस देश में अफीम का उत्पादन बिल्कुल नहीं होता है।

इस प्रकार विदेशी व्यापार की अनेक हानियाँ हैं। २० वीं शताब्दी में तो इसके अनेक गम्भीर परिणाम देखने में आये हैं। पारस्परिक सद्भावना के स्थान पर इसने अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष तथा झगड़ों को प्रोत्साहन दिया है। इसने देशों को दासता की बेड़ियों में जकड़ दिया है और यह उनके आर्थिक और राजनैतिक शोषण का भारी साधन रहा है, परन्तु फिर भी शायद यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि विदेशी व्यापार के लाभ हानियों की अपेक्षा अधिक हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की सीमाएँ—

यहाँ पर हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ का अंश किन बातों पर निर्भर होता है। टाउजिग (Taussing) का विचार है कि किसी देश को विदेशी व्यापार से होने वाला लाभ दो बातों पर निर्भर होता है:—अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अथवा व्यापार की शर्तें और निर्यात की वस्तुएँ उत्पन्न करने में देश की उत्पादन क्षमता। इन दोनों का अलग-अलग विवेचन निम्न प्रकार है:—

व्यापार की शर्तें (Terms of Trade)—

इन शर्तों का अभिप्राय उस अनुपात से होता है जिस पर दो देशों में उत्पादित वस्तुओं का आपस में विनिमय होता है। यदि हम भारत और बर्मा का उदाहरण लेते हैं और व्यापार न होने की दशा में भारत में १ मन पटसन के बदले में केवल $\frac{२}{३}$ मन चावल प्राप्त होता है, परन्तु व्यापार द्वारा बर्मा से $\frac{६}{५}$ मन चावल प्राप्त किया जा सकता है तो भारत का लाभ $\frac{६}{५}-\frac{२}{३}$ अर्थात् $\frac{८}{१५}$ मन चावल होगा। इसी प्रकार बर्मा में यदि देश के भीतर चावल और पटसन का अनुपात १:: $\frac{५}{६}$ है, परन्तु भारत में १ मन चावल के बदले में $\frac{३}{२}$ मन पटसन मिल सकता है तो बर्मा का लाभ $\frac{३}{२}-\frac{५}{६}$ अर्थात् $\frac{२}{३}$ मन पटसन होगा, परन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि यह विनिमय अनुपात दोनों देशों में एक दूसरे की उपज की प्रति-माँग (Reciprocal Demand) की स्थिति पर निर्भर होता है। इसी मांग की [illegible] अनुसार व्यापार की शर्तों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। प्रति-माँग की सापेक्ष अथवा तुलनात्मक लोच व्यापार की शर्तों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की मात्रा को निश्चित करती है।

साम्य की दशा में विनिमय का अनुपात ऐसा होगा कि उस पर किसी देश के निर्यातों की कीमत उसके आयातों की कीमत के बराबर हो जाय। इस प्रति-माँग का प्रभाव व्यापार की शर्तों पर ही नहीं, बल्कि व्यापार के लाभों पर भी पड़ता है। टाउजिग के अनुसार:—"उस देश को सबसे अधिक लाभ होता है जिसके निर्यातों की माँग सबसे अधिक होती है और जिसमें आयातों (दूसरे देशों के निर्यातों) की माँग केवल थोड़ी सी होती है। उस देश को सबसे कम लाभ होता है जिसमें अन्य देशों की उपजों की माँग बहुत अधिक होती है।"

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों पर दूसरा प्रभाव निर्यात की वस्तुओं के उत्पादन में देश के श्रम की कुशलता का पड़ता है। वास्तविकता यह है कि दो व्यापारी देशों के बीच लागत अनुपातों के अन्तर का मूल कारण श्रम की कुशलता ही होती है। श्रम की कुशलता के बढ़ने से सापेक्ष अथवा तुलनात्मक लागतों का अन्तर बढ़ जाता है और लाभपूर्ण व्यापार का

क्षेत्र भी बढ़ जाता है। जिस देश में मजदूरों की कार्य-कुशलता अधिक होगी उसके निर्यातों की माँग भी अधिक रहेगी, देश में जनता की मौद्रिक तथा वास्तविक दोनों ही प्रकार की मजदूरियाँ ऊँची रहेंगी। व्यापार से भी ऐसे देश को लाभ अधिक होगा, क्योंकि वह अपनी निर्यात वस्तुओं का अधिक उत्पादन करके विनिमय में बहुत अधिक वस्तुओं को प्राप्त कर सकेगा।

अध्याय १८

मुक्त व्यापार एवं संरक्षण

(Free Trade and Protection)

इस अध्याय में हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि व्यापार नीति कितने प्रकार की होती है और उनके क्या-क्या लाभ और दोष होते हैं? आरम्भ में इतना बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि व्यापार नीति का आशय देश द्वारा किये हुए उन सब कार्यों से होता है जो उस देश के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों की व्यवस्था करने के लिए किए जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में इस सम्बन्ध में दो नीतियाँ महत्त्वपूर्ण रही हैं—मुक्त अथवा स्वतन्त्र व्यापार और संरक्षण। मुक्त व्यापार का अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की स्वतन्त्रता से होता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न देशों के बीच वस्तुओं और सेवाओं के आवागमन पर किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं होती है और अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अपनी स्वाभाविक गति से स्वतन्त्रतापूर्वक चलता रहता है। संरक्षण की नीति में व्यापारिक प्रतिबन्ध अनिवार्य होते हैं। वस्तुओं, सेवाओं और पूँजी के स्वतन्त्र आवागमन पर रोक लगाई जाती है और देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को विदेशी आर्थिक प्रभाव से मुक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। साधारणतया संरक्षण का उद्देश्य देश के उद्योगों की विदेशी स्पर्धा से रक्षा करना होता है। वस्तुओं के आयात पर पूर्णतः अथवा आँशिक रोक लगा दी जाती है, जिससे कि गृह-उद्योगों को उन्नति तथा विकास का अवसर मिलता रहे। संरक्षण का प्रमुख उद्देश्य तो यही होता

है किन्तु हस्तक्षेप के सभी कार्य, चाहे उनका उद्देश्य कुछ भी क्यों न हो, जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अस्वाभाविक अथवा कृत्रिम बाधाएँ उत्पन्न होती हैं, संरक्षण में सम्मिलित किये जाते हैं।

अब हम इन दोनों नीतियों का इस प्रकार अध्ययन करेंगे कि इनमें से कौन-सी नीति अधिक उपयुक्त है। विशेष रूप में, हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि आर्थिक क्रियाओं के इस ध्येय को कि सामाजिक उत्पादन अधिकतम् हो, इन दोनों नीतियों में से प्रत्येक किस अंश तक पूरा करती है।

मुक्त व्यापार के लाभ—

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री सबके सब मुक्त व्यापार के पक्ष में थे और विदेशी व्यापार सम्बन्धी सभी बाधाओं को अनुचित समझते थे। उन्होंने मुक्त-व्यापार की वांछनीयता को साधारणतया इसी कारण महत्त्वपूर्ण समझा था कि इससे श्रम विभाजन के सभी महत्त्वपूर्ण लाभ प्राप्त हो जाते हैं। इसके पक्ष में निम्न तर्क रखे जाते हैं:—

(१) निर्बाधावादी नीति का परिणाम यह होता है कि उसके द्वारा उत्पत्ति के साधनों का संसार भर में अनुकूलनम् वितरण होता है और इस प्रकार प्रस्तुत साधनों से अधिकतम् लाभ उठाया जा सकता है। अनियन्त्रित स्पर्धा के कारण प्रत्येक देश ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जिनमें उसे प्राकृतिक अथवा अन्य कारणों से अधिकतम् लाभ अथवा सुविधा प्राप्त होती है। सारे संसार तथा प्रत्येक राष्ट्र की आय को अधिकतम् करने की रीति यही हो सकती है कि प्रत्येक देश में उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन किया जाय जो न्यूनतम् कीमत पर उत्पन्न की जा सकती हैं।

(२) अनियन्त्रित प्रतियोगिता के कारण अकुशल तथा व्ययपूर्ण व्यवसाय कुछ ही समय पश्चात् ठप्प हो जाते हैं। केवल ऐसे ही उद्योग चालू रहते हैं जो कम लागत पर उत्पादन कर सकते हैं, इसलिए उपभोक्ताओं को सभी स्थानों पर कम से कम कीमत पर वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त हो जाती हैं। इससे संसार भर में लोगों की वास्तविक आय में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त मुक्त-व्यापार एकाधिकारों तथा औद्योगिक संघों को बनने से रोकता है, क्योंकि यह प्रतियोगिता पर आधारित होता है।

(३) स्वतन्त्र व्यापार संसार के देशों को एक दूसरे पर निर्भर बना कर उनके बीच पारस्परिक सद्भावना एवं सहानुभूति पैदा करता है। इसके द्वारा सभी देशों को यह ज्ञात हो जाता है कि उनमें से प्रत्येक का हित एक दूसरे के हित तथा सभी के सामूहिक हित पर निर्भर है।

संरक्षण की वांछनीयता—

यद्यपि मुक्त-व्यापार के लाभ महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु इसमें कुछ ऐसे गम्भीर दोष भी हैं जिनके कारण आधुनिक संसार के सभी देशों ने इस नीति का परित्याग कर दिया है। १६ वीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड तथा अन्य बड़े-बड़े देश मुक्त व्यापार के भारी समर्थक थे, परन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इसका संसार से अस्तित्त्व ही मिट गया है। साधारणतया संरक्षण का उद्देश्य उपभोक्ताओं के हितों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय उद्योगों की उन्नति करना होता है; परन्तु आर्थिक कारणों के अतिरिक्त, बहुत बार राजनैतिक कारण भी संरक्षण को प्रोत्साहन देते हैं। संरक्षण का वास्तविक आधार मनुष्य का स्वार्थ है। वह स्वभाव से ही प्रतियोगिता से घृणा करता है। संरक्षण के पक्ष में अनेक तर्क रखे जाते हैं, परन्तु जैसा कि हम आगे की विवेचना में देखेंगे कि कुछ तर्क तो मान्य हैं, परन्तु अधिकांश तर्क केवल कृत्रिम ही हैं। प्रमुख तर्क निम्न प्रकार हैं :—

(१) **शिशु-उद्योग तर्क** (The Infant Industries Argument)—संरक्षण के पक्ष में यह तर्क सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस तर्क के जन्मदाता जर्मनी के प्रसिद्ध राष्ट्रीयवादी अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट (Frederich List) हैं। इस तर्क को इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है कि मुक्त-व्यापार के महान् समर्थकों ने भी इसको स्वीकार किया है। शिशु-उद्योग तर्क का आधार यह है कि संसार के सभी देशों में आर्थिक विकास की अवस्था एक सी नहीं होती है। विभिन्न कारणों से कुछ देश औद्योगीकरण का आरम्भ शीघ्र कर देते हैं और कुछ देश इस दिशा में पीछे रह जाते हैं। कालान्तर में उन देशों के उद्योगों को अनुभव, पैमाने के विस्तार तथा शिल्प ज्ञान के कारण कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं, जिनके कारण उनकी प्रतियोगी शक्ति काफी बढ़ जाती है। जिन देशों में उद्योगों का विकास देर में होता है वहाँ के उद्योग शिशु अवस्था में ही होते हैं, जो विकसित देशों के बयस्क उद्योगों की प्रतियोगिता की ताकत नहीं रखते हैं। इसमें तो सन्देह नहीं है कि यदि इन उद्योगों को उन्नति और विकास का अवसर दिया जाय तो कुछ समय पश्चात् ये भी प्रतियोगिता शक्ति प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु यदि मुक्त-व्यापार नीति का अनुकरण किया जाता है तो विकसित-देशों के उद्योग इन्हें फलने-फूलने से पूर्व ही नष्ट कर सकते हैं। इन शिशु उद्योगों को रक्षा प्रदान करना आवश्यक होता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो विकसित देश अविकसित देशों का विकास ही नहीं होने देंगे। इस तर्क के सम्बन्ध में यह कठिनाई है कि यह निर्णय बहुधा कठिन होता है कि शिशु उद्योग को कैसे पहिचाना जाय? बहुत से

देशों ने इस तर्क के आधार पर किसी भी उद्योग को शिशु उद्योग घोषित करके संरक्षण की नीति को उचित बताया है, परन्तु आधुनिक अर्थ शास्त्रियों का विचार है कि केवल उसी उद्योग को शिशु अवस्था में कहा जा सकता है, जिसे उद्योग सम्बन्धी सभी प्रकार की आन्तरिक बचत तो प्राप्त हों, परन्तु अभी वाह्य बचत उपलब्ध न हो सकी हों। स्वयं लिस्ट ने कहा कि केवल निम्नलिखित तीन दशाओं में ही संरक्षण मिलना चाहिए :—

(क) संरक्षण का उद्देश्य राष्ट्र को औद्योगिक शिक्षा प्रदान करना होना चाहिये। ऐसे देशों में संरक्षण नहीं होना चाहिएं जहाँ पर औद्योगिक उन्नति पहले से ही काफी हो चुकी है, अथवा जहाँ उद्योगों की उन्नति की कोई सम्भावना ही नहीं है।

(ख) संरक्षण अस्थायी होना चाहिए। यह केवल उन्हीं देशों के लिए लाभदायक हो सकता है जहाँ विदेशी प्रतियोगिता के कारण राष्ट्रीय उद्योगों की अवनति हो रही है। उद्योगों का समुचित विकास होते ही संरक्षण हटा लेना चाहिए। संरक्षण केवल शिशु अवस्था के लिए ही उपयुक्त होता है।

(ग) कृषि को संरक्षण नहीं मिलना चाहिए, क्योंकि औद्योगिक उन्नति स्वयं ही उसकी भी उन्नति कर देगी।

(२) **बेकार साधन सम्बन्धी तर्क** (The Idle Resources Argument)—यह तर्क शिशु उद्योग तर्क से थोड़ा सा भिन्न है। इसका आशय यह है कि ऐसे देश को संरक्षण से लाभ होगा जिसमें बहुत से साधन बेकार पड़े हुए हैं। विदेशी आयातों के सुगमतापूर्वक तथा कम दामों पर प्राप्त हो जाने के कारण यह सम्भव है कि देशवासी देश के साधनों का समुचित उपयोग ही न करें। ऐसी दशा में देश के भीतर साधनों की प्रचुरता होते हुये भी दरिद्रता हो सकती है। संरक्षण केवल शिशु उद्योगों को ही बढ़ने का अवसर नहीं देता है, उसके द्वारा पूर्णतया नये उद्योगों को खड़ा करके देश के साधनों का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है और इस प्रकार देश में धन के उत्पादन को बढ़ा कर सामान्य उपभोग-स्तर को ऊँचा किया जा सकता है।

(३) **उद्योग विविधता का तर्क** (The Diversification of Industries Argument)—यह तर्क भी सर्व प्रथम लिस्ट ने ही प्रस्तुत किया था। उनका मत था कि एक देश में विभिन्न प्रकार के उद्योगों का रहना ही अधिक अच्छा होता है। यदि बहुत से अण्डों को एक ही टोकरी में रख दिया जाता है तो उनके टूटने का भारी भय रहता है। इसी प्रकार

यदि देश के सारे साधनों को एक या दो-चार उद्योगों में ही लगा दिया जाता है तो इन उद्योगों में कुछ भी गड़बड़ होने से सारी की सारी अर्थ-व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो जाती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि देश की एक ही उद्योग पर निर्भरता दूर करने के लिए नये-नये उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जाय। ऐसा करने से दो मुख्य लाभ होंगे :—एक ओर तो देश में सन्तुलित अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना सम्भव हो जायगा और दूसरी ओर देश के सभी विविध प्रकार के साधनों का उपयोग हो सकेगा, परन्तु इस तर्क के सम्बन्ध में हमें इतना अवश्य याद रखना चाहिये कि इसमें विशिष्टीकरण के लाभों को भुला दिया गया है।

(४) **आधार उद्योग तर्क**—इस तर्क के अनुसार प्रत्येक देश को अपने आधार उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना चाहिए। देश का आर्थिक विकास आधार उद्योगों की ही उन्नति पर निर्भर होता है। ऐसे उद्योग वे होते हैं जिनका तैयार माल अन्य उद्योगों में कच्चे माल के रूप में उपयोग किया जाता है। लोहा और इस्पात उद्योग, रासायनिक पदार्थ उद्योग, इञ्जीनियरिंग उद्योग आदि ऐसे ही उद्योग हैं।

(५) **रक्षा तर्क**—यह तर्क इस विश्वास पर आधारित है कि देश की रक्षा और उसकी स्वतन्त्रता को बनाये रखना अन्य सभी बातों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, इसलिये देश की सैनिक शक्ति को बढ़ाने और बनाये रखने के लिये रक्षा उद्योगों को संरक्षण आवश्यक होता है। सैनिक उद्योग तथा वे उद्योग जो सेना के संगठन के लिये आवश्यक होते हैं, संरक्षण के अधिकारी हैं। आज के संसार में, जबकि प्रति दिन युद्ध के काले बादल मंडराते रहते हैं, इस तर्क का काफी महत्त्व है।

(६) **वृत्ति सम्बन्धी तर्क**—इस तर्क का सार यह है कि यदि किसी देश में बेरोजगारी काफी अधिक है तो उसे दूर करने के लिए संरक्षण की नीति अधिक उपयुक्त होगी। संरक्षण का रोजगार पर दो दिशाओं में प्रभाव पड़ता है। आयातों के घट जाने से वर्तमान उद्योगों की उत्पादन शक्ति के विस्तार द्वारा रोजगार की वृद्धि होती है और आयातों की कमी के कारण जो माँग असन्तुष्ट रहती है और उसकी पूर्ति के लिए नए-नए उद्योग खुल सकते हैं।

(७) **घरेलू साधनों का रक्षण सम्बन्धी तर्क**—स्वतन्त्र व्यापार द्वारा बहुत बार देश के साधनों का व्ययपूर्ण उपयोग होता है। ऐसा कहा जाता है कि स्वतन्त्र व्यापार ने ब्रिटेन की कोयले की खानों को खाली कर दिया है। इसी प्रकार भारत का मैंगनीज और अबरक का खनिज भण्डार इसके कारण काफी निबट चुका है। स्मरण रहे कि इन वस्तुओं को प्रकृति ने

केवल सीमित मात्रा में ही प्रदान किया है। इन बहुमूल्य धातुओं को देश के भीतर निर्माण उद्योगों में उपयोग करके काफी अधिक लाभ कमाया जा सकता है। यदि कोई देश इन वस्तुओं के बचाव के लिये संरक्षण नीति को ग्रहण करता है तो वह उचित ही होगा।

(८) **प्रतिकारी अथवा राशिपातन विरोधी तर्क** (Retaliation or Anti-dumping Argument)—इस तर्क के अनुसार प्रतिकार के रूप में संरक्षण करों का लगाना उचित बताया जाता है। यदि कोई देश हमारे देश से आने वाले माल पर प्रतिबन्ध लगाता है तो हमें भी उस देश से आने वाले माल पर प्रतिबन्ध लगाने में संकोच नहीं करना चाहिए। राशिपातन के विरुद्ध संरक्षण कार्यवाही करना तो स्वतन्त्र व्यापार के पक्षपाती भी उचित समझते हैं, क्योंकि राशिपातन का उद्देश्य उत्पादन व्यय से भी कम कीमत पर माल बेचकर देशी उद्योगों को समाप्त करना होता है, जिससे कि भविष्य में एकाधिकारी द्वारा उसी माल की ऊँची कीमत प्राप्त की जा सके।

(९) **राष्ट्रीय स्वावलम्बता तर्क**—यह तर्क प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। इसके अनुसार देश को अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ स्वयं ही उत्पन्न करनी चाहिए। अधिकांश देशों का सामान्य अनुभव यही रहा है कि युद्धकाल में विदेशों से माल नहीं मंगाया जा सकता है, जिसके कारण एक ओर तो रक्षा व्यवस्था बलहीन हो जाती है और दूसरी ओर जनता को भारी कष्ट होता है, अतः जब तक संसार से लड़ाई का भय पूर्णतया नहीं मिट जाता है, प्रत्येक देश को आवश्यकता की सभी वस्तुएँ देश में ही उत्पन्न करनी चाहिए।

(१०) **द्रव्य को देश में रखने तथा गृह बाजार का तर्क**—यह तर्क अमरीका की ओर से बहुत बार प्रस्तुत किया गया है। ऐसा कहा जाता है कि यदि हम विदेशों से माल नहीं मंगाते हैं तो देश का द्रव्य देश में ही रहता है, परन्तु यह तर्क इस कारण निराधार है कि यदि हम आयात नहीं ग्रहण करते हैं तो निर्यात भी नहीं कर पायेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में द्रव्य के खोने या पाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि अन्तिम दशा में आयातों और निर्यातों का सन्तुलन होना आवश्यक होता है। इसी तर्क से मिलता-जुलता तर्क गृह-बाजार तर्क भी है। ऐसा कहा जाता है कि संरक्षण द्वारा उद्योगों का विस्तार करके अधिक व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सकता है और इस प्रकार गृह-बाजार का भी विस्तार सम्भव होता है, परन्तु इस सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि आयातों के साथ-साथ निर्यात भी घटेंगे और गृह-बाजार के विस्तार के विपरीत विदेशी बाजारों का संकुचन होगा।

(११) मजदूरी तर्क—इस तर्क के अनुसार एक ऐसे देश को जिसमें मजदूरी की दरें ऊँची हैं, ऐसे देश से माल के आने पर प्रतिबन्ध लगाने चाहिये जहाँ मजदूरियाँ बहुत कम हैं, क्योंकि ऐसा देश सदा ही नीची कीमतों पर बेच सकता है ।

संरक्षण विरोधी तर्क—

संरक्षण एक अमिश्रित आशीर्वाद नहीं है। उसके बहुत बार राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं। संरक्षण नीति आर्थिक जीवन में सरकारी हस्तक्षेप की नीति होती है, इस कारण सरकार उसके परिणामों की ध्यानपूर्वक जाँच करती है और यथासम्भव उससे उत्पन्न होने वाले दोषों को दूर करने का प्रयत्न करती है। संरक्षण के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) संरक्षण बहुधा देश में ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहित करता है जो आर्थिक दृष्टिकोण से देश के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं। कहा जाता है कि संरक्षण की ऊँची दीवारों के पीछे पूर्णतया अकुशल तथा सारहीन उद्योग भी पलते रहते हैं। ऐसे उद्योग एक विशेष समस्या उत्पन्न करते हैं। यदि उनका संरक्षण बन्द कर दिया जाता है तो प्रतियोगिता के कारण वे ठप्प हो जाते हैं और देश को भारी हानि होती है। इसके विपरीत यदि उन्हें निरन्तर संरक्षण के द्वारा ही जीवित रखा जाता है तो वे सदा के लिये देश के ऊपर एक भार बन जाते हैं।

(२) संरक्षण के कारण साधन अरक्षित उद्योगों से हटकर रक्षित उद्योगों में जाने लगते हैं। इससे एक ओर तो विशिष्टीकरण के मार्ग में बाधा पड़ती है, जिससे कीमतें ऊँची ही बनी रहती हैं और दूसरी ओर साधनों का अनार्थिक उपयोग होता है। दोनों ही दशाओं में उपभोक्ताओं को हानि होती है। विशिष्टीकरण न होने के कारण उत्पादन व्यय तथा कीमतें नीचे नहीं गिरने पाती हैं और आयातों के न रहने से कीमतें ऊपर चढ़ती हैं। उपभोक्ताओं द्वारा ऊँची कीमतों के रूप में जो अदृश्य कर दिया जाता है, वह भी सरकारी खजाने को नहीं जाता, बल्कि रक्षित उद्योगों के मालिकों के लाभों को बढ़ाता है।

(३) संरक्षण बहुधा देश में आय के वितरण की असमानताओं को बढ़ा देता है। यह निर्धन वर्गों पर धनियों के लाभ के लिये अदृश्य कर लगाकर उन्हें और भी धनहीन बना देता है।

(४) विदेशी प्रतियोगिता को समाप्त करके संरक्षण देश में औद्योगिक संघों और एकाधिकारों को उत्पन्न करता है।

(५) संरक्षण उद्योगों में शिथिलता उत्पन्न करता है। प्रतियोगिता का भय न रहने के कारण ये सुधार तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध की ओर कम ही ध्यान देते हैं।

(६) बहुत बार संरक्षण द्वारा देश में निहित हित (Vested Interests) उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे राजनैतिक भ्रष्टाचार फैलता है।

संरक्षण की रीतियाँ—

संरक्षण प्रदान करने की अनेक रीतियाँ होती हैं, परन्तु निम्न रीतियाँ अधिक प्रचलित हैं :—

(१) **संरक्षण प्रशुल्क** (Protective Tariffs)—यह रीति सबसे अधिक प्रचलित है। इसमें आयातों को रोकने के लिए उन पर आयात कर लगाये जाते हैं। व्यवहार में ऐसे कर अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे—यथामूल्य कर, जो मूल्य के एक निश्चित अनुपात के रूप में लगाया जाता है, प्रमाणिक कर, जो अलग-अलग दरों में लगाया जाता है, इत्यादि। इन करों का प्रभाव यह होता है कि विदेशों से आने वाले माल की कीमत बढ़ जाती है, जिसके कारण देश में उसकी खपत कम हो जाती है।

(२) **आयात अभ्यंश** (Import Quotas)—यह संरक्षण की एक अधिक सप्रभाविक रीति है। इसके अन्तर्गत विदेशों से आने वाले माल की अधिकतम् मात्रा निश्चित कर दी जाती है। कभी-कभी तो कुल आयात का अभ्यंश निश्चित कर दिया जाता है, परन्तु साधारणतया अलग-अलग देशों के अभ्यंश पृथक-पृथक नियत कर दिये जाते हैं। इस प्रकार अभ्यंश निश्चित करके वस्तु विशेष की पूर्ति को नियन्त्रित किया जाता है और देश में उसके उत्पादन लिए समुचित अवकाश रखा जाता है।

(३) **सरकारी आर्थिक सहायता**—इस रीति के अनुसार व्यापारियों और उद्योगपतियों को विशेष छूट, अनुदान, ऋण अथवा अन्य प्रकार की आर्थिक सहायताएँ दी जाती हैं। देश के उद्योगपतियों को करों में छूट देकर, कम ब्याज अथवा बिना ब्याज पर ऋण देकर अथवा निर्यातों पर आर्थिक सहायता देकर देश में उत्पादन की वृद्धि की जाती है।

(४) **विनिमय नियन्त्रण** (Exchange Control)—इस प्रणाली में विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण लगा दिए जाते हैं, जिसके फलस्वरूप आयातों पर प्रतिबन्ध लग जाते हैं।

(५) **निषेध** (Prohibition)—इसके अन्तर्गत कुछ मालों का आयात अथवा निर्यात पूर्णतया वर्जित कर दिया जाता है।

(६) **स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रतिबन्ध**—यह संरक्षण की एक अनूठी रीति है। इसमें देश में आने वाले माल को कुछ विशेष रीतियों से रोग-मुक्त किया जाता है, जिससे उनकी कीमत बढ़ जाती है और प्रतियोगिता शक्ति कम हो जाती है।

(७) **विनिमय ह्रास अथवा अवमूल्यन**—इसका विस्तृत अध्ययन एक पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ पर केवल इतना ही बता देना काफी है कि इसके द्वारा विदेशों में निर्यात की कीमत घट जाती है और देश में आयातों की कीमत बढ़ जाती है, अतः आयात हतोत्साहित होते हैं और निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है।

संरक्षण की इन विभिन्न रीतियों के सम्बन्ध में यह निर्णय देना कठिन कि इनमें से कौन सी रीति सबसे अधिक उपयुक्त है। प्रत्येक प्रणाली के अपने ही अलग-अलग गुण और दोष होते हैं। संसार में अधिक प्रचलन आयात प्रशुल्क का है, क्योंकि इसके द्वारा सरकार को भी आय प्राप्त हो जाती है और आयात करों के भार को एक अंश तक विदेशियों पर भी डाला जा सकता है, परन्तु आयात कर संरक्षण का एक बहुत ही शक्तिशाली उपाय नहीं है। अभ्यंश प्रणाली द्वारा संरक्षण का उद्देश्य पूर्ण रूप में पूरा हो जाता है, परन्तु यह बहुधा प्रतिकार (Retaliation) को जन्म देती है और भारी आर्थिक और राजनैतिक उलझनें उत्पन्न कर देती है। ठीक यही बात संरक्षण की अन्य रीतियों के विषय में भी कही जा सकती है। वास्तविकता यह है कि संरक्षण की प्रत्येक रीति अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के विरुद्ध होती है।

अध्याय १९

भारत का विदेशी व्यापार

(The Foreign Trade of India)

वर्तमान संसार में किसी भी देश के आर्थिक विकास और उसकी सम्पन्नता के लिए विदेशी व्यापार की उन्नति आवश्यक है। राष्ट्रीय स्वावलम्बता का युग पहले से ही समाप्त हो चुका है। कितनी ही वस्तुएँ तो ऐसी हैं कि एक देश उन्हें उत्पन्न ही नहीं कर सकता है और बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं जिन्हें प्राकृतिक अथवा अन्य कारणों से देश में बहुत ही अधिक लागत पर उत्पन्न किया जा सकता है। दोनों ही दशाओं में विदेशी व्यापार लाभदायक होता है, क्योंकि ऐसी वस्तुएँ कम कीमत पर मिल जाती हैं। विशिष्टीकरण तथा विनिमय दोनों ही के आर्थिक लाभों को प्राप्त करने के लिए विदेशी व्यापार का विकास बहुत ही आवश्यक है। इसके अतिरिक्त विदेशी व्यापार देशों की पारस्परिक मित्रता और सहयोग के लिए भी आवश्यक है। इसके द्वारा सभी देशों को दूसरों की सहायता से अपनी अर्थव्यवस्था के विकास और उपभोग-स्तर को ऊँचा उठाने का अवसर मिलता है।

विदेशी व्यापार का प्राचीन इतिहास—

ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि प्राचीन काल में भारत का विदेशी व्यापार काफी विस्तृत तथा महत्त्वपूर्ण था। अस्मरणीय काल से जल और थल दोनों ही मार्गों से भारत के विदेशियों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे। अब से ५,००० वर्ष पूर्व भी भारत का बेबिलोन से व्यापार होता था। ऐसा पता चलता है कि भारतीय व्यापारियों के पास बड़े-बड़े जहाजी बेड़े थे और वे सुदूर-पूर्व तथा मध्य-पूर्व के देशों के साथ नियमित रूप में व्यापार करते थे। पश्चिम में मिस्र, यूनान, अरब और ईरान से लेकर पूर्व में चीन तक भारत का माल जाता था। ढाके की मलमल और कालीकट के सूती कपड़े को संसार भर में ख्याति प्राप्त थी। निर्यात की वस्तुओं में सूती कपड़े, धातु के सामान, हाथी दाँत, रंग, मसाले, हथियार और अनेक कलात्मक सामान सम्मिलित थे और धातुओं, पीतल, टीन, शराब, घोड़े आदि का आयात होता था।

मुसलमानों के निरन्तर आक्रमणों ने देश की राजनैतिक दशाओं में अनिश्चितता उत्पन्न करके व्यापार में भारी कमी कर दी। परिणाम यह

हुआ कि समुद्री व्यापार काफी घट गया, परन्तु मुस्लिम काल में थल-मार्गीय व्यापार में काफी वृद्धि हुई। साथ ही, आन्तरिक व्यापार की भी उन्नति हुई, जिसका प्रमुख कारण थल मार्गों का विकास था। मोरलैंड (Moreland) के अनुसार लाहौर और काबुल तथा मुल्तान और कन्धार के बीच बराबर नियमित रूप से व्यापार होता रहता था। यही थल मार्ग काबुल और कन्धार से चीन तथा ईरान को जाते थे और यूरोप तक भारत का माल पहुँचता था। इस काल में भी आयात और निर्यात की वस्तुएँ पहले जैसी ही थीं।

योरोपीय व्यापारियों ने आते ही देश के विकसित व्यापार से लाभ उठाना आरम्भ किया। डच, फ्रान्सीसी तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने देश के उद्योगों को प्रोत्साहन देकर व्यापार को प्रोत्साहन दिया, परन्तु यह स्थिति बहुत समय तक बनी न रह सकी। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् दशाएँ बदल गईं और १८ वीं शताब्दी में जैसे-जैसे इङ्गलैंड तथा अन्य योरोपियन देशों के उद्योगों का विकास हुआ, उन्होंने भारतीय माल के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ कर दिये। इंगलैण्ड ने ऐसा अनुभव किया कि भारत से कच्चा माल मँगाना और अपने उद्योगों की उपज को भारत में बेचना अधिक लाभदायक था, अतः कच्चे मालों के आयातों को प्रोत्साहन दिया गया और भारत में औद्योगिक उपज के लिए बाजारों का विकास करने का प्रयत्न किया गया। इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना स्वेज नहर का निर्माण थी। इसके फलस्वरूप समुद्र के रास्ते से भारत और इंगलैंड का फासला ५,५०० मील से घट गया और यूरोप के बाजार भारत के लिए खुल गये। मुक्त-व्यापार नीति के फलस्वरूप भी व्यापार के विस्तार में सुविधा हुई। सन् १८६४-६६ तथा सन् १८६६-१६०४ के बीच विदेशी व्यापार की वार्षिक कीमत ६६ करोड़ रुपये से बढ़कर २१० करोड़ रुपया हो गई और सन् १६०६-१४ में यह ३७६ करोड़ रुपये तक पहुँच गई।

प्रथम महायुद्ध और उसके उपरान्त—

सन् १६१४ में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ। युद्ध के कारण यातायात सम्बन्धी कठिनाइयाँ बढ़ गईं। साथ ही, यूरोप के देश युद्ध कार्य में इतने तल्लीन थे कि वे अपने विदेशी व्यापार को बनाये न रख सके। युद्ध-काल में देश के निर्यात और आयात दोनों ही में कमी हुई। सन् १६१३-१४ और सन् १६१८-१६ के बीच निर्यात ३२४ करोड़ रुपये से घट कर केवल १६० करोड़ रुपया रह गये। इसी काल में आयात १६३ करोड़ रुपये के स्थान पर केवल ६३ करोड़ रुपया रह गये थे। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि भारत के विदेशी व्यापार में लगभग ५०% की कमी हो गई थी।

शत्रु देशों के साथ तो व्यापार पूर्णतया बन्द हो गया था, परन्तु मित्र देश भी माल मँगाने और भेजने में कठिनाई अनुभव कर रहे थे। आयातों के घटने का परिणाम यह हुआ था कि युद्ध-काल में देश के उद्योगों को प्राकृतिक संरक्षण मिल गया था।

युद्धोत्तर काल में भारत के विदेशी व्यापार में एक दम तेजी आई। यूरोप के देशों का आर्थिक जीवन युद्ध के कारण चौपट हो गया था, इसलिए उन्हें आयातों की भारी आवश्यकता थी। भारत के लिए आयातों को बढ़ाने और ऊँची कीमत प्राप्त करने का अच्छा अवसर था, परन्तु यातायात कठिनाइयों तथा ऊँची विनिमय दर के कारण भारत इस तेजी का पूरा-पूरा लाभ न उठा सका। सन् १९२०-२१ में तेजी का यह क्रम टूट गया और विदेशी व्यापार में भारी मन्दी आ गई, परन्तु २ वर्ष पीछे सन् १९२२-२३ में फिर उद्धार काल आरम्भ हुआ और सन् १९२४-२५ तक सामान्य दशायें चलती रहीं। अभिवृद्धि का यह क्रम निरन्तर आगे ही बढ़ता रहा, केवल सन् १९२९-३२ के बीच महान् अवसाद के कारण यह टूट गया था। सन् १९१९-२० तथा सन् १९२९-३० के बीच व्यापार की स्थिति निम्न प्रकार थीः—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापाराशेष
१९१९-२०	३३६	२२२	+ ११४
१९२०-२१	२६७	३४७	— ८०
१९२१-२२	२४८	२८२	— ३४
१९२२-२३	३१६	२४६	+ ७०
१९२९-३०	३१८	२४९	+ ६९

युद्धोत्तर काल में उद्धार का तुरन्त कारण यह था कि धीरे-धीरे सभी योरोपीय देशों की मुद्राओं की कीमतों में स्थिरता आ गई थी। इन देशों की साख में वृद्धि हो गई थी और युद्ध के हर्जानों का प्रश्न सुलझ गया था। सन् १९२९ में महान् अवसाद आरम्भ हुआ। इसके प्रथम चिन्ह संयुक्त राज्य अमरीका में दृष्टिगोचर हुए थे, परन्तु धीरे-धीरे संसार का लगभग कोई भी देश इसके प्रभाव से न बच सका। अवसाद का प्रमुख कारण कच्चे मालों और निर्मित वस्तुओं का अति-उत्पादन, संसार के अधिकाँश स्वर्ण का अमेरिका में एकत्रित हो जाना, विभिन्न देशों की मुद्रा-संकुचन नीति और कुछ देशों की राजनैतिक अशान्ति थे। युद्धोत्तर काल में आर्थिक राष्ट्रीयवाद भी बलवान हो गया था, जिसके अन्तर्गत सभी देशों ने विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे और विदेशी

व्यापार को काफी संकुचित कर दिया था। विभिन्न देशों के स्वर्ण-मान परित्याग, मुद्रा-अवमूल्यन, आयात अभ्यंश नीति आदि ने भी विदेशी व्यापार के मार्ग में अनेक बाधायें उपस्थित कीं। अवसाद का सबसे बुरा प्रभाव कृषि प्रधान देशों पर पड़ा, क्योंकि ऐसे काल में कृषि उत्पादन और कच्चे माल की कीमत का सबसे अधिक पतन होता है। भारत के निर्यात व्यापार को भारी धक्का लगा। साथ ही, जनता की क्रयः शक्ति के पतन, राजनैतिक अशान्ति तथा देशी उद्योगों के विकास ने, जिसे संरक्षण नीति ने प्रोत्साहित किया था, आयातों को भी काफी घटा दिया था।

भारत में आयातों की तुलना में निर्यातों का पतन अधिक हुआ था, जिसका मुख्य कारण यही था कि देश का निर्यात व्यापार कच्चे मालों से सम्बन्धित था, जिनकी कीमतें बहुत नीचे गिर गईं थीं। इस काल में भारत ने काफी सोने का निर्यात किया और इसी कारण निर्यातों में कमी होने पर भी व्यापाराशेष अनुकूल ही बना रहा। सन् १९३० तथा सन् १९३८ के बीच भारत ने ३५० करोड़ रुपये की कीमत के सोने का निर्यात किया। अवसाद के सबसे खराब वर्ष अर्थात् सन् १९३२-३३ में भी हमारा व्यापाराशेष अनुकूल ही था, जिसकी मात्रा ३ करोड़ रुपया थी। यह इसी कारण सम्भव हुआ था कि हम निर्यात की कमी को सोना विदेशों को भेज कर पूरा कर रहे थे।

अवसाद सन् १९३३ में समाप्त हुआ और सन् १९३३-३४ में उद्धार की प्रवृत्ति फिर आरम्भ हो गई। भारत के माल की विदेशों में अधिक माँग होने लगी थी। इस उद्धार के अनेक कारण थेः—सर्वप्रथम तो, अमरीका और फ्रांस ने कृत्रिम उपायों द्वारा उद्धार का क्रम आरम्भ किया था। दूसरे, इसी काल में संसार के देशों ने दूसरे महायुद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी थी। तीसरे, ओटावा समझौते के कारण भारत और राष्ट्रमण्डल देशों के विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला था। इसी काल में भारत-जापान समझौता, सन् १९३४ भी हुआ, जिसने भारतीय व्यापार के विस्तार में सहायता दी। सन् १९३५-३६ तक व्यापार का विस्तार होता गया, परन्तु सन् १९३६-३७ में फिर मन्दी आई, जो सन् १९३९ तक चलती रही और अन्त में दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने पर फिर तेजी आरम्भ हुई, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि महान् अवसाद के पश्चात् भारतीय व्यापार का बहुत विस्तार नहीं हो सका था। इसका प्रमुख कारण यह था कि युद्ध का आरम्भ होने के भय के कारण व्यावसायिक वर्ग भयभीत था। इसके अतिरिक्त चीन-जापान युद्ध के कारण पूर्व की मण्डियों से बहुत व्यापार सम्भव न था। सन् १९३९-४० में पहली बार तेजी प्रकट रूप में आई, क्योंकि युद्ध की तैयारी के लिए विभिन्न

देशों ने शस्त्र उद्योगों के विकास और स्टॉकों के जमा करने पर काफी व्यय करना आरम्भ कर दिया था, जिससे भारतीय निर्यातों की माँग और उसकी कीमत दोनों में वृद्धि हुई थी।

दूसरा महायुद्ध और उसके उपरान्त—

सन् १६३६ में दूसरे महायुद्ध का आरम्भ होते ही विदेशी व्यापार में तेजी के साथ वृद्धि हुई। कच्चे माल और निर्मित वस्तुएँ दोनों ही की विदेशी माँग काफी बढ़ी और यद्यपि बहुत से देशों को शत्रु घोषित करके उनके साथ व्यापार वर्जित कर दिया गया था, परन्तु भारतीय व्यापार का बराबर विस्तार ही होता गया। निम्न आँकड़े इस वृद्धि का कुछ अनुमान प्रदान करते हैं, यद्यपि वे पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं हैं, क्योंकि उनमें ब्रिटिश सरकार द्वारा खरीदे हुए माल तथा उधार-पट्टा (Lend-lease) प्रणाली द्वारा प्राप्त माल की कीमत नहीं दिखाई गई है:—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निर्यात	आयात	कुल व्यापार
१६४०–४१	१८७	१५७	३४४
१६४१–४२	२३७	१७३	४१०
१६४२–४३	१८७	११०	२६७
१६४३–४४	१६६	११८	३१७
१६४४–४५	२१०	२०४	४१४

युद्ध काल में सन् १६४२-४३ के वर्ष को छोड़ कर बराबर विदेशी व्यापार का विस्तार ही हुआ है। इस वर्ष में व्यापार की मात्रा के घटने के कई कारण थे :—(१) जापान के युद्ध में सम्मिलित हो जाने के कारण सुदूर-पूर्व (Far-east) का व्यापार समाप्त हो गया था, (२) विनिमय नियन्त्रण प्रणाली को कड़ा कर दिया गया था, जिससे व्यापारियों को भारी असुविधा थी और (३) आयात तथा निर्यात व्यापारियों को अनुज्ञापित कर दिया गया था। बाद को इन सब बाधाओं ने नियमितता धारण कर ली और इनके रहते हुए भी व्यापार का विस्तार होता रहा। युद्ध की प्रगति के साथ जहाजों के मिलने में कठिनाई होती गई और इसका विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा। कुछ देशों को तो शत्रु घोषित कर दिया गया था और उनके साथ व्यापार वर्जित था, परन्तु मित्र देश भी युद्ध कार्यों में इतने व्यस्त थे कि वे भी सैनिक सामानों के अतिरिक्त अन्य माल भेजने में असमर्थ थे। साम्राज्य डालर कोष के कार्य-वाहन ने अमरीका से माल मँगाना कठिन बना दिया और शत्रु की कार्यवाहियों के कारण यातायात में भारी कठिनाई हुई।

युद्धकाल की प्रमुख विशेषता यह थी कि निर्यातों की अपेक्षा आयातों में अधिक कमी हुई। युद्ध का अन्त होने पर आयात स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ। युद्ध-काल में आयातों के रुक जाने तथा कीमतों के ऊपर उठने के कारण भी देशी उद्योगों का समुचित विकास न हो सका, जिसका कारण पूँजीगत माल और आवश्यक कच्चे मालों की कमी थी। युद्ध-कालीन तनाव कम होते ही आयातों में वृद्धि हुई, परन्तु जहाजों की कमी के कारण कठिनाई बनी रही। आरम्भ में सबसे अधिक वृद्धि उन वस्तुओं के आयातों में हुई जिनकी सैनिक कार्यों के लिए आवश्यकता थी, परन्तु बाद को खाद्यान्न तथा पूँजीगत माल के भी आयात बढ़े। आयातों में इतनी तेजी के साथ वृद्धि हुई कि युद्धोत्तरकालीन व्यापाराशेष भारत के लिए प्रतिकूल हो गया। निम्न आँकड़ों द्वारा स्थिति स्पष्ट हो जाती है :—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	निर्यात तथा पुनर्निर्यात	आयात	व्यापाराशेष
१९४५	२२९	२३२	— ३
१९४६	२६६	२९२	— २६
१९४७	३२०	२३४	— १४
१९४८	४२८	४५१	— २३
१९४९	४२३	५४३	—१२०

युद्धोत्तर काल में आयातों की अत्यधिक वृद्धि के अनेक कारण थे। धीरे-धीरे भारत सरकार ने आयात सम्बन्धी प्रतिबन्धों को ढीला कर दिया था, जहाजी यातायात की पूर्ति बढ़ गई थी, देश में मुद्रा-प्रसार के प्रभाव को दूर करना आवश्यक था और खाद्यान्न आयात में भारी वृद्धि हुई थी। भारत सरकार ने खुले सामान्य अनुज्ञापन (Open General Licenses) नीति के अन्तर्गत आयातों के विषय में उदारता बर्ती थी। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान के निर्माण ने हमारी निर्यात क्षमता घटा दी थी और आयातों की आवश्यकता बढ़ा दी थी। व्यापाराशेष की प्रतिकूलता बढ़ती ही गई और अन्त में इसे ठीक करने के लिए भारत सरकार को कृत्रिम उपचार करने पड़े।

रुपये का अवमूल्यन—

इंगलैंड तथा स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के सभी देशों का डालर क्षेत्र के साथ व्यापाराशेष प्रतिकूल ही बना रहा। कुछ काल तक इंगलैंड ने मुद्रा-कोष तथा अमरीका से ऋण लेकर डालर की कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया, परन्तु जब किसी भी प्रकार घाटा पूरा न हो सका तो सितम्बर सन् १९४९ में स्टर्लिंग का अवमूल्यन कर दिया गया। इससे डालर में स्टर्लिंग

की कीमत ४·०३ से घट कर २·८० रह गई। इंगलैंड का अनुकरण करते हुए पाकिस्तान को छोड़कर स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशों ने अपनी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया। डालर में रुपए की कीमत ३०·२५ सेन्ट से घट कर केवल २१ सेन्ट रह गई। अवमूल्यन एक आर्थिक आवश्यकता थी। सन् १९४५ तक भारत का डालर क्षेत्र का व्यापार अनुकूल था, परन्तु सन् १९४६ में स्थिति बदलने लगी थी। सन् १९४८-४९ में तो उदार आयात नीति के फलस्वरूप भारत के डालर क्षेत्रीय व्यापार में १२० करोड़ रुपए का घाटा था। भारत में भी 'डालर समस्या' उत्पन्न हो गई थी। अवमूल्यन ने इस स्थिति को कुछ अंश तक सुधार दिया था। निम्न तालिका में अवमूल्यन के पश्चात् की व्यापाराशेष स्थिति दिखाई गई है :—

वर्ष	निर्यात तथा पुनर्निर्यात	आयात	व्यापाराशेष
१९४८–४९	४२३	५४३	—१२०
१९४९–५०	४८५	५९४	—१०९
१९५०–५१	६०१	६२३	— २२
१९५१–५२	७३३	९४३	—२१०
१९५२–५३	५७७	६७०	— ९३
१९५३–५४	५३१	५७२	— ४१
१९५४–५५	५९४	६५६	— ६३
१९५५–५६	६०९	७०५	— ९५
१९५६–५७	६३७	१,०७७	—३४०
१९५७–५८ (६ मास)	२६७	६२२	—३५५

व्यापाराशेष के इस सुधार के अवमूल्यन के अतिरिक्त और भी बहुत से कारण थे। सरकार ने डालर आयातों पर प्रतिबन्ध लगाकर देश की माँग को स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से ही पूरा करने का प्रयत्न किया था। कोरिया युद्ध के आरम्भ होने पर सभी देशों ने सैनिक तैयारी तथा स्टॉकों का जमा करना आरम्भ कर दिया था, जिससे देश के निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन मिला था। व्यापार की शर्तें भारत के अनुकूल होती गईं। सन् १९५०-५१ तक यही प्रवृत्ति बनी रही, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक अवमूल्यन के लाभ समाप्त हो चुके थे। सरकार ने भी अपनी निर्यात नीति में परिवर्तन किया था और देशी उपजों को अधिक मात्रा में देशी उद्योगों में उपयोग करना आरम्भ कर दिया था। सन् १९५३ के आरम्भ में व्यापार की शर्तें प्रतिकूलता के पुराने स्तर से भी नीचे पहुँच गईं थीं, तत्पश्चात् कुछ सुधार हुआ था और मार्च सन् १९५४ तक व्यापाराशेष

का घाटा केवल ४१ करोड़ रुपया रह गया था। सन् १९५४-५५ में स्थिति और भी बिगड़ गई थी और सन् १९५५-५६ में घाटा और भी बढ़कर ९५ करोड़ रुपया हो गया। अगले वर्ष अर्थात् सन् १९५६-५८ में आयातों में बहुत ही तेजी के साथ वृद्धि हुई और घाटा ३४० करोड़ रुपये तक पहुँच गया। चालू वर्ष के ६ महीनों में अर्थात् सितम्बर सन् १९५७ तक ३५५ करोड़ रुपये का घाटा हो चुका है। स्थिति को समझने के लिए शायद यह जानना भी आवश्यक है कि प्रथम पंच-वर्षीय योजना के काल में हमारी विदेशी विनिमय जमा बराबर घटती गई है और दूसरी योजना के काल में यह और भी तेजी के साथ घटी है। मार्च सन् १९५६ में रिजर्व बैंक की विदेशी विनिमय जमा ७४६ करोड़ रुपया थी, जो सितम्बर सन् १९५६ तक केवल २४३ करोड़ रुपया रह गई है। ६ महीनों में इस जमा में से २०३ करोड़ रुपये का निकल जाना चिन्ता की बात थी, यद्यपि यह सत्य है कि दूसरी पंच-वर्षीय योजना के संचालन के लिए हमारी आयात आवश्यकता बढ़ गई है।

योजना आयोग की सिफारिशें—

योजना आयोग ने विगत वर्षों में भारतीय व्यापार की दिशाओं और समस्याओं का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात् विदेशी व्यापार नीति के सम्बन्ध में पाँच सिद्धान्तों का निर्माण किया है :—(१) व्यापार नीति का उद्देश्य पंच-वर्षीय योजनाओं के उत्पत्ति और उपभोग लक्ष्यों को पूरा करना होना चाहिए। (२) निर्यात-स्तर को ऊँचा रखने के लिए निर्यात व्यापार का प्रोत्साहन आवश्यक है। (३) व्यापाराशेष के घाटे को यथासम्भव विदेशी विनिमय कमाई में से ही पूरा करना चाहिए। (४) आयात और निर्यात नीति सरकार की सामान्य वित्त नीति के अनुसार रहनी चाहिये और (५) सरकार की व्यापार नीति स्पष्ट तथा समुचित रहनी चाहिये।

आयोग का अनुमान था कि प्रथम योजना काल में आयातों में १०% की वृद्धि होगी, इसके कारण व्यापारशेष का घाटा और भी बढ़ जायगा और इसी कारण विदेशी व्यापार पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण अवश्य रहना चाहिये। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि प्रथम योजना-काल में विदेशी विनिमय कमाई में १३३ करोड़ रुपये की वृद्धि होगी और उसकी माँग में १०८ करोड़ रुपये की, परन्तु विदेशी विनिमय आवश्यकता का अनुमान अधूरा था, क्योंकि सभी मदों को सम्मिलित नहीं किया गया था, इसलिए व्यापाराशेष स्थिति में विशेष परिवर्तनों की आशा नहीं थी।

रुपया रही है। सन् १६५७-५८ के पहले ६ महीनों में निर्यातों की कीमत २६७ करोड़ रुपया रही है, जबकि योजना का साल भर का अनुमान केवल ५८३ करोड़ रुपया है। इस प्रकार निर्यातों के बढ़ने के कारण भी स्थिति के सुधरने की कुछ आशा अवश्य है।

भारत के विदेशी व्यापार का रूप—

दूसरे महायुद्ध का प्रभाव सबसे अधिक भारतीय व्यापार के रूप के परिवर्तन में दृष्टिगोचर होता है। इस परिवर्तन का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है:—

	१६३८-३६ कुल का%	१६४३-४४ कुल का%	१६४४-४५ कुल का%
आयात—			
खाद्यान्न	१५·७	६·०	६·४
कच्चा माल	२१·७	५४·४	५८·३
निर्मित सामान	६०·८	३८·२	३१·८
निर्यात—			
खाद्यान्न	२३·३	२२·६	२०·६
कच्चा माल	४७·१	२५·६	२५·६
निर्मित सामान	३०·०	५०·५	५१·५

व्यापार के रूप के परिवर्तन की यह प्रवृत्ति युद्धोत्तर काल में भी बनी रही है। सन् १६४८ में खाद्यान्न, कच्चे माल और निर्मित सामान कुल आयात का क्रमशः १८·६, २४·३ और ५८·८% रहे थे। निर्यातों में निर्मित वस्तुओं का महत्त्व सन् १६४६ में ४३% से बढ़ कर सन् १६४८ में ४६·२% तक पहुँच गया था। युद्धोत्तर काल में कच्चे माल और तैयार माल के निर्यात की कमी का प्रमुख कारण पाकिस्तान का निर्माण था, जिसने कच्चे माल के निर्यात तथा देशी खपत दोनों में कमी कर दी। सन् १६४६ के पश्चात् भारत सरकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप खाद्यान्न का आयात घटा है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सन् १६५६ के अन्त तक ३० लाख टन खाद्यान्न के आयात का अनुमान लगाया गया था, परन्तु अन्तिम दो वर्षों में खाद्य उत्पादन की वृद्धि अनुमान से भी अधिक रही है, इसलिए आयात और घटे हैं। निर्मित माल के आयात की वृद्धि का प्रमुख कारण मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति थी, जिसके अन्तर्गत आयात नियन्त्रण ढीला कर दिया गया था।

व्यापार की दिशाएँ—

जहाँ तक भारत के व्यापार में विभिन्न देशों के महत्त्व का प्रश्न है, २० वीं शताब्दी में ब्रिटेन और साम्राज्य तथा समाधन देशों के व्यापार में बराबर वृद्धि हुई है। सन् १६०६-१४ में इन देशों का भाग केवल ४१% था, जो सन् १६४४-४५ में ६५% तक पहुँच गया था। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् देश का व्यापार साम्राज्य तथा अन्य देशों के साथ लगभग बराबर सा रहा है। नीचे के आँकड़े शायद उपयोगी सिद्ध होंगे :—

निर्यात प्रतिशत

	१६०६-१४	१६३८-३६	१६४५	१६४८	१६५४-५५
साम्राज्य देश—	४१	५४	६०	५०	३१
अन्य देश —	५६	४६	४०	५०	६६

आयात-प्रतिशत

	१६०६-१४	१६३८-३६	१६४५	१६४८	१६५४-५५
साम्राज्य देश—	७०	५८	३७	४६	२३
अन्य देश —	३०	४१	६३	५४	७७

उपरोक्त आँकड़ों से पता चलता है कि गैर-साम्राज्य देशों से अधिक मात्रा में आयात लेने की प्रवृत्ति है, यद्यपि देश के आयात व्यापार में अब भी ब्रिटेन का भारी महत्त्व है। विगत वर्षों में भारत गैर-साम्राज्य देशों से अधिक रहा है। अमरीका, बेल्जियम, चैकोस्लोवेकिया और जापान से पूँजीगत माल आ रहा है और बर्मा, पाकिस्तान, अर्जेनटाइना, रूस और अमरीका से खाद्यान्न।

पाकिस्तान का निर्माण—

युद्धोतर काल में भारतीय व्यापार की एक बड़ी कठिनाई पाकिस्तान का अनिश्चित और शत्रुता का व्यवहार रहा है। भारत सरकार द्वारा निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर भी दोनों देशों के व्यापारिक सम्बन्ध अच्छे नहीं रह पाये हैं। देश के बँटवारे का परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो, देश में भोजन की भारी कमी उत्पन्न हो गई और दूसरे, कच्चा माल उपजाने वाले क्षेत्र हमारे हाथ से निकल गये हैं। इससे हमारे पटसन और रुई के निर्यातों में भारी कमी आई है और साथ ही, हमें प्रत्येक वर्ष काफी मात्रा में बाहर से अनाज मंगाना पड़ा है। देशी उद्योगों को चालू रखने के लिये

(ग) वे उपभोग की वस्तुएँ जो जीवन अथवा स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं।

(२) अन्य कच्चा माल और मशीनरी।

(३) अन्य आवश्यक सामान।

(४) अनावश्यक माल।

निर्यात नियन्त्रण नीति—

भारत सरकार की ओर से बार-बार यह घोषणा की गई है कि सरकार की निर्यात नीति का आधार निर्यात नियन्त्रण नहीं है, बल्कि निर्यात प्रोत्साहन है। इस उद्देश्य से एक निर्यात सलाहकार परिषद् नियुक्त की गई है। निर्यात वस्तुओं को **क, ख, ग** और **घ** चार वर्गों में विभाजित किया गया है। वर्ग **क** में उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिनकी पूर्ति सीमित है और जिनके लिए निर्यात अनुज्ञापन नहीं दिये जाते हैं। वर्ग **ख** में खाद्य पदार्थों को सम्मिलित किया जाता है, जिन पर खाद्य मन्त्रालय का अधिकार है। वर्ग **ग** में वे सभी माल सम्मिलित हैं जिनकी सरकार अथवा देशी उद्योगों के लिए आवश्यकता है। अन्य सभी वस्तुओं को वर्ग **घ** में सम्मिलित किया जाता है और उन पर वाणिज्य मन्त्रालय का नियन्त्रण रहता है।

व्यापार नियन्त्रण का भविष्य—

भारत सरकार संयुक्त-राष्ट्र संघ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की सदस्य है और यह संगठन व्यापारिक प्रतिबन्धों को ढीला करने के पक्ष में है। भारत सरकार भी धीरे-धीरे प्रतिबन्धों की नीति को समाप्त करने का विरोध नहीं करती है। मुद्रा-कोष ने भी केवल संक्रान्ति काल के लिए ही ऐसे प्रतिबन्धों की आज्ञा दी है, परन्तु भारत सरकार हवाना चार्टर (Havana Charter) और गेट (General Agreement on Trade and Tariffs) की सिफारिशों को पूर्ण रूप में पूरा करने में असमर्थ है। विगत वर्षों में भारत सरकार ने व्यापारिक समझौतों द्वारा अपनी व्यापार नीति को सफल बनाने का प्रयत्न किया है। ऐसे समझौते इस समय ब्रिटेन, पाकिस्तान, जापान, जर्मनी, बर्मा, इन्डोनेशिया, रूस, अफगानिस्तान आदि अनेक देशों के साथ हुए हैं।

भारत की शोधनाशेष स्थिति

(सन् १९५६–५७ तथा सन् १९५७–५८ प्रथम ६ मास)

(करोड़ रुपयों में)

	अप्रैल-जून	जुलाई-सितम्बर	अक्टूबर-दिसम्बर	जनवरी-मार्च	कुल	अप्रैल-जून	जुलाई-सितम्बर	कुल
(१) आयात	२३०·२	२४६·६	२९४·०	३०५·७	१,०७६·५	३२३·१	२९९·१	२२·२
(क) निजी	१९६·१	१९५·५	२०९·६	१९४·७	७९५·९	२०१·०	१८२·५	३८३·५
(ख) सरकारी	३४·१	५१·१	८४·४	१११·०	२८०·६	१२२·१	११६·६	२२८·७
(२) निर्यात	१५३·५	१३४·६	१७१·५	१७७·२	६३७·०	१३९·८	१२७·३	२६७·१
(३) व्यापाराशेष	–७६·७	–१११·८	–१२२·५	–१२४·५	–४३९·५	–१८३·३	–१७१·८	–३५५·१
(४) सरकारी चन्दे (शुद्ध)	९·६	८·३	७·६	१४·३	३९·८	५·०	१·५	६·५
(५) अन्य अदृश्य	२२·६	२२·१	३०·१	३२·४	१०७·२	२८·६	२२·३	५०·९
(६) सरकारी ऋण	४·६	३·३	१०·९	३७·६	५६·४	·७	१८·२	२७·९
(७) अन्य पूँजी व्यवसाय शुद्ध	–१३·२	– ८·९	– १५·६	– १·३	–३९·०	४३·०	२·५	४५·५
(८) मुद्रा कोष से लिया गया	....	....	....	६०·७	६०·७	३४·४	....	३४·४
(९) भूल-चूक	– ७·१	१७·७	२·२	– १७·४	– ४·६	– ७·७	+ २३·७	१६·०
(१०) विदेशी विनिमय कोषों की वृद्धि (+) अथवा कमी (–)	–६०·२	+६९·३	+८७·३	+२·२	+२१९·०	+७०·२	+१०३·६	+१७३·८

अध्याय २०

विदेशी विनिमय

(Foreign Exchange)

विदेशी विनिमय शब्द का उपयोग अर्थशास्त्र में कई अर्थों में किया जाता है। कुछ लेखकों का विचार है कि विदेशी विनिमय का अभिप्राय उस सारी क्रिया से होता है जिसके द्वारा दो व्यापारियों द्वारा अपने विदेशी दायित्वों का भुगतान किया जाता है। यह इस शब्द का बड़ा ही विस्तृत अर्थ है, क्योंकि इस अर्थ में वे सब संस्थाएँ जो विदेशी भुगतानों में सहायता करती हैं, वे सब रीतियाँ जिनके द्वारा विदेशी भुगतान किये जाते हैं, वे सभी उपाय जिनका इस सम्बन्ध में उपयोग किया जाता है तथा वह दर जिस पर एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदला जाता है, विदेशी विनिमय में सम्मिलित होते हैं। विदेशी विनिमय का उपयोग संकुचित अर्थ में भी किया जाता है। (क) इस सम्बन्ध में कुछ लोग तो विदेशी विनिमय का अर्थ उन सब सुविधाओं से लगाते हैं जो विदेशी भुगतानों के चुकाने से सम्बन्धित होती हैं। (ख) कुछ इसका अर्थ विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय से लगाते हैं और (ग) कुछ इसके द्वारा उस अनुपात अथवा दर को सूचित करते हैं जिस पर विभिन्न देशों की मुद्रा की अदल-बदल होती है। आगे के सारे अध्ययन में हम इस शब्द का उपयोग संकुचित अर्थ में ही करेंगे। विदेशी विनिमय की एक सरल परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि विदेशी विनिमय का अभिप्राय उन प्रपत्रों, रीतियों अथवा साधनों से होता है जिनके द्वारा विदेशी भुगतान चुकाये जाते हैं।

विदेशी विनिमय की आवश्यकता इस कारण पड़ती है कि अलग-अलग देशों के चलन अलग-अलग होते हैं और प्रत्येक देश के निवासी अपने ही देश के चलन में भुगतान स्वीकार करते हैं। उदाहरणस्वरूप, भारतीय व्यापारी विदेशों को भेजे हुए माल की कीमत रुपयों में चाहते हैं। इसी प्रकार अमेरिकन व्यापारी डालर में ही भुगतान लेंगे, ब्रिटिश व्यापारी पौण्ड में और जापानी व्यापारी येन में। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रत्येक व्यवसाय में हमें अपने देश के चलन को अन्य देशों के चलन में बदलना पड़ता है। विदेशी चलनों के क्रय-विक्रय तथा एक देश के चलन के दूसरे देश के चलन में होने वाले विनिमय अनुपात को ही

हम विदेशी विनिमय का नाम देते हैं। प्रस्तुत विवेचना में हम विदेशी विनिमय को विदेशी विनिमय दर के अर्थ में उपयोग करेंगे और हमारा प्रयत्न केवल इसी दर से सम्बन्धित बातों का अध्ययन करना होगा। विदेशी व्यापार आन्तरिक व्यापार की तुलना में साधारणतया इसी कारण जटिल हो जाता है कि उसमें देश के चलन को विदेशी चलनों में बदले बिना व्यवसाय नहीं हो सकता है।

विदेशी विनिमय दरों का निर्धारण—

विनिमय दर केवल दो देशों के चलनों के विनिमय अनुपात को सूचित करती है। यदि एक पौंड के बदले में १३·३ रुपये मिल सकते हैं तो रुपया और पौंड की विनिमय दर १ पौंड = १३·३ रुपया होगी। इसी प्रकार यदि विदेशी विनिमय बाजार में १ रुपये के बदले में २१ सेन्ट प्राप्त होते हैं तो रुपये और डालर की विनिमय दर १ रुपया = २१ सेन्ट अथवा १ डालर = ४·७६ रुपया होगी। स्मरण रहे कि विनिमय दर सदा स्थिर नहीं रहती है। इसमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं, जिनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था दोनों पर प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि विनिमय दर तथा उसके परिवर्तनों का देश के आर्थिक जीवन में भारी महत्त्व होता है।

विनिमय दरों के निर्धारण की समस्या का दो अलग-अलग रूपों में अध्ययन किया जा सकता है:—प्रथम, स्वर्णमान प्रणाली के अन्तर्गत और दूसरे, स्वतन्त्र चलन प्रणाली अथवा पत्र-चलन-मान के अन्तर्गत। इन दोनों प्रणालियों में विनिमय दरों के निर्धारण के सम्बन्ध में कोई मौलिक भेद तो नहीं होता है, परन्तु क्योंकि स्वर्णमान में स्वर्ण के रूप में सभी देशों के लिए कीमतों का एक सामूहिक मापक मौजूद होता है, इस कारण विनिमय दर के निर्धारण में सरलता रहती है।

स्वर्णमान में विनिमय दर—

यदि सभी देशों में स्वर्णमान हो और सोने के आयात और निर्यात पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध न हों तो विनिमय दरों का निर्धारण काफी सरल होता है। बात यह है कि प्रत्येक स्वर्णमान देश का चलन सोने की एक निश्चित मात्रा में परिवर्तनीय होता है। हेबरलर (Haberler) ने कहा है कि यदि व्यापारी देशों में स्वर्णमान है और सोने के आयात-निर्यात अनियन्त्रित हैं तो उनके चलन का सम्बन्ध काफी दृढ़ होगा। ऐसे देशों के बीच विनिमय दर उनके चलनों की सोना खरीदने की शक्ति में समानता स्थापित करके प्राप्त की जा सकती है। उदाहरणस्वरूप, यदि भारत में एक औंस सोने की कीमत २२५ रुपया है

और इंगलैंड में उसकी कीमत १५ पौंड है तो रुपये और पौंड की विनिमय दर १५ पौंड = २२५ रुपया अथवा १ पौंड = १५ रुपया होगी। इसी प्रकार यदि अमरीका में ४५ डालर के बदले में १ औंस सोना खरीदा जा सकता है तो रुपये और डालर की विनिमय दर २२५ रुपये = ४५ डालर अथवा १ डालर बराबर = ५ रुपया होगी। इसी आधार पर पौंड और डालर की विनिमय दर १ पौंड = ३ डालर होगी। स्मरण रहे कि उपरोक्त सभी विनिमय दरें प्रत्येक चलन की उसके अपने देश के भीतर स्वर्ण क्रयः शक्ति की समानता द्वारा प्राप्त की गई हैं। १ पौंड के बदले में इंगलैंड में ठीक उतनी ही मात्रा में सोना खरीदा जा सकता है जितना कि ३ डालर के बदले में अमरीका में, अथवा १५ रुपये के बदले में भारत में। स्वर्ण क्रयः शक्ति की समानता द्वारा जो विनिमय दर प्राप्त होती है उसे आर्थिक भाषा में 'विनिमय की टकसाली दर' (Mint Par of Exchange) अथवा 'स्वर्ण मूल्य समानता दर' (Gold Par of Exchange) कहा जाता है। स्वर्णमान देशों के बीच विनिमय दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति इसी की ओर होती है, यद्यपि समय-समय पर वास्तविक विनिमय दर इसके थोड़ी सी भिन्न भी हो सकती है।

स्वर्णमान में विनिमय दरों के उच्चावचन—

स्वर्णमूल्य समानता दर विनिमय दरों की समानता प्रवृत्ति को ही दिखाती है, परन्तु वास्तविक दर का इसके बराबर होना सदा ही आवश्यक नहीं होता है। व्यापाराशेष का परिवर्तन इस दर में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य कर देता है। मान लीजिये कि इंगलैंड और अमरीका दोनों ही स्वर्णमान देश हैं और दोनों के बीच की स्वर्णमूल्य विनिमय दर १ पौंड = ३ डालर हैं, परन्तु मान लीजिये कि किसी एक वर्ष में इंगलैंड अमरीका से अधिक माल मँगाता है और उसकी तुलना में अमरीका को कम माल भेजता है। इसका परिणाम यह होगा कि इंगलैंड के लिये डालर की माँग बढ़ जायगी, क्योंकि आयातों की कीमत को डालर में चुकाना आवश्यक होता है। इसके विपरीत अमरीका में ब्रिटिश व्यापारियों को भुगतान करने के लिये पौंड की माँग अपेक्षतन कम होगी। माँग का साधारण नियम हमें यह बताता है कि जिस वस्तु की बाजार में माँग बढ़ जाती है उसकी कीमत ऊपर चढ़ जाती है और इसके विपरीत जिस वस्तु की माँग घट जाती है उसकी कीमत नीचे गिर जाती है। डालर की माँग बढ़ जाने के कारण विदेशी विनिमय बाजार में उसकी कीमत बढ़ जायगी और इसके विपरीत पौंड की कीमत में कमी हो जायगी, अतः १ पौंड की कीमत ३ डालर से कम रह जायगी, अर्थात् एक पौंड के बदले में तीन से कम ही डालर प्राप्त होंगे।

स्मरण रहे कि स्वर्णमान में एक देश के व्यापारियों के लिये विदेशियों को भुगतान करने के दो उपाय होते हैं :—या तो विदेशी विनिमय बाजार से, जिसकी प्रमुख संस्था विनिमय बैंक होती है, विदेशी चलन को खरीद कर भुगतान किया जा सकता है अथवा सोना विदेश को भेज कर उसके बदले में वहाँ की केन्द्रीय बैंक अथवा वहाँ के मुद्रा-संचालक से विदेशी चलन खरीदा जा सकता है। ये दोनों ही रीतियाँ उपयोग में लाई जाती हैं, परन्तु समय विशेष में किस रीति द्वारा भुगतान किया जायगा, यह इस बात पर निर्भर होता है कि कौन सी रीति अधिक लाभदायक है। सोने का निर्यात करने में खर्चा पड़ता है, उसके पैकिंग, यातायात तथा बीमे पर व्यय होता है। इस कारण इस नीति से स्वर्ण मूल्य दर पर विदेशी विनिमय प्राप्त नहीं होता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि इङ्गलैंड से १ पौंड की कीमत का सोना अमरीका को भेजने के सम्बन्ध में '०२ डालर का खर्चा बैठता है। इस दशा में एक पौंड का सोना अमरीका को भेज कर केवल ४'९८ डालर प्राप्त किये जा सकते हैं, क्योंकि '०२ डालर तो खर्च में निकल जाता है। यदि विदेशी विनिमय बाजार में १ पौंड के बदले में ४'९८ डालर से अधिक मिल जाता है तो इंगलैंड के व्यापारी सोना अमरीका को भेज कर डालर प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करेंगे, परन्तु जब विदेशी विनिमय बाजार से भी एक पौंड के बदले में इतना ही डालर मिलता है तो ब्रिटिश व्यापारी इस सम्बन्ध में तटस्थ रहेंगे कि डालर को विदेशी विनिमय बाजार से खरीदा जाय अथवा स्वर्ण निर्यात द्वारा प्राप्त किया जाय। यदि विनिमय बैंक १ पौंड के बदले में ४'९८ डालर से थोड़ा सा भी कम डालर देने का प्रयत्न करती है तो उससे डालर नहीं खरीदा जायगा, बल्कि स्वर्ण निर्यात द्वारा डालर प्राप्त किया जायगा। इस प्रकार १ पौंड के बदले में कम से कम ४'९८ डालर अवश्य प्राप्त किये जा सकते हैं। इङ्गलैंड के दृष्टिकोण से विनिमय दर इससे नीचे नहीं गिर सकती है। इस बिन्दु पर विनिमय दर के आते ही इङ्गलैंड से सोने के निर्यात आरम्भ हो जायेंगे, अतः इस बिन्दु को इङ्गलैंड का 'स्वर्ण निर्यात बिन्दु' (Gold Export Point) कहा जाता है। अमेरिका के दृष्टिकोण से इस बिन्दु पर विनिमय दर के आते ही स्वर्ण आयात आरम्भ हो जायगे और यह उसके लिए 'स्वर्ण आयात बिन्दु' (Gold Import Point) होगा। स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर में इससे अधिक परिवर्तन नहीं हो सकेंगे।

अब एक दूसरी स्थिति को लीजिए। मान लीजिए कि किसी वर्ष में इंगलैंड अमेरिका को अधिक माल भेजता है और उसकी तुलना में वहाँ से कम माल मंगाता है। इस दशा में व्यापाराशेष इंगलैंड के पक्ष में हो

जायगा। अमरीका में पौंड की माँग बढ़ेगी और उसके विपरीत इंगलैंड में डालर की माँग कम हो जायगी। विदेशी विनिमय बाजार में पौण्ड की डालर में कीमत बढ़ जायगी और इस प्रकार एक पौंड के बदले में ३ से अधिक डालर प्राप्त हो जायेंगे, परन्तु अमेरिकन व्यापारी भी पौंड को या तो विनिमय बैंक से खरीद कर प्राप्त कर सकते हैं या इंगलैंड को सोना भेज कर खरीद सकते हैं। यदि तीन डालर का सोने भेजने पर कुल खर्च ·०२ डालर होता है तो अमेरिकन व्यापारियों को ३ डालर के स्थान पर ३·०२ डालर में १ पौंड सोने के निर्यात द्वारा प्राप्त होगा। जब तक विनिमय बैंक ३·०२ डालर के बदले में १ पौंड से अधिक देती रहेंगी, अमरीका द्वारा स्वर्ण निर्यात का प्रश्न ही नहीं उठेगा, परन्तु यदि बाजार में विनिमय दर १ पौंड=३·०२ डालर के बराबर हो जाती है तो अमरीका से स्वर्ण नियात आरम्भ हो जायगा। यही अमरीका के लिये स्वर्ण निर्यात बिन्दु होगा और इंगलैंड के लिए स्वर्ण आयात बिन्दु। पौंड की कीमत ३·०२.डालर से ऊपर नहीं जायगी।

स्वर्ण आयात और स्वर्ण निर्यात बिन्दुओं को सामूहिक रूप में स्वर्ण बिन्दु (Gold Points), धातु बिन्दु (Specie Points) अथवा पाट बिन्दु (Bullion Points) कहा जाता है। ये दोनों बिन्दु स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर के चढ़ाव और उसके पतन की सीमायें निश्चित करते हैं। हम ऐसा तो नहीं कह सकते हैं कि स्वर्णमान में विदेशी विनिमय दर पूर्णतया स्थिर रहती है, परन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि स्वर्णमान में विनिमय दरों के उच्चावचन स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निश्चित की गई संकुचित सीमाओं के ही भीतर रहते हैं। उनमें अत्यधिक उच्चावचन नहीं हो पाते हैं।

स्मरण रहे कि स्वर्णमान सम्बन्धी उपरोक्त अवस्था तभी सम्भव होती है जबकि स्वर्ण के आवागमन पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये जाते हैं। यदि कोई देश स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाता है तो विनिमय दरों के उच्चावचनों का रुक जाना आवश्यक नहीं होता है। उस दशा में विदेशी विनिमय दर में विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति के अनुसार किसी भी अंश तक परिवर्तन हो सकते हैं।

स्वतन्त्र चलन अथवा पत्र-चलन प्रणाली में विनिमय दर—

ऐसी चलन प्रणाली में एक देश के चलन का दूसरे देश के चलन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है। विभिन्न देशों की मुद्राएँ स्वर्ण अथवा अन्य किसी एक धातु में परिवर्तनशील नहीं होती हैं। इसके कारण विभिन्न चलनों का कोई सामूहिक मापक नहीं होता है। इस सम्बन्ध में

विनिमय दर के निर्धारण का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) है। सबसे पहले हम उसी की विवेचना करेंगे।

क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त—

इस सिद्धान्त का निर्माण स्वीडन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गस्टाव कैसल (Gustav Cassel) ने किया था और इसी कारण इसे कैसल का क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त कहा जाता है। यह सिद्धान्त एक बड़े अंश तक विनिमय दरों के निर्धारण की ठीक वैसी ही व्याख्या करता है जैसी कि हमने स्वर्णमान के अन्तर्गत की थी। जब दो व्यापारी देशों में स्वर्णमान का प्रचलन नहीं होता तो निस्सन्देह सोने में उनके चलनों की क्रयः शक्ति की समानता द्वारा विनिमय दर का निर्धारण नहीं होता है, परन्तु स्वर्ण के स्थान पर किसी दैनिक उपयोग की वस्तु में दोनों चलनों की क्रयः शक्ति का पता लगाया जा सकता है और इस क्रयः शक्ति की समानता द्वारा विनिमय दर को निश्चित किया जा सकता है। मान लीजिये कि इङ्गलैंड में १ पौंड द्वारा ठीक उतनी ही मात्रा में गेहूं खरीदा जा सकता है जितना कि अमरीका में ४ डालर के बदले में। ऐसी दशा में पौंड और डालर की गेहूँ खरीदने की शक्ति में समानता उत्पन्न करके पौंड और डालर का विनिमय अनुपात १ : ४ होगा।

परन्तु उपरोक्त रीति बहुत लाभदायक नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्र पत्र-चलन प्रणाली में कोई भी एक वस्तु ऐसी नहीं होती है जिसे चलन को क्रयः शक्ति के मापक के रूप में उपयोग किया जा सके। कैसल का विचार है कि विनिमय दर के निर्धारण के लिए हमें किसी एक वस्तु में चलन की क्रयः शक्ति को नहीं नापना चाहिए, परन्तु यदि हम दो मुद्राओं की सामान्य क्रयः शक्ति (General Purchasing Power) में समानता कर देते हैं तो विनिमय दर का पता अवश्य लग जायगा। मान लीजिए कि इङ्गलैंड में १ पौंड की सामान्य क्रयः शक्ति उतनी ही है जितनी कि अमरीका में ४ डालर की तो इगलैंड और अमरीका के बीच की विनिमय दर १ पौंड = ४ डालर होगी। सामान्य क्रयः शक्ति से हमारा अभिप्राय मुद्रा की साधारण रूप में वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त करने की शक्ति से होता है। एक छोटे से उदाहरण द्वारा उपरोक्त सिद्धान्त को समझने में सहायता मिलेगी। मान लीजिए कि हम १,५६० वस्तुओं और सेवाओं को इङ्गलैंड की वस्तुओं और सेवाओं के प्रतिनिधि के रूप में चुन लेते हैं। मान लीजिये कि वस्तुओं और सेवाओं के इस विशाल समूह की कीमत इङ्गलैंड में ५२० पौंड है, जिसका अर्थ यह होगा कि पौंड की सामान्य क्रयः शक्ति ३ है। अब मान लीजिए कि वस्तुओं और सेवाओं के इसी विशाल

2080 ४

समूह की कीमत अमरीका में २,०८० डालर है, जिसके अनुसार डालर की सामान्य क्रयः शक्ति ¼ होगी। इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि १ पौंड की सामान्य क्रयः शक्ति ४ डालर की सामान्य क्रयः शक्ति के बराबर होगी, अतः पौंड और डालर का विनिमय अनुपात १ : ४ होगा और यही विनिमय दर होगी।

उपरोक्त विवेचन में हमने केवल यह बताने का प्रयत्न किया है कि कैसल के अनुसार विनिमय दर का निर्धारण किस प्रकार होता है, परन्तु कैसल का सिद्धान्त वास्तव में तीन बातों को बताता है :—(१) विनिमय दर किस प्रकार निश्चित होती है, (२) विनिमय दर में क्यों परिवर्तन होते हैं और (३) विनिमय दर के परिवर्तनों की दिशा और उनका अंश क्या होता है? कैसल का विचार है कि दो देशों के चलनों का विनिमय अनुपात उन चलनों की सामान्य क्रयः शक्ति की समानता द्वारा निश्चित होता है, उसमें इस प्रकार की क्रयः शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के कारण परिवर्तन होते हैं और इन परिवर्तनों की दिशा तथा उनका अंश सामान्य क्रयः शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के ही अनुसार होता है। क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त का यही अन्तिम रूप है।

इस प्रकार सामान्य क्रयः शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के फलस्वरूप निश्चित विनिमय दरों में परिवर्तन हो सकते हैं। क्रयः शक्ति के परिवर्तन दो प्रकार के हो सकते हैं—समान तथा तुलनात्मक। समान परिवर्तनों के फलस्वरूप विनिमय दरों में किसी भी प्रकार के परिवर्तन नहीं होंगे, किन्तु यदि परिवर्तन तुलनात्मक हैं अर्थात् यदि एक चलन की क्रयः शक्ति में दूसरी चलन की क्रयः शक्ति की अपेक्षा अधिक परिवर्तन होते हैं तो विनिमय दर में भी उसी अनुपात में तथा उसी दिशा में परिवर्तन हो जायँगे। यदि पौंड की क्रयः शक्ति डालर की क्रयः शक्ति की तुलना में २०% घट जाती है तो पौंड की कीमत भी डालर में ठीक इसी अनुपात में घट जायगी। दूसरे शब्दों में, यदि अमरीका की तुलना में इङ्गलैंड में कीमतों का सामान्य कीमत-स्तर बढ़ जाता है तो पौंड की विदेशी कीमत डालर में उसी अनुपात में बढ़ जायगी। एक उपयुक्त उदाहरण से यह सत्य स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि मुद्रा-प्रसार के कारण इङ्गलैंड और अमरीका दोनों में ही सामान्य कीमतों का सूचक-अंक सन् १६३६ = १०० के आधार पर सन् १६५२ में क्रमशः २१० और २१० हो जाता है तो इस दशा में यद्यपि पौंड तथा डालर दोनों ही की क्रयः शक्ति घट जाती है, परन्तु क्रयः शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन नहीं होते, क्योंकि दोनों ही चलनों की कीमत एक ही अनुपात में घटती है। यह अवस्था क्रयः शक्ति

के समान परिवर्तन की है और इसके कारण विनिमय दर में परिवर्तन नहीं होंगे।

इसके विपरीत यदि ऐसा होता है कि इङ्गलैंड में मुद्रा-प्रसार का अंश अमरीका की अपेक्षा अधिक रहता है, जिसके फलस्वरूप वहाँ कीमतों की वृद्धि अमरीका की तुलना में अधिक होती है तो स्थिति बदल जायगी। यदि इङ्गलैंड में सन् १६३६ = १०० के आधार पर कीमतों का सूचक-अङ्क सन् १६५४ में २०० है, परन्तु अमरीका में वह केवल १५० है तो इस दशा में पौंड की क्रयः शक्ति डालर की क्रयः शक्ति की तुलना में अधिक अंश तक घट जायगी। क्रयः शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन होंगे और उन्हीं के अनुसार विनिमय दर भी बदल जायगी। कैसल के अनुसार नई विनिमय दर का पता लगाने के लिए आधार वर्ष की दर में प्रत्येक चलन को देश विशेष के निर्देशांक से गुणा कर देना चाहिए। यदि सन् १६३६ में विनिमय दर १ पौंड = ४ डालर थी तो सन् १६५४ में यह निम्न समीकरण से प्राप्त होगी :—

पौंड × इङ्गलैंड का निर्देशांक = डालर × अमेरिकन निर्देशांक
अर्थात् १ पौंड × २०० = ४डालर × १५०
अथवा १ पौंड = ३डालर

स्मरण रहे कि पौंड की क्रयः शक्ति में कमी हो गई थी और इसी कारण उसकी विनिमय दर (डालर खरीदने की शक्ति) भी कम हो गई है। ४ डालर के स्थान पर अब १ पौंड के बदले में केवल ३ डालर ही मिलते हैं। साथ ही, पौंड की क्रयः शक्ति में, डालर की तुलना में, उपरोक्त उदाहरण के अनुसार $\frac{२०० - १५०}{२००}$ अर्थात् २५% की कमी होती है, अतः क्रयः शक्ति का तुलनात्मक परिवर्तन २५% है और ठीक यही परिवर्तन पौंड की विदेशी विनिमय दर में भी हुआ है। इस प्रकार क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त विनिमय दर के निर्धारण तथा उसके परिवर्तन के विषय में समुचित ज्ञान प्रदान करता है।

क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त की आलोचनाएँ :—

कैसल के क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ हुई हैं। ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि यह सिद्धान्त विनिमय दर के निर्धारण तथा उसके परिवर्तनों की संतोषजनक विवेचना नहीं करता है। सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार है :—

(१) यह सिद्धान्त यह तो बताने का प्रयत्न करता है कि विनिमय दरों में क्यों और किस प्रकार परिवर्तन होते हैं, परन्तु इस सिद्धान्त द्वारा

किया गया स्पष्टीकरण अधूरा है। वास्तव में विनिमय दर की समस्या कीमत निर्धारण की ही समस्या है और जिस प्रकार देश के चलन की आन्तरिक कीमत देश के भीतर चलन की माँग और पूर्ति पर निर्भर होती है, ठीक उसी प्रकार उसकी वाह्य कीमत अथवा विनिमय दर भी विदेशी विनिमय बाजार में उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर होगी। विनिमय दर का सन्तोषजनक सिद्धान्त वही हो सकता है जो दो मुद्राओं की विदेशी विनिमय बाजार की अन्योन्य माँग और पूर्ति की समुचित विवेचना करे, परन्तु क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त का सम्बन्ध तो केवल चलनों की क्रय शक्ति सम्बन्धी विवेचना से ही है, उनकी प्रति-माँग की विवेचना से नहीं है।

(२) यह सिद्धान्त विनिमय दर का निर्धारण नहीं करता है, अपितु उसे मान कर आगे बढ़ता है। क्रयः शक्ति की समानता दिखाने से पहिले ही एक प्रकार अदृश्य मान्यता के रूप में विनिमय दर स्वीकार कर ली जाती है।

(३) यह विवेचना प्रत्येक देश के कीमत निर्देशांकों पर आधारित होती है। इसके दो दोष हैं :—निर्देशांक सदा ही भूतकाल से सम्बन्धित होते हैं। वे वर्तमान अथवा भविष्य के सम्बन्ध में पूर्णतया निश्चित अनुमान प्रस्तुत नहीं करते हैं। इस कारण प्रस्तुत तथा भावी विनिमय दर का निर्धारण केवल अनुमानजनक ही रहता है। व्यावहारिक जीवन में सिद्धान्त का यह गम्भीर दोष होता है। दूसरी कठिनाई यह है कि निर्देशांकों में ऐसी वस्तुओं की कीमतों की भी गणना होती है जिनका विदेशी व्यापार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो देश में ही उत्पन्न की जाती हैं, देश में ही उनका विनिमय होता है और देश में ही उनका उपभोग भी हो जाता है। विदेशी व्यापार अथवा विदेशी विनिमय पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। विदेशी विनिमय दरों के निर्धारण के लिए तो उन्हीं वस्तुओं की कीमतों को सम्मिलित करना चाहिए जिनका कि आयात-निर्यात होता रहता है, परन्तु इसमें भी कठिनाई है, क्योंकि विदेशी व्यापार की वस्तुओं की कीमतों में विभिन्न देशों के बीच तुलनात्मक परिवर्तन बहुत ही कम होते हैं। इस कारण विनिमय दरों के परिवर्तनों का पता लगाना कठिन होगा।

(४) यह सिद्धान्त ऐसा समझता है कि विनिमय दरों के परिवर्तन देशों के आन्तरिक कीमत-स्तरों के परिवर्तनों के परिणाम होते हैं, किन्तु इसके विपरीत यह भी देखा जाता है कि विनिमय दर के परिवर्तन स्वयं भी कीमत-स्तर में परिवर्तन कर देते हैं। अवमूल्यन में मुद्रा-प्रसार की भी वृत्ति होती है।

(५) इस सिद्धान्त में क्रयः शक्ति के परिवर्तनों को विनिमय दरों के परिवर्तनों का एक मात्र कारण माना गया है, परन्तु विनिमय दरों पर वास्तव में अनेक कारणों का प्रभाव पड़ता है, जैसे—सट्टा, पूँजी का स्थानान्तरण, व्यापार का विस्तार आदि। इससे सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्त्व समाप्त हो जाता है।

(६) यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि देश के माल के लिए विदेशियों की माँग की लोच सम (Unity) के बराबर है, अर्थात् कीमतों के परिवर्तनों के ही अनुपात में यह माँग घटती-बढ़ती है, परन्तु यह मान्यता सही नहीं है, क्योंकि यह सम्भव है कि यदि एक देश में कीमतें बढ़ती हैं तो दूसरे देश में उसके माल की मांग न घटे।

(७) लगभग सभी प्राचीन सिद्धान्तों की भाँति यह सिद्धान्त भी दीर्घकालीन विवेचना ही करता है। यह अधिक से अधिक विनिमय दरों की दीर्घकालीन प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। व्यावहारिक जीवन में मुद्रा अथवा विदेशी विनिमय सम्बन्धी ऐसे सिद्धान्त का कुछ भी महत्त्व नहीं होता है।

(८) सामान्य अनुभव इस सिद्धान्त के विरुद्ध है।

विदेशी विनिमय का भुगतान संतुलन सिद्धान्त (The Equilibrium Theory of Foreign Payments)—

यह सिद्धान्त आन्तरिक व्यापार के सिद्धान्त पर बनाया गया है। इसके अनुसार हम विदेशियों को न तो उससे कम देते हैं और न उनसे अधिक, जो हमें उनसे प्राप्त होता है। उदाहरणस्वरूप, यदि क और ख देशों के बीच वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय होता है तो साम्य की दशा में क व्यापार तभी करेगा जबकि उसे ख से खरीदे हुए माल के लिए वही देना पड़े जो कि उसे ख से उसके हाथ अपना माल बेचकर प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त को बहुधा इस प्रकार भी व्यक्त किया जाता है कि आयात निर्यातों का भुगतान करते हैं (Imports pay for the exports), परन्तु इस सम्बन्ध में कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि जब तक हमें विनिमय दर पता न होगा हम यह कह ही नहीं सकते हैं कि देश क अथवा ख की प्ति और भुगतान बराबर हैं। कारण यह है कि क आयातों की कीमत के चलन में चुकाता है और निर्यातों की कीमत अपने चलन में [illegible] ता है। इस प्रकार लेन और देन दो अलग-अलग मुद्रा पूर्व निश्चित र जब तक विदेशी विनिमय दर पहले से ही मालूम तो उनकी अलग- बराबर होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यदि ही ज्ञात है तो हम क के आयातों और निर्यातों तन में नाप कर यह देख सकते हैं कि दोनों व्यापाराशेष है। यह भी

नहीं। जिस विनिमय दर पर यह बराबर होती है, साम्य की दशा में वही विनिमय दर होगी। यदि आयातों और निर्यातों की कीमत समान नहीं है तो यह असंतुलन की दशा होगी। इसके कारण एक व्यापारी देश को लाभ अथवा हानि हो सकती है और उसके कारण उसके आयात और निर्यात में आवश्यक घटत-बढ़त भी होगी। दीर्घकाल में साम्य वहीं पर स्थापित होगा जहाँ पर कि आयातों की कीमत निर्यातों की कीमत के बराबर हो, अतः स्थायी विनिमय दर केवल वही होती है जिस पर आयातों और निर्यातों का संतुलन हो जाय।

इस कथन के सच होने में कोई सन्देह नहीं है। वास्तविकता यह है कि यह केवल सत्यता ही है कि आयातों और निर्यातों की कीमत बराबर होती है। यदि एक देश उससे अधिक कीमत का माल मंगाता है जितना कि उसने बाहर भेजा है तो उसके लिए दो ही उपाय हैं:—या तो वह विदेशी चलन को दूसरे देश से उधार ले या अपने निर्यातों को बढ़ाकर आयातों की कीमत चुकाये। इनमें से दूसरी दशा में तो आयात-निर्यात का संतुलन हो ही जाता है, परन्तु पहली दशा में संतुलन तुरन्त न हो कर कुछ समय पश्चात् होता है। उधार सदा के लिए नहीं मिलता है और फिर उसकी भी एक सीमा होती है। अन्तिम दशा में एक देश के लिए निर्यातों को बढ़ाकर आयातों की पूरी कीमत का चुकाना आवश्यक होता है, अतः इस कथन की सत्यता में सन्देह नहीं है कि आयातों का निर्यातों के बराबर होना आवश्यक है, परन्तु इससे विनिमय दर का पता नहीं चलता है। निर्यातों और आयातों की कीमत की उस समय तक तुलना करने का प्रश्न ही नहीं उठता है, जब तक कि विनिमय दर पहले से ही ज्ञात न हो। साथ ही, यह भी निश्चय है कि आयातों और निर्यातों की मात्राओं में परिवर्तन होने के कारण ही विनिमय दर में परिवर्तन नहीं होते हैं। स्वयं विनिमय दर के परिवर्तन भी आयातों और निर्यातों की मात्रा को घटा-बढ़ा देते हैं।

शोधनाशेष अथवा चुकती सन्तुलन (The Balance of Payments)—

विनिमयर्तमान काल में प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में संरक्षण
(४) यह ाता है। विभिन्न रीतियों द्वारा आयातों को घटाने तथा
देशों के आन्तरिक कहित करने का प्रयत्न किया जाता है। इसका उद्देश्य
इसके विपरीत यह भी ाराशेष अथवा चुकती का सन्तुलन स्थापित किया
भी कीमत-स्तर में परिके लिए किसी कारण अपने आयात द्वारा निर्यातों
प्रवृत्ति होती है। ाता है तो दीर्घकाल में उसके लिए यही आवश्यक

होगा कि वह अपने आयातों को घटा कर आयातों और निर्यातों के बीच सन्तुलन स्थापित करे।

शोधनाशेष का अर्थ—

शोधनाशेष से हमारा अभिप्राय किसी देश के आयातों और निर्यातों तथा उनके मूल्य का सम्पूर्ण विवरण (Complete Statement) होता है। यह विवरण बही-खाते के एक पृष्ठ की भाँति प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें बाईं ओर तो सभी निर्यातों और उनकी कीमतों का विस्तारपूर्वक ब्यौरा दिया जाता है और दाहिनी ओर आयातों का सविस्तार विवरण होता है। इस प्रकार एक ओर तो उन शीर्षकों को दिखाया जाता है जिन पर विदेशियों से शोधन प्राप्त होते हैं और दूसरी ओर उन शीर्षकों को जिनके निमित्त विदेशियों को भुगतान किए जाते हैं। शीर्षकों के अनुसार शोधनाशेष का विवरण निम्न प्रकार होता है :—

लेन	देन
(१) वस्तुओं के निर्यात।	(१) वस्तुओं के आयात।
(२) सेवाओं के निर्यात।	(२) सेवाओं के आयात।
(३) विदेशी ऋणों तथा विनियोगों से प्राप्त होने वाली आय, जिसमें मूल-धन का लौटाना, ब्याज तथा लाभ सम्मिलित होते हैं।	(३) विदेशियों को ऋण के चुकाने, ब्याज, लाभ आदि के रूप में किये जाने वाले शोधन।
(४) विदेशी यात्रियों द्वारा देश में किया जाने वाला व्यय।	(४) देश के यात्रियों द्वारा विदेशों में किया जाने वाला व्यय।
(५) विदेशियों से प्राप्त होने वाले मुआवजे, युद्ध-व्यय, दान, दंड आदि।	(५) विदेशियों को दिये हुए मुआवजे, दान, जुर्माने, इत्यादि।
(६) अन्य प्रकार के शोधन, जो विदेशियों से प्राप्त होते हैं।	(६) विदेशियों को किये जाने वाले अन्य प्रकार के शोधन।

व्यापाराशेष बहुधा वार्षिक आधार पर बनाया जाता है और इसमें आयातों अर्थात् दाहिनी ओर के शीर्षकों की कीमत एक पूर्व निश्चित विनिमय दर के आधार पर लगाई जाती हैं, क्योंकि वैसे तो उनकी अलग-अलग कीमत विभिन्न चलनों में होती हैं।

शोधनाशेष और व्यापाराशेष—

शोधनाशेष से ही मिलता-जुलता दूसरा शब्द-व्यापाराशेष है। यह भी

एक ऐसा विवरण होता है जिसमें आयातों और निर्यातों का विस्तृत ब्यौरा रहता है, परन्तु आयात और निर्यात दो प्रकार के होते हैं, अर्थात् दृश्य और अदृश्य (Visible and Invisible)। शोधनाशेष में तो इन दोनों ही प्रकार के आयातों और निर्यातों को सम्मिलित किया जाता है, परन्तु व्यापाराशेष में केवल दृश्य निर्यातों और आयातों को ही सम्मिलित किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि शोधनाशेष का तो सदा ही सन्तुलन होता है, जबकि व्यापाराशेष को सन्तुलन आवश्यक नहीं होता है। आयातों की मात्रा निर्यातों की तुलना में कम भी हो सकती है और अधिक भी। दूसरे शब्दों में, व्यापाराशेष अनुकूल अथवा धनात्मक (Favourable or Positive) भी हो सकता है और प्रतिकूल अथवा ऋणात्मक (Adverse or Negative) भी। यदि निर्यातों की कीमत आयातों की कीमत से अधिक है तो व्यापाराशेप अनुकूल होगा, परन्तु यदि आयातों की कीमत निर्यातों की कीमत से अधिक है तो व्यापाराशेष प्रतिकूल होगा। शोधनाशेष सदा ही सन्तुलित होता है, परन्तु व्यापाराशेष का सन्तुलित होना आवश्यक नहीं है।

प्रतिकूल व्यापाराशेष को ठीक करने की रीतियाँ—

अभी-अभी हमने यह बताया है कि व्यापाराशेष में भारी असन्तुलन हो सकता है। यदि व्यापाराशेष अनुकूल है तो यह देश के लिये अच्छा ही समझा जाता है, क्योंकि विदेशियों को स्वर्ण अथवा वस्तुओं के निर्यात बढ़ा कर इसका निस्तारण करना पड़ता है, परन्तु यदि व्यापाराशेष प्रतिकूल है तो इसके कारण देश के सम्मुख काफी गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। स्वर्ण का निर्यात तथा विदेशी ऋण एक निश्चित सीमा के परे नहीं हो पाते हैं। ऐसी दशा में प्रतिकूलता को दूर करने के लिए निम्न उपाय किए जा सकते हैं :—

(१) **निर्यातों को आर्थिक सहायता तथा आयातों पर प्रतिबन्ध**—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्यात व्यापारियों को कम कीमत पर विदेशों में माल बेचने के लिए घाटे को पूरा करने हेतु अनुदान, ऋण, निर्यात करों की छूट आदि दिये जा सकते हैं। विभिन्न रीतियों द्वारा, जैसे—आयात, प्रशुल्क, अभ्यंश, इत्यादि द्वारा आयातों की मात्रा को सीमित किया जाता है।

(२) **मूल्य-ह्रास**—इस रीति के अनुसार सरकार देशी चलन की वाह्य अथवा विदेशी विनिमय कीमत में कमी करती है। इसका परिणाम यह होता है कि विदेशों में देशी माल की कीमत गिर जाती है और इसके विपरीत आयातों की कीमतें ऊँची हो जाती हैं। देश के निर्यातों की

विदेशों में माँग बढ़ने और देश में आयातों की माँग घटने से व्यापाराशेष फिर से सन्तुलित हो जाता है।

(३) मुद्रा-विस्फीति—बहुत बार ऐसा होता है कि एक देश अपने चलन की वाह्य कीमत में कमी करना नहीं चाहता है। ऐसी दशा में व्यापाराशेष की त्रुटियों को दूर करने के लिए वह देश के भीतर मुद्रा-संकुचन कर सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि देश में वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें घट जाती हैं, विदेशी माल मँहगा पड़ता है और इस कारण आयातों की माँग गिर जाती है और इसके विपरीत देशी माल विदेशियों को कम कीमत पर मिल जाता है, जो उसे अधिक मात्रा में मँगाने लगते हैं।

(४) मुद्रा-अवमूल्यन—इसके द्वारा भी देशी मुद्रा की विदेशी विनिमय क्रयः शक्ति को कम कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि निर्यात प्रोत्साहित होते हैं और आयातों की माँग घटती है।

(५) विनिमय नियन्त्रण—यह व्यापाराशेष सम्बन्धी असन्तुलन को रोकने की एक व्यापक तथा विस्तृत विधि है। साधारणतया मुद्रा-संकुचन नीति के फलस्वरूप देशी अर्थ-व्यवस्था पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं, अवमूल्यन तथा मूल्य-ह्रास के कारण देश के सम्मान को ठेस पहुँचती है और प्रशुल्क कर, अभ्यंश आदि प्रतिकार को जन्म देते हैं, इसलिए इन सभी उपायों का सावधानीपूर्वक उपयोग किया जाता है। उपरोक्त नीतियों के दुंष्परिणामों से बचने के लिये विनिमय नियन्त्रण किया जाता है। इसके अन्तर्गत आयातों और निर्यातों पर इस प्रकार का नियन्त्रण लगाया जाता है कि वे सरकारी आज्ञा के बिना नहीं किये जा सकते हैं। निर्यातकर्त्ताओं को सारा का सारा विदेशी विनिमय सरकार को सौंपना पड़ता है, जो उसे आयातकर्त्ताओं में बाँट देती है। इसका परिणाम यह होता है कि आयातों की कीमत निर्यातों की कीमत के भीतर ही रहती है।

विदेशी विनिमय दरों के उच्चावचन— Fluctuation cause

यह हम पहले ही देख चुके हैं कि विनिमय दरों की स्थिरता आवश्यक नहीं होती है। स्वर्णमान पद्धति में भी उनमें उच्चावचन होते रहते हैं और स्वतन्त्र पत्र-मुद्रा प्रणाली में तो उच्चावचन काफी गम्भीर होते हैं। साधारणतया विनिमय दरों की स्थायी अथवा दीर्घकालीन प्रवृत्ति तो स्थिरता की ओर होती है, परन्तु अल्पकालीन विनिमय दर काफी तेजी के साथ घटती-बढ़ती रहती है। विनिमय दरों के इन परिवर्तनों के विदेशी व्यापार तथा आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर काफी गम्भीर प्रभाव पड़ते हैं उच्चावचन अनिश्चितता को जन्म देते हैं और अनिश्चितता अनेक बुराइयं को उत्पन्न करती है। प्रत्येक देश यही प्रयत्न करता है कि यथासम्भ

उच्चावचनों को कम करके एक सीमा के भीतर रखा जाय। इस कारण उन सभी कारणों की व्याख्या का काफी महत्त्व होता है जो विनिमय दरों के उच्चावचनों को उत्पन्न करते हैं। ये कारण तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं :—(१) विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति की स्थिति, (२) चलन सम्बन्धी दशायें और (३) राजनैतिक दशाएँ। इनका विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है :—

(१) विदेशी मुद्राओं की मांग और पूर्ति की स्थिति—विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति का विदेशी विनिमय दर पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि विदेशी विनिमय की माँग उसकी पूर्ति से कम या अधिक होती है तो उसकी कीमतों में भी घटत-बढ़त हो जाती है। अल्पकाल में तो माँग और पूर्ति के असाम्य की सम्भावना काफी अधिक होती है। इसी कारण अल्पकाल में विनिमय दरों के उच्चावचन काफी विस्तृत होते हैं। विदेशी मुद्राओं की माँग और पूर्ति पर निम्न तीन बातों का प्रभाव पड़ता है :—

(क) व्यापार की दशाएँ—विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति एक बड़े अंश तक आयात और निर्यात की मात्रा पर निर्भर होती है। यदि हमारे निर्यात हमारे आयातों की तुलना में अधिक हैं तो विदेशों में हमारे देश की चलन की माँग अधिक होगी और इसके विपरीत हमारे लिए विदेशी मुद्राओं की माँग कम रहेगी, जिसके फल-स्वरूप विनिमय दर हमारे पक्ष में हो जायगी। इसके विपरीत, यदि आयात निर्यात से अधिक हैं तो विनिमय दर हमारे लिए प्रतिकूल हो जायगी।

(ख) सट्टा बाजार का प्रभाव—सट्टा बाजार में विदेशी विनिमय बिलों का क्रय-विक्रय तथा विदेशी मुद्राओं की खरीद और बेच होती रहती है। यदि किसी समय सट्टेबाज किसी विदेशी मुद्रा को अधिक मात्रा में खरीदते हैं तो उस मुद्रा की माँग के बढ़ जाने के कारण उसकी विनिमय दर ऊपर चढ़ जायगी। इसके विपरीत यदि सट्टेबाज किसी मुद्रा को बेच रहे हैं तो उसकी विनिमय दर काफी नीचे गिर सकती है। इसी प्रकार ऋणों के भुगतान और प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के कारण भी विनिमय दरों में उच्चावचन हो सकते हैं।

(ग) अधिकोषण प्रभाव—विनिमय दरों पर बैंकिंग नीति के प्रभाव दो प्रकार पड़ते हैं :—प्रथम, बैंक दर में परिवर्तन करके देश की केन्द्रीय बैंक विदेशी ऋणों को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित कर सकती है। यदि बैंक दर ऊँची है तो अधिक ब्याज प्राप्त करने के लिए विदेशी लोग अधिक

ऋण देते हैं, जिसके कारण विदेशी विनिमय बाजार में देशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है और उसकी विनिमय दर भी ऊपर उठ जाती है। बैंक दर को नीचा करने का परिणाम इसके विपरीत होता है। दूसरे, बैंक विभिन्न प्रकार के साख-पत्रों की निकासी की मात्रा में परिवर्तन करके भी विनिमय दरों में उच्चावचन उत्पन्न कर देती हैं। जब एक बैंक अपनी विदेशी शाखा अथवा किसी विदेशी बैंक के ऊपर ड्राफ्ट अथवा अन्य किसी प्रकार का साख-पत्र निकालती है तो विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है और विनिमय दर गिर जाती है।

(२) चलन सम्बन्धी दशायें—चलन की क्रयः शक्ति के परिवर्तनों का विनिमय दरों के उच्चावचनों पर काफी प्रभाव पड़ता है। क्रयः शक्ति समानता सिद्धान्त तो प्रत्यक्ष रूप में यही बताता है कि दो विभिन्न देशों के चलन की क्रयः शक्ति के तुलनात्मक परिवर्तनों के कारण ही विनिमय दर में परिवर्तन होते हैं। यदि किसी देश की मुद्रा की अत्यधिक निकासी होती है अथवा होने की सम्भावना है, जिसके कारण उस मुद्रा के मूल्य-ह्रास का भय है तो ऐसी दशा में विदेशी पूँजी का आयात नहीं होगा और पहले से लगाई गई पूँजी को भी देश से निकाल लेने का प्रयत्न किया जायगा। ऐसी दशा में यह कहा जाता है कि लोग उस चलन से भाग रहे हैं। इसका परिणाम यह होगा कि उस देश की चलन की वाह्य कीमत कम हो जायगी। इसके अतिरिक्त यदि किसी देश की मुद्रा के मूल्य की वृद्धि होती है तो विनिमय दर देश के लिये अनुकूल हो जाती है।

(३) राजनैतिक दशाएँ—विदेशी विनिमय का सट्टा तथा विदेशी पूँजी का आवागमन एक बड़े अंश तक सरकार की राजनैतिक नीति और उसके राजनैतिक दृष्टिकोण पर निर्भर होते हैं। यदि सरकार स्थाई तथा टिकाऊ है, शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था समुचित है, व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा की जाती है, सरकारी नीति निर्पक्ष है तथा श्रमिकों और मिल-मालिकों के सम्बन्ध अच्छे हैं तो ऐसे देश में अपनी पूँजी का लगाना, उसके साथ व्यवसाय करना और उस देश की साख पर विश्वास करना काफी विस्तृत रूप में पाया जायगा। इसके अतिरिक्त संरक्षण, विदेशी पूँजी प्रतिबन्ध, प्रशुल्क, परिकल्पना, वित्त तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी सरकारी नीति पर भी बड़े अंश तक दर और उसके परिवर्तन निर्भर होंगे।

विनिमय दरों के उच्चावचनों की सीमाएँ—

विनिमय दरों में परिवर्तन तो होते रहते हैं, परन्तु देखना यह है कि क्या इन परिवर्तनों की कोई सीमा होती है? स्वर्णमान के अन्तर्गत उच्चा-वचनों की सीमाएँ स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निश्चित की जाती हैं। उच्चावचनों

का क्षेत्र सीमित होता है और स्वर्ण के निर्यात द्वारा शोधन करने की सुविधा के कारण अधिक से अधिक अन्तर स्वर्ण निर्यात व्यय के बराबर होता है। जितनी ही विनिमय दर स्वर्ण आयात बिन्दुओं के अधिक निकट होगी उतनी ही वह देश के अधिक पक्ष में होगी। इसके विपरीत जितनी ही विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु के पास होती है उतनी ही वह देश के विपक्ष में होती है।

इसके विपरीत यदि देशों में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्राओं का चलन है तो विनिमय दर की सामान्य दीर्घकालीन प्रवृत्ति क्रयः शक्ति समानता बिन्दु पर रहने की होगी। इस दशा में स्वर्ण निर्यात द्वारा तो विदेशी मुद्रा को खरीदने का प्रश्न ही नहीं उठता है, इसलिए विनिमय दरों के उच्चावचनों पर कोई प्राकृतिक प्रतिबन्ध नहीं होता है। उनके उच्चावचन इस बात पर निर्भर होते हैं कि सरकार उनकी स्थिरता के लिये क्या-क्या प्रयत्न करती है और किस अंश तक सफल रहती है। यही कारण है कि इस दशा में विनिमय दरों के उच्चावचनों की कोई भी सीमा नहीं होती है।

विनिमय दरों के उच्चावचनों को रोकने के उपाय—

यह हम ऊपर ही देख चुके हैं कि विनिमय दरों के उच्चावचनों पर किन-किन बातों का प्रभाव पड़ता है। इन सब बातों को देखते हुये यह निश्चय करना सरल होता है कि उच्चावचनों को रोकने के क्या-क्या उपाय किए जाँय। विनिमय दर की स्थिरता सबसे पहिले व्यापाराशेष के संतुलन पर निर्भर होती है। वे सभी उपाय जिनसे व्यापाराशेष के असन्तुलन को दूर किया जाता है, जैसे—आयात प्रशुल्क, मुद्रा-ह्रास, विस्फीति, विनिमय नियन्त्रण, आदि इस दिशा में भी लाभदायक हैं। इनके अतिरिक्त बैंक दर के समुचित नियन्त्रण, समुचित नियमों तथा सुरक्षा की व्यवस्था करके बड़े अंश तक स्थिरता स्थापित की जा सकती है।

भावी विनिमय दर (Forward Exchange)—

विनिमय दर दो प्रकार की होती हैं :—तुरन्त अथवा प्रस्तुत दर और भावी दर। स्वतन्त्र पत्र-मुद्रा-चलन प्रणालियों में विनिमय दरों के उच्चावचनों की कोई सीमा नहीं रहती है, इस कारण यह सदा ही अनिश्चित रहता है कि भविष्य में विनिमय दर क्या होगी। इसका परिणाम यह होता है कि व्यापारियों को विदेशियों से माल मँगाने तथा उनको माल बेचने के वायदे करने में संकोच होता है। भविष्य में विनिमय दरों के परिवर्तनों के कारण हानि होने का भारी भय रहता है, परन्तु आधुनिक व्यावसायिक जगत में निर्यात व्यापारी विनिमय दरों के परिवर्तनों से सम्बन्धित जोखिम से बच सकते हैं। यह कार्य उनके लिये सट्टेबाज कर देते हैं। एक

आयात अथवा निर्यात व्यापारी जब भविष्य में माल खरीदने अथवा बेचने का वायदा करता है तो इस वायदे के साथ-साथ वह एक द्वैध-रक्षण-वायदा (Hedging Contract) भी कर लेता है, जिसमें यह किसी भावी तिथि पर वर्तमान दरों पर विदेशी विनिमय खरीदने या बेचने का किसी सट्टेबाज से वायदा ले लेता है। अब यदि भविष्य में विनिमय दर में परिवर्तन होते हैं तो उनका प्रभाव व्यापारी पर न पड़ कर सट्टेबाज के ऊपर पड़ता है, क्योंकि व्यापारी को तो एक पूर्व निश्चित दर पर ही विदेशी विनिमय मिल जाता है। यदि भविष्य में विनिमय दर ऊँची हो जाती है तो बेचने का वायदा करने वाले सट्टेबाज को हानि होती है और खरीदने का वायदा करने वाले सट्टेबाज को लाभ होता है। इसके विपरीति यदि विनिमय दर गिरती है तो खरीदने का वायदा करने वाले सट्टेबाज को हानि होती है और बेचने का वायदा करने वाले को लाभ होता है। दोनों ही दशाओं में आयात तथा निर्यात व्यापारी दरों की इस अनिश्चितता के प्रभाव से बच जाते हैं।

इस प्रकार भविष्य में विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने का कार्य भावी विनिमय कहलाता है। विदेशी व्यापार में इसका भारी महत्त्व होता है। एक सुसंगठित भावी विनिमय बाजार विनिमय दरों के परिवर्तनों से सम्बधित अनिश्चितता को काफी अंश तक दूर कर देता है, परन्तु स्वयं विनिमय दरों के उच्चावचनों पर भी इस व्यवस्था का काफी प्रभाव पड़ता है। यदि भविष्य में विनिमय दर के ऊपर जाने की आशा है तो अभी से विदेशी विनिमय को खरीदना आरम्भ कर दिया जाता है, जिसके कारण उसमें अकस्मात परिवर्तन नहीं होने पाते हैं। उच्चावचनों की गति नियमित तथा सुगम हो जाती है।

अब हमें यह देखना है कि वर्तमान दर और भावी दर में क्या सम्बन्ध होता है? भावी दर सदा ही वर्तमान दर पर आधारित होती है। विनिमय व्यवसायी विदेशी विनिमय खरीदते और बेचते समय देश के भीतर और विदेश में अल्पकालीन ऋणों के ब्याज की दरों की सावधानीपूर्वक तुलना करता है। यदि विदेशों में ऐसे ऋणों पर ब्याज की दर देश की अपेक्षा अधिक है तो भावी विनिमय वर्तमान से कटौती (Discount) पर बेचा जाता है। इसके विपरीत, यदि विदेश में देश की अपेक्षा ब्याज की दर कम हैं तो भावी विनिमय लाभ (Premium) पर बेचा जाता है। इसके अतिरिक्त भावी दर इस बात पर भी निर्भर होती है कि भविष्य में विदेशी विनिमय का मांग और पूर्ति सम्बन्धी अनुमान कैसा है और भविष्य में विभिन्न मुद्राओं की मूल्य वृद्धि अथवा मूल्य ह्रास की सम्भावना किस प्रकार है?

अध्याय २१

विनिमय नियन्त्रण

(Exchange Control)

स्वतन्त्र अथवा अनियन्त्रित विदेशी विनिमय व्यवस्था में एक देश के निवासियों को किसी भी मात्रा में विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने का पूरा-पूरा अधिकार होता है, परन्तु यदि सरकार देश की विदेशी विनिमय कमाई के किसी निश्चित वितरण के लिए अथवा विदेशी विनिमय कोषों द्वारा कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हस्तक्षेप करती है तो इसे विनिमय नियन्त्रण कहा जाता है। विस्तृत अर्थ में विनिमय नियन्त्रण का अभिप्राय अधिकारियों द्वारा किए गए उस सभी प्रकार के प्रत्यक्ष या परोक्ष हस्तक्षेप से होता है जो विनिमय दरों अथवा उनसे सम्बन्धित व्यापार को प्रभावित करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार अपने विस्तृत रूप में विनिमय नियन्त्रण विदेशी विनिमय बाजार में किए गए किसी भी सरकारी हस्तक्षेप को कहा जा सकता है, जिसमें विनिमय दरों की प्राकृतिक प्रवृत्ति, पूँजी के आवागमन, स्थिरता कोषों का संचालन, व्यापारिक तथा समाशोधन समझौते आदि सभी सम्मिलित होते हैं। आजकल इस शब्द का अर्थ अधिक निश्चित तथा संकुचित हो गया है और इसका आशय केवल उन हस्तक्षेपों और प्रतिबन्धों से होता है जो निजी विदेशी विनिमय व्यवसाय के सम्बन्ध में किए जाते हैं।

विनिमय नियन्त्रण का विकास मुख्यतया प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हुआ है। स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् तो विनिमय दरों के उच्चावचनों की कठिनाई इतनी बढ़ गई थी कि लगभग सभी देशों को इस प्रणाली का उपयोग करना पड़ा था। एक विकसित विनिमय नियन्त्रण प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार दी जा सकती हैं :—इस प्रणाली में सभी प्रकार के विदेशी विनिमय व्यवसायों का केन्द्रीयकरण हो जाता है और उनका संचालन देश की केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार द्वारा नियुक्त की हुई किसी अन्य संस्था द्वारा किया जाता है। देशवासियों द्वारा जितना भी विदेशी विनिमय प्राप्त किया जाता है वह सब का सब इसी केन्द्रीय सत्ता को सौंप देना आवश्यक होता है। सभी प्रकार की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताएँ एक केन्द्रीय कोष में पूरी की जाती हैं और यही कोष उनके वितरण तथा व्यय की कार्य-विधि निश्चित करता है। इस

प्रकार इस प्रणाली में विदेशी विनिमय व्यवसाय पर सरकारी एकाधिकार होता है।

इस सम्बन्ध में विनिमय नियन्त्रण तथा विदेशी विनिमय में किए गये सरकारी हस्तक्षेप में भेद करना आवश्यक है। यदि किसी निश्चित विनिमय दर को स्थापित करने अथवा बनाये रखने के लिए सरकार विदेशी विनिमय को खरीदती है अथवा बेचती है तो यह सरकारी हस्तक्षेप होगा। ऐसी दशा में व्यक्तिगत व्यवसायियों द्वारा उनकी इच्छा के अनुसार विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने पर किसी प्रकार की बाधा नहीं की जाती है। दोनों महायुद्धों के बीच के काल में स्वर्णमान के परित्याग के पश्चात् इस प्रकार के हस्तक्षेपों का काफी रिवाज था। उदाहरणस्वरूप, इंगलैंड ने विनिमय समानीकरण कोष इसी उद्देश्य से स्थापित किया था, परन्तु विनिमय नियन्त्रण इससे बहुत व्यापक होता है, क्योंकि इसमें व्यक्तिगत व्यवसायियों की विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने की स्वतन्त्रता भी समाप्त कर दी जाती है।

विनिमय नियन्त्रण पूर्ण भी हो सकता है और आंशिक भी। पूर्ण विनिमय नियन्त्रण में सभी विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं, परन्तु आंशिक नियन्त्रण में केवल किसी एक अथवा कुछ मुद्राओं के क्रय-विक्रय पर ही इस प्रकार की रुकावटें लगाई जाती हैं। व्यावहारिक जीवन में आंशिक विनिमय नियन्त्रण का ही चलन अधिक रहा है।

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य—

विनिमय नियन्त्रण प्रणाली का उपयोग बहुत से उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सकता है। प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैंः—

(१) इसका उद्देश्य विनिमय दर को एक पूर्व निश्चित बिन्दु पर बनाये रखना हो सकता है। यदि देश में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा चालू है तो अनियन्त्रित विदेशी विनिमय व्यवसाय के कारण विनिमय दरों में भयङ्कर उच्चावचन हो सकते हैं। पूँजी के देश से बाहर जाने को रोक कर विनिमय नियन्त्रण विनिमय दर को गिरने से रोक सकता है, परन्तु साधारणतया पूँजी के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगाने से ही काम नहीं चल पाता, क्योंकि पूँजी को अदृश्य रूप में भी बाहर निकाला जा सकता है, इसलिए बहुधा सभी प्रकार के शोधनों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक होता है।

(२) विनिमय नियन्त्रण का दूसरा उद्देश्य व्यापाराशेष के अन्तरों को समायोजित करना होता है। व्यापारिक प्रतिबन्धों तथा

संरक्षण के सम्बन्ध में किये गये कार्यों के फलस्वरूप व्यापारा-शेष का असन्तुलन इतना बढ़ सकता है कि उसके अन्तरों का समायोजन कठिन हो जाय। ऐसी दशा में विदेशी भुगतानों के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाना तथा विनिमय कमाई का नियन्त्रित वितरण आवश्यक हो जाता है।

(३) विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य सरकार द्वारा आय प्राप्त करना हो सकता है। यदि नियन्त्रण द्वारा विदेशी विनिमय की बिक्री कीमत और खरीद की कीमतों में अन्तर रखा जाता है तो विनिमय नियन्त्रण निर्यात करों का स्थान ग्रहण कर लेता है और सरकार को इससे आय प्राप्त होती है।

(४) विनिमय नियन्त्रण का उपयोग व्यापारिक भेद-भाव के लिए भी किया जा सकता है। किसी एक देश को व्यापार में छूट दी जा सकती है। कुछ देशों के साथ व्यापार के लिए अथवा कुछ वस्तुओं के आयात-निर्यात के सम्बन्ध में विशेष विनिमय दरें रखी जा सकती हैं। इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण द्विदेशीय व्यापार विभेद (Bilateral Trade Discrimination) का एक अच्छा साधन हो सकता है।

(५) इसका उपयोग उद्योग संरक्षण के लिए भी किया जा सकता है। विदेशी आयातों को रोकने और विदेशी प्रतियोगिता का अन्त करने के लिए विनिमय नियन्त्रण एक बड़ा सप्रभाविक उपाय है।

(६) इसका उद्देश्य कुछ विशेष देशों के आयातों और निर्यातों को पूर्णतया रोक देना भी हो सकता है।

(७) इसका उद्देश्य देश से पूँजी के निर्यातों को रोकना और विदेशी ऋणों के भुगतानों को रोकना भी हो सकता है।

इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्यों में काफी भिन्नता होती है। प्रत्येक देश अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार ही उद्देश्य को निश्चित करता है, परन्तु विनिमय नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य किसी ऐसी विनिमय दर की स्थापना होता है जो मुक्त बाजार की दर से भिन्न हो।

विनिमय नियन्त्रण के उपाय—

विनिमय नियन्त्रण की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि मुद्रा-संचालक चलन की माँग और पूर्ति की मात्रा को किस अंश तक इस प्रकार नियन्त्रित कर सकता है कि उचित फल प्राप्त किये जा सकें। इसके दो उपाय होते हैं:—परोक्ष तथा प्रत्यक्ष। परोक्ष उपाय केवल सीमित क्षेत्रों में

अथवा एक अंश तक ही सफल हो सकते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष उपाय व्यक्तिगत व्यवसाय की स्वतन्त्रता को पूर्णतया समाप्त कर देते हैं।

परोक्ष उपायों में दो का महत्त्व अधिक रहा है :—एक तो, प्रशुल्क कर और दूसरे, ब्याज की दरें। प्रशुल्क करों का प्रभाव आयातों को कम करने, देशी चलन की पूर्ति को घटाने तथा विदेशी चलन की माँग में कमी करने की दिशा में होता है। आयातों के घटने के कारण विदेशी भुगतानों में भी कमी होती है, अतः देश के चलन की मूल्य-वृद्धि हो जाती है, परन्तु इस नीति की सफलता इसी बात पर निर्भर होती है कि सभी देश समान अनुपात में प्रशुल्क करों में वृद्धि न करें, अन्यथा सभी चलनों की सापेक्ष क्रयः शक्ति में समान वृद्धि हो जाने के कारण विनिमय दर में परिवर्तन नहीं होंगे। निर्यात करों का परिणाम इसके विपरीत होता है। इनमें निर्यातों की मात्रा घटती है और देशी चलन की माँग घटने के कारण उसका अवमूल्यन हो जाता है।

ब्याज की दरों का प्रभाव पूँजी के आयात-निर्यात पर पड़ता है। यदि देश में ब्याज की दरें ऊँची कर दी जाती हैं तो पूँजी का आयात होता है, क्योंकि विदेशी ऋण आकर्षित होते हैं और इस प्रकार देशी चलन की माँग बढ़ने के कारण विदेशी बाजार में उसका मूल्य भी बढ़ जाता है। ब्याज की दरों के गिरा देने से पूँजी विदेशों को जाने लगती है और देशी चलन की माँग घटती है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया था, परोक्ष उपायों की सफलता का क्षेत्र सीमित ही होता है, इसलिए संकट काल में शक्तिशाली प्रत्यक्ष उपाय करना आवश्यक हो जाता है। प्रत्यक्ष उपायों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं :—हस्तक्षेप (Intervention) और विनिमय प्रतिबन्ध (Restriction)। हस्तक्षेप अतिमूल्यन, अवमूल्यन अथवा विनिमय दरों की स्थिरता के लिए किया जाता है। इसकी सफलता के लिए मुद्रा-सञ्चालक के पास देशी चलन, विदेशी चलन अथवा सोना पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए, ताकि विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति में आवश्यकतानुसार समायोजन (Adjustment) किया जा सके। इस उपाय का सबसे बड़ा गुण इसकी सरलता है। स्वर्णमान परित्याग के पश्चात् इङ्गलैंड ने विनिमय दर की स्थिरता के लिए इसी का उपयोग किया था।

विनिमय समानीकरण कोष (The Exchange Equalisation Account)—

यह कोष ब्रिटेन ने सन् १९३२ में स्थापित किया था, तत्पश्चात् अमेरिका, फ्रान्स और स्विटजरलैण्ड ने भी ऐसा ही किया था। हस्तक्षेप

की रीति को स्पष्टता के साथ समझने के लिए हम ब्रिटिश विनिमय समानीकरण कोष का विस्तृत कार्यवाहन बताने का प्रयत्न करेंगे।

स्वर्णमान परित्याग के बाद इङ्गलैंड ने ऐसा अनुभव किया कि स्टर्लिंग की विनिमय दरों में बड़ी तेजी के साथ उतार-चढ़ाव हो रहे थे। इन उच्चावचनों को रोकने के लिए इङ्गलैंड ने सन् १९३२ में विनिमय समानीकरण खाता खोल दिया। इस कोष पर सरकारी कोषागार का प्रत्यक्ष नियन्त्रण था, यद्यपि यह कार्य एजेन्ट के रूप में बैंक ऑफ इंगलैंड द्वारा सम्पन्न किया जाता था। इसके साधनों में सरकार द्वारा प्रचलित कोषागार विपत्र तथा खुले बाजार और अन्य देशों की केन्द्रीय बैंकों से खरीदा हुआ सोना सम्मिलित होता था। आरम्भ में सरकार ने कोष को लगभग १७·५ करोड़ पौंड के कोषागार-विपत्र दिये थे, परन्तु सन् १९३७ तक यह रकम ५७·५ करोड़ पौंड तक पहुँच गई थी। कोषागार-विपत्रों को प्रत्येक ३ महीने पीछे नया करा लिया जाता था। आरम्भ में कोष की कोई पूँजी विदेशों में नहीं थी, परन्तु कुछ समय पश्चात् कोष ने विदेशों में भी पूँजी जमा कर ली थी। कोष का प्रधान उद्देश्य स्टर्लिंग के बदले में विदेशी मुद्राओं को खरीद कर अथवा बेच कर विनिमय दरों की स्थिरता स्थापित करना था। यदि विदेशी विनिमय बाजार में स्टर्लिंग की माँग बढ़ती-घटती थी तो कोष उसे यथेष्ट मात्रा में बेच या खरीद कर विनिमय दर को बढ़ने-घटने से रोकता था।

सरकार इस कोष का उपयोग इस रीति से नहीं करती थी कि विनिमय बाजार की स्थायी और दीर्घकालीन प्रवृत्तियों में हस्तक्षेप करे, परन्तु यह प्रयत्न अवश्य किया जाता था कि पूँजी लगाने वालों की घबराहट और सट्टेबाजों की कार्यवाहियों का विदेशी विनिमय दर पर कोई हानिकारक प्रभाव न पड़ सके। इसका उद्देश्य बैंकिंग व्यवस्था को विदेशी विनिमय बाजार से अलग रखना और साथ ही दीर्घकालीन प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर विनिमय दरों को दृढ़ बनाना था। इस कोष की कार्य प्रणाली को गुप्त रखा गया था। वह बहुत जटिल भी थी। संक्षेप में, केवल इतना कहा जा सकता है कि विदेशी विनिमय और मुद्रा-धातुओं के बाजार पर नियन्त्रण रखने के लिए एक संतोषजनक प्रणाली बना ली गई थी। इस प्रणाली ने विनिमय दरों के अल्पकालीन उच्चावचनों को भली-भाँति रोक दिया था, परन्तु यह प्रणाली विभिन्न देशों के बीच कीमतों और आय का समायोजन करने का प्रयत्न नहीं करती थी।

आरम्भ में कोष स्टर्लिंग के बदले में डालर खरीदता था, क्योंकि सन् १९३३ तक डालर स्वर्ण में परिवर्तनशील था, इसलिए उसके द्वारा सभी विनिमय दरों पर नियन्त्रण रखा जाता था। सन् १९३३ में अमरीका

द्वारा स्वर्ण-मान छोड़ देने पर कोप ने फ्रैंक खरीदना आरम्भ कर दिया था, परन्तु सन् १९३६ में फ्रान्स द्वारा स्वर्णमान छोड़ देने के पश्चात् कठिनाई हुई। इस कठिनाई को दूर करने के लिए इंगलैंड, अमरीका और फ्रान्स के बीच एक आपसी मौद्रिक समझौता किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक देश को यह अधिकार मिला कि वह दूसरे देश की प्राप्त मुद्रा को २४ घन्टे के भीतर उस देश की केन्द्रीय बैंक से सोने में बदल ले।

विनिमय प्रतिबन्ध का तात्पर्य "मुद्रा अधिकारियों की उन क्रियाओं से है जिनके द्वारा विनिमय बाजारों में माँग और पूर्ति को प्रभावित करने के उद्देश्य से विनिमयों की अबाधता प्रतिबन्धित की जाती है।"* इस प्रणाली का आरम्भ हस्तक्षेप से पूर्ण सफलता न मिलने के कारण हुआ है। यह एक अधिक कठोर प्रत्यक्ष और सार्थक नीति है। सबसे पहले सन् १९३१ में जर्मनी ने इस प्रणाली को ग्रहण किया था और बाद को अर्जेन्टाइना तथा मध्य यूरोप के देशों ने भी इसे अपनाया था। सन् १९३९ के पश्चात् भारत तथा बहुत से देशों ने युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था की सफलता के लिये इसका काफी उपयोग किया है। इस प्रणाली की कार्य-विधि को समझने के लिये जर्मन प्रणाली का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

जर्मनी का विनिमय प्रतिबन्ध—

जर्मनी में यह प्रणाली इस कारण अपनाई गई थी कि सन् १९३१ में जर्मनी में चलन का अवमूल्यन होने के कारण महान् आर्थिक संकट पैदा हो गया था। अपनी युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था को सुधारने के लिये जर्मनी ने बहुत से अल्पकालीन ऋण लिए थे। इन ऋणों को लौटाने के लिये जर्मन मार्क की पूर्ति बहुत बढ़ाई गई थी, परन्तु जर्मनी का निर्यात व्यापार लगभग शून्य के बराबर था, जिसके कारण मार्क की माँग बहुत ही कम थी। ऋणदाताओं को यह आशंका थी कि जर्मन अर्थ-व्यवस्था टूट जायगी, इसलिये उन्होंने मार्क में भुगतान लेने से इन्कार कर दिया था। स्थिति इतनी खराब हो गई थी कि मार्क की वाह्य कीमत के शून्य तक गिर जाने का भय था। इस कठिनाई को दूर करने के लिये जर्मनी ने कृत्रिम अतिमूल्यन की नीति ग्रहण की और जर्मन मार्क की पूर्ति को इस प्रकार नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया कि वह उसकी माँग के बराबर हो जाय।

इसके लिये जर्मनी ने कठोर उपाय किए :—सर्व प्रथम, सारा विदेशी विनिमय एक केन्द्रीय सत्ता द्वारा रोक दिया गया और विदेशी विनिमय के लिये अनुज्ञापन प्रणाली का आरम्भ किया गया। दूसरा कार्य यह किया

* महता तथा अन्य : अर्थशास्त्र के मूलाधार, पृष्ठ ४९८, दूसरा संस्करण।

गया कि सभी नागरिकों को सभी विदेशी मुद्राएँ, विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा बौंड सरकार को सौंपने का आदेश दिया गया और इस प्रकार एक निश्चित दर पर सरकार ने सारी विदेशी विनिमय सम्पत्ति प्राप्त कर ली। इस सम्पत्ति का एक भाग तो सरकार ने स्वयं रख लिया और शेष को खरीदने की दर से ऊँची कीमत पर उन नागरिकों को बेच दिया कि जिन्हें विदेशी विनिमय की आवश्यकता थीं। विदेशी यात्राओं के लिये बहुत ही कम मात्रा में जर्मन अथवा विदेशी मुद्राएँ दी जाती थीं। आयातों के लिए एक प्राथमिकता का क्रम निश्चित कर दिया गया था और कुछ अनावश्यक वस्तुओं के आयात पूर्णतया बन्द कर दिए गये थे। प्रत्येक आयात व्यापारी को अनुज्ञापन लेना होता था और विदेशी व्यापारी उसे उस समय तक माल नहीं भेजते थे जब तक कि उन्हें यह विश्वास नहीं हो जाता था कि आयातकर्त्ता ने आवश्यक सरकारी आज्ञा प्राप्त कर ली है।

अन्त में जर्मनी ने अवरुद्ध खाता (Blocked Account) नीति भी अपनाई थी। इसके अनुसार विदेशियों को अपनी सम्पत्ति, प्रतिभूतियाँ तथा मुद्राएँ जर्मनी से बाहर ले जाने का अधिकार नहीं दिया गया था। यह सब सम्पत्ति सरकार के 'अवरुद्ध खाता' नामक अलग कोष में जमा कर दी जाती थी। प्रत्येक जर्मन ऋणी अपना विदेशी ऋण सरकार को चुकाता था और सरकार इस राशि को विदेशी के नाम पर अवरुद्ध खाते में जमा कर देती थी, परन्तु यह राशि विदेशी मुद्राओं में परिवर्तनशील न थी। विदेशियों को इस प्रकार अपनी मुद्राओं में भुगतान नहीं मिलता था और वे विवश होकर या तो जर्मनी से माल खरीद कर अपना भुगतान लेते थे या इस राशि को कम दाम पर बेच देते थे। प्रत्येक दशा में जर्मनी को लाभ होता था। इस व्यवस्था ने विदेशी विनिमय में चोर बाजारी को जन्म दिया, जिसे बहुत बार 'ब्लैक बोर्स' (Black Bourse) के नाम से पुकारा जाता है।

जर्मन की यह नीति महान् आर्थिक जादूगर डा० शाट (Schacht) के मस्तिष्क की उपज थी और इसे 'नयी योजना' कहा जाता था। इन उपायों के परिणामस्वरूप जर्मनी का तेजी के साथ आर्थिक विकास हुआ। क्राउथर के अनुसार :—"जर्मनी का उद्योग-धन्धा बाहर से खरीद कर मंगाये गए कच्चे माल पर निर्भर करता है और नाजी सरकार को जर्मन उद्योग-धन्धों पर आवश्यक सामानों के राशनिंग करने के कड़े विनिमय नियन्त्रण के कारण जो अपरिमित शासन शक्ति मिल गई थी, वह उसके हाथ में साधारण औद्योगिक नियन्त्रण का एक जबरदस्त अस्त्र था, परन्तु

इसके अतिरिक्त जर्मनी की चेष्टा इस दशा में लगी हुई थी कि आयाताकृत कच्चे माल की अधिक से अधिक पूर्ति करे ।"*

विनिमय नियन्त्रण के अन्य रूप—

विनिमय नियन्त्रण तीन अलग-अलग रूपों में देखने में आया है—एक-देशीय, द्वि-देशीय तथा बहु-देशीय। इनमें से दूसरे और तीसरे रूप में तो केवल अंश का ही अन्तर होता है, परन्तु प्रथम रूप अलग ही प्रकार का होता है। एक-देशीय विनिमय नियन्त्रण एक ही देश के व्यक्तिगत कार्यों का परिणाम होता है, द्वि-देशीय नियन्त्रण में दो देश मिल कर अन्योन्य विनिमय प्रबन्ध करते हैं और बहु-देशीय नियन्त्रण में कई देश सम्मिलित होते हैं। एक-देशीय विनिमय नियन्त्रण के प्रमुख रूप विनिमय समानीकरण कोष, अवरुद्ध खाते, विनिमय राशनिंग तथा आयात-अभ्यंश हैं। विनिमय समानीकरण कोष तथा अवरुद्ध खाता प्रणाली का विस्तृत वर्णन ऊपर किया जा चुका है। नीचे अन्य दो प्रणालियों का वर्णन किया जाता है :—

(१) **विनिमय राशनिंग**—इस प्रणाली का उपयोग स्वतन्त्र रूप में अथवा अवरुद्ध खातों के साथ किया जा सकता है। इस प्रणाली में विदेशी विनिमय कमाई को इस प्रकार रखा जाता है कि आवश्यक आयातों के लिए वह पर्याप्त मात्राओं में प्राप्त हो जाय। सरकार सभी प्रकार के विदेशी विनिमय के खरीदने और बेचने का कार्य अपने हाथ में ले सकती है और विनिमय दरों को स्वयं निश्चित कर सकती है। विनिमय के स्वतन्त्र व्यवसाय को रोक दिया जाता है। केन्द्रीय बैंक प्राप्त विदेशी विनिमय आय को एक निश्चित प्राथमिकता के क्रम के अनुसार आयात-कर्त्ताओं में बाँट देती है।

(२) **आयात अभ्यंश**—विनिमय राशनिंग के साथ-साथ कभी-कभी आयात अभ्यंश तथा अनुज्ञापन प्रणाली को भी अपनाया जाता है। विदेशी विनिमय का नियन्त्रण आयातों और निर्यातों की मात्राओं को निश्चित करके किया जाता है। साधारणतया निर्यातों को तो प्रोत्साहन दिया जाता है, परन्तु अनावश्यक आयातों को या तो कम कर दिया जाता है या पूर्णतया वर्जित कर दिया जाता है। निर्धारित अभ्यंश प्रणाली के अनुसार ही आयात और निर्यात के अनुज्ञापन प्रदान किए जाते हैं।

द्वि-देशीय विनिमय नियन्त्रण का प्रचलन काफी रहा है, परन्तु अपेक्षतन बहु-देशीय नियन्त्रण का रिवाज कम ही रहा है। बहु-देशीय

*ज्योफ्र क्राउथर : मुद्रा की रूप रेखा पृष्ठ ३०४ – ३४१, हिन्दी संस्करण।

नियन्त्रण का प्रमुख उदाहरण विनिमय समानीकरण कोषों के सहयोग के रूप में प्रकट हुआ है। द्वि-देशीय नियन्त्रण के दो रूप महत्त्वपूर्ण हैं:—

(१) **शोधन समझौते** (Payments Agreements)—इस प्रकार का समझौता विनिमय राशनिंग का ही एक रूप होता है। समझौता करने वाले एक देश को विदेशी विनिमय के राशनिंग की व्यवस्था करनी पड़ती है, जिससे कि दूसरे देश को आवश्यक शोधन किये जा सकें। शोधन समझौते में एक ऋणी देश ऋण-दाता देश के लिए मूलधन चुकाने, ब्याज देने तथा लाभाँश बाँटने की व्यवस्था करता है। साधारणतया ऋणी देश ऋण-दाता देश को यह धमकी देकर कि वह उससे माल खरीदना बन्द करेगा, विनिमय राशनिंग व्यवस्था लागू करने पर वाध्य करता है।

(२) **निकासी समझौते** (Clearing Agreements)—जब दो देश कोई ऐसा समझौता कर लेते हैं जिसके अनुसार अन्योन्य भुगतानों को इस प्रकार एक दूसरे के द्वारा चुकती कर दिया जाता है कि उन्हें विदेशी विनिमय बाजार में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती तो इसे निकासी समझौता कहते हैं। इन समझौतों के अनुसार दो देश ऐसी व्यवस्था करते हैं कि प्रत्येक अपने निर्यातकर्त्ताओं को अपने ही चलन में उन शोधनों में से भुगतान करना तय कर लेता है जो देश के आयातकर्त्ताओं से प्राप्त होते हैं। ऐसे समझौते द्वारा विदेशी विनिमय बाजार का साधारण कार्यवाहन पूर्णतया स्थगित कर दिया जाता है। विदेशी मुद्राओं का उपयोग किये बिना ही भुगतान हो जाते हैं। निकासी समझौते दो देशों के व्यापार का समानीकरण कर देते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को एक प्रकार का वस्तु-विनिमय रूप दे देते हैं।

विनिमय उद्बन्धन अथवा पेगिंग (Exchange Pegging)—

यह रीति साधारणतः युद्ध के काल में विनिमय दरों के उच्चावचनों को कम करने के लिए उपयोग की जाती है। मुद्रा-स्फीति अथवा मुद्रा संकुचन के कारण देश की मुद्रा का आन्तरिक मूल्य नीचे गिर सकता है अथवा ऊपर जा सकता है, परन्तु विदेशी व्यापार की सुविधा के लिए सरकार उसका वाह्य मूल्य एक निश्चित बिन्दु पर बनाये रख सकती है। इस प्रकार देशी मुद्रा की आन्तरिक क्रयः शक्ति के परिवर्तनों से विनिमय दर प्रभावित नहीं हो पाती है। यदि मुद्रा को क्रयः शक्ति समानता स्तर से अधिक मूल्य दिया जाता है तो इसे दर का उद्बन्धन (Pegging Up) कहा जाता है और यदि उद्देश्य अवमूल्यन होता है तो देश की मुद्रा का वाह्य मूल्य घटाकर उद्बन्धन (Pegging Down) किया जाता है।

दोनों महायुद्धों के काल में इङ्गलैंड ने इस प्रणाली को अपनाया था।

सन् १९१६ और १९१९ के बीच कृत्रिम रीति से स्टर्लिंग का मूल्य ४·७३५ डालर रखा गया था, यद्यपि यह मूल्य वास्तविक मूल्य से ऊँचा था। इसी प्रकार दूसरे महायुद्ध के काल में भारत सरकार ने विनिमय दर १रुपया = १ शिलिंग ६ पैंस ही बनाये रखी, यद्यपि क्रयः शक्ति समानता के आधार पर यह बहुत नीचे होनी चाहिये थी। इस प्रणाली में विनिमय दर को एक खूंटे से बाँधकर रखा जाता है, इसीलिये इसका यह नाम पड़ा है।

अध्याय २२

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

(The International Monetary Fund)

प्रथम महायुद्ध के पश्चात संसार के प्रायः सभी देशों को मौद्रिक तथा विनिमय अस्थिरता का कटु अनुभव हुआ था। युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार के कारण सभी देशों की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ गई थी। विदेशी व्यापार में अनेक असुविधाएँ और बाधाएँ उत्पन्न हो गई थीं, जिससे उसकी मात्रा काफी अंश तक घट चुकी थी। कीमतों की उथल-पुथल के कारण केवल विदेशी व्यापार ही नहीं, राष्ट्रों के आन्तरिक व्यापार में भी कठिनाइयाँ थीं। प्रत्येक देश दूसरे देशों के हितों पर ध्यान दिये बिना स्वार्थी आर्थिक नीति को अपनाता था। विनिमय अवमूल्यन तथा विनिमय नियन्त्रण सभी देशों की आर्थिक नीति के आवश्यक अंग बन गए थे और एक दूसरे की देखा-देखी सभी देश एक दूसरे का गला काटने पर तैयार थे। इस काल में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के स्थान पर पारस्परिक स्पर्धा का ही जोर था और प्रत्येक देश दूसरों को धोका देकर अपना उल्लू सीधा करना चाहता था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का गला घुटता जाता था और आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था अस्थिरता के थपेड़ों से व्याकुल थी।

निस्सन्देह ऐसी व्यवस्था का बना रहना राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हितों के लिये घातक था। आरम्भ से ही कुछ देश अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की किसी समुचित योजना द्वारा इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न कर रहे थे, परन्तु दूसरे महायुद्ध के काल में तो इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया गया। सभी जानते थे कि युद्धकालीन विध्वंस के कारण

युद्धोत्तर-काल में आर्थिक पुनर्वासन तथा पुनर्निर्माण की ऐसी गम्भीर समस्यायें उत्पन्न होंगी जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, विदेशी व्यापार के विकास तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के समुचित प्रवाह के बिना हल करना सम्भव न था। साथ ही, ऐसा भी अनुभव किया गया था कि आधुनिक युद्ध आर्थिक कारणों का ही परिणाम होते हैं। विभिन्न राष्ट्रों के आर्थिक विकास-स्तरों में समानता लाए बिना तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की किसी समुचित योजना के बिना भविष्य में युद्ध की सम्भावना का अन्त करना सम्भव न था। युद्ध के काल में ही अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की योजनाओं का निर्माण आरम्भ हुआ। ब्रिटिश कोषागार, अमरीकन सरकार तथा कनाडा ने इस सम्बन्ध में अपनी-अपनी योजनायें संसार के सम्मुख रखीं :—समस्या पर विचार करने के लिए जुलाई सन् १९४४ में अमरीकन सरकार ने ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् बुलाई। इस परिषद् में ४४ मित्र राष्ट्रों ने अपने प्रतिनिधि भेजे। परिषद् ने एक योजना को स्वीकार किया। परिषद् के सुझाव दो भागों में बाँटे गए हैं :—पहले भाग में एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, जिसे संक्षेप में मुद्रा-कोष (I.M.F.) भी कहा जाता है, की स्थापना का प्रस्ताव था। दूसरे भाग में इसी प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक, जिसे संक्षेप में विश्व बैंक (World Bank) भी कहा जाता है, की योजना प्रस्तुत की गई थी।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य—

कोष सम्बन्धी समझौते की धारा १ के अनुसार मुद्रा-कोष के उद्देश्यों को निम्न प्रकार बताया गया है :—

(१) "एक स्थाई संस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की उन्नति करना............।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार और संतुलित विकास को सुविधाजनक बनाना और इस प्रकार सभी सदस्य देशों में रोजगार के ऊंचे स्तरों को स्थापित करना और बनाये रखना............।

(३) विनिमय स्थिरता को उत्पन्न करना, सदस्यों के बीच नियमित विनिमय व्यवस्थाओं को बनाए रखना और प्रतियोगी विनिमय अवमूल्यन को रोकना............।

(४) सदस्यों के बीच चालू व्यवसायों के सम्बन्ध में बहु-देशीय शोधन प्रणाली की स्थापना करना तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी प्रतिबन्धों को हटाने में उनकी सहायता करना.......

(५) समुचित सुरक्षा के अन्तर्गत सदस्य देशों के लिए कोष के साधनों को उपलब्ध करके उनमें विश्वास उत्पन्न करना और इस प्रकार उन्हें, ऐसे उपायों को किए बिना, जो राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय वैभव को नष्ट करते हैं, अपने शोधनाशेष की त्रुटियों को दूर करने का अवसर देना............।

(६) उपरोक्त व्यवस्थाओं के अनुसार सदस्यों के अन्तर्राष्ट्रीय शोधनाशेष के असन्तुलन की अवधि और उसके अंश को कम करना।"

अभ्यंश और चन्दे—

कोष के कुल साधनों को ८८० करोड़ डालर नियत किया गया है। इसमें से विभिन्न सदस्य देशों के अभ्यंश निश्चित किये गये हैं। बड़े-बड़े देशों के अभ्यंश (Quotas) निम्न प्रकार हैं:—

	(करोड़ डालर में)		(करोड़ डालर में)
संयुक्त राज्य अमरीका	२७५	चीन	५५
ब्रिटेन	१३०	फ्रांस	४५
रूस	१२०	भारत	४०

इसी प्रकार अन्य सम्मिलित होने वाले देशों के चन्दे भी निश्चित कर दिये गये थे। जो देश परिषद् में सम्मिलित नहीं हुए थे उनको बाद में मुद्रा-कोष की योजना में सम्मिलित होने का अधिकार दिया गया था और उनका चन्दा मुद्रा-कोष निश्चित करता है। प्रत्येक ५ वर्ष पश्चात् ⅘ बहुमत से मुद्रा कोष किसी भी देश के अभ्यंश को बदल सकता है, परन्तु इसके लिए सदस्य देश की अनुमति आवश्यक होती है। सदस्य की प्रार्थना पर भी चन्दे में परिवर्तन किये जा सकते हैं। प्रत्येक देश को अपने चन्दे का ¼ अथवा सरकारी स्वर्ण तथा डालर जमा का $\frac{1}{10}$ सोने में देना होता है और शेष वह अपनी मुद्रा में दे सकता है। स्वर्ण के अतिरिक्त शेष चन्दा मुद्रा कोष के अभिकर्त्ता के रूप में सदस्य देश की केन्द्रीय बैंक के पास ही रखा जाता है।

कोष का विधान तथा प्रबन्ध—

धारा १२ के अनुसार कोष के कार्य-संचालन के लिए एक गवर्नर मण्डल (Board of Governors), कार्यकारिणी संचालक (Executive Director), प्रबन्धक डाइरेक्टर तथा स्टॉफ होगा। कोष का दिन प्रति दिन का कार्य कार्यकारिणी संचालक समिति द्वारा किया जाता है। इस समिति के १२ सदस्य होते हैं, जिनमें से ५ स्थाई और ७ अस्थाई होते हैं। प्रथम ५ उन पाँच बड़े-बड़े राष्ट्रों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं

जिनके अभ्यंश सबसे अधिक हैं, २ की नियुक्ति लेटिन अमरीका के देशों द्वारा की जाती है और शेष का अन्य सदस्य देशों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचन होता है, जिसमें प्रत्येक सदस्य को २५० + प्रत्येक १ लाख डालर अभ्यंश या उसके भाग के साथ एक और मत का अधिकार होता है। कोई भी सदस्य देश साधारण सूचना देकर कोष की सदस्यता छोड़ सकता है। कोष का प्रधान कार्यालय अमरीका में है, परन्तु इसकी शाखाएँ सदस्य देशों में स्थापित की जा सकती हैं। संचालक समिति एक-मत प्रस्ताव द्वारा कोष के कार्य को अधिक से अधिक १२० दिन के लिए स्थगित भी कर सकती है।

विनिमय दरों का निर्धारण—

समझौते की धारा ४ के अनुसार प्रत्येक सदस्य देश को अपने चलन की कीमत स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में (जैसा कि वह १ जुलाई सन् १६४४ को था) परिभाषित करनी होती है। इस प्रकार प्रत्येक देश के चलन का स्वर्ण मूल्य निश्चित हो जाने के पश्चात् विनिमय दरों के निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं रहती है। एक बार निर्धारित की गई विनिमय दर में सदस्य देश की प्रार्थना पर १०% तक का परिवर्तन किया जा सकता है। इसमें कोष को इन्कार करने का अधिकार नहीं है। इसके पश्चात् कोष से आज्ञा लेकर सदस्य विनिमय-दर में और भी १०% का परिवर्तन कर सकता है, परन्तु कोष के लिए आज्ञा देना अनिवार्य नहीं है। २०% से ऊपर के प्रत्येक परिवर्तन के लिये सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत की अनुमति आवश्यक होती है। इस नियम का पालन न करने पर कोष सदस्य देश को कोष के साधनों का उपयोग करने से रोक सकता है अथवा सदस्यता से हटा सकता है।

सदस्यों का विदेशी विनिमय क्रय: अधिकार—

कोई भी सदस्य देश १२ महीनों के भीतर कोष से अपने चलन के बदले में अपने अभ्यंश के २५% से अधिक विदेशी विनिमय नहीं खरीद सकता है और कुल मिलाकर उसे अधिक से अधिक अपने अभ्यंश का २००% विदेशी विनिमय खरीदने का अधिकार होता है, परन्तु संकट अथवा अत्यधिक आवश्यकता के काल में ये शर्तें ढीली की जा सकती हैं। इस दृष्टिकोण से कि कोई भी सदस्य बिना आवश्यकता अथवा बार-बार कोष से विदेशी विनिमय न खरीदे, ऐसी व्यवस्था की गई है कि जैसे-जैसे मुद्रा-कोष का ऋण बढ़ता जाता है, ऋणी सदस्य को निरन्तर बढ़ती हुई दरों पर ब्याज देना पड़ता है, यह दर ½% से आरम्भ होकर २½% तक जाती है। कोष इस बात में बड़ा सतर्क रहता है कि उससे लिए गये

ऋणों का उपयोग किसी ऐसे कार्य के लिए न किया जाय जो कि कोष के उद्देश्यों के विरुद्ध हो।

आरम्भ में ही ऐसा अनुमान लगा लिया गया था कि युद्धोत्तर काल में कुछ मुद्राएँ दुर्लभ हो जायँगी और इस प्रकार ऐसी सम्भावना उत्पन्न हो जायगी कि मुद्रा कोष अपने ही साधनों द्वारा ऐसी मुद्राओं की माँग पूरी न कर सके। डालर के विषय में ऐसा अनुमान बहुत पहले से किया जा सकता था। इस स्थिति के लिए यह व्यवस्था की गई है कि जिस मुद्रा की माँग को कोष अपने साधनों में से पूरा नहीं कर सकता है उसे वह देश विशेष से उधार ले सकता है। यदि उधार नहीं मिलता है तो वह उसे सोना देकर खरीद सकता है, परन्तु यदि फिर भी माँग को पूरा करना सम्भव नहीं है तो कोष सदस्य देशों को मुद्रा विशेष की दुर्लभता के कारणों की सूचना देकर उसकी प्राप्त पूर्ति का राशन कर सकता है और आंशिक रूप में सबकी थोड़ी-थोड़ी माँग पूरी कर सकता है।

मुद्रा कोष में स्वर्ण का स्थान—

किसी भी सदस्य देश को स्वर्णमान स्थापित करने पर वाध्य नहीं किया जाता है। प्रत्येक सदस्य को केवल अपने चलन का स्वर्ण-मूल्य घोषित करना होता है। स्वर्ण कीमतों के सामूहिक मापक का कार्य करता है और प्रत्येक देश को निश्चित कीमतों पर सोने को खरीदने और बेचने का वायदा करना पड़ता है। मुद्रा-कोष की व्यवस्था के स्वर्ण से तीन सम्बन्ध हैं:—प्रथम, प्रत्येक सदस्य को अपने अभ्यंश का एक भाग स्वर्ण में देना होता है। दूसरे, प्रत्येक सदस्य देश को चलन का प्रारम्भिक मूल्य स्वर्ण में निर्धारित करना होता है और तीसरे, किसी मुद्रा की दुर्लभता की दशा में उसे स्वर्ण में खरीदने की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त कोष नियत दरों पर सोना खरीदने को सदा तैयार रहता है।

कोष का कार्य क्षेत्र—

मुद्रा-कोष को निजी संस्थाओं तथा व्यक्तियों के साथ व्यवसाय करने का अधिकार नहीं दिया गया है। एक सदस्य देश कोष के साथ केवल अपनी केन्द्रीय बैंक, स्थिरता कोष (Stabilization Fund) अथवा अन्य किसी मौद्रिक संस्था के द्वारा ही व्यवसाय कर सकता है और इसी प्रकार मुद्रा कोष भी इन्हीं संस्थाओं के द्वारा व्यवसाय कर सकता है। कोष को शोधनाशेष के सन्तुलन के लिए सदस्य देश की भीतरी अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। कोष अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की एक अच्छी संस्था है और यह सदस्य देशों को ऋण के रूप में सहायता देकर उनके शोधनाशेष के घाटे को दूर करता है, परन्तु कोष केवल अल्पकालीन

ऋण ही दे सकता है और वे भी केवल व्यापाराशेष के अस्थाई असन्तुलन को दूर करने के लिए।

भारत और मुद्रा कोष—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् में भारत ने अपनी ओर से दो प्रस्ताव प्रस्तुत किए थे :—प्रथम, यह कि भारत को मुद्रा-कोष की कार्यकारिणी में स्थाई स्थान दिया जाय और दूसरे, यह कि भारत के पौंड-पावना ऋणों को मुद्रा-कोष के कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित किया जाय। ये दोनों ही प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये गये थे, इसलिए भारत ने सदस्यता प्राप्त करने में भारी संकोच किया। बाद को रूस के निकल जाने के कारण भारत की पहली माँग स्वयं ही पूरी हो गई और दूसरी माँग के सम्बन्ध में भी ब्रिटेन से सन्तोष-जनक समझौता हो गया। अक्टूबर सन् १६४६ में भारत ने कोष की प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त कर ली। कोष की योजना में सम्मिलित होने से भारत को लाभ ही हुआ है। कोष की सदस्यता के द्वारा उसे विश्व बैंक की भी सदस्यता प्राप्त हो गई, जिसने उसकी विकास योजनाओं को काफी सहायता दी है। सन् १६४८-४६ में भारत का व्यापाराशेष सम्बन्धी घाटा बहुत था। मार्च सन् १६४८ और मार्च सन् १६४६ के बीच में भारत ने कोष से ६·२ करोड़ डालर का ऋण लिया था। अप्रैल सन् १६४६ में उसने अपना समस्त अधिकृत डालर ऋण प्राप्त कर लिया था और एक विशेष संकट के आधार पर कोष से शर्तों को ढीला करने की प्रार्थना की थी। कोष ने यह प्रार्थना भी स्वीकार कर ली थी। वास्तविकता यह है कि भारत ने कोष की सुविधाओं का अधिकतम् उपयोग करने की ख्याति प्राप्त की है। कोष की सदस्यता के पश्चात् भारत ने रुपये-स्टर्लिङ्ग का वैधानिक गठबन्धन तोड़ दिया है और ८ अप्रैल सन् १६४७ को रुपए की कीमत स्वर्ण में नियत कर दी गई है। कोष ने इङ्गलैण्ड की भाँति भारत को भी सन् १६४६ में अवमूल्यन की आज्ञा दे दी थी। अवमूल्यन के पश्चात् हमारे व्यापाराशेष में काफी सुधार हुआ है और हमने अपना ऋण काफी अंश तक चुका दिया है। भारत को केवल यही भय था कि कोष की सदस्यता के कारण शायद उसे अपनी उद्योग-संरक्षण नीति को छोड़ना पड़े, परन्तु संक्रान्ति काल में मुद्रा कोष ने व्यापारिक प्रतिबन्धों के लगाने की आज्ञा दे दी है।

भारत समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण लेता रहा है। दूसरी योजना के काल में कुछ कारणों से शोधनाशेष का घाटा बहुत बढ़ गया है, अतः भारत ने जनवरी सन् १६५७ में कोष से १२·७५ करोड़ डालर के ऋण की बात तय की। पिछले साल में भारत ने मुद्रा कोष से निम्न प्रकार ऋण लिए हैं :—जनवरी से मार्च सन् १६५७ के ३ महीनों में

६०·७ करोड़ रुपये के ऋण और अप्रैल से जून सन् १९५७ के ३ महीनों में ३४·५ करोड़ रुपयों के ऋण। उसके बाद अभी और ऋण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। जनवरी और मार्च सन् १९५७ में ६ करोड़ रुपये के ऋण का भारत ने भुगतान भी किया था।

मुद्रा-कोष की आलोचनाएँ—

कोष की सन् १९५६ की वार्षिक रिपोर्ट से पता चलता है कि कोष के कार्यों का बराबर विस्तार हो रहा है, परन्तु इस समय कोष से पहिले की तुलना में कम ऋण लिए जा रहे हैं, अधिकांश ऋण डालर में लिए गये हैं। सन् १९५४-५५ में सदस्य देशों ने केवल ४·९ करोड़ डालर के ऋण लिये थे, यद्यपि इसी वर्ष में ७·६ करोड़ डालर के पुराने ऋणों का भुगतान किया गया था। रिपोर्ट में बताया गया था कि मार्च सन् १९४७ से लेकर, जबकि कोष ने कार्य आरम्भ किया था, सन् १९५४-५५ के अन्त तक कोष में से कुल ११९·७ करोड़ डालर के ऋण लिये गये थे, जिनमें से ८०·७ करोड़ डालर का भुगतान हो चुका था। साधारणतया कोष का कार्यवाहन सन्तोषजनक ही रहा है और इसने व्यापाराशेष के घाटे को दूर करने में काफी सहायता दी है।

इसमें तो सन्देह नहीं है कि कोष की सफलता की सूची काफी लम्बी है, परन्तु सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टिकोणों से कोष की काफी आलोचना की जा सकती है। कोष की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार हैं:—

(१) मुद्रा कोष का चन्दा किसी भी वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं किया गया है। चन्दा या तो विभिन्न देशों की विदेशी व्यापार की मात्रा के आधार पर हो सकता था या व्यापाराशेष की स्थिति के आधार पर और या विदेशी विनिमय की आवश्यकता के आधार पर, परन्तु इनमें से किसी को भी आधार नहीं बनाया गया है। ऐसा मालूम होता है कि अंग्रेजों और अमरीकनों के आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थों को ध्यान में रख कर चन्दा निर्धारित किया गया है। इसका परिणाम शीघ्र ही रूस के त्याग-पत्र के रूप में सामने आया है और कोष को समाजवादी राष्ट्रों की सदस्यता प्राप्त नहीं हो सकी है।

(२) ऋणों के प्रदान करने और आवश्यक सुविधाओं के देने में कोष ने भेद-भाव किया है। फ्रान्स द्वारा कोष की आज्ञा के विरुद्ध अव-मूल्यन करने पर भी कोई कड़ी सजा उसे नहीं दी गई है। सन्देह यह है कि मुद्रा-कोष अमरीकन सरकार की कठपुतली है।

(३) मुद्रा-कोष की कार्यकारिणी की सदस्यता इस प्रकार रखी गई

है कि अमरीकन हितों की रक्षा होती रहे, इसीलिये लेटिन अमरीका के देशों के लिए दो स्थान सुरक्षित रखे गये हैं।

(४) भय यह है कि भविष्य में पश्चिमी देश अपने आर्थिक हितों की उन्नति के लिए व्यापारिक प्रतिबन्धों को तोड़ने पर जोर देंगे। कम उन्नत देशों के लिए यह लाभदायक न होगा और इस कारण दोनों में खींच-तान रहेगी। शायद कम-उन्नत देशों को कोष की सदस्यता भी छोड़नी पड़े।

अध्याय २३

बैंक और उसके कार्य

(Bank and its Functions)

बैंक की परिभाषा—

बैंक एक ऐसा शब्द है जिससे दैनिक जीवन में हम सभी परिचित हैं, परन्तु अन्य साधारण शब्दों की भाँति इसकी परिभाषा में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। इस शब्द की भी अर्थशास्त्र में बहुत सी परिभाषाएँ प्रचलित हैं। अंग्रेजी का बैंक शब्द जर्मन शब्द बैक (Back) से बना है, जिसको इटेलियन भाषा में बैंको (Banco) कहा जाता है। ऑक्सफोर्ड शब्द-कोष के अनुसार :—"बैंक एक ऐसा कार्य-गृह है जो अपने ग्राहकों से प्राप्त अथवा उनकी ओर से धन का संरक्षण करता है। इसका मुख्य कार्य उनके द्वारा बैंक पर निकाले हुये आदेशों का शोधन करना होता है। इसके लाभ उस धन के उपयोग द्वारा उत्पन्न होते हैं जिसका बैंक के ग्राहक उपयोग नहीं करते हैं।" सेयर्स (Sayers) के विचार में :—"बैंक वह संस्था है जिसके ऋणों को दूसरे व्यक्तियों के पारस्परिक भुगतान में विस्तृत मान्यता प्राप्त हो।" बैंक शब्द की परिभाषा सर्व प्रथम इङ्गलैंड के विनिमय बिल विधान सन् १८८२ में की गई थी, जो संशोधित रूप में इस प्रकार है :—"बैंक शब्द में प्रत्येक ऐसे व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी को सम्मिलित किया जाता है जिसके पास ऐसा व्यवसाय स्थान है जहाँ पर निक्षेप अथवा मुद्रा संग्रहण द्वारा साख खोली जाती है और जिसका भुगतान विकर्ष, धनादेश अथवा

आदेश द्वारा होता है अथवा जहाँ स्कन्ध आदि की आड़ पर मुद्राएँ अथवा ऋण दिये जाते हैं।"[1]

भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट सन् १६४६ में बैंक की परिभाषा निम्न प्रकार की गई है :—

"बैंकिंग कम्पनी वह कम्पनी है जो बैंकिंग का कार्य करती हो........ बैंकिंग का अभिप्राय जनता से उधार देने के लिए अथवा विनियोग करने के लिए मुद्रा के निक्षेपों का स्वीकार करना है, जो माँग पर अथवा किसी अन्य प्रकार धनादेश, विकर्ष, आदेश आदि द्वारा शोधनीय होते हैं।"[2]

इसी प्रकार टाउजिग का मत है—"बैंक विनियोगों तथा बचतों के संग्रह के आढ़तियों का काम करती हैं, वे विनिमय के माध्यम के एक भाग का निर्माण करती हैं।"

हार्ट के अनुसारः—"बैंकर वह व्यक्ति है जो अपने साधारण व्यवसाय के अन्तर्गत लोगों का रुपया जमा करता है, जिसे वह उन व्यक्तियों के धनादेशों का भुगतान करके चुकाता है जिन्होंने यह रुपया जमा किया है, अथवा जिनके खाते में यह रुपया जमा किया गया है।"[3]

किनले ने बैंक की परिभाषा इस प्रकार की है :—"बैंक एक ऐसी संस्था है जो ऋण की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए ऐसे व्यक्तियों को रुपया उधार देती है जिन्हें उसकी आवश्यकता है और जिसके पास व्यक्तियों द्वारा अपना फालतू रुपया जमा किया जाता है।"[4]

सबसे विस्तृत परिभाषा जोन पेजेट ने की है। उनका विचार है :— "कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था तब तक बैंकर कहलाने का अधिकारी नहीं है जब तक कि वह :—(१) निक्षेप खाते स्वीकार नहीं करता है, (२)

---

1. "In a Bank, we include every person, firm or company having a place of business where credits are opened by deposits or collection of money or currency, subject to be paid or remitted on drafts, cheques or orders or money as advanced or loaned on stocks, etc."

2. "The accepting for the purpose of lending or investment of deposits of money from the public repayable on demand or otherwise and withdrawable by cheque, draft, order or otherwise." *The Indian Banking Companies Act, 1949.*

3. "A banker is one who, in the ordinary course of his business, receives money which he repays by honouring cheques of persons from whom or on whose account, he receives it."
—*Hart*

4. "Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use."
—*Kinley*

चालू खाते में रुपया जमा नहीं करता है, (३) धनादेशों की निकासी और अपने ऊपर लिखे हुए धनादेशों का भुगतान नहीं करता है, (४) अपने ग्राहकों की ओर से रेखांकित (Crossed) और बिना रेखांकित धनादेशों का रुपया एकत्रित नहीं करता है—और शायद यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यदि किसी व्यक्ति अथवा संस्था द्वारा उपरोक्त सभी कार्य किये जाते हैं तो उसका उस समय तक बैंकर होना आवश्यक नहीं है जब तक कि वह निम्न शर्तें पूरी न करता हो:—(१) बैंकिंग उसका ज्ञात व्यवसाय हो, (२) जनता के सम्मुख वह अपने बैंकर अथवा बैंक होने की घोषणा करे और जनता उसे इसी रूप में समझती हो, (३) इस प्रकार के व्यवसाय से उसका धनोपार्जन का इरादा हो, (४) यह व्यवसाय उसका गौण व्यवसाय न हो, बल्कि मुख्य व्यवसाय हो।"[1]

गाटियर नामक एक दूसरे अर्थशास्त्री ने बैंक की एक लम्बी-चौड़ी परिभाषा की है। उनके अनुसार :—"बैंक शब्द द्वारा ऐसा व्यवसाय सूचित होता है जिसमें दूसरों की ओर से जमा और भुगतान करना, सोने और चाँदी की मुद्रा, विनिमय विपत्र और विकर्ष (Drafts), सार्वजनिक प्रतिभूतियाँ और औद्योगिक उपक्रमों के अंशों—सारांश में—इस प्रकार की सभी देनों का बेचना और खरीदना शामिल है जो राज्य, समाज अथवा व्यक्तियों द्वारा साख के उपयोग से पैदा होती हैं।"[2]

इसी प्रकार बैंक की और भी बहुत सी परिभाषाएँ दी गई हैं। सभी परिभाषाओं के देखने से पता चलता है कि इनमें परिभाषा के स्थान पर वर्णन को अधिक महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक लेखक ने उन कार्यों अथवा उन व्यवसायों को गिनवाने का प्रयत्न किया है जो एक बैंकर अथवा बैंक

---

1. "No one and nobody, corporate and otherwise, can be a banker who does not :— (i) take deposit account, (ii) take current accounts, (iii) issue and pay cheques drawn upon himself, (iv) collect cheques crossed and uncrossed for his customers—and it might be said that even if all the above functions are performed by a person or body corporate, he or it may not be a banker or bank unless he or it fulfils the following conditions : (i) banking is his or its known occupation, (ii) he or it may profess to be a banker and the public takes him or it as such, (iii) has an intention of earning by doing so, (iv) this business is not subsidiary."
—*John Paget*

2. "The word bank expresses the business which consists in effecting on account of others receipts and payments, buying and selling either money or gold and silver or letters of exchange and drafts, public securities and shares in industrial enterprises —in a word—all the obligations whose creation has resulted from the use of credit on the part of states and societies and individuals."
—*Gautier*

के लिए आवश्यक हैं। अधिकाँश परिभाषाओं में जटिलता भी है, जिसके कारण बैंक जैसी साधारण और सर्व परिचित संस्था का समझना भी कठिन हो जाता है। तर्क के दृष्टिकोण से भी अधिकाँश परिभाषायें दोष-पूर्ण हैं। आवश्यकता इस बात की है कि बैंक की कोई ऐसी परिभाषा दी जाय जिससे उसे आसानी के साथ पहिचाना जा सके और उसकी प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट हो जायँ।

बैंक की एक सरल परन्तु सही परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं:—"बैंक उस व्यक्ति अथवा संस्था को कहते हैं जो मुद्रा और साख में व्यवसाय करती है।"* इस परिभाषा में मुद्रा और साख के व्यवसाय का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक वस्तु में व्यवसाय करता है तो हमारा अभिप्राय इस बात से होता है कि वह व्यक्ति उस वस्तु को खरीदता और बेचता है, परन्तु क्या मुद्रा तथा साख को भी इस प्रकार खरीदा और बेचा जा सकता है? मुद्रा के बेचने अथवा खरीदने का अर्थशास्त्र में एक विशेष अर्थ होता है। मुद्रा के बेचने का अर्थ उसका ऋण देना होता है और इसी प्रकार मुद्रा को खरी-दने से अभिप्राय उसका ऋण लेने से होता है। दोनों ही दशाओं में मुद्रा की कीमत ब्याज के रूप में चुकाई जाती है। इस प्रकार बैंक का कार्य ऋणों का लेना और उनका प्रदान करना होता है, परन्तु ऋण तो लग-भग सभी व्यक्तियों द्वारा दिए-लिए जाते हैं तो फिर क्या सभी व्यक्ति बैंक हैं? वास्तव में बात ऐसी नहीं है। बैंक की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता साख का क्रय-विक्रय करना होती है। यह तो हम एक अगले अध्याय में देखेंगे कि बैंक किस प्रकार साख का निर्माण करती है। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल इस महत्त्वपूर्ण सत्य से है कि बैंक अपने ग्राहकों की साख को खरीदती है और अपनी साख उन्हें बेच देती है। इसी कारण यह कहा जाता है कि बैंक का आवश्यक कार्य अपनी साख का अपने ग्राहकों की साख में हस्तान्तरण करना होता है। यही साख के व्यवसाय का अर्थ होता है।

यह कार्य इस कारण होता है कि बैंक द्वारा दिया गया प्रत्येक ऋण निक्षेपों को भी उत्पन्न करता है। जब कोई बैंक ऋण देती है तो अपनी साख उत्पन्न करती है, परन्तु इन ऋणों द्वारा जिन निक्षेपों का निर्माण होता है वे ऋण लेने वालों अर्थात् बैंक के ग्राहकों की साख का निर्माण करती हैं। जब कोई निक्षेपधारी बैंक के ऊपर धनादेश लिखता है और जब धनादेश भुगतान के लिए बैंक को प्रस्तुत किया जाता है तो ग्राहक की

* Bank is an institution dealing in money and credit.

साख को बैंक की साख में बदला जाता है और इसी प्रकार साख का हस्तान्तरण होता है।

स्मरण रहे कि साख का व्यवसाय बैंक का एक विशेष गुण है। सभी महाजन अथवा साहूकार मुद्रा में व्यवसाय करते हैं, क्योंकि वे ऋण लेते भी हैं और देते भी हैं, परन्तु वे साख का क्रय-विक्रय नहीं कर सकते हैं। साख का क्रय-विक्रय बैंक की ही विशेषता है। इस प्रकार बैंक तथा साधारण साहूकारों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है। हम यह तो कह सकते हैं कि प्रत्येक बैंक साहूकार का काम करती है, परन्तु प्रत्येक साहूकार को बैंकर नहीं कहा जा सकता है। बैंक की विशेषता जमा को स्वीकार करना है, जो उसकी कार्यवाहक पूँजी का एक महत्त्वपूर्ण अंग होती है।

आधुनिक बैंकों के कार्य तथा सेवायें—

सामान्य रूप में एक आधुनिक बैंक के प्रमुख कार्यों को निम्न प्रकार बताया जा सकता है:—

(१) **निक्षेपों को स्वीकार करना अथवा ऋण लेना** (Accepting of Deposits)—यह प्रत्येक आधुनिक बैंक का महत्त्वपूर्ण कार्य है। अपने अंशों की निकासी करके तथा विभिन्न प्रकार के निक्षेप स्वीकार करके बैंक व्यक्तियों तथा फर्मों के फालतू धन को अपने पास जमा करने का प्रयत्न करती है। व्यावसायिक क्षेत्र में एक बैंक का मान साधारणतया इसी बात पर निर्भर होता है कि उसकी ऋण अथवा निक्षेप प्राप्त करने की शक्ति कितनी है। अंशों की बिक्री तथा निक्षेपों की स्वीकृति के अतिरिक्त बैंक विनिमय बिल भुना कर, बैंक-नोट निकाल कर, बाँड निकाल कर, ऋण-पत्र तथा रोक प्रमाण-पत्र जारी करके भी धन प्राप्त करती है, परन्तु बैंकों के अधिकांश ऋण निक्षेपों के ही रूप में होता है। भारत में ऐसे निक्षेप विशेषकर पाँच प्रकार के होते हैं—निश्चितकालीन निक्षेप, सेविंग बैंक निक्षेप, चालू निक्षेप, अनिश्चितकालीन निक्षेप तथा गृह बचत खाता।

(क) **निश्चितकालीन निक्षेप**—ऐसे निक्षेपों का अभिप्राय उन निक्षेपों से होता है जिनका भुगतान केवल एक निश्चित अवधि के पश्चात्, जो तीन मास से ५ वर्ष तक की होती है, हो सकता है, परन्तु अपने ग्राहकों की सुविधा के लिए कटौती काट कर बैंक ऐसे निक्षेपों को समय से पहले निकाल लेने की भी आज्ञा दे देती है। ऐसे निक्षेपों के लिए बैंक द्वारा रसीद दी जाती है, जो विनिमय साध्य (Negotiable) नहीं होती है, अर्थात् जिसे किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा नहीं भुनाया जा सकता है। ऐसे निक्षेपों पर ब्याज की दर साधारणतया ऊँची होती है, क्योंकि एक निश्चित अवधि तक उनके निकाल लिए जाने की चिन्ता नहीं होती।

(ख) सेविङ्ग बैंक निक्षेप—यह जमा साधारणतया उन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त होती है जो कभी-कभी पैसा जमा करना चाहते हैं और वह भी छोटी-छोटी मात्राओं में। निक्षेपदाता जमा तो कभी भी कर सकता है, परन्तु उसे एक सप्ताह में केवल एक या दो बार रुपया निकालने का अधिकार होता है। ऐसे निक्षेपों के लिए जमा करने वाले को 'पास बुक' (Pass Book) दी जाती है, जो उस पर अथवा धनादेश द्वारा रुपया निकाल सकता है। ऐसी जमा पर निश्चितकालीन जमा की अपेक्षा कम ब्याज दिया जाता है।

(ग) चालू निक्षेप—ऐसी जमा की विशेषता यह होती है कि जमा करने वाला अपनी इच्छानुसार कभी भी इसमें रुपया जमा कर सकता है, अथवा निकाल सकता है। रुपया चैक द्वारा निकाला जा सकता है। ऐसी जमा पर अच्छी बैंक साधारणतया कुछ भी ब्याज नहीं देती हैं, बल्कि बहुत बार तो उनके प्रबन्ध का खर्च ग्राहक से वसूल किया जाता है, परन्तु कभी-कभी बहुत कम दर पर ब्याज भी दिया जाता है। ऐसी दशा में बैंक बहुधा यह अनुरोध करती है कि जमा की मात्रा एक निश्चित राशि से नीचे न गिरने पाये। जमा के इस राशि से कम हो जाने की दशा में अन्तर पर ब्याज लिया जाता है।

(घ) अनिश्चितकालीन निक्षेप—यह जमा बहुत लोकप्रिय नहीं है और बैंक के व्यावसायिक जीवन में इसका महत्त्व कम ही रहता है। इसके अन्दर जो रुपया जमा किया जाता है वह कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर कभी भी निकाला नहीं जा सकता है, केवल उसके ब्याज की राशि को ही निकालना सम्भव होता है। इस जमा पर ब्याज की दर सबसे ऊँची होती है, क्योंकि बैंक इसका दीर्घकालीन तथा स्थायी विनियोग कर सकती है।

(ङ) गृह बचत खाता (Home Saving Account)—इसका चलन थोड़े ही काल से लोकप्रिय हुआ है। इसके अनुसार बैंक जमा करने वाले के घर पर एक गुल्लक (Safe) रख देती है, जिसमें वह समय-समय पर अपनी छोटी-छोटी बचत को डालता रहता है। समय-समय पर सेफ को बैंक में ले जाया जाता है, जो उसे खोलती है और एकत्रित राशि को जमा करने वाले के खाते में जमा कर देती है। यह बचत को प्रोत्साहन देने की की एक अच्छी विधि है। ऐसी जमा पर ब्याज नाम-मात्र ही होती है।

(२) ऋणों का प्रदान करना—बैंक का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य ऋणों अथवा अग्रिमों (Advances) का देना है। साधारणतया बैंक नकद ऋण नहीं देती है। बैंक ऋणी को एक निश्चित सीमा तक चैक द्वारा बैंक

धन निकालने का अधिकार दे देती है। ऋणों से ही बैंक को अपनी आय अथवा लाभ का अधिकाँश भाग प्राप्त होता है। एक बैंक की योग्यता भी साधारणतया इसी बात पर निर्भर होती है कि वह अपने ऋण व्यवसायों को किस प्रकार चलाती है। ऋणों के सम्बन्ध में गलत नीति अपनाना बैंक के लिये घातक हो सकता है और ऐसी दशा में बैंक के फेल होने का भय रहता है। भारतीय बैंक कभी तो स्पष्ट अग्रिम (Clean advances) प्रदान करती हैं, जो व्यक्तिक प्रतिभूति पर दिये जाते हैं, परन्तु अधिकतर ऋण उपयुक्त तथा बिक्री-साध्य प्रतिभूतियों पर दिये जाते हैं। भारतीय बैंकों के ऋण साधारणतया निम्न चार रूपों में होते हैं :—

(अ) **नकद साख** (Cash Credit)—यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें बैंक अपने ग्राहक को बाँड अथवा अन्य प्रतिभूतियों के आधार पर एक निश्चित मात्रा तक ऋण लेने का अधिकार देती है। भारतीय व्यवसायी ऋण लेने की इस प्रणाली को अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि इसमें ऋण की सारी राशि को एक दम निकाल लेने की आवश्यकता नहीं होती है। आवश्यकतानुसार समय-समय पर ऋण लेने वाला आवश्यक राशि निकालता रहता है। इस व्यवस्था में साधारणतया एक निश्चित समय के लिये बैंक ग्राहक की ऋण-सम्बन्धी आवश्यकता का अनुमान लगा कर उसको पूरा करने के लिए आवश्यक धन रखती है, इसलिए बैंक को उस राशि पर ब्याज की हानि होती है जो ग्राहक द्वारा नहीं निकाली जाती है। इस हानि से बचने के लिए बैंक बहुधा बिना खर्च की हुई राशि पर भी ग्राहक से पूरी या आधी दर पर ब्याज लेती है।

(ब) **अधि-विकर्ष** (Over-draft)—यह सुविधा बैंक द्वारा अपने निक्षेपदाताओं को अल्पकालीन अग्रिम के रूप में दी जाती है। चालू खाते में ग्राहक का जितना रुपया जमा है उससे भी कुछ अधिक निकालने का अधिकार ग्राहक को दे दिया जाता है, यद्यपि इसके लिये उचित प्रतिभूति ली जाती है। ग्राहक समय-समय पर आवश्यकता के अनुसार इस अधि-विकर्ष सुविधा का लाभ उठाता रहता है और उसे एक ही बार सारा ऋण लेने की आवश्यकता नहीं होती है। नकद साख और अधि-विकर्ष अग्रिमों में अन्तर केवल इतना होता है कि अधि-विकर्ष सुविधा अल्पकालीन होती है, जो केवल रुपया जमा करने वालों को ही दी जाती है, परन्तु नकद साख प्रणाली का बहुत विस्तृत उपयोग होता है और बैंक का कोई भी ग्राहक इसका लाभ उठा सकता है।

(स) **ऋण**—यदि बैंक एक मुश्त रुपया उधार देती है, जिसे पूर्ण रूप में चुकाये बिना ऋण का अन्त नहीं होता और पूरा चुकाने पर ऋण का पूर्णतया अन्त हो जाता है तो उसे ऋण कहा जाता है। स्मरण रहे कि ऋण

कभी भी चालू नहीं रहता है। यदि ऋणी उसके एक भाग को चुका कर फिर से उधार लेना चाहता है तो यह तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक कि बैंक एक दूसरा ऋण देना स्वीकार न कर ले। ऐसे ऋणों पर बैंक के लिए ब्याज की हानि उठाने का प्रश्न ही नहीं उठता है, इसलिये साधारणतया ऋणों पर अग्रिमों की अपेक्षा ब्याज की दर कम रहती है। इसके अतिरिक्त ऋण खातों का संचालन व्यय भी बैंक के लिए कम हो जाता है।

(द) **विनिमय बिलों का भुनाना**—बैंक द्वारा ऋण तथा अग्रिम प्रदान करने की यह भी एक महत्त्वपूर्ण विधि है। बैंक विनिमय बिलों को भुना कर ऋण दे सकती है। ऐसे ऋण अल्पकालीन होते हैं और समुचित प्रतिभूतियों पर दिए जाते हैं। ऐसे ऋण भी स्पष्ट (Clean) अथवा पुस्तकीय ऋण (Book Credit) हो सकते हैं। स्पष्ट ऋण आहर्त्ता (Drawer) और आहर्यों (Drawee) के हस्ताक्षरों पर ही दे दिये जाते हैं, परन्तु पुस्तकीय अग्रिमों के लिए वस्तुओं की उपस्थिति के किसी प्रमाण-पत्र की प्रतिभूति आवश्यक होती है। विनिमय बिल की परिपक्वता अवधि से पूर्व ही यदि उसकी रकम की आवश्यकता पड़ती है तो उसे बैंक से भुनाया जा सकता है, जिस दशा में बैंक शेष अवधि का ब्याज काट लेती है और परिपक्वता पर बिल को रकम वसूल कर लेती है। यह बैंक का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण व्यवसाय है, जो व्यापारियों को भारी सुविधा देता है और साथ ही बैंक के आदेयों को भी तरल रखता है।

(३) **अभिकर्त्ता सम्बन्धी सेवाएँ**—अपने ग्राहकों के अभिकर्त्ता (Agent) के रूप में बैंक ग्राहकों के लिए विभिन्न प्रकार की सेवाएँ सम्पन्न करती है। इसमें से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार हैं :—

(क) ग्राहकों की ओर से धनादेशों, विनिमय बिलों, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि का भुगतान एकत्रित करना।

(ख) ग्राहकों के सभी प्रकार के शोधन सम्बन्धी आदेशों को पूरा करना, जैसे—उनकी ओर से ऋणों की किश्तें, ब्याज, चन्दे, बीमे की किश्तें, कर आदि चुकाना। इनके लिए बैंक मामूली सा कमीशन लेती है।

(ग) ग्राहक की ओर से उसके आदेशानुसार विभिन्न प्रकार के भुगतानों को प्राप्त करना, जैसे—लाभांश, ऋण की राशि, ब्याज आदि एकत्रित करना। ये कार्य बैंक कमीशन के आधार पर करती है।

(घ) ग्राहकों की ओर से उनके आदेशानुसार प्रतिभूतियों का खरीदना और बेचना। इस कार्य के लिए बैंक ग्राहक से

कमीशन नहीं लेती हैं, बल्कि सट्टे के दलालों से दलाली कमीशन का एक हिस्सा प्राप्त करती है। इससे ग्राहकों को लाभ रहता है।

(ङ) एक शाखा से दूसरी शाखा तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को कोषों का हस्तान्तरण करना। इस सम्बन्ध में ग्राहकों को यह सुविधा दे दी जाती है कि वे एक शाखा या स्थान में रुपया जमा करके दूसरी शाखा अथवा स्थान पर भुगतान ले सकें।

(च) अपने ग्राहकों के अभिकर्त्ता अथवा प्रतिनिधि के रूप में अन्य प्रकार के कार्य करना।

(छ) ग्राहकों की ओर से रिक्थ-पत्रों (Wills), ट्रस्ट अथवा आदेशित संस्थाओं का प्रबन्ध और वित्तीय आयोजन करना।

(४) **बैंक नोटों का निकालना**—यह भी बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है। भूतकाल में यह अधिकार सभी बैंकों को प्राप्त था, परन्तु आजकल नोट-निर्गम का एकाधिकार केवल देश की केन्द्रीय बैंक के ही हाथ में होता है। भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के निकाले हुए नोट चालू हैं और विधि-ग्राह्य मुद्रा है।

(५) **अन्य उपयोगी सेवाएँ**—एक आधुनिक बैंक को व्यवसायी वर्ग के लिए और भी बहुत सी उपयोगी सेवाएँ सम्पन्न करनी पड़ती हैं, जिनका वर्णन निम्न प्रकार है :—

(अ) बहुमूल्य वस्तुओं, जैसे—हीरे जवाहरात, प्रतिभूति, आवश्यक पत्र इत्यादि का सुरक्षित संरक्षण। इस कार्य के लिए बैंक के पास सुरक्षित कमरे तथा विशेष प्रकार की मजबूत अलमारियाँ होती हैं, जिनमें बहुमूल्य वस्तुएँ जमा कर दी जाती हैं और इन अलमारियों की चाबी जमा करने वाले को दे दी जाती हैं। बैंक इन वस्तुओं के सुरक्षित संरक्षण की जिम्मेदारी लेती है। इस कार्य के लिए बैंक एक विशेष कमीशन अथवा पारितोषण लेती है, परन्तु जमा करने वाले के दृष्टिकोण से बैंक की यह सेवा काफी लाभदायक होती है।

(ब) साख प्रमाण पत्रों (Letters of Credit) का प्रदान करना, जिससे कि ग्राहकों को दूसरे स्थानों तथा विदेशों से माल खरीदने में सुविधा रहती है। इन पत्रों के आधार पर पत्र-धारी की साख बनती है। अज्ञात व्यापारी तथा व्यवसायी भी इसकी साख से परिचित हो जाते हैं और साधारणतया उधार

माल देने में संकोच नहीं करते हैं, विशेषकर यदि प्रमाण-पत्र किसी अच्छी बैंक ने दिया है।

(स) ग्राहक की ओर से विनिमय बिल को स्वीकार करना—इससे काफी लाभ होता है, क्योंकि बैंक का नाम देख कर ऋणदाता अथवा माल बेचने वाले ग्राहक की साख पर सरलतापूर्वक विश्वास कर लेते हैं। इस प्रकार विनिमय बिल पर बैंक के हस्ताक्षर हो जाने से दूसरों के द्वारा उसके स्वीकार हो जाने की सम्भावना बढ़ जाती है।

(द) ग्राहकों को एक दूसरे की साख के सम्बन्ध में सही तथा विश्वसनीय सूचना देना—यह सूचना बैंक बड़ी सावधानी के साथ एकत्रित करती है, परन्तु इसके द्वारा बैंक के ग्राहक को यह पता चल जाता है कि जिस व्यक्ति के साथ वह व्यवसाय करना चाहता है उसकी साख कैसी है।

(य) व्यापार तथा व्यवसाय सम्बन्धी सूचनाओं और आँकड़ों का इकट्ठा करना—यह सेवा बड़ी-बड़ी बैंकों द्वारा प्रतिपादित की जाती है और इस प्रकार की सूचना पूछने पर ग्राहक को दे दी जाती है, अथवा प्रकाशित कर दी जाती है।

(फ) सरकार तथा व्यापार प्रमण्डलों के ऋणों का अभिगोपन (Under-writing)—इससे इन ऋणों के प्राप्त होने में सुविधा होती है।

(६) **विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय**—बैंक विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय द्वारा विदेशी व्यापार को भारी सहायता देती है। वैसे तो साधारणतया यह कार्य एक विशेष प्रकार की बैंकों अर्थात् विदेशी विनिमय बैंकों द्वारा किया जाता है, परन्तु भारत में कुछ व्यापार बैंक भी दूसरे कार्यों के साथ-साथ विभिन्न देशों की मुद्राओं में व्यवसाय करती हैं।

(७) **आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध**—यह भी बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह कार्य साधारणतया विनिमय बिलों को खरीद कर किया जाता है। हुन्डियों और विदेशी विनिमय बिलों की आड़ पर भारतीय बैंक अल्पकालीन अग्रिम देती रहती हैं। यदि किसी व्यापारी के पास ऐसा विनिमय बिल है जिसकी परिपक्वता का समय दो महीने पीछे आयगा, परन्तु व्यापारी को तुरन्त धन की आवश्यकता होती है तो यह व्यापारी इस बिल को बैंक से भुना सकता है। बाजार दर पर दो महीने का ब्याज काट कर बिल का शेष रुपया बैंक बिल भुनाने वाले को दे देती है और परिपक्वता का समय आ जाने पर बिल की रकम का भुगतान लिखने वाले से प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार बिल को भुनाने का परिणाम

यह होता है कि व्यापारियों को धन मिल जाता है और बैंक के लिए लाभ कमाना सम्भव हो जाता है।

ऊपर बैंक की सेवाओं का जो संक्षिप्त वर्णन किया गया है उससे आधुनिक बैंक के महत्त्व का सही अनुमान नहीं लगता है। वास्तविकता यह है कि व्यापार और व्यवसाय सम्बन्धी लगभग कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता है जो बैंक अपने ग्राहकों के लिए सम्पन्न नहीं करती है। बैंक का कार्य सलाह देने से आरम्भ होकर अभिकर्त्ता, मित्र, प्रमाणक अधिकारी तथा ऋण-दाता तक फैला रहता है। यही कारण है कि आधुनिक युग में बैंकिंग का समुचित विकास आर्थिक उन्नति की प्रथम आवश्यकता समझा जाता है, क्योंकि देश की आर्थिक सम्पन्नता की नींव बैंकिंग के विकास पर ही रखी जाती है।

बैंकिंग का आरम्भिक इतिहास—

संसार में बैंकिंग प्रणाली काफी पुरानी है। ऐतिहासिक खोज से पता चलता है कि अब से लगभग २,००० वर्ष पूर्व भी बैंकिंग का व्यवसाय होता था। बेबीलोन, भारत, यूनान और रोम चारों ही देशों में प्राचीन काल में बैंकिंग विकास के प्रमाण मिलते हैं। बैंकिंग प्रथा के आरम्भ के विषय में ऐसा कहा जाता है कि सबसे पहले यह कार्य सराफों और सुनारों ने आरम्भ किया था। जिन लोगों के पास फालतू पैसा होता था वे इस पैसे को अपने पास न रखकर सराफों अथवा सुनारों के पास जमा कर देते थे, क्योंकि इससे रुपया सुरक्षित रहता था और कुछ दशाओं में ब्याज के रूप में भी कुछ मिल जाता था। ये सराफ साधारणतया एक राज्य अथवा स्थान की मुद्रा को दूसरे देश अथवा स्थान की मुद्रा में बदलने का काम करते थे। जमा किये हुये रुपये के लिए ये जमा करने वालों को जमा की रसीद देते थे, क्योंकि इनका कार्य सन्देह से परे होता था और ऊँची साख होने के कारण जनसाधारण का इन पर विश्वास होता था, इसलिए ये रसीदें भी विनिमय साध्य (Negotiable) होती थीं और ऋणों को चुकाने में धन के स्थान पर उपयोग की जाती थीं। धीरे-धीरे यह रिवाज बढ़ता गया और जमा की रसीदें आधुनिक बैंक-नोटों की भांति चलने लगीं। जमा स्वीकार करने वाले साहूकारों ने भी अनुभव द्वारा यह जान लिया कि एक निश्चित काल में कुल जमा का केवल एक भाग ही जमा करने वालों द्वारा निकाला जाता था और शेष उनके पास ऐसे ही पड़ा रहता था, अतएव इन्होंने फालतू पड़े हुए जमाधन को ब्याज पर उठाना आरम्भ कर दिया।

इस कार्य में सराफों को भी लाभ होने लगा और उन्होंने जमाधन अधिक मात्रा में एकत्रित करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने जमा

राशि पर ब्याज देकर और अधिक जमा आकर्षित करना शुरू कर दिया। इस प्रकार ब्याज पर रुपया जमा करना और ब्याज पर रुपया उधार देना, इनका मुख्य कारोबार हो गया। साधारणतया जमाधन पर नीची दर पर ब्याज दिया जाता था, जिसका प्रमुख कारण सैराफ की ऊँची साख थी। इसके विपरीत ऋणों पर ऊँचा ब्याज लिया जाता था। ब्याज की दर के इस अन्तर के कारण सराफ को लाभ होता था। कालान्तर में धीरे-धीरे इन सराफों ने और भी बहुत से सम्बन्धित कार्य आरम्भ कर दिये। चैक की प्रथा के विकास के पश्चात् तो इन कार्यों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई। स्मरण रहे कि ये प्राचीन साहूकार वास्तविक अर्थ में बैंकर न थे, बल्कि केवल रुपया उधार देते थे और ब्याज खाने वाले महाजन थे।

सबसे पहले बैंकिंग प्रणाली ने बेबीलोन में उन्नति की। वहाँ साहूकारों के अतिरिक्त जन-साधारण भी रुपये के लेन-देन का व्यवसाय करता था। बेबीलोन की अति प्राचीन इजिबी बैंक (Igibi Bank) कुछ दिशाओं में उतनी ही विकसित थी जितनी कि १६ वीं शताब्दी की आधुनिक बैंक। बेबीलोन से यह प्रथा यूनान में पहुँची और यूनान से रोम में। तत्पश्चात बैंकिंग की सबसे अधिक उन्नति इटली में हुई है और यूरोप के सभी देशों में इसकी उन्नति का श्रेय यहूदी जाति के लोगों को है। इटली में इसके विकास के प्रमुख केन्द्र वेनिस, मिलन और जेनोआ रहे हैं। इटली के लम्बर्ड व्यापारियों ने अधिकोषण के विकास में विशेष ख्याति प्राप्त की और उनमें से कुछ ने इंगलैंड जाकर लन्दन नगर में इस कारोबार को आरम्भ किया। अब से २,१५० वर्ष पूर्व की एक राज्याज्ञा का इटली में प्रमाण मिलता है, जिसके अनुसार बैंकों को यह आदेश दिया गया था कि उन्हें अपने कार्यालय स्थापित करने और कार्य-प्रणाली के निर्माण में कौन सी बातों को ध्यान में रखना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि उस काल में भी रोम का बैंकिंग कारोबार काफी विकसित अवस्था में था।

बाद को कई शताब्दियों तक बैंकिंग के विकास में शिथिलता दृष्टिगोचर होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्य-युग (Middle Ages) की अराजकता और निरन्तर युद्धों के कारण साहूकारों का कारोबार पनपने नहीं पाता था। धार्मिक और सामाजिक विचारधारा भी ब्याज लेने के विरुद्ध थी। प्रसिद्ध यूनानी विद्वान अरस्तु के अनुसार रुपया रुपये को जन्म नहीं दे सकता। पूँजी स्वभाव से ही बाँझ (Sterile) है। इस कारण ब्याज का लेना अनुचित है। ब्याज लेने का अर्थ यह होता है कि किसी निर्धन तथा आवश्यकता वाले भाई की दीन अवस्था से अनुचित लाभ उठाया जाय। इसी प्रकार लगभग सभी धर्मों में ब्याजखोरी को निन्दनीय बताया

गया है। यहूदियों के अतिरिक्त सभी लोग रुपये को उधार पर चलाना अस्वाभाविक तथा अनैतिक (Immoral) समझते थे। यहूदियों के लिए तो ब्याज लेने के विरुद्ध कोई धार्मिक दबाव न था। यही कारण है कि बैंकिंग क्षेत्र में यहूदियों का ही सबसे अगला हाथ रहा है।

धीरे-धीरे विचारधारा फिर बदली और ब्याज लेने की वाँछनीयता स्वीकार की जाने लगी। इस परिवर्तन का प्रमुख कारण यह था कि धीरे-धीरे ऐसे ऋणों की मात्रा बढ़ती जा रही थी जो उत्पादक थे, अर्थात् जिनका उपयोग करके ऋणी आय प्राप्त करता था। इस प्रकार प्राप्त आय में से ऋण-दाता द्वारा एक हिस्सा लेना अनुचित नहीं हो सकता था। कालान्तर में बड़े-बड़े व्यापार गृहों और बैंकिंग गृहों की स्थापना हुई। ये व्यापारी जनसाधारण से जमाधन स्वीकार करते थे और अपने ऋण दूकानदारों, साहूकारों तथा कुछ दिशाओं में राजाओं तक को देते थे। राजाओं को ऋण देना एक महत्त्वपूर्ण तथा लाभदायक धन्धा था, परन्तु इसके कारण अनेक व्यापार गृहों को अपना कारोबार बन्द करने पर बाध्य होना पड़ा। राजा द्वारा ऋण चुकाने से इन्कार करने का मतलब केवल यही नहीं होता था कि उधार की रकम मारी जाय। वास्तविकता यह है कि ऐसी दशा में सारे कारोबार को बन्द कर देना पड़ता था। परिणाम यह हुआ कि १७ वीं शताब्दी तक ये व्यापार गृह समाप्त हो गये, जिसके कारण बैंकिंग के विकास में भारी शिथिलता आ गई।

तुरन्त ही १७ वीं शताब्दी में एक नये युग का आरम्भ हुआ। इस काल में यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति हुई थी और अनेक नये-नये देशों तथा उपनिवेशों की खोज की गई थी। जलयान यातायात का भारी विकास हुआ और यूरोप के व्यापार का भारी विस्तार हुआ। इसके अतिरिक्त नई-नई व्यापार कम्पनियों की वित्तीय व्यवस्था तथा उपनिवेशों के विकास के लिए भी धन की भारी आवश्यकता थी। वैसे भी यूरोप के विभिन्न देशों के बीच काफी प्रतियोगिता थी और प्रत्येक दूसरों से आगे बढ़कर व्यापार और वाणिज्य के अधिक विस्तृत अधिकार प्राप्त करना चाहता था। ऐसे काल में बैंकिंग का विकास भी स्वाभाविक ही था, अतः इस क्षेत्र में भी भारी उन्नति हुई।

शायद यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि आधुनिक प्रकार की सबसे पहली बैंक सन् १४०१ में स्पेन देश के बारसिलोना नगर में स्थापित हुई। तत्पश्चात् सन् १६०७ में हॉलैण्ड में बैंक ऑफ एमस्टरडम और सन् १६१६ में बैंक ऑफ हेम्बर्ग जर्मनी में स्थापित हुई। यह क्रम बराबर चलता रहा और स्वीडन तथा अन्य योरोपीय देशों में बैंक खोली गईं। इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना सन् १६६४ में बैंक ऑफ इंगलैण्ड की

स्थापना थी। इसके बाद चैक प्रथा आरम्भ हुई और सम्मिलित-पूँजी बैंकों का भारी विकास हुआ।

भारत में आधुनिक बैंकिंग का विकास—

वैसे तो भारत में बैंकिंग का विकास बहुत ही प्राचीन काल में हो चुका था परन्तु आधुनिक बैंकिंग का विकास बहुत पुराना नहीं है। इसके आरम्भ का श्रेय यूरोप के लोगों को है। १८ वीं शताब्दी में अंग्रेजों ने कलकत्ता और बम्बई में अभिकर्त्ता-गृह (Agency Houses) खोले थे, जो इंगलैंड के व्यापारियों की ओर से भारत में उनके व्यवसाय की देख-भाल करते थे। इस कार्य के अतिरिक्त ये गृह बैंकिंग का कार्य भी करते थे। बैंकिंग की दिशा में इनका प्रमुख कार्य अपनी ओर से बैंक-नोट निकालना था। १६ वीं शताब्दी के मध्यकाल में इन गृहों पर आर्थिक सङ्कट आया और ये एक-एक करके ठप्प होने लगे। इसके पश्चात् वास्तविक अर्थ में देश में बैंकिंग का विकास आरम्भ हुआ। इस कार्य का श्रीगणेश प्रेसीडेन्सी बैंकों की स्थापना से हुआ। सबसे पहले सन् १८०६ में बैंक ऑफ बंगाल स्थापित किया गया। ४० वर्ष पश्चात् सन् १८४६ में बैंक ऑफ बॉम्बे खुला और उसके तीन वर्ष पीछे सन् १८४१ में बैंक ऑफ मद्रास। शुरू में इन बैंकों को सरकार की ओर से नोटों की निकासी का अधिकार दिया गया था, परन्तु एक बैंक के नोट एक निश्चित क्षेत्र में ही विधि-ग्राह्य होते थे। सन् १८६२ में नोट निर्गम का अधिकार छीन लिया गया, क्योंकि सरकार ने ऐसा अनुभव किया था कि उस समय तक भारतवासी बैंक प्रणाली से भली-भाँति परिचित हो चुके थे। भारत में धीरे-धीरे सम्मिलित पूँजी बैंकों का खुलना आरम्भ हो गया था। सम्मिलित पूँजी बैंकों में से सर्व प्रथम सन् १८८१ में 'अवध कॉमर्शियल बैंक' स्थापित हुई, जो एक भारतीय बैंक थी। इसी काल में विदेशी पूँजी की सहायता से 'इलाहाबाद बैंक' तथा 'ऐलायंस बैंक ऑफ शिमला' भी खुलीं। १६ वीं शताब्दी को एक महत्त्व-पूर्ण बड़ी बैंक सन् १८६४ में स्थापित 'पंजाब नेशनल बैंक' भी थी।

२० वीं शताब्दी का आरम्भ होते ही बैंकों की संख्या बहुत तेजी के साथ बढ़ने लगी। सन् १६०१ में ही 'दी पीपल्स बैंक ऑफ इण्डिया' खुल गई और तत्पश्चात् सन् १६१३ तक एक के बाद दूसरी बैंक बराबर खुलती गई। बैंक इतनी तेजी के साथ खुलती गई कि बैंकिंग का विकास आरोग्य न रह सका। सन् १६०६-०७ के आर्थिक संकट के काल में बहुत सी बैंक फैल हो गई, परन्तु संख्या की वृद्धि की गति रुक न सकी। विकास इतना अधिक परन्तु इतना कमजोर हुआ था कि भारतीय बैंकिंग प्रणाली प्रथम महायुद्ध की चोट न सह सकी। अधिकाँश बैंकों के पास पूँजी की भारी कमी थी और वे अपने कार्यवाहन में भी समुचित नियमों का पालन

नहीं करती थीं। अधिकाँश बैंक धन के लिए जमाधन पर ही निर्भर रहती थीं और आपस में एक दूसरी से होड़ करती थीं। ऋण लम्बे काल के लिए दे दिये जाते थे, जिसके कारण आदेयों की तरलता नहीं रहती थी। इस कारण आदेयों की कीमत काफी रहते हुए भी बैंक अपनी देन को चुकाने में असमर्थ रहने के कारण फेल हो जाती थीं। वैसे भी बैंकों का संचालन साधारणतया अनुभवहीन और स्वार्थी संचालकों (Directors) के हाथ में होता था। यही कारण है कि देश में अधिकाँश ऐसी बैंकिंग संस्थाएँ स्थापित हुईं जिनकी कमर पहले से ही कमजोर थी और जो थोड़ी सी भी चोट न सह सकीं। आर्थिक संकट की एक ही झपट में वे टूट गईं।

सन् १६१३ में ही 'पीपल्स बैंक ऑफ इण्डिया' फेल हो गई थी और उसके बाद बैंकों के फेल होने की एक लहर सी देश भर में फैल गई। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सन् १६१३ और सन् १६१७ के बीच में ही ८७ बैंक फेल हो गईं और प्रथम महायुद्ध के समाप्त हो जाने पर भी संकट का अन्त न हो सका था। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने पता लगाया है कि अन्य कारणों के अतिरिक्त देश में केन्द्रीय बैंक के न होने के कारण भी बैंक भारी संख्या में फेल होती गईं थीं। युद्धोत्तर काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना सन् १६२० का इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट था, जिसके अनुसार सन् १६२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिला कर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया स्थापित किया गया था। इस बैंक को आंशिक रूप में केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी कुछ अधिकार भी दिये गये थे।

प्रथम महायुद्ध के अन्तिम वर्षों में देश के वाणिज्य और व्यवसाय की दशा कुछ अंश तक सुधर गई थी, क्योंकि व्यापारियों और उद्योगपतियों को खूब लाभ हुआ था। परिणामस्वरूप बैंकों के जमाधन में भारी वृद्धि हुई थी। युद्धोत्तर काल में देश की बैंकिंग प्रणाली एक बार फिर से संगठित की गई। बैंकों के खुलने की फिर बाढ़ सी आने लगी। इस काल की प्रमुख विशेषता यह थी कि औद्योगिक वित्त का आयोजन करने और औद्योगिक बैंक खोलने पर विशेष ध्यान दिया गया। इसके अतिरिक्त बड़ी-बड़ी बैंकों ने अपनी शाखाएँ खोलकर व्यवसाय बढ़ाने का प्रयत्न किया। नई बैंक भी भारी संख्या में खोली गईं। उन्नति का यह युग सन् १६३६ तक चलता रहा, यद्यपि सन् १६२६ के महान अवसाद ने संकट की दशाएँ उत्पन्न कर दी थीं। सन् १६३१ में भारत सरकार ने बैंक प्रणाली के दोषों की जाँच करने और सुझाव देने के लिए केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति नियुक्त की। इस समिति ने केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर जोर दिया। पहले सन् १६२६ में हिल्टन-यंग आयोग ने इसी प्रकार की सिफारिश की थी। सन् १६३४ में भारत सरकार ने रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया

एक्ट पास किया था और १ अप्रैल सन् १९३५ को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का, जो देश की केन्द्रीय बैंक है, उद्घाटन हुआ था, परन्तु थोड़े ही समय बाद सन् १९३६ का बैंकिंग सङ्कट आरम्भ हुआ और सैकड़ों की संख्या में देश में बैंक फेल हो गईं।

दूसरे महायुद्ध के काल में देश की बैंकिंग प्रणाली पर बहुत जोर पड़ा, परन्तु ऋणों की माँग इतनी अधिक थी और चलन के विस्तार के कारण क्रयः शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि बैंकों के जमाधन का भारी विस्तार हुआ। युद्ध के काल में बैंकिंग सेवाओं का विकास हुआ और साख-मुद्रा की अत्यधिक वृद्धि हुई। युद्ध का अन्त होने के पश्चात् सन् १९४७ में देश का विभाजन हुआ, जिसके कारण पंजाब और बङ्गाल की बहुत सी बैंक फेल हो गईं। युद्धोत्तर काल की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ सन् १९४८ में रिजर्व बैंक और सन् १९५५ में इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण हैं। इसी काल में भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट सन् १९४९ भी पास हुआ है।

बैंकिंग का महत्त्व—

बैंक आधुनिक समाज के वित्त तथा साख संगठन का एक महत्त्वपूर्ण साधन होती है। व्यापार, वाणिज्य और व्यवसाय की धमनी केन्द्र (Nerve Centre) बैंक ही हैं। वर्तमान युग में साख का महत्त्व सभी जानते है। साख का सृजन वर्तमान जगत में अधिकतर बैंक द्वारा ही किया जाता है। वैसे भी बैंक के कार्यों पर दृष्टि डालने से ही उसका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। बैंक अपनी साख को अपने ग्राहकों की साख में बदल देती है। ऐसा कहा जाता है कि औद्योगिक विकास की कोई भी योजना बिना बैंकिंग विकास के सफल नहीं हो सकती है। ये समाज के फालतू धन को एकत्रित करके वाणिज्य और व्यवसाय की आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। कालान्तर में बैंकों के कार्यों में निरन्तर वृद्धि हुई है। अभिकर्त्ता और प्रतिनिधि के रूप में बैंक अनेक सेवाएँ सम्पन्न करती है। किसी भी देश का आन्तरिक और विदेशी व्यापार इसी पर निर्भर होता हैं। यही नहीं, बैंक एक अच्छे वाणिज्यिक और व्यावसायिक सलाहकार का भी काम करती है। बैंक के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार होते हैं :—

(१) बैंक समाज के उन व्यक्तियों तथा वर्गों का धन जमा करती है जिनके लिए वह अनावश्यक अथवा कम उपयोगी है और फिर इस धन को उन व्यक्तियों के पास हस्तान्तरित कर देती है जो इसका उत्पादक उपयोग करके अपना ही नहीं देश भर का भला करते हैं।

(२) बैंक देश के वित्तीय साधनों का संरक्षण करती है तथा उनका लाभदायक और हितकारी वितरण करती है। इसके फलस्वरूप आर्थिक जीवन में सन्तुलन आता है और उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं।

(३) बैंक कोषों के एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का सस्ता, सुरक्षित और सुविधाजनक साधन उपलब्ध करती है ।

(४) बैंक चैकों (धनादेशों) के उपयोग को बढ़ाती है। यह बहुत सुविधाजनक होता है, क्योंकि इसमें गिनने, जाँच तथा हस्तान्तरित करने की सरलता होती है । यह रीति सुरक्षित भी अधिक होती है। इसके अतिरिक्त चैक के भुगतान में यह प्रमाण भी प्राप्त हो जाता है कि रुपया अमुक व्यक्ति को दिया गया है ।

(५) बैंक बहुमूल्य धातुओं और वस्तुओं का संरक्षण करके अपने ग्राहकों को काफी लाभ पहुँचाती है।

(६) साख-मुद्रा के अधिकांश लाभ बैंक सेवाओं के ही परिणाम होते हैं।

(७) बैंक देश की मुद्रा प्रणाली में लोच उत्पन्न कर देती हैं। साख-मुद्रा की मात्रा के परिवर्तन द्वारा विनिमय-माध्यम की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है।

(८) बैंकों का सरकारी अर्थप्रबन्ध में भी भारी महत्त्व होता है। रोकों का संरक्षण, सरकारी ऋणों का प्रबन्ध तथा आवश्यकता पड़ने पर ऋण प्रदान करना, ये सब कार्य बैंक द्वारा ही किए जाते हैं।

अध्याय २४

साख मुद्रा तथा साख-पत्र

(Credit Money and Credit Instruments)

साख किसे कहते हैं?—

अंग्रेजी भाषा में साख शब्द के स्थान पर क्रेडिट (Credit) शब्द का उपयोग किया जाता है और वह क्रेडौ (Credo) शब्द से बना है, जिसका अर्थ है मैं विश्वास करता हूँ (I Believe)। अतः साख शब्द का अर्थ विश्वास, भरोसा अथवा यकीन (Trust or Confidence) से होता है। साधारण बोल-चाल में साख शब्द जिस अर्थ में उपयोग किया जाता है वह काफी विस्तृत होता है, क्योंकि सभी प्रकार का विश्वास साख हो सकता है। अर्थशास्त्र में इस शब्द का उपयोग अधिक संकुचित अर्थ में

होता है। यहाँ साख का अभिप्राय केवल देनदारी अथवा शोधनक्षमता के विश्वास से होता है। जब हम यह कहते हैं कि बाजार में अमुक व्यक्ति की साख बहुत है तो इसका अर्थ यह होता है कि लोग उस व्यक्ति की देनदारी पर भारी विश्वास रखते हैं, अर्थात् उस व्यक्ति को आसानी के साथ काफी उधार मिल जाता है। साख शब्द का सम्बन्ध सदा ही उधार की लेन-देन अथवा स्थगित शोधनों से होता है। विनिमय का एक पक्ष दूसरे पक्ष को मुद्रा, वस्तुएँ अथवा सेवाएँ उधार देता है और उनको भविष्य में कुछ निश्चित शर्तों पर लौटाने का वचन ले लेता है। यही साख व्यवसाय है और इसका आधार यह है कि प्रस्तुत सेवाओं तथा वस्तुओं का भावी वायदे के साथ विनिमय किया जाता है। यह इसी कारण होता है कि ऋणी व्यक्ति की शोधनक्षमता पर विश्वास किया जाता है। साख की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है:—**साख वर्तमान काल में हस्तान्तरित किये गये माल के बदले में माँगने पर अथवा किसी निश्चित भावी तिथि पर शोधन प्राप्त करने का अधिकार अथवा शोधन देने का उत्तरदायित्व है।**

प्रो० जाईड (Gide) के अनुसार—"साख एक ऐसा विनिमय कार्य है जो कुछ समय पश्चात् अर्थात् भुगतान कर देने पर पूरा हो जाता है।"[1] प्रो० टामस (Thomas) के अनुसार—"साख शब्द का अभिप्राय किसी व्यक्ति की उस शोधनक्षमता तथा देनदारी के विश्वास से होता है जिसके कारण उस व्यक्ति पर यह विश्वास कर लिया जाता है कि किसी दूसरे व्यक्ति की बहुमूल्य वस्तु उसे सौंपी जा सके, वह बहुमूल्य वस्तु मुद्रा, वस्तुएँ, सेवायें अथवा स्वयं साख हो सकती हैं, जैसे कि उस दशा में जबकि एक व्यक्ति दूसरे को अपनी व्यावसायिक ख्याति अथवा अपने नाम के उपयोग का अधिकार देता है।"[2]

साख का आधार—

अब हमें यह देखना है किसी व्यक्ति की साख किन बातों पर निर्भर होती है? इस सम्बन्ध में आर्थिक विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। कुछ लोगों का विचार है कि साख का आधार विश्वास है। यदि किसी व्यक्ति

---

1. "It is an exchange which is complete after the expiry of a certain period of time—after payment." Gide.

2. "The term credit is now applied to that belief in a man's probity and solvency which will permit of his being entrusted with something of value belonging to another whether that something consists of money, goods, services or even credit itself as when one man entrusts to another the use of his good name and reputation." *See* S. E. Thomas : *Elements of Economics*, p. 598.

को यह विश्वास नहीं है कि ऋण की रकम लौटा दी जायगी तो वह ऋण प्रदान करने का विचार भी नहीं करेगा। केवल दान अथवा मित्रता के हेतु ही वह उधार दे सकता है। इसके विपरीत कुछ लेखकों का कहना है कि साख का आधार विश्वास नहीं सम्पत्ति है और उसी को देखकर ऋण दिये जाते हैं। कुछ और लेखकों ने ऋण लेने वाले के चरित्र को साख का वास्तविक आधार माना है और कुछ ने चरित्र, पूँजी तथा क्षमता तीनों को। व्यक्ति तथा सम्पत्ति दोनों ही पर साख निर्भर होती है। यह निम्न चार बातों पर निर्भर होती है :—

(१) **चरित्र**—यदि किसी व्यक्ति को ऐसी ख्याति प्राप्त होती है कि भूतकाल में उसने अपने सभी ऋणों को ठीक-ठीक चुकाया है, अथवा यदि उसका सामान्य चरित्र निष्कलंक तथा विश्वसनीय है तो उसकी साख भी अधिक होगी। यदि भूतकाल में किसी व्यक्ति का चरित्र सन्देहयुक्त रहा है तो उसे ऋण देने से पहले उसकी शोधनक्षमता पर विचार किया जायगा।

(२) **क्षमता**—यह दूसरी आवश्यकता है। केवल चरित्र से ही काम नहीं चलता। ऋण देने वाले को यह भी विश्वास होना चाहिए कि ऋण लेने वाले के पास भुगतान के लिए पर्याप्त साधन भी मौजूद हैं। कुछ दशाओं में स्वयं चरित्र ही क्षमता का आधार हो सकता है। यदि चरित्र विश्वसनीय है और व्यक्ति विशेष को पर्याप्त अनुभव शिक्षण तथा योग्यता प्राप्त है तो ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि कुछ समय पश्चात् वह ऋण को चुकाने के लिए आवश्यक साधन भी जुटा ही लेगा। फिर भी लेने वाले के पास लौटाने के सामर्थ्य को देखा जरूर जाता है।

(३) **पूँजी और सम्पत्ति**—उपरोक्त दोनों आधारों पर छोटी-छोटी रकम के ऋण ही प्राप्त किये जा सकते हैं। बड़े-बड़े ऋणों के लिये बैंकों पर निर्भर रहना पड़ता है, परन्तु बैंक ऋण देने से पहले ही यह देख लेती है कि ऋण लेने वाले के पास उपयुक्त प्रतिभूति है या नहीं। साधारणतया जितनी ही किसी व्यक्ति के पास पूँजी अथवा सम्पत्ति अधिक होती है उतने ही उसे अधिक ऋण मिल सकते हैं और उतनी ही उसकी साख भी अधिक होती है।

(४) **प्रतिभूतियों अथवा आदेयों की तरलता**—प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति साख आधार के दृष्टिकोण से समान रूप में उपयुक्त नहीं होती है। यदि ऋण लेने वाले के पास तरल आदेय हैं और उसका व्यवसाय सफलतापूर्वक चल रहा है तो उसकी साख अधिक होगी। यदि आदेय अचल सम्पत्ति और अक्रयः प्रतिभूतियों के रूप में हैं तो ऋण देने वाले को संकोच होगा।

साख की विशेषताएँ—

उपरोक्त सभी बातों के देखने से साख की तीन विशेषताओं का पता चलता है :—सर्व प्रथम तो साख की राशि का उल्लेख आवश्यक होता है। अनिश्चित मात्रा में ऋण का कोई भी अर्थ नहीं है। दूसरे, साख की समय-अवधि भी निश्चित होती है। यह स्पष्ट रूप में बताया जाता है कि साख कितने समय के लिए है, अर्थात् ऋण कितने समय पश्चात् शोधनीय है। साख की तीसरी विशेषता विश्वास है। बिना विश्वास के साख उत्पन्न ही नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त कितनी मात्रा में तथा कितने समय के लिए साख प्रदान की जाती है, यह भी इसी बात पर निर्भर होता है कि ऋणदाता को ऋणी पर कितना विश्वास है।

साख का वर्गीकरण—

साख का वर्गीकरण करने की कई रीतियाँ हैं। बहुत बार तो ऋण लेने वाले की स्थिति के अनुसार साख का वर्गीकरण किया जाता है और बहुत बार ऋण देने वाले की स्थिति के अनुसार। कभी-कभी साख प्रदान करने की समय-अवधि को भी वर्गीकरण का आधार माना जाता है, परन्तु अधिक प्रचलित रीति साख को उसके उपयोग के अनुसार वर्गीकृत करने की है—

(१) **व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक साख** (Private and Public Credit)—साधारणतया सरकारी साख अर्थात् सरकार द्वारा इस वायदे पर प्राप्त की हुई वस्तुओं और सेवाओं को, कि उनकी कीमत का शोधन भविष्य में कर दिया जायगा, सार्वजनिक अथवा लोक साख कहा जाता है। आधुनिक युग में सरकार द्वारा ऋणों का लेना एक बड़ी साधारण सी घटना है। लोक ऋण लोक साख को जन्म देते हैं। सरकार के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्तियों और संस्थाओं की साख होती है। आर्थिक अध्ययन में व्यक्तिगत साख का ही महत्त्व अधिक होता है। इस व्यक्तिगत साख के भी कई रूप होते हैं।

(२) **बैंक साख** (Bank Credit)—यह भी एक प्रकार की व्यक्तिगत साख ही होती है। अर्थशास्त्र में यह दो अर्थों से उपयोग की जाती है :—संकुचित तथा विस्तृत। संकुचित अर्थ में बैंक साख का आशय केवल व्यापार बैंकों की अभियाचन निक्षेपों (Demand Deposits) से होता है, परन्तु विस्तृत अर्थ में यह शब्द बैंकिंग संस्थाओं की सभी प्रकार की शोधन सम्बन्धी प्रतिज्ञाओं को सूचित करता है, जिसमें बैंकों के अभियाचन निक्षेप, समय निक्षेप (Time Deposits), रोक साख-पत्र (Cash Letters of Credit), ऋण-पत्र (Debentures), बाँड (Bonds),

नोट तथा बैंकरों की स्वीकृतियाँ (Banker's Acceptances) सम्मिलित होते हैं। बैंक साख शब्द को इन दोनों ही अर्थों में साधारणतया निःसंकोच उपयोग किया जाता है। बैंक साख की ही एक शाखा केन्द्रीय बैंक की साख होती है। इसमें केन्द्रीय बैंक द्वारा चालू किये हुए नोट तथा केन्द्रीय बैंक के निक्षेप उत्तरदायित्व (Deposit Liabilities) सम्मिलित होते हैं।

(३) विनियोग साख (Investment Credit)—इस प्रकार की साख व्यवसायों की दीर्घकालीन ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं के कारण उत्पन्न होती है। यदि व्यवसाय के स्वामी भूमि, मकान तथा मशीन आदि के लिए अपने ही पास से पर्याप्त पूँजी उपलब्ध नहीं कर सकते हैं तो उन्हें इन कार्यों के लिए दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे ऋणों को चुकाने का एक मात्र उपाय यही होता है कि उन विनियोगों के लाभ से प्राप्त होने वाली रकम में से उनका भुगतान किया जाय, जिनके लिए वे लिये गये हैं, परन्तु इस प्रकार इनके भुगतान में समय लगता है। इस कारण ऐसे ऋणों को प्राप्त करने के लिए एक विशेष साख-पत्र का उपयोग किया जाता है, जिसे प्राधि-बाँड (Mortgage Bonds) कहते हैं। इस पत्र में ऋणी निर्देशित शर्तों पर मूलधन को लौटाने का वचन देता है और प्रतिभूति के रूप में अपनी सम्पत्ति का एक भाग ऋणदाता के पास गिरवी रख देता है, जिसका अधिकार कुछ निश्चित दशाओं में ही ऋणदाता को प्राप्त हो सकता है। यदि ऋणी प्राधि-पत्र की शर्तों को यथा-समय ठीक-ठीक पूरा करता रहता है तो सम्पत्ति पर उसका स्वतन्त्र अधिकार रहता है। प्राधि-बाँड द्वारा निर्मित साख वाणिज्यिक भाषा में विनियोग साख कहलाती है।

(४) वाणिज्य साख (Commercial Credit)—इस साख का सम्बन्ध भी व्यवसाय से होता है। जिस प्रकार व्यवसाय को दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार समय-समय पर उसे अल्प-कालीन ऋणों की भी जरूरत होती है। वाणिज्य साख से हमारा अभिप्राय अल्पकालीन ऋणों से ही होता है। इस प्रकार की साख व्यवसायों की निर्माण तथा बिक्री सम्बन्धी अल्पकालीन आवश्यकताओं के लिए प्रदान की जाती है। कच्चे मालों के खरीदने, मजदूरियाँ देने, करों को चुकाने तथा विज्ञापन आदि करने के लिये व्यवसाय को ऋणों की आवश्यकता पड़ सकती है, क्योंकि व्यवसायी को उस समय तक आय प्राप्त नहीं होती है जब तक कि वह माल को बेचकर उसकी कीमत वसूल नहीं कर लेता है। ऐसे कार्यों को सम्पन्न करने के लिये ही वाणिज्य अथवा अल्पकालीन साख की आवश्यकता पड़ती है, जिसकी समय अवधि अधिक से अधिक ६

महीने अथवा एक साल तक होती है। ऐसे ऋणों को भी व्यवसाय से प्राप्त शुद्ध आय में से ही चुकाया जाता है, परन्तु इन ऋणों के पीछे कच्चे माल, तैयार माल आदि के तरल आदेय होते हैं।

(४) उपभोक्ताओं की साख तथा उत्पादकीय साख (Consumers Credit and Producer's Credit)—साख को उपभोक्ताओं की साख तथा उत्पादकों की साख में भी विभाजित किया जाता है। उपभोक्ता की साख में क्रयः शक्ति अथवा वस्तुओं के ऋण उपभोक्ताओं को दिये जाते हैं। इन ऋणों की विशेषता यह होती है कि इनसे ऋणी को कोई आय प्राप्त नहीं होती है और इसलिए इनके मूलधन तथा ब्याज को चुकाने की व्यवस्था व्यक्तिगत आय में से की जाती है। ऐसे ऋण केवल उपभोग के हेतु लिए जाते हैं। उपभोक्ता-साख में दूकानदारों द्वारा दिया गया उधार, साहूकारों तथा बैंकों द्वारा दिये गये व्यक्तिगत ऋण आदि सम्मिलित किए जाते हैं। इसके विपरीत उत्पादकीय साख में उन सब ऋणों को सम्मिलित किया जाता है जो विभिन्न व्यक्तियों, फर्मों, कम्पनियों अथवा सरकार को उत्पादन कार्यों के लिए दिये जाते हैं। ऐसे ऋणों की विशेषता यह होती है कि उनसे ऋणी को आय प्राप्त होती है और कम से कम ब्याज का शोधन तो प्राप्त आय में से अवश्य किया जा सकता है। ऐसे ऋण दीर्घकालीन अथवा विनियोग ऋण, मध्यकालीन अथवा अल्पकालीन या वाणिज्यिक ऋण हो सकते हैं। आधुनिक जगत में ऐसे ही ऋणों की प्रधानता है।

साख की मात्रा किन बातों पर निर्भर होती है?—

किसी देश में साख का विस्तार बहुत सी बातों पर निर्भर होता है। साख की आवश्यकता व्यवसायों के सम्बन्ध में पड़ती है। आधुनिक व्यावसायिक संगठन की जान ही साख है, क्योंकि दूसरों के रुपयों से व्यवसाय करना ही उसकी विशेषता है। सामान्य रूप में हम यह कह सकते हैं कि किसी देश के आर्थिक, औद्योगिक, व्यापारिक तथा बैंकिंग जीवन का जितना ही अधिक विकास होगा उतनी ही वहाँ साख के विस्तार की सम्भावना भी अधिक होगी। साख की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि ऋणदाता किस अंश तक ऋण देने को तैयार हैं और ऋण लेने वाले कितना ऋण लेना चाहते हैं। निम्न कारणों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है:—

(१) लाभ की मात्रा—विनियोगों पर जितना ही अधिक लाभ प्राप्त होगा और जितने ही ये विनियोग सुरक्षित होंगे उतनी ही ऋणों की माँग भी अधिक होगी और उन्हें देने की तत्परता भी।

(२) **व्यापार की दशाएँ**—व्यापार की दशाओं का भी साख की मात्रा से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। वैभव (Boom) के काल में चारों ओर तेजी रहती है। व्यापार और व्यवसायों का विस्तार होता है और विनियोगों पर अधिक लाभ प्राप्त होता है। इस काल में ब्याज की दरें भी ऊपर उठती हैं, क्योंकि ऋणों की माँग अधिक होती है। बैंक तेजी के साथ अपनी साख का विस्तार करती हैं। मन्दी के काल में उत्पादन घटता है और व्यवसायों को हानि होती है, जिसके कारण ऋणों की माँग बहुत कम होती है। भविष्य के उज्ज्वल न होने के कारण विनियोगी वर्ग जोखिम उठाने से घबराता है।

(३) **सट्टा बाजार की प्रवृत्ति**—सट्टेबाजी के कारण भी साख की मात्रा का विस्तार अथवा संकुचन हो सकता है। जब भविष्य में कीमतों के बढ़ने की आशा की जाती है तो सट्टा बाजार बड़ी तेजी से चालू होता है। नये-नये सौदे खरीदे जाते हैं और ऋणों की माँग बढ़ने के कारण साख का विस्तार होता है। यदि सट्टा बाजार में मन्दी है तो ऋणों की माँग घटने के कारण साख का संकुचन होता है। बहुत बार तो सट्टेबाज अकारण ही कीमतों में तेजी अथवा मन्दी उत्पन्न करके ऋणों की माँग को घटा-बढ़ा देते हैं।

(४) **देश की राजनैतिक दशाएँ**—राजनैतिक स्थिरता आर्थिक जीवन में स्थायीपन उत्पन्न करके उसके विकास के लिये उपयुक्त दशाएँ उत्पन्न कर देती है, जिसके कारण ऋणों की माँग बढ़ती है और साख का विस्तार होता है। यदि राजनैतिक वातावरण अनिश्चित है तो आर्थिक विकास हतोत्साहित होता है और साख का भी संकुचन होता है।

(५) **सरकार तथा केन्द्रीय बैंक की नीति**—साख नियन्त्रण के दृष्टिकोण से इसका भारी महत्त्व होता है। यदि केन्द्रीय बैंक सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) को अपनाती है और सस्ते ब्याज पर ऋण देने की अधिक सुविधाएँ प्रदान करती है तो साख का विस्तार होता है, परन्तु यदि केन्द्रीय बैंक, बैंक दर को ऊँचा करके अथवा अन्य रीतियों से ऋणों को हतोत्साहित करती है तो साख का संकुचन होगा।

(६) **चलन की दशाएँ** (Currency Conditions)—साख की मात्रा पर देश की चलन व्यवस्था का भी भारी प्रभाव पड़ता है। यदि देश की मुद्रा के मूल्य ह्रास का भय है अथवा यदि चलन नीति अनिश्चित है तो साख का संकुचन होगा। एक समुचित चलन प्रणाली के अन्तर्गत साख के विस्तार की सम्भावना अधिक होगी।

(७) **बैंकों का विकास तथा बैंकों की सामान्य नीति**—आधुनिक

संसार में साख का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन बैंक हैं और देश की अधिकाँश साख का निर्माण उन्हीं के द्वारा किया जाता है, अतः जितना ही किसी देश में बैंकिंग का विकास अधिक होगा उतनी ही साख के विस्तार की सम्भावना भी अधिक होगी। साथ ही, बैंकों की साख सम्बन्धी नीति तथा देश में साख मुद्रा के उपयोग की प्रथा पर भी साख विस्तार की सीमा निर्भर रहती है।

क्या साख पूँजी है (Is Credit Capital) ?—

यह विषय विवादग्रस्त है कि क्या साख पूँजी है, अर्थात् क्या साख के द्वारा उपयोगिता का सृजन होता है ? स्मरण रहे कि पूँजी मनुष्य की पिछली कमाई का वह भाग होती है जिसे और अधिक उत्पत्ति करने के लिये उपयोग किया जाता है। इस दृष्टिकोण से साख न तो पूँजी है और न उत्पत्ति का ही साधन है। मैकलौड का विचार है :-"साख वास्तविक अर्थ में पूँजी ही है। मुद्रा और साख दोनों ही पूँजी हैं। व्यापारिक साख को एक प्रकार की व्यापारिक पूँजी ही कहा जा सकता है।"[1] परन्तु यह विचार ठीक नहीं है। वास्तविकता यह है कि साख उत्पत्ति का साधन नहीं है, वह तो एक उत्पादन विधि मात्र है। जिस प्रकार श्रम-विभाजन तथा विनिमय उत्पादन करने की रीतियाँ हैं और दोनों के ही द्वारा उपयोगिता में वृद्धि की जा सकती है, ठीक इसी प्रकार साख भी केवल एक रीति है, जो किसी वस्तु की उपयोगिता बढ़ा देती है। मैकलौड के विरुद्ध मिल तथा रिकार्डो जैसे महान् अर्थशास्त्रियों का मत है कि साख को पूँजी कहना भूल होगी। मिल के अनुसार साख द्वारा केवल पूँजी का हस्तान्तरण होता है, उसका सृजन नहीं होता है। उन्होंने लिखा है:—"केवल उधार देने से नई पूँजी का निर्माण नहीं हो सकता है, ऐसी दशा में तो केवल उस पूँजी का जो पहले से ही ऋण-दाता के पास थी, ऋणी को हस्तान्तरण होता है। साख तो केवल दूसरे की पूँजी को उपयोग करने का अधिकार है, इसके द्वारा उत्पत्ति के साधनों की वृद्धि नहीं होती, उनका केवल हस्तान्तरण ही होता है।"[2] ठीक इसी प्रकार रिकार्डो ने भी कहा है:—

---

1. "Money and credit are both capital. Mercantile credit is mercantile capital." *See* Macleod : *Elements of Banking, Chap. IV.*

2. "New capital is not created by the mere fact of lending, only the capital that was in the hands of the lender is now transferred to the hands of the borrower. Credit being only the permission to use the capital of another person. The means of production cannot be increased by it but only be transferred." *See* J. S. Mill : *Principles of Political Economy.*

"साख पूँजी का सृजन नहीं करती है, वह तो केवल यह निश्चित करती है कि पूँजी का उपयोग कौन करेगा।"* साख-पत्र (Credit Instruments) केवल पूंजी के प्रतिनिधि स्वरूप होते हैं, वे स्वयं पूँजी नहीं होते। वे तो केवल उस पूँजी का, जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान को या एक व्यक्ति से दूसरे को हस्तान्तरण ही करते हैं। एक व्यवसायी के लिए वे पूँजी पर अधिकार पाने का अच्छा साधन होते हैं। यद्यपि साख द्वारा पूँजी का जो हस्तान्तरण होता है वह उत्पादक होता है, परन्तु यह उत्पादकता हस्तान्तरण द्वारा उत्पन्न हुई है। साख को उत्पत्ति का एक स्वतन्त्र साधन कहना उपयुक्त नहीं हो सकता है। साख की लेन-देन से पूँजी की गतिशीलता और उसकी उत्पादकता बढ़ती है, परन्तु पूँजी की मात्रा में वृद्धि नहीं होती है। साख द्वारा पूँजी का ऐसे व्यक्तियों के पास हस्तान्तरण हो जाता है जो उसे आर्थिक विकास के लिए अधिक उपयुक्त रीति से उपयोग कर सकते हैं।

साख तथा कीमत स्तर (Credit and Prices)—

यह प्रश्न भी विवाद-ग्रस्त है कि साख और कीमतों में किस प्रकार का सम्बन्ध है। वाकर (Walker) का मत है कि साख का कीमतों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। उनका विचार है कि साख में क्रयः शक्ति तो होती है, परन्तु निस्तारण शक्ति (Liquidating Power) नहीं होती है। सभी प्रकार के विनिमय तथा ऋण व्यवसायों का अन्तिम निस्तारण नकद भुगतानों द्वारा ही होता है। इसके अतिरिक्त साख-मुद्रा के द्वारा जो क्रय-विक्रय होता है उसमें एक क्रिया का दूसरी से सन्तुलन हो जाता है और इस प्रकार साख की लेन-देन का वस्तुओं के कीमत-स्तर पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

इसके विपरीत मिल तथा उनके समर्थकों का विचार है कि साख के निर्माण का कीमतों पर ठीक उसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है जैसा कि चलन की उत्पत्ति का, क्योंकि चलन की भाँति साख-मुद्रा भी क्रयः शक्ति होती है और उसके द्वारा भी वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है। मुद्रा का परिमाण चलन तथा साख-मुद्रा दोनों का ही सामूहिक योग होता है और इस पर साख-मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों का भी प्रभाव पड़ता है। सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियन्त्रण की जो नीति अपनाई जाती है उसका कीमतों पर काफी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। साधारणतया साख पर दी जाने वाली राशि इस उद्देश्य से दी जाती है कि उसकी

* "Credit does not create capital, it only determines by whom capital should be employed." *See* Ricardo : *Principles of Political Economy & Taxation.*

सहायता से वस्तुओं का उत्पादन किया जाय और उत्पादित कीमत में से उसका भुगतान कर दिया जाय, परन्तु उत्पादन कार्य में समय लगता है और इस बीच में साख-मुद्रा क्रयः शक्ति का विस्तार करके कीमतों को बढ़ा सकती है।

वास्तविकता यह है कि यदि साख-पत्र नकदी का पूर्ण रूप में प्रतिस्थापन कर सकते तो उनका कीमतों पर ठीक वही प्रभाव पड़ता जो कि चलन का पड़ता है, परन्तु साख-पत्र उतना विश्वास उत्पन्न नहीं करते हैं जितना कि चलन मुद्रा द्वारा उत्पन्न किया जाता है। अन्तिम दशा में सभी साख-पत्रों का निस्तारण नकदी में ही किया जाता है। साख निर्माण के हेतु बैंकों को नकद कोष भी जमा करके रखने पड़ते है और साख विस्तार नकद कोषों की वृद्धि करके ही किया जा सकता है। जब साख का विस्तार होता है तो नकद कोषों में जमा की हुई चलन मुद्रा को प्रचलन में से निकाला जाता है। परिणाम यह होता हैं कि लगभग कभी भी कीमतें साख-विस्तार के अनुपात में नहीं बढ़ पाती हैं, परन्तु क्योंकि साख-मुद्रा के पीछे शत-प्रतिशत नकदी नहीं रखी जाती है, इसी कारण साख विस्तार में स्फीतिक प्रवृत्ति अवश्य रहती है। साख विस्तार के कारण उत्पत्ति की जो वृद्धि होती है वह भी वस्तुओं की कुल मात्रा को बढ़ा कर कीमतों को नीचे गिरने की सम्भावना उत्पन्न कर सकती है। कीमत-स्तर साख-मुद्रा के प्रभाव से पूर्णतया विमुक्त नहीं होता है। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि चलन की तुलना में साख-मुद्रा का कीमतों पर प्रभाव कम पड़ता है।

साख-पत्र और उनके भेद (Credit Instruments and their Kinds)—

साख-पत्रों से हमारा अभिप्राय उन सभी नोटों, परचों या पुर्जों और साधनों से होता है जिनका साख-मुद्रा के रूप में उपयोग किया जाता है। साख-पत्र भी वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय में विनिमय माध्यम का कार्य करते है और इस कारण विस्तृत अर्थ में उन्हें भी मुद्रा में ही सम्मिलित किया जा सकता है, परन्तु मुद्रा के रूप में सिक्कों तथा नोटों और साख-पत्रों में यह भेद होता है कि साख-पत्र चलन मुद्रा की भाँति विधि-ग्राह्य नहीं होते हैं। उनकी ग्राह्यता लेने वाले की इच्छा पर निर्भर होती है। यही कारण है कि उनका प्रचलन अधिक सीमित रहता है। क्रयः शक्ति का लगभग सभी प्रकार का संचय सिक्कों और नोटों में ही किया जाता है। अविधि-ग्राह्य होने तथा विश्वास की कमी के कारण साख-पत्र इस कार्य के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं। इस मुद्रा का न तो कोई निहित

मूल्य ही होता है और न इसके पीछे किसी प्रकार का कानूनी बल ही होता है ।

साख-पत्र कई प्रकार के होते हैं । साख-मुद्रा के प्रमुख भेद निम्न प्रकार हैं :—

(१) चैक (Cheque)—चैक साख-मुद्रा का एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नमूना है । यह सबसे अधिक प्रचलित साख-पत्र है । भारतीय विनिमय-साध्य विपत्र एक्ट (Indian Negotiable Instruments Act) के अनुसार :—"चैक, बैंक में रुपया जमा करने वाले का अपनी बैंक के लिए ही एक लिखित आदेश है, जिसके द्वारा उसके खाते में से आदेश प्राप्त करने वाले को अथवा अन्य व्यक्ति या संस्था को, जिसका कि आदेश में नाम लिखा हुआ है, आदेशानुसार अङ्कित रुपया दिया जाता है ।" चैक सदा ही बैंक के लिए लिखा जाता है और इसका भुगतान बैंक को माँग पर तुरन्त ही करना पड़ता है । चैक में तीन पक्ष होते हैं, अर्थात् आहर्त्ता (Drawer), जो कि आदेश देता है, आहार्यी (Drawee) अर्थात् जिसको कि आदेश दिया जाता है और आदाता (Payee), जिसको कि भुगतान किया जाता है । चैक की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :— (१) यह सदा ही एक लिखित आदेश होता है, (२) इसके भुगतान पर किसी प्रकार की शर्त नहीं लगाई जाती, (३) यह सदा ही किसी बैंक के लिए लिखा जाता है, (४) इसमें शोधन की रकम का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया जाता है, (५) इसका भुगतान बैंकों को माँग पर तुरन्त ही ही करना होता है, (६) चैक का भुगतान निर्देशित व्यक्ति अथवा उसके आदेश के अनुसार ही किया जाता है और (७) चैक पर आहर्त्ता (Drawer) के हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं ।

चैक अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे—वाहक चैक (Bearer Cheque), आदेश चैक (Order Cheque), खुला चैक (Open Cheque), रेखांकित चैक (Crossed Cheque), प्रमाणित चैक (Marked Cheque) तथा उत्तर-तिथीय चैक (Post-dated Cheque) वाहक चैक उस चैक को कहते हैं जो निर्देशित व्यक्ति अथवा अन्य किसी भी ऐसे व्यक्ति को शोधनीय होता है जो उसे बैंक में प्रस्तुत करता है । इस चैक पर आदाता के हस्ताक्षर आवश्यक नहीं होते, यद्यपि सुरक्षा के दृष्टिकोण से बैंक आदाता के हस्ताक्षर पर अनुरोध करती है । ऐसा चैक पूर्ण रूप में हस्तान्तरीय (Transferrable) होता है । आदेश चैक वह चैक होता है जिस पर उस व्यक्ति को ही शोधन मिल सकता है जिसका नाम चैक में लिखा है । ऐसा चैक लिखे अनुसार परिवर्तनशील अथवा अपरिवर्तनीय (Non-transferrable) हो सकता है । ऐसे चैकों के

भुनाने के लिए आदाता के हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं। रेखांकित चैक के ऊपर आड़ी रेखा खींच कर अँग्रेजी में '& Co.' लिख दिया जाता है। ऐसे चैक द्वारा बैंक से नकदी प्राप्त नहीं की जा सकती। इसकी अङ्कित रकम आदाता के खाते में ही हस्तान्तरित की जा सकती है। इस प्रकार के चैक दो प्रकार के होते हैं:—सामान्य रेखांकित चैक तथा विशिष्ट रेखांकित चैक। दूसरे प्रकार के चैक में '& Co.' अथवा 'Not Negotiable' के अतिरिक्त यह भी अङ्कित किया जाता है कि किस विशेष बैंकर को चैक का भुगतान होना चाहिए। इस लिखाई का आशय यह तो नहीं होता है कि चैक का हस्तान्तरण नहीं हो सकता है। अभिप्राय केवल यही होता है कि हस्तान्तरण करने वाला केवल उसी प्रकार के अधिकार का हस्तान्तरण कर सकता है जैसा कि स्वयं उसको प्राप्त है। खुले चैकों का अभिप्राय उन चैकों से होता है जिन्हें किसी भी व्यक्ति द्वारा बैंक के काउण्टर (Counter) पर प्रस्तुत करके भुगतान लिया जा सकता है। ऐसे चैकों की चोरी और खो जाने का भय बहुत होता है। प्रमाणित चैक वह चैक होता है जो आहार्यी बैंक द्वारा इस प्रकार प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत करने पर उसका भुगतान कर दिया जायगा। यह आदाता के विश्वास के लिए किया जाता है। उत्तर-तिथि चैकों में केवल इतनी विशेषता होती है कि उन पर एक भावी तिथि डाल दी जाती है और उस तिथि से पहले उनका भुगतान नहीं लिया जा सकता है।

(२) **विनिमय बिल** (Bill of Exchange)—भारतीय विनिमय साध्य विपत्र एक्ट की धारा ५ के अनुसार:—"विनिमय बिल एक लिखित पत्र होता है, जिसमें लिखने वाले की ओर से बिना कोई शर्त लगाये किसी व्यक्ति को ऐसा आदेश दिया जाता है कि वह किसी व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार अथवा इस पत्र को प्रस्तुत करने वाले को एक निश्चित रकम का शोधन कर दे।" इस प्रकार विनिमय बिल एक प्रकार का आदेश-पत्र होता है, जिसमें एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को अङ्कित रकम चुकाने का आदेश देता है। ऐसा कहा जाता है कि एक सही विनिमय बिल में ५ बातें निश्चित होनी चाहिए:—(१) आहर्त्ता, (२) आदेश, (३) आहार्यी, (४) आदाता और (५) रकम।

विनिमय बिल साधारणतया दो प्रकार के होते हैं:—देशी विनिमय बिल (Inland Bill of Exchange) तथा विदेशी विनिमय बिल (Foreign Bill of Exchange)। जो बिल देश के ही किसी व्यापारी के ऊपर लिखा जाता है, वह देशी विनिमय बिल कहलाता है, परन्तु यदि बिल का आहर्त्ता अथवा आहार्यी दोनों में से कोई भी एक विदेशी है तो वह विदेशी विनिमय बिल होगा। प्रथा के अनुसार विनिमय बिल तीन

मास की अवधि का होता है, अर्थात् बिल लिखने की तिथि के ९० दिन पीछे उसका भुगतान करना आवश्यक होता है, परन्तु कभी-कभी दर्शनी बिल (Demand Bills) भी लिखे जाते हैं, जिनका भुगतान माँगने पर तुरन्त ही किया जाता है। ऐसे बिलों पर टिकट (Revenue Stamp) की आवश्यकता नहीं होती है, अन्यथा सभी विनिमय बिलों पर राशि के अनुपात में टिकट लगते हैं। कोई भी विनिमय बिल उस समय तक विनिमय साध्य या वैध नहीं होता जब तक कि आहार्यी उसे स्वीकार करके उस पर अपने हस्ताक्षर नहीं कर देता है। यदि निश्चित तिथि पर आहार्यी बिल का भुगतान नहीं करता है तो बिल का अनादर (Dishonour) हो जाता है। ऐसी दशा में भुगतान का उत्तरदायित्व लिखने वाले पर होता है।

विनिमय बिल का व्यापार, वाणिज्य तथा लेन-देन के जगत में भारी महत्त्व होता है। इसकी सहायता से एक व्यवसायी नकदी में तुरन्त भुगतान किये बिना ही माल खरीद सकता है। बिल की परिपक्वता (Maturity) के समय तक माल को बेचकर धन प्राप्त किया जा सकता है और माल की कीमत का भुगतान किया जा सकता है। दूसरे, विदेशी व्यापार में तो इससे बहुत ही लाभ होता क्योंकि निर्यात व्यापारी को अपने देश की ही मुद्रा में भुगतान मिल जाता। तीसरे, इसके कारण बहुमूल्य धातुओं के यातायात और बीमे का व्यय बच जाता है। विदेशों को भेजे हुये माल के दाम देश में ही मिल जाते हैं। चौथे, विनियोगी वर्ग के लिए यह एक विनियोग का तरल तथा सुविधाजनक साधन उपलब्ध करता है, क्योंकि विनिमय बिल को परिपक्वता से पहले भी आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त भुनाया जा सकता है, पाँचवे, विनिमय बिल उसके स्वामी को निश्चित समय और स्थान पर निश्चित राशि का भुगतान प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करता है और क्योंकि यह विनिमय साध्य (Negotiable) होता है, इसलिए इसे सरलता से खरीदा और बेचा जा सकता है। परिपक्वता से पहले रुपये की आवश्यकता पड़ने पर बिल को बैंक द्वारा भुनाया जा सकता है।

(३) विकर्ष अथवा ड्राफ्ट (Draft)—ड्राफ्ट में चैक तथा विनिमय बिल दोनों के ही गुण पाये जाते हैं। ड्राफ्ट उन विनिमय बिलों को कहते हैं जो एक बैंक द्वारा उसकी शाखाओं पर लिखे जाते हैं। भारत में ड्राफ्टों पर ठीक उसी प्रकार के नियम लागू होते हैं जैसे कि चैकों पर। ड्राफ्ट रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने का बड़ा सस्ता तथा सुविधाजनक उपाय होते हैं। इस कारण व्यापार के अर्थ-प्रबन्धन में इनका भारी महत्त्व होता है। यदि एक व्यक्ति आगरे से कलकत्ते को १,०००

रुपया भेजना चाहता है तो वह स्टेट बैंक आफ इण्डिया की आगरा शाख से उसकी कलकत्ता शाखा पर १,००० रुपए का ड्राफ्ट खरीद सकता है और फिर इस ड्राफ्ट को कलकत्ते में उस व्यक्ति के पास भेज सकता है जिसे भुगतान होना है। वह व्यक्ति ड्राफ्ट को स्टेट बैंक की कलकत्ता शाखा पर प्रस्तुत करके भुगतान ले सकता है। ठीक इसी प्रकार किसी भारतीय बैंक की लन्दन शाखा पर ड्राफ्ट खरीद कर लन्दन में भुगतान लिया जा सकता है।

(४) **प्रतिज्ञा पत्र अथवा प्रण-पत्र** (Promissory Note)—यह वह लिखित पत्र होता है जिसमें उसका लिखने वाला उसमें लिखी हुई राशि उसमें लिखित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशनुसार अथवा उसके वाहक को बिना किसी शर्त के देने की प्रतिज्ञा करता है। प्रतिज्ञा-पत्र तीन प्रकार के होते हैं :—(१) बैंक प्रतिज्ञा-पत्र (Bank Promissory Note) वह प्रतिज्ञा-पत्र होता है जो साधारणतया देश की केन्द्रीय बैंक द्वारा चालू किया जाता है और उसका भुगतान वाहक को माँग पर तुरन्त किया जाता है। भारत में एक रुपये के कुछ नोटों को छोड़कर अन्य सभी नोट रिजर्व बैंक के ऐसे ही प्रतिज्ञा-पत्र हैं। (२) चलन प्रतिज्ञा-पत्र (Currency Promissory Note) तथा बैंक प्रतिज्ञा-पत्रों में केवल इतना ही अन्तर होता है कि ये देश की सरकार अथवा देश के मुद्रा संचालक की ओर से चालू किए जाते हैं। अन्य सभी बातों में दोनों समान ही होते हैं। (३) व्यापारिक प्रतिज्ञा-पत्र (Commercial Promissory Note) सरकार तथा बैंक द्वारा नहीं लिखा जाता है। प्रकृति तथा रूप में यह विनिमय बिल की भाँति ही होता है। अन्तर यह होता है कि इसको देनदार लिखता है और हस्ताक्षर करके लेनदार को देता है। इसमें आहर्त्ता और आहार्यी दोनों एक ही व्यक्ति होता है। इसके विपरीत विनिमय बिल को लेनदार लिखता है और स्वीकृति के पश्चात् देनदार उसे लेनदार के पास भेज देता है। उसमें आहर्त्ता, आहार्यी तथा आदाता तीनों साधारणतया अलग-अलग व्यक्ति ही होते हैं। प्रतिज्ञा-पत्र सदा ही मुद्दती होता है अर्थात् इसका भुगतान एक निश्चित मुद्दत के बाद ही मिल सकता है।

(५) **हुन्डी** (Hundi)—यह भारतवर्ष का एक विशेष साख-पत्र है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि लगभग एक हजार वर्ष पहले से भारत में यह साख-पत्र प्रचलित है। स्मरण रहे कि विनिमय बिल, प्रतिज्ञा-पत्र तथा अन्य साख-पत्रों को वैधानिक स्वीकृति प्राप्त होती है, परन्तु हुन्डियों का चलन रीति-रिवाज पर आधारित है। ये साधारणतया स्थानीय भाषा में लिखी जाती हैं और भारतीय देशी बैंकों, व्यापारियों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा उपयोग की जाती हैं। विनिमय बिलों की भाँति

इन पर भी टिकट लगाया जाता है। प्रकृति में ये विनिमय बिलों की ही भाँति होती हैं। भुगतान के पश्चात् हुन्डी को खोखा कहा जाता है।

हुन्डियाँ कई प्रकार की होती हैं, परन्तु सबसे अधिक प्रचलन दर्शनी तथा मुद्दती हुन्डियों का होता है। दर्शनी हुन्डी का भुगतान माँग पर तुरन्त ही किया जाता है, परन्तु मुद्दती हुन्डी का भुगतान एक निश्चित अंकित अवधि के पश्चात् होता है। हुन्डियाँ और भी बहुत से प्रकार की होती हैं, जैसे—देखनहार हुन्डी, जिसका भुगतान उसे प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति को ही कर दिया जाता है। धनी जोग हुन्डी का भुगतान केवल निश्चित पाने वाले को ही हो सकता है और नाम जोग अथवा फरमान जोग हुन्डी वह होती है जिसका भुगतान पाने वाले के आदेशानुसार किया जाता है और जिसमें बेचान (Endorsement) की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार शाह जोग हुन्डी वह होती है जिसका भुगतान किसी आदरणीय व्यापारी को ही हो सकता है।

(६) **साख प्रमाण-पत्र** (Letters of Credit)—साख प्रमाण-पत्र एक व्यक्ति, फर्म अथवा बैंक द्वारा लिखा हुआ एक प्रकार का पत्र होता है, जिसमें किसी अन्य व्यक्ति अथवा बैंक से यह प्रार्थना की जाती है कि वे पत्र में अंकित व्यक्ति को एक निश्चित मात्रा के भीतर किसी भी अंश तक साख प्रदान कर दें। बहुधा इस पत्र में एक तिथि का उल्लेख कर दिया जाता है और जिसके नाम पत्र लिखा जाता है उससे इस तिथि तक ही साख प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है। ऐसे प्रमाण-पत्र साधारणतया बैंकों द्वारा ही चालू किये जाते हैं। ये प्रमाण-पत्र भी दो प्रकार के होते हैं, अर्थात् साधारण साख प्रमाण-पत्र तथा चलायमान साख प्रमाण-पत्र (Circular Letters of Credit)। एक साधारण पत्र केवल एक ही बैंक अथवा फर्म के नाम लिखा जाता है, परन्तु चलायमान पत्र एक ही साथ जारी करने वाली बैंक की अनेक शाखाओं, अभिकर्त्ताओं तथा अन्य सम्बन्धित बैंकों को लिखा जाता है। सभी साख-पत्रों के आधार पर ऋण नकदी में प्राप्त किये जा सकते हैं अथवा विनिमय बिलों के रूप में। इस प्रकार प्राप्त ऋणों को पत्र की पीठ पर अंकित करना आवश्यक होता है।

(७) **यात्री धनादेश** (Traveller's Cheques)—ये चैक यात्रियों के लिए बड़े उपयोगी होते हैं, क्योंकि इनको प्रस्तुत करके यात्री चैक निकालने वाली बैंक की किसी भी शाखा, अभिकर्त्ता अथवा सम्बन्धित संस्था से रुपये ले सकता है। जितनी ही ऐसी शोधन संस्थाओं की संख्या अधिक होती है उतनी ही यात्री को सुविधा भी अधिक रहती है। प्रत्येक चैक के बदले में उस पर छपी हुई रकम ही मिलती है और यात्री को शोधन करने वाली बैंक के सामने अपने हस्ताक्षर करने होते हैं। वैसे भी

चैक प्रदान करने वाली बैंक अपने सामने यात्री से उन पर हस्ताक्षर करा लेती है। इस प्रकार चैक के खो जाने अथवा धोखेबाजी के कारण हानि होने का भय नहीं रहता है।

(८) **कोषागार विपत्र** (Treasury Bills)—कोषागार विपत्र-सरकार के अल्पकालीन ऋणों के सूचक होते हैं। इन पत्रों की निकासी तीन, छः, नौ अथवा बारह महीनों की अवधि के लिए की जाती है। बात यह है कि सरकार की आय प्राप्ति का समय बहुधा निश्चित होता है, परन्तु आय प्राप्ति के समय से पहले सरकार को धन की आवश्यकता पड़ सकती है। इस काल के लिए सरकार कोषागार विपत्रों के द्वारा ऋण प्राप्त करती है। ये ऋण इस आशा पर लिए जाते हैं कि आय प्राप्त होते ही इनका शोधन कर दिया जायगा। इन पत्रों की निकासी के लिए सरकार निविदा (Tenders) माँगती है, जिसमें निविदा देने वालों से उस ब्याज का ब्यौरा माँगा जाता है जिस पर वे ऋण देने को तैयार हैं। ऐसे निविदे एक निश्चित रकम के लिए ही माँगे जाते हैं और फिर उस निविदे को स्वीकार किया जाता है जिसमें सबसे कम ब्याज माँगा जाता है। शोधन निश्चित रकम में से ब्याज की रकम काट कर लिया जाता है और भुगतान के समय पूरी रकम लौटा दी जाती है।

(९) **पुस्तकीय साख** (Book Credit)—जब कोई व्यापारी उधार माल बेचता है अथवा जब कोई बैंक ऋण देती है और उधार की रकम को अपनी खाता बही में दिखाती है तो इस प्रकार के उधार को पुस्तकीय साख कहते हैं। इस प्रकार के खाता पुस्तकों के हिसाब को वैधानिक रूप में उधार मान लिया जाता है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि उन पर ऋणी के हस्ताक्षर हों। इस प्रकार का पुस्तकीय साख बहुत प्रचलित है और एक व्यापारी द्वारा दूसरे व्यापारियों तथा एक बैंक द्वारा दूसरे बैंकों को प्रदान किया जाता है। बहुधा उधारों का एक बड़ा भाग आपसी ऋणों के समायोजन से ही चुकती हो जाता है। शेष के लिए नकदी में भुगतान कर दिया जाता है। बैंक के लिए इस समायोजन का कार्य समाशोधन-गृहों द्वारा किया जाता है।

(१०) **अनुग्रह बिल** (Accomodation Bill)—यह प्रकृति तथा रूप में विनिमय बिल की ही भाँति होता है। अन्तर केवल यह होता है कि विनिमय बिल प्राप्त मूल्य के आधार पर लिखा जाता है, परन्तु यह बिना किसी मुआवजे के लिखा और स्वीकार किया जाता है। इसका उद्देश्य केवल पारस्परिक साख का प्रदान करना होता है और बिल को बैंक द्वारा भुनाकर दोनों ही दलों को साख प्राप्त हो जाती है।

उपरोक्त साख पत्रों के अतिरिक्त बॉड्स (Bonds), ऋण-पत्र (Debentures), जो कि सम्मिलित पूँजी कम्पनियों द्वारा निकाले जाते हैं, आदि और भी बहुत से साख-पत्र होते हैं, जो विनिमय साध्य होते हैं और काफी लोकप्रिय भी हैं।

साख के कार्य और उसके लाभ—

पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली में साख संस्था का भारी महत्त्व है। यह तो सच है कि साख पूँजी का निर्माण नहीं करती है, परन्तु यह पूँजी में गतिशीलता उत्पन्न करके उद्योग और व्यापार की भारी सेवा करती है। आजकल का बाजार विश्वव्यापी है और संसार के सभी भाग एक दूसरे पर निर्भर हैं। आज का संसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आधारित है और उत्पत्ति काफी बड़े पैमाने पर होती है। इस विशालकाय ढांचे को चलाने के लिए साख की भारी आवश्यकता होती है। केवल व्यक्तिगत रूप में ही मनुष्य इससे लाभ नहीं उठाता है, वरन् सामूहिक रूप में भी वह इस पर आश्रित है। इसके प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) साख पूँजी में गतिशीलता उत्पन्न करके उसकी उत्पादन शक्ति को बढ़ा देता है। इसके द्वारा बेकार पड़ी हुई पूँजी का उन व्यक्तियों के पास हस्तान्तरण हो जाता है जो उसे उत्पादन कार्य में लगा कर अपना ही नहीं वरन् समाज और राष्ट्र का भी भला करते हैं।

(२) साख-पत्रों का विनिमय माध्यम के रूप में उपयोग होता है। इससे एक ओर तो विनिमय माध्यम की मात्रा बढ़ जाने के कारण व्यापार और व्यवसाय में सुविधा होती है और दूसरी ओर बहुमूल्य धातुओं के उपयोग में बचत होती है।

(३) साख से व्यापार की उन्नति में भारी सहायता मिलती है। यदि बैंकों की सहायता से विभिन्न देशों के व्यापारी एक दूसरे से परिचित न हों तो व्यापार का आधार ही समाप्त हो जाय। सारा ही विदेशी व्यापार विनिमय बिलों, ड्राफ्टों आदि पर आधारित होता है।

(४) बड़ी-बड़ी राशियों के भुगतान के लिए साख-पत्र अधिक सुरक्षित, सस्ता तथा सुविधाजनक साधन होते हैं और इनसे दूर-दूर रुपया भेजने में भी आसानी होती है।

(५) साख उधार अथवा स्थगित शोधनों के लिए प्राण तुल्य होती है और उधारों की सुविधा आर्थिक, व्यावसायिक और वाणिज्यिक उन्नति का प्रतीक होती है।

(६) साख से बचत तथा पूँजी के संचय को प्रोत्साहन मिलता है। बैंक जैसी साख-संस्थाएँ छोटी-छोटी बचतों को भी जमा कर लेती हैं। ब्याज का लोभ लोगों को अधिक बचत करने के लिए प्रेरित करता है।

(७) साख पर समुचित नियन्त्रण रखने से देश में कीमत स्तर की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है, जिसके अनेक लाभ होते हैं।

(८) साख का निर्माण बहुधा बैंकों द्वारा किया जाता है, जो व्यापार और व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुसार उसका विस्तार अथवा संकुचन करती हैं। इससे देश की मुद्रा-प्रणाली में लोच बनी रहती है।

(९) साख क्रयः शक्ति और सरकारी आय में वृद्धि करके सरकार को देश के मानव और भौतिक साधनों के उपयोग का अवसर देती है।

(१०) साख की सहायता से सरकार को संकट-कालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए आवश्यक धन प्राप्त हो जाता है और वह अपनी आय के व्यय को ठीक-ठीक रूप में नियन्त्रित कर सकती है।

साख की हानियाँ (Dangers of Credit)—

अनुभव बताता है कि साख का दुरुपयोग भी सम्भव है। एक सेविका के रूप में तो इसकी सेवायें सराहनीय होती हैं, परन्तु एक स्वामिनी के रूप में यह देश के आर्थिक जीवन को इतना दूषित कर सकती है कि समाज की हानियों का पार ही न रहे। साख के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं:—

(१) साख तथा पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली दोनों का ही एक साथ विकास होता है। पूँजीवाद का विकास करके साख देश के भीतर आय के वितरण में घोर असमानताएँ उत्पन्न करती है। सारा धन और सारी आर्थिक शक्ति थोड़े से ही हाथों में एकत्रित हो जाती है और सामाजिक अशान्ति बढ़ती है।

(२) ऋणों की सुगमता के कारण समाज में अपव्यय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है और समाज का नैतिक स्तर नीचे गिर जाता है।

(३) उधार मिलने की अत्यधिक सुविधा अयोग्य तथा अकुशल व्यवसायों को जन्म देती है और जब ये व्यवसाय ठप्प होते हैं तो राष्ट्र का भारी अनहित होता है।

(४) साख सट्टे को प्रोत्साहित करती है, जिससे जुआरी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है और कीमतों में अकारण ही भारी उच्चावचन पैदा होते हैं।

(५) साख का एक गम्भीर दोष यह भी है कि तेजी के समय इसका खूब विस्तार होता है और मन्दी के काल में संकुचन भी। इस प्रकार स्फीति तथा विस्फीतिक दोनों ही प्रवृत्तियों को और अधिक बल मिल जाता है। भारी कठिनाई यह है कि साख मानव नियन्त्रण पर अवलम्बित है और यदि नियन्त्रण कुशल नहीं है तो यह गम्भीर दोष उत्पन्न कर सकती है।

...क साख का निर्माण किस प्रकार करती है ?—

...साख-निर्माण की सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था बैंक है। बैंक साख का ...र्माण दो प्रकार करती है:—बैंक नोटों की निकासी साख उत्पादन की एक विधि है। भूत-काल में प्रत्येक बैंक को नोट निर्गमन का अधिकार ...ता था, परन्तु इस समय यह एकाधिकार केवल देश की केन्द्रीय बैंक के ...स होता है। जितने नोटों का निर्गम बैंक द्वारा किया जाता है उन सबके पीछे धातु निधि नहीं रखी जाती है। जिन देशों में बैंक नोटों को धातु-मुद्रा में बदलने का वचन देती है वहाँ भी नोटों के केवल एक भाग को ही धातु-निधि के रूप में रखा जाता है, शेष के पीछे प्रतिभूतियाँ रखी जाती हैं, क्योंकि अनुभव द्वारा बैंक को यह ज्ञात होता है कि कुल-नोटों के एक छोटे से भाग को ही जनता द्वारा धातु में बदला जाता है। जब तक बैंक के ऊपर विश्वास रहता है, ये नोट बिना किसी रुकावट के चलते हैं। इस प्रकार नोट चालू करने वाली बैंक साख उत्पन्न करती है और इस साख द्वारा व्यवसायों को क्रयः शक्ति प्रदान की जाती है।

बैंक द्वारा साख निर्माण की दूसरी रीति ऋणों को देना और उनके लिए निक्षेपों का उत्पन्न करना है। जो रुपया किसी बैंक के पास जमा किया जाता है उसको बैंक आय कमाने तथा अपने साख संगठन के निर्माण के लिये उपयोग करती है, परन्तु बहुधा ऐसा होता है कि यदि बैंक में जमा केवल १०,००० रुपया की है तो बैंक आसानी से ४०,००० या ५०,००० रुपया उधार दे देगी। ऊपर से देखने पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह असम्भव है, परन्तु वास्तव में बैंक ऐसा सदा ही करती है और यही बैंक के लाभ का प्रमुख साधन है। अनुभव द्वारा बैंक को यह ज्ञात होता है कि जो ऋण उसके द्वारा दिये जाते हैं उनके एक छोटे से भाग के लिए ही नकदी की माँग की जाती है। अधिकाँश ऋण तो विभिन्न ग्राहकों के लेखों में आवश्यक समायोजन करने से बिना नकदी दिए ही सुलझ जाते हैं। इसका कारण यह है कि एक बैंक के विभिन्न ग्राहक आपस में भी एक दूसरे के ग्राहक होते हैं, अथवा अन्य किसी ऐसी बैंक के ग्राहक होते हैं जिसकी बैंक विशेष से लेन-देन है। ऐसी दशा में विभिन्न ग्राहकों द्वारा एक दूसरे को जो शोधन किए जाते हैं वे साधारणतया एक दूसरे को रद्द करते रहते हैं। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा:—

मान लीजिये कि एक बैंक के पास नकदी में केवल १०,००० रुपये हैं और उसके क, ख, ग, घ, ङ पाँच ग्राहक हैं, जिनमें से प्रत्येक को वह ८-८ हजार रुपए का ऋण देती है। इन पाँच ग्राहकों की आपस में भी लेन-देन है और इसका हिसाब भी बैंक द्वारा ही रखा जाता है। मान लीजिए कि क ५,००० रुपये का चैक लिखता है और बैंक को यह आदेश देता है कि यह

राशि ख को चुका दी जाय। बैंक तुरन्त इतनी रकम क के खाते से निकाल कर ख के खाते में जमा कर देगी। इसी प्रकार ख इतनी ही रकम का चैक ग के लिए लिख सकता है, ग फिर घ के लिए और घ आगे चल कर ङ के लिए। अन्त में ङ इसी रकम का चैक क के लिए लिख सकता है। प्रत्येक बार जब चैक बैंक को भेजा जाता है तो बैंक को विभिन्न ग्राहकों के खातों में जमा-घटा करनी पड़ती है, परन्तु जैसा कि स्पष्ट है कि उपरोक्त लेन-देन में बैंक को वास्तव में नकदी में कुछ भी देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, केवल लेखों में समायोजन करने से ही काम चल जाता है। इस प्रकार यद्यपि दिखाने के लिए ५ बार पाँच-पाँच हजार रुपये का भुगतान करके बैंकों ने २५,००० रुपये का भुगतान किया है, परन्तु उसे नकदी में कुछ भी नहीं देना पड़ा है। इस प्रकार २५,००० रुपये की राशि का साख निर्माण हुआ। बैंकों की ऋण-दान विधि यह होती है कि प्रत्येक ऋण लेने वाले को निक्षेपदाता की भाँति समझा जाता है। जितनी रकम उसको उधार दी गई है उतने का खाता उसके नाम में खोल दिया जाता है, जिसमें से एक साधारण निक्षेपधारी की भाँति वह चैक से रुपया निकाल सकता है। यही कारण है कि बहुधा यह कहा जाता है कि बैंक के ऋण उसके निक्षेपों को पैदा करते हैं (Loans Create Deposits)। इस प्रकार बैंक के निक्षेप दो प्रकार के होते हैं:—प्रथम, वे जो निक्षेप-धारियों ने रुपया जमा करके उत्पन्न किए हैं और दूसरे वे जो ऋण लेने वालों ने ऋण लेकर पैदा किये हैं।

विदरस् (Withers) का विचार है कि बैंक के सभी ऋण इसी प्रकार निक्षेपों को उत्पन्न करके साख का निर्माण करते हैं। बैंक के अधिकाँश निक्षेपधारी नकदी में भुगतान नहीं माँगते हैं, यद्यपि बैंक ऐसे भुगतान से कभी इन्कार नहीं करती है। अधिकाँश शोधन चैकों द्वारा किये जाते हैं, जो या तो उसी बैंक में जमा हो जाते हैं जिस पर वे लिखे गये हैं अथवा किसी अन्य बैंक में जमा होकर नये निक्षेप उत्पन्न करते हैं। विभिन्न बैंकों की अन्योन्य लेन-देन चलती रहती है, जिसका समायोजन समाशोधन गृहों द्वारा कर दिया जाता है। नकदी के भुगतान बहुत ही कम होते हैं।

लीफ (Leaf) तथा कैनन ने बैंकों द्वारा इस प्रकार साख निर्माण की कड़ी आलोचना की है। उनका विचार है कि साख निर्माण का कार्य निक्षेपधारियों द्वारा आरम्भ किया जाता है, न कि बैंक द्वारा। बैंक ऋणों के प्रदान करने में इसी कारण सफल होती हैं कि निक्षेपधारी अपनी निक्षेपों का अधिकाँश भाग नकदी में निकालना नहीं चाहते हैं। यहाँ लीफ तथा कैनन ने बैंक के कार्य को समझने में भूल की है, क्योंकि बैंक

तो साधारणतया उन्हीं निक्षेपों को ऋणों के रूप में देती है जो निकाली नहीं जाती हैं।

साख की सीमाएँ (Limits of Credit)–

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि बैंक किस सीमा तक साख का विस्तार कर सकती हैं? ऋणों के कुछ न कुछ भागों की नकदी में माँग अवश्य की जाती है। इस सम्बन्ध में बेनहाम ने बैंकों की साख निर्माण शक्ति की तीन सीमाएँ बताई हैं जो निम्न प्रकार हैं:—

(१) देश में रोक (Cash) की कुल मात्रा—स्मरण रहे कि केवल रोक के आधार पर ही साख निर्माण हो सकता है जितनी ही देश में रोक अथवा विधि-ग्राह्य मुद्रा अधिक होगी उतनी ही अधिक मात्रा में साख का भी निर्माण हो सकेगा, परन्तु रोक की मात्रा केन्द्रीय बैंक द्वारा निश्चित की जाती है, जो साख के विस्तार तथा संकुचन के हेतु उसे घटा-बढ़ा सकती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की नीति साख की सीमा निर्धारित करती है।

(२) जनता द्वारा रोक का उपयोग—यदि किसी देश में चैकों के स्थान पर नकदी के उपयोग का ही रिवाज है तो जैसे ही बैंक द्वारा साख प्रदान किया जायगा, ऋणी चैक की सहायता से नकदी प्राप्त कर लेगा। नकद कोषों में कमी होते ही बैंक की साख निर्माण शक्ति भी घट जायगी। भारत में ऐसा ही रिवाज है और इसी कारण बैंक कम मात्रा में साख का निर्माण कर पाती हैं। इसके विपरीत जिन देशों में चैकों का ही विस्तृत उपयोग होता है वहाँ बैंकों की साख निर्माण शक्ति अधिक होती है। इस प्रकार जनता की रोक उपयोग सम्बन्धी आदतें साख के निर्माण की सीमाएँ निश्चित करती हैं।

(३) तीसरी सीमा बैंकों के नकद कोषों तथा निक्षेपों के अनुपात द्वारा निश्चित की जाती है। कुछ देशों में तो यह अनुपात वैधानिक रूप में नियत कर दिया जाता है, परन्तु अन्य देशों में इसका आधार परम्परागत होता है और आदेयों की तरलता के उस अंश पर निर्भर होता है, जिसे बैंक की सुरक्षा के लिये आवश्यक समझा जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि जब भी बैंक द्वारा कोई नया ऋण दिया जाता है अथवा कोई नया निक्षेप उत्पन्न किया जाता है तो बैंक की देन में वृद्धि होती है और उसके साथ ही साथ बैंक के नकद कोषों और उसके निक्षेपों का अनुपात भी घटता है, परन्तु क्योंकि बैंक शोधनों को नकदी में चुकाने की गारन्टी देती है और नकदी में शोधन न दे पाने की दशा में बैंक के बिश्वास खो देने तथा ठप्प हो जाने का भय होता है, इसलिए बैंक नकद कोषों को

निक्षेपों के एक निश्चित न्यूनतम् प्रतिशत से नीचे नहीं गिरने देती हैं। जिन देशों में नकद कोषों तथा निक्षेपों के अनुपात को नियमानुसार नियत नहीं किया जाता है वहाँ भी अनुभव के आधार पर सुरक्षा के दृष्टिकोण से बैंकों द्वारा नकद कोषों की न्यूनतम् सीमा निश्चित कर ली जाती है। नकद कोषों तथा निक्षेपों का यह अनुपात साख के विस्तार की सबसे महत्त्वपूर्ण सीमा है।

अध्याय २५

की कार्य प्रणाली

(The Banking Operations)

पिछले अध्याय में हमने बैंक और उसके कार्यों का अध्ययन किया था। प्रस्तुत अध्याय में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि बैंक अपने विभिन्न प्रकार के कार्यों को किस प्रकार सम्पन्न करती है। बैंक का प्रमुख कार्य रुपये की लेन-देन करना होता है। बैंक लोगों से ब्याज पर रुपया लेती है और फिर इसी रुपये को उधार पर चलाती है। वास्तविक जीवन में बैंक ऋण के रूप में प्राप्त रकम से भी अधिक रुपया उधार दे सकती है, जिसका कारण यह होता है कि बैंक साख का निर्माण करती है और यह साख-मुद्रा भी नकद रुपये की भाँति उधार दे दी जाती है। एक साधारण व्यवसायी की भाँति बैंक को भी अपना कारोबार चलाने के लिए धन अथवा पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए बैंक की कार्य प्रणाली का अध्ययन बड़े अंश तक इस बात का अध्ययन होगा कि बैंक किस प्रकार पूँजी प्राप्त करती है और फिर इस प्राप्त पूँजी का उपयोग करके किस प्रकार लाभ कमाती है।

बैंक पूँजी किस प्रकार प्राप्त करती है—

एक बैंक द्वारा पूँजी प्राप्त करने के साधन निम्न प्रकार होते हैं :—

(१) अंश पूँजी (Share Capital)—आधुनिक बैंकों का संगठन सम्मिलित पूँजी कम्पनियों (Joint-stock Companies) की भांति होता है। वे भी मिश्रित पूँजी संस्थायें होती हैं। बैंक का संचालक मण्डल

यह निश्चय कर लेता है कि बैंक कुल कितनी पूँजी से व्यवसाय आरम्भ करेगा अथवा उसकी अधिकृत पूँजी कितनी होगी। तत्पश्चात् इस अधिकृत पूँजी को अंशों में बाँट दिया जाता है, जिनमें से प्रत्येक बराबर कीमत का होता है। इन अंशों को बाजार में बेचने के लिये रखा जाता है। सञ्चालक मण्डल द्वारा बहुधा यह भी निश्चय कर दिया जाता है कि एक व्यक्ति अधिक से अधिक कितने अंश खरीद सकता है। इसके विपरीत कभी-कभी किसी भी व्यक्ति को अंश खरीदने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। अंश खरीदने वाला व्यक्ति बैंक का अंशधारी (Shareholder) कहलाता है। अंशों की बिक्री से प्राप्त राशि बैंक की पूँजी होती है और कुछ दशाओं में तो बैंक की कुल पूँजी का काफी बड़ा भाग अंश पूँजी के ही रूप में होता है। साधारणतया आरम्भ में ही यह निश्चय कर दिया जाता है कि बैंक कितनी अंश पूँजी प्राप्त करेगी, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार निर्धारित पूँजी पूर्णतया प्राप्त हो ही जाय।

(२) **निक्षेप अथवा जमाधन** (Deposits)—यह बैंक की पूँजी का दूसरा साधन है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, बैंक जनता से रुपया उधार लेकर अपने व्यवसाय में लगाती है। बैंक के ऋण साधारणतया निक्षेप अथवा जमाधन के रूप में होते हैं। लोगों को यह अधिकार होता है कि निश्चित शर्तों पर वे अपना रुपया बैंक में जमा कर सकते हैं। इस प्रकार यह रुपया सुरक्षित ही नहीं रहता, बल्कि अधिकांश दशाओं में बैंक इस जमा पर ब्याज भी देती है। निक्षेपधारी को बिना किसी शर्त के अथवा कुछ शर्तों पर जमा किया हुआ रुपया निकालने का अधिकार दिया जाता है। निक्षेप कई प्रकार की हो सकती हैं, जैसे—चालू जमा, निश्चितकालीन जमा, अनिश्चितकालीन जमा, सेविंग बैंक जमा, गृह बचत जमा, इत्यादि। प्रत्येक प्रकार की जमा में जमाधारी और बैंक के अधिकारों में अन्तर होता है और प्रत्येक के लिए अलग-अलग प्रकार के खाते खोले जाते हैं। इन खातों में छोटी से छोटी रकम से लेकर बड़ी से बड़ी राशि भी जमा की जा सकती है। यह यथार्थ में बैंक का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि इसके द्वारा जनता के पास फालतू पड़े हुये धन का लाभपूर्ण उपयोग सम्भव होता है और ब्याज का लोभ देकर जनता को अधिक बचत करने के लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है। जिस प्रकार बूँद-बूँद पानी जमा होते-होते कुछ समय पश्चात् तालाब भर जाता है, ठीक इसी प्रकार थोड़ी-थोड़ी बचत के इकट्ठा हो जाने से देश के लिए पर्याप्त पूँजी जमा हो सकती है। वैसे भी एक अच्छी बैंक की पहिचान इसी से होती है कि उसे कितना जमाधन प्राप्त हुआ है।

(३) **ऋण** (Loans)—जमाधन भी एक प्रकार का ऋण ही होता

है, जो बैंक द्वारा जन-साधारण से लिया जाता है, परन्तु जमाधन के अतिरिक्त एक बैंक प्रत्यक्ष रूप में भी ऋण ले सकती है। ऐसे ऋण साधारणतया व्यक्तियों से नहीं लिए जाते हैं, बल्कि अन्य बैंकों, केन्द्रीय बैंकों अथवा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं से लिए जाते हैं। वैसे तो एक बैंक किसी भी काल में ऋण ले सकती है, परन्तु साधारण परिस्थितियों में बहुधा अंश पूँजी तथा जमाधन से ही काम चलाया जाता है। केवल असाधारण परिस्थितियों में ही ऋणों की शरण ली जाती है। जब किसी बैंक के निक्षेपधारी इतनी अधिक मात्रा में नकदी की माँग करने लगते हैं कि बैंक किसी भी प्रकार अपने साधनों में से इस माँग को पूरा नहीं कर पाती है तो बैंक देश की केन्द्रीय बैंक अथवा किसी दूसरी बैंक से ऋण ले सकती है। ऐसे ऋण साधारणतया थोड़े काल के लिए ही लिए जाते हैं और सङ्कट काल का अन्त होते ही लौटा दिये जाते हैं।

(४) **साख का निर्माण** (Creation of Credit)—बैंक के इस कार्य का विस्तृत अध्ययन एक पिछले अध्याय में किया जा चुका है। साख का निर्माण करना और इस प्रकार निर्मित साख में व्यवसाय करना बैंक की एक प्रमुख विशेषता है। बैंक की देनदारी पर लोगों का विश्वास होने के कारण बैंक लगभग सदा ही उससे बहुत अधिक मात्रा में ऋण दे सकती हैं जितना कि उनके पास नकद कोष है। अपने पास केवल ५,००० रुपये नकद रहते हुए भी बैंक २५,००० रुपये तक के ऋण दे सकती है। इसका प्रमुख कारण यह होता है कि बैंक ऋण लेने वालों के खाते खोल देती है, जिसमें से वे धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार ऋण की अधिकृत राशि निकालते रहते हैं। ऋण की सारी राशि की नकदी में माँग नहीं की जाती है। अधिकाँश शोधन केवल विभिन्न खातेदारों के खातों में आवश्यक समायोजन करके ही सम्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि एक बैंक के विभिन्न ग्राहक या तो आपस में एक दूसरे के ग्राहक होते हैं या किसी दूसरी बैंक के ग्राहक होते हैं, जिससे पहली बैंक की लेन-देन होती रहती है।

आधुनिक युग में बैंकों के साख निर्माण कार्य का महत्त्व बहुत ही बढ़ गया है और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं कि बैंक काफी मात्रा में साख का निर्माण कर सकती है, यद्यपि उसे इस सम्बन्ध में अपनी सुरक्षा का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है। निम्न चार कारणों ने बैंक की साख निर्माण शक्ति में वृद्धि की है :—

(क) आधुनिक संसार में नकदी के स्थान पर चैक द्वारा भुगतान करने की प्रथा अधिक लोकप्रिय हो गई है, जिसके कारण बैंक से नकदी की माँग कम ही रहती है।

(ख) लोग पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में बैंक से व्यवसाय करने

लगे हैं। केवल बैंकिंग प्रणाली की लोकप्रियता में वृद्धि नहीं हुई है, वरन् बैंक के प्रति विश्वास भी बढ़ गया है।

(ग) समाशोधन गृहों (Clearing Houses) के विकास ने यह सम्भव बना दिया है कि बैंकों की अन्योन्य लेन-देन नकदी में होने के स्थान पर खातों के समायोजन द्वारा होती रहे। इसका परिणाम यह होता है कि नकदी में भुगतानों की आवश्यकता बहुत ही कम रहती है।

(घ) जनता में बैंकिंग आदत भी बढ़ती जा रही है। बैंक को निरन्तर अधिक संख्या में ग्राहक मिल रहे हैं और इन ग्राहकों की तुरन्त नकदी में भुगतान लेने की आतुरता भी घट रही है।

(३) सुरक्षित कोष (Reserve Fund)—अपने व्यवसाय के अन्तर्गत बैंक आय कमाती है। इस आय का एक भाग तो सचालन व्यय को पूरा करने में खर्च हो जाता है और शेष लाभ के रूप में प्राप्त होता है। एक बैंक अपने लाभ का भी दो प्रकार उपयोग करती है—लाभ का एक भाग लाभांश (Dividend) के रूप में अंशधारियों में बाँट दिया जाता है और दूसरा भाग सुरक्षित कोष में डाल दिया जाता है। साधारणतया सुरक्षित कोष की व्यवस्था लाभांश बाँटने से पहिले की जाती है और लाभांश को निश्चित सीमा के ही भीतर रखा जाता है। सुरक्षित कोष बहुत सी दशाओं में तो बैंक के कुल विनियोग धन का काफी महत्त्वपूर्ण भाग होता है और कालान्तर में कोष का आकार बढ़ता ही जाता है, परन्तु पूँजी का यह साधन बैंक को कुछ समय पश्चात् ही प्राप्त होता है, क्योंकि धीरे-धीरे व्यवसाय के लाभ में से सुरक्षित कोष बनाया जाता है। नये विधान के अनुसार भारत में बैंकों के लिए सुरक्षित कोषों का जमा करना आवश्यक होता है।

बैंक के धन का विनियोग (Investment of Funds)—

बैंक के लाभ उसके विनियोगों द्वारा ही पैदा होते हैं। अंश पूँजी, जमाधन, ऋण की राशि तथा अन्य कोषों का विनियोजन करके बैंक लाभ कमाती है। कुल पूँजी को कुछ निश्चित उपयोगों तथा विनियोगों में बाँटा जाता है, जैसे—नकद कोष, मृत स्कन्ध, तरल आदेय, अतरल आदेय और लाभपूर्ण विनियोग। एक बैंक किस प्रकार अपनी कुल पूँजी को विभिन्न विनियोगों में बाँटती है इसका कोई निश्चित् नियम तो नहीं हो सकता है, परन्तु समुचित विनियोजन नीति के सम्बन्ध में कुछ सामान्य नियम अवश्य बनाये जा सकते हैं। ये नियम बैंक की सुरक्षा, जनता के विश्वास और विनियोगों की लाभपूर्णता पर आधारित होते हैं। प्रमुख नियम निम्न प्रकार हैं।

बैंक की समुचित विनियोग नीति के सिद्धान्त (Principles of a Sound Banking Investment Policy)—

एक बैंक की सफलता बड़े अंश तक इस बात पर निर्भर होती है कि वह अपने कोषों का किस प्रकार विनियोग करती है। इस सम्बन्ध में एक गलत नीति का अपनाना बैंक के लिए घातक हो सकता है। जैसा कि एक पिछले अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि बैंक के पास उन समस्त माँगों की तुलना में, जो उसके ऊपर की जा सकती हैं, नकद कोष बहुत ही कम होते हैं। बैंक अनुभव द्वारा यह जान लेती है कि नकदी की माँग साधारणतया कितनी रहती है और उसी के अनुसार वह नकद कोष रखती है, अथवा अपनी निक्षेपों का विस्तार करती है, परन्तु कभी-कभी विशेष प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। यदि बैंक ग्राहकों की माँगों को पूरा करने में असफल रहती है तो जनता का उस पर से विश्वास उठ जाता है और फिर उसके ठप्प होने में समय नहीं लगता है। बैंक की समुचित विनियोग नीति के आधारभूत सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—

(१) **सुरक्षा** (Safety)—बैंक की अग्रिम तथा विनियोग नीति के सम्बन्ध में यह सबसे पहली आवश्यकता है, क्योंकि सुरक्षित विनियोगों के न होने से स्वयं बैंक का जीवन ही संकट में पड़ जाता है। अधिक लाभ कमाने के लिए सुरक्षा पर ध्यान न देना घातक हो सकता है। इस कारण ऐसा कहा जाता है कि बिना उपयुक्त प्रतिभूति के बैंक को ऋण नहीं देना चाहिए। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो यही उपयुक्त है, परन्तु अन्य बैंकों की प्रतियोगिता के कारण बैंक को बहुत बार व्यक्तिक अथवा कम विश्वसनीय प्रतिभूतियों पर भी ऋण देना पड़ जाता है। ऐसी दशाओं में बैंक के मैनेजर को बहुत सोच-विचार कर तथा सावधानीपूर्वक काम करना चाहिए।

(२) **तरलता** (Liquidity)—यह उपयुक्त विनियोग नीति की दूसरी आवश्यकता है। विशेष परिस्थितियों में बैंक को नकदी की अधिक आवश्यकता पड़ सकती है। इसके लिए बैंक को ऐसे आदेयों को रखना चाहिए जिन्हें सरलतापूर्वक शीघ्र ही नकदी में बदला जा सके। इस दृष्टिकोण से बैंक के लिए थोड़े समय के लिए ऋणों का देना अधिक उपयुक्त होता है, जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त ही धन प्राप्त किया जा सके। यदि बैंक अतरल आदेयों, जैसे—भूसम्पत्ति, अविक्री-साध्य प्रतिभूतियों अथवा दीर्घकालीन औद्योगिक तथा कृषि ऋणों में अपना रुपय लगाती है तो यह रुपया काफी समय तक के लिए बन्द हो जायगा और आदेयों पर तरलता समाप्त हो जायगी। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता

है कि एक सच्चा बैंकर वही है जो विनिमय बिल तथा प्राधि के अन्तर को समझता है।* बात यह है कि विनिमय बिल एक अल्पकालीन साख-पत्र होता है, जिसकी परिपक्वता साधारणतया ३ महीने की होती है, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर उसे केन्द्रीय बैंक से भी भुनाया जा सकता है, अथवा अन्य किसी बैंक के हाथ बेचकर तुरन्त नकदी प्राप्त की जा सकती है। प्राधि (Mortgage) में यह बात नहीं होती। वह तो एक बड़ा ही अतरल आदेय है। यह सम्भव है कि बैंक के पास बहुत काफी अतरल आदेय रहते हुए भी उसका दिवाला निकल जाय, यदि वह अपनी नकदी सम्बन्धी माँगों को तुरन्त पूरा करने में असफल रहती है। एक अच्छी बैंक के लिए तरल आदेयों में धन का काफी मात्रा में लगाना बहुत ही आवश्यक है।

(३) जोखिम की विविधता (Diversification of Risk)—यह भी बहुत आवश्यक है कि बैंक अपना सारा या अधिकांश धन एक ही प्रकार के ऋणों, प्रतिभूतियों, व्यवसायों अथवा विनियोगों में न लगाये, बल्कि उसका विभिन्न प्रकार के आदेयों में वितरण करे। इसका महत्त्व इस कारण है कि ऐसी दशा में एक व्यवसाय में मन्दी आने अथवा एक प्रकार की प्रतिभूतियों की तरलता घट जाने या उनकी कीमतों के गिरने से बैंक की साख पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि सभी अण्डे एक ही टोकरी में रखे जाते हैं तो उनके टूटने का भय अधिक रहता है। इस दृष्टिकोण से यह भी अधिक उपयुक्त है कि बैंक कुछ थोड़े से उद्योगों अथवा व्यापारियों को बड़े-बड़े ऋण देने के स्थान पर छोटे-छोटे अथवा माध्यम प्रकार के ऋण बहुत से उद्योगों और व्यक्तियों को दे। इसका लाभ यह होता है कि एक समय में कुछ व्यक्तियों द्वारा भुगतान न होने से उत्पन्न होने वाली जोखिम कम हो जाती है और बैंक के लिए नकदी का एक ऐसा प्रवाह बना रहता है कि उसे ग्राहकों की माँग पूरा करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है।

(४) उत्पादकता (Productivity)—प्रत्येक बैंक का उद्देश्य लाभ कमाना होता है। बैंक यही देख कर ऋण देने का निर्णय करती है कि उसे उससे किस अंश तक लाभ प्राप्त होगा। जितना ही विनियोग अथवा आदेय की उत्पादकता अधिक होगी उतना ही उसे अधिक पसन्द किया जायगा। बैंक बहुधा स्वयं ऋण लेकर विनियोग करती है। यदि ऋण प्राप्त करने की ब्याज की दर और ऋण प्रदान करने की ब्याज की दर में भारी

---

* A true banker is one who understands the difference between a mortgage and a bill of exchange.

अन्तर है तो ऋण देना अधिक लाभदायक होता है। बिना समुचित लाभ की आशा के विनियोग का प्रश्न ही नहीं उठता है।

(५) प्रतिभूतियों की विक्री-साध्यता (Marketability of Securities)—यह भी सुरक्षा के दृष्टिकोण से किया जाता है। जिन प्रतिभूतियों में बैंक विनियोग करती है वे ऐसी होनी चाहिये कि उन्हें शीघ्रतापूर्वक बेच कर नकदी प्राप्त की जा सके। विनिमय साध्य साख-पत्रों, तैयार माल अथवा अच्छी कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों पर जो ऋण दिये जाते हैं उनमें तरलता तथा सुरक्षा दोनों ही रहते हैं, क्योंकि ये सभी प्रतिभूतियाँ पूर्णतया बिक्री साध्य हैं, परन्तु अचल सम्पत्ति में लगाया हुआ धन इतनी आसानी से निकाला नहीं जा सकता है। कोई बैंक इस सम्बन्ध में जितनी ही अधिक सावधान रहती है उतना ही उसके डूबने का भय कम रहता है।

बैंक का नकद कोष (The Cash Reserve of a Bank)—

एक बैंक को अपने कोषों को साधारणतया दो प्रकार के विनियोगों में लगाना पड़ता है:—(१) लाभदायक विनियोग और (२) बिना लाभ के विनियोग। दोनों ही प्रकार के विनियोग आवश्यक होते हैं और एक बैंक को बड़ी चतुराई के साथ यह निर्णय करना होता है कि इन दोनों प्रकार के विनियोगों में कोषों का वितरण किस अनुपात में किया जाय। सुरक्षा तथा सरलता के दृष्टिकोण से लाभहीन विनियोग आवश्यक होते हैं, परन्तु उत्पादकता के दृष्टिकोण से लाभदायक विनियोगों का चुनना आवश्यक होता है। एक बैंक को दो बातों को एक ही साथ ध्यान में रखना पड़ता है:—प्रथम तो, अंशधारियों को समुचित लाभ प्रदान किया जा सके और दूसरे, बैंक की विफलता का भय उत्पन्न न होने पाये। स्मरण रहे कि बैंक का प्रारम्भिक उद्देश्य अंशधारियों के लिए लाभ कमाना होता है। इसके लिए लाभदायक विनियोग ही अधिक पसन्द किये जाते हैं, परन्तु इस स्वार्थी नीति के कारण बहुत सी बैंकों का दिवाला निकल जाता है। इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि बैंक का उत्तरदायित्व केवल उसके अंशधारियों के ही प्रति नहीं होता है, समाज तथा राष्ट्र के प्रति भी उसका कुछ कर्त्तव्य हुआ करता है। बैंक की विफलता से अंशधारियों को तो हानि होती है, परन्तु समाज और राष्ट्र का भी अनहित होता है। यही कारण है कि सरकार बहुधा बैंक की विनियोग नीति में हस्तक्षेप भी किया करती है।

बैंक के लाभदायक विनियोगों में ऋण, अग्रिम, नकद साख, अधिविकर्ष आदि सम्मिलित होते हैं और उसके लाभहीन विनियोग नकद कोषों और मृत स्कन्ध (Dead Stock) के रूप होते हैं। लाभहीन

आदेयों में सबसे बड़ा महत्त्व नकद कोषों का होता है। नकदी से अधिक तरलता किसी भी आदेय में नहीं होती है और प्रत्येक बैंक समय-समय पर अपने ग्राहकों की माँग को पूरा करने के लिए नकदी का संचय रखती है। आरम्भ में बैंक के नकद कोषों का अर्थ केवल उस संचय से होता था जो बैंक अपने खजाने में देश के चलन के रूप में रखती थी, परन्तु वर्तमान बैंकिंग पद्धति में यह शब्द अधिक विस्तृत अर्थ में उपयोग किया जाता है। नकद कोषों में बैंक द्वारा संचित चलन के अतिरिक्त उस जमा को भी सम्मिलित किया जाता है जो बैंक विशेष अन्य बैंकों तथा केन्द्रीय बैंक में रखती है। ये कोष बैंक की सुरक्षा का सबसे बड़ा साधन होते हैं।

यह कहना कठिन है कि एक बैंक को अपने कुल निक्षेपों का कौनसा भाग नकद कोषों के रूप में रखना चाहिए। इस सम्बन्ध में सुरक्षा और लाभ दोनों ही दृष्टिकोणों के बीच समायोजन अथवा सन्तुलन करना पड़ता है।

बैंक व्यवसाय में नकद कोषों का भारी महत्त्व है। वैसे तो प्रति दिन ही बैंक के पास कुछ न कुछ नकद रुपया आता रहता है, जिसमें से वह अपने ग्राहकों की नकदी की माँगों को पूरा करती रहती है, परन्तु फिर भी यह सम्भव है कि किसी दिन माँग प्राप्ति से अधिक हो। यदि बैंक माँग को पूरा करने में असमर्थ रहती है तो उसकी साख टूटती है और बैंक की सामर्थ्यहीनता की थोड़ी सी भी अफवाह बैंक के लिए भारी कठिनाई उत्पन्न कर सकती है। यही कारण है कि प्रत्येक बैंक यथेष्ट नकद कोष रखना आवश्यक समझती है।

इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के निश्चित नियम नहीं बनाये जा सकते हैं कि बैंक के लिए कम से कम अथवा अधिक से अधिक कितने बड़े नकद कोष आवश्यक होते हैं। अलग-अलग विद्वानों के इस सम्बन्ध में अलग-अलग मत हैं। विभिन्न परिस्थितियों में वैसे भी अलग-अलग मात्रा में नकद कोषों की आवश्यकता पड़ती है। इस सम्बन्ध में केवल अनुभव तथा सामान्य बुद्धिमानी ही सबसे उपयुक्त सहारा हो सकते हैं।

नकद कोषों सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण नियम—

यद्यपि नकद कोषों की मात्रा के विषय में पूर्णतया निश्चित नियम तो नहीं बनाये जा सकते हैं, परन्तु कुछ सामान्य बातें अवश्य बताई जा सकती हैं। इन बातों को ध्यान में रखने का परिणाम यह होता हैं कि बैंक को यथासमय नकदी में भुगतान करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है। ये नियम निम्न प्रकार बताये जा सकते हैं:—

(१) **वैधानिक आवश्यकता**—कुछ देशों में नकद कोषों की न्यूनतम सीमा नियम द्वारा निश्चित कर दी जाती है। उदाहरणस्वरूप, भारत में

उन सभी अनुसूचित बैंकों को जिन्हें रिजर्व बैंक की अनुसूचि २ (Second Schedule) में सम्मिलित किया गया है, अपने माँग दायित्त्व (Demand Liabilities) का ५% और अपने समय दायित्त्व (Time Liabilities) का २% रिजर्व बैंक में हर समय जमा करके रखना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य बैंकिंग कम्पनियों को नियमानुसार अपने पास अथवा रिजर्व बैंक में जमा के रूप में, अथवा कुछ अपने पास और कुछ रिजर्व बैंक में, अपने माँग दायित्त्व का कम से कम ५% और समय दायित्त्व का २% नकद कोषों में रखना होता है। जहाँ नकद कोषों की न्यूनतम् सीमा इस प्रकार निश्चित कर दी जाती है, वहाँ कम से कम उतने नकद कोष तो अवश्य रखे जाते हैं, यद्यपि व्यवहार में बैंकों को इससे अधिक अनुपात में नकद कोष रखने पड़ते हैं।

(२) **ग्राहकों की मनोवृत्ति तथा क्षेत्र विशेष की व्यावसायिक दशाएँ**—यदि लोगों में चैक (धनादेश) द्वारा भुगतान करने का रिवाज बहुत है तो साधारणतया कम नकद कोषों से काम चल जाता है। भारत जैसे देश में, जहां अधिकाँश शोधन नकदी में ही होते हैं, नकदी का अधिक मात्रा में रखना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त यदि स्थानीय क्षेत्रों में औद्योगिक तथा व्यापारिक व्यवसाय हैं, जिसके कारण विनिमय का कार्य काफी जल्दी तथा बहुत मात्रा में होता है तो नकदी की आवश्यकता अधिक रहेगी। कृषक क्षेत्रों में कम नकद कोषों से ही बैंक अपना कार्य चला सकती है।

(३) **व्यवसाय की प्रकृति** (Nature of the Business)—नकद कोषों की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि बैंक किस प्रकार के विनियोग करती है। यदि कोई बैंक अपने धन का अधिकाँश भाग विनिमय बिलों, विनिमय-साध्य प्रतिभूतियों तथा अल्पकालीन ऋणों में लगाती है तो उसे अपेक्षतन कम नकद कोषों की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि उसके अधिकांश आदेय तरल रूप में होते हैं। इसके विपरीत यदि बैंक के अधिकांश विनियोग ऋणों में अथवा अतरल आदेयों के रूप में हैं, तो उसे अधिक मात्रा में नकद कोष रखने पड़ते हैं।

(४) **बैंकरों के निकासी गृहों का होना** (The Presence of Banker's Clearing Houses)—निकासी गृह का कार्य यह होता है कि ये विभिन्न बैंकों की अन्योन्य लेन-देन का समायोजन करते हैं, ऐसी दशा में प्रत्येक बैंक को उन सभी धनादेशों का नकदी में भुगतान नहीं करना पड़ता है, जो इसके ऊपर लिखे गये हैं और दूसरी बैंकों में जमा कर दिये गये हैं। उसे केवल उन चैकों की रकम जो कि दूसरी बैंकों पर लिखे गये हैं और उनके पास जमा हैं तथा उन धनादेशों की राशि जो

अन्य बैंकों के पास हैं और उसके ऊपर लिखे गये हैं, का अन्तर ही नकदी में देना पड़ता है। निकासी गृह के न होने की दशा में प्रत्येक चैक का नकदी में भुगतान करना आवश्यक होता है। भारत में निकासी गृहों के अभाव के कारण बैंकों को बड़े नकद कोष रखने पड़ते हैं।

(५) खातों की प्रकृति—नकद कोषों की मात्रा इस बात पर भी निर्भर होती है कि बैंक में खोले हुए विभिन्न प्रकार के खाते कैसे हैं। यदि खाते इस प्रकार के हैं कि उनमें तेजी के साथ धन आता-जाता रहता है तो बैंक के लिये अधिक मात्रा में नकदी का रखना आवश्यक होता है। दलालों तथा सोने-चाँदी के व्यापारियों के खाते इसी प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार यदि चालू खातों की ही अधिकता है तो बड़े नकद कोषों की आवश्यकता पड़ेगी। इसी प्रकार वे बड़ी-बड़ी बैंक, जिनमें स्थानीय छोटी-छोटी बैंकों की जमा रहती है, छोटी बैंकों की अपेक्षा अधिक नकदी रखती हैं।

(६) निक्षेपों का आकार (Size of the Deposits)—बैंक के नकद कोषों की आवश्यकता उसके ग्राहकों की संख्या पर भी निर्भर होती है। यदि बैंक के थोड़े से ही ग्राहक हैं, जिनके बड़े-बड़े खाते खुले हुए हैं तो नकदी की आवश्यकता अधिक रहेगी, किन्तु यदि बैंक के छोटे-छोटे खातों वाले बहुत से ग्राहक हैं तो नकदी की माँग कम होगी। कारण यह है कि बैंक के अधिकाँश ग्राहक आपस में भी एक दूसरे के ग्राहक होते हैं और उनके खातों में आवश्यक समायोजन करके ही अधिकाँश भुगतान चुका दिये जाते हैं, अतः हम इस प्रकार कह सकते हैं कि जितना ही बैंक का व्यवसाय विस्तृत होगा उतने ही कम नकद कोषों से काम चल जाता है।

(७) दूसरी बैंकों की नकद कोष नीति—व्यावसायिक मनोवृत्ति भेड़ की सी मनोवृत्ति होती है। सभी बैंक एक दूसरे की देखा-देखी अपने-अपने नकद कोषों को घटाती-बढ़ाती हैं। यदि किसी क्षेत्र में बहुत सी ऐसी बैंक हैं जो नकद कोष अधिक मात्रा में रखती हैं तो दूसरी बैंकों को यह भय होने लगता है कि इन बैंकों पर जनता का विश्वास अधिक हो जाने के कारण इनकी प्रतियोगिता शक्ति अधिक हो जायगी और वे दूसरी बैंकों के ग्राहकों को तोड़ लेंगी। इस कारण दूसरी बैंक भी अधिक नकद कोष रखने लगती हैं।

उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखकर और सामान्य अनुभव और बुद्धिमानी से काम लेकर एक बैंक यह निश्चय करती है कि उसे अपनी कुल निक्षेपों का कौनसा प्रतिशत नकद कोष के रूप में रखना चाहिए। कुछ देशों में नकद कोष का न्यूनतम् प्रतिशत विधानानुसार भी निश्चित

कर दिया जाता है, जिसे हम विधानतः नकद कोष (Statutory Cash Reserve) कहते हैं। इस व्यवस्था का अभिप्राय यह होता है कि इस प्रकार निचिश्त प्रतिशत से नीचे कोई भी बैंक अपने नकद कोषों को नहीं घटा सकती है, यद्यपि कोई भी बैंक इससे अधिक मात्रा में नकद कोष रखने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र होती है। विधानानुसार भारत में प्रत्येक व्यापारिक बैंक को अपने चालू खाते का ५% और सविधि जमा (Time Deposits) का २% नकदी के रूप में रिजर्व बैंक में रखना अनिवार्य है। व्यवहार में यह नकद कोष बहुत कम है, इसलिए सभी बैंक इसके अतिरिक्त और भी नकद कोष अपने पास रखती हैं।

मृत स्कन्ध (Dead Stock)—

नकद कोषों के पश्चात् यह बैंक का दूसरा लाभहीन आदेय होता है बैंक को अपनी इमारत, भूमि, फर्नीचर (Furniture), फिटिंग तथा अन्य स्थिर आदेयों पर भी व्यय करना पड़ता है। इन सबकी व्यवस्था व्यवसाय के संचालन के लिए आवश्यक होती है, यद्यपि इनसे कोई भी आय प्राप्त नहीं होती है। इन आदेयों (Assets) को मृत स्कन्ध इस कारण कहा जाता है कि इन्हें सरलतापूर्वक बेचा नहीं जा सकता है। ये सरलतापूर्वक विनिमय साध्य नहीं होते हैं और इन्हें बेचने से बैंक के मान की भारी हानि होती है, जो उसके व्यवसाय के लिए घातक है। इनको केवल उसी समय बेचा जाता है जबकि बैंक ठप्प हो जाती है और उसके सभी प्रकार के आदेयों को बेच कर लेनदारों का भुगतान किया जाता है। साधारणतया मृत स्कन्धों पर बैंकों को काफी व्यय करना पड़ता है और प्रत्येक बैंक आरम्भ में ही इस व्यय के लिए धन का प्रबन्ध करती है। आरम्भ में व्यय कर देने के पश्चात् बाद को प्रति वर्ष बहुत ही कम व्यय की आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण बैंक के चालू खर्चों मे मृत स्कन्ध व्यय का बहुत ही कम महत्त्व रहता है।

मृत स्कन्धों का रखना भी बैंक के लिए आवश्यक है। इनके बिना कार्य-स्थान को समुचित व्यवस्था कठिन होती है। बैंक को अपना दिन प्रति दिन का काम ठीक-ठीक चलाने के लिए ही नहीं, बल्कि अपनी प्रतिष्ठा के लिए भी समुचित कार्य-स्थान तथा फर्नीचर आदि की आवश्यकता पड़ती हैं।

बैंक के लाभदायक आदेय—

बैंक के लाभदायक आदेयों में याचना राशि (Call Money), विनियोग (Investments), अग्रिम (Advances), ऋण, नकद-साख, अधि-विकर्ष (Overdraft), विनिमय बिलों को भुनाना, स्वीकृतियाँ

(Acceptances) आदि सम्मिलित होते हैं। इनमें से प्रत्येक का अलग-अलग वर्णन नीचे किया जायगा।

याचना राशि अथवा अल्प सूचनार्थ ऋण (Money at Short Notice)—

इसमें वे सब ऋण सम्मिलित होते हैं जो थोड़े काल का नोटिस देकर वसूल किये जा सकते हैं। ऐसे ऋणों में मुद्रा-बाजार, बिल के दलालों तथा स्टाक एक्सचेन्ज के व्यापारियों को दिए हुए ऋण सम्मिलित होते हैं। प्रत्येक बैंक कुछ इस प्रकार की जगा अवश्य रखती है, जिसे बिना सूचना अथवा कुछ समय की सूचना पर तुरन्त निकाला जा सकता है। सुरक्षा के दृष्टिकोण से नकद कोषों के बाद बैंक के आदेयों में दूसरा नम्बर इन्हीं का आता है, परन्तु नकद कोषों की अपेक्षा ये इस कारण अधिक अच्छे होते हैं कि सुरक्षा के साथ-साथ इनसे आय भी प्राप्त होती है।

इङ्गलैंड आदि देशों में इस प्रकार के ऋण बिल के दलालों, डिस्काउन्ट गृहों (Discount Houses) और स्टाक एक्सचेन्ज (Stock Exchange) के आढ़तियों और दलालों को दिए जाते हैं और इन्हें बहुत बार केवल एक ही घन्टे का नोटिस देकर वसूल किया जा सकता है। भारत में बिलों को भुनाने वाले गृह तथा निर्गम गृह (Issue Houses) नहीं हैं, इसलिए हमारे देश में याचना राशि को एक बैंक द्वारा दूसरी बैंकों को ही देने का रिवाज अधिक है। परिणामस्वरूप तरल आदेयों की प्राप्ति कम अंश तक ही हो पाती है।

बिलों का भुनाना—

लाभदायक विनियोग में दूसरा नम्बर बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों के भुनाने का आता है। बैंक बिलों को भुनाती है और उन्हें खरीद कर भी रख लेती है। बिलों की परिपक्वता अवधि साधारणतया ६० से ६० दिन तक की होती है, यद्यपि बिल को बेच कर अथवा केन्द्रीय बैंक से भुनवा कर इससे पहले भी रुपया प्राप्त किया जा सकता है। यही बात प्रतिज्ञा-पत्रों और कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में भी की जा सकती है। भारतीय बैंक प्रतिज्ञा-पत्रों में व्यवसाय कम करती हैं और उन पर साधारणतया जमानत भी माँगती है। कोषागार विपत्रों अथवा सरकारी हुण्डियों में रुपया लगाना अच्छा समझा जाता है। इसमें जोखिम कम रहती है, सुरक्षा अधिक रहती है और इन हुण्डियों को आसानी से बेचा जा सकता है। इन हुन्डियों की परिपक्वता अवधि भी अधिक से अधिक एक वर्ष की होती है, परन्तु अन्य अल्पकालीन विनियोगों की भाँति इन पर भी ब्याज की दर कम रहती है। भारत में बिल बाजार

का समुचित विकास न होने के कारण और उनके क्रय-विक्रय में कठिनाई होने के कारण बिलों में लगाये हुए धन की मात्रा सीमित ही रहती है। यह भारतीय मुद्रा-बाजार का एक गम्भीर दोष है, जिसे शीघ्र ही दूर करने की आवश्यकता है। बिल बाजार के विकास से आदेयों की तरलता और लाभपूर्णता दोनों एक ही साथ प्राप्त हो सकती हैं।

विनियोग—

ये बैंक के तीसरे लाभदायक आदेय हैं। विनियोगों के सम्बन्ध में बैंक सुरक्षा, विनिमय साध्यता, मूल्य स्थिरता तथा उत्पादकता को विशेषकर देखती है। अच्छी बैंक अपने कोषों का एक काफी बड़ा भाग परम प्रतिभूतियों (Guiltedged Securities) में लगाती है। विनियोग सोने और चाँदी में भी किये जा सकते हैं। श्रेष्ठता के दृष्टिकोण से सबसे उत्तम प्रतिभूतियाँ केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की प्रतिभूतियाँ होती हैं। इसके बाद अर्द्ध-सरकारी लोक अधिकारियों, जैसे—नगरपालिकाओं, ज़िला बोर्डों तथा अन्य लोक संस्थाओं की प्रतिभूतियों का नम्बर आता है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से प्रकार की प्रतिभूतियों में धन लगाया जा सकता है, जैसे—रेलों के अंश, ऋण-पत्र, बाँड आदि, लोक उपयोगी सेवाओं (Public Utility Services) की प्रतिभूतियाँ, सरकारी ऋण, औद्योगिक कम्पनियों के अंश, ऋण-पत्र, बाँड आदि। भारतीय बैंक सरकारी हुण्डियों में धन लगाना अधिक पसन्द करती हैं, क्योंकि देश में अन्य प्रतिभूतियाँ कम प्राप्त होती हैं।

ऋण तथा अग्रिम—

ऋण तथा अग्रिम विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं और इनकी सम्बन्धित प्रतिभूतियाँ भी अलग प्रकार की होती हैं। अग्रिम साधारणतया ऋण, नकद साख तथा अधि-विकर्ष का रूप लेते हैं। ऐसी अग्रिम व्यक्तिगत प्रतिभूतियों, गारन्टी अथवा अन्य उपयुक्त प्रतिभूतियों के आधार पर दी जा सकती हैं। व्यक्तिगत प्रतिभूति पर दिये हुये ऋण साधारणतया अरक्षित अग्रिम (Unsecured advances) होते हैं और प्रतिज्ञा-पत्रों पर दिये जाते हैं, परन्तु साधारणतया व्यक्तिगत प्रतिभूति के साथ कोई सहायक प्रतिभूति (Collateral) भी ली जाती है। ऐसी प्रतिभूतियाँ स्टॉक एक्सचेंज प्रतिभूति, विनिमय साध्य साख पत्रों, माल के अधिकार-पत्र (Titles), बीमा पालिसी, अचल सम्पत्ति आदि के रूप में होती हैं।

बैंक की ऋण दान नीति—

यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि ऋणों का प्रदान करना बैंक

का महत्त्वपूर्ण कार्य है और उसकी आय का प्रमुख साधन है। साधारण-तया बैंक के ऋण तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) साधारण ऋण तथा अग्रिम,
(२) अधि-विकर्ष (Over-draft) और
(३) नकद-साख (Cash-credit)।

साधारण ऋणों को प्रदान करने की रीति यह होती है कि बैंक ऋण लेने वाले का खाता अपने यहाँ खोल लेती है। इस प्रकार व्यवहार में बैंक के ऋणी और उसके जमाधारी में अन्तर नहीं होता है। ऋण की राशि को ऋणी एक साधारण जमाधारी की भाँति चैक द्वारा कभी भी निकाल सकता है, परन्तु कोई भी ऋण देने से पहले बैंक प्रार्थी की आर्थिक स्थिति और उसकी साख की भली-भाँति जाँच कर लेती है। बैंक ऋण के लिये समुचित जमानत का भी अनुरोध करती है। ब्याज की दर पहले से ही निश्चित कर ली जाती है, जिसमें ऋण की चलन अवधि के अनुसार अन्तर होता है। ऋणी को उधार की सारी राशि पर ब्याज देना पड़ता है, चाहे वह उसका उपयोग एक दम करता है अथवा धीरे-धीरे, परन्तु अधिकाँश बैंक बिना उपयोग की हुई राशि पर नीची दर पर ब्याज लेती हैं। प्रार्थी की साख का पता लगाने के लिए बैंक के पास अनेक साधन होते हैं। प्रमुख साधन निम्न प्रकार हैं:—

(१) कुछ संस्थाएँ ऐसी होती हैं जो विभिन्न व्यापारियों की आर्थिक स्थिति और साख सम्बन्धी सूचनाओं को एकत्रित करती हैं। बैंक इन संस्थाओं की सेवाओं का उपयोग करती है। यूरोप के देशों में ऐसी संस्थाएँ बहुत हैं और विश्वसनीय भी होती हैं, परन्तु भारत में इनकी काफी कमी है।

(२) उन व्यापारियों और संस्थाओं से पूछताछ की जाती है जिनसे प्रार्थी का लेन-देन रहता चला आया है।

(३) एक बैंक दूसरी बैंक को भी इस प्रकार की सूचना देती रहती है और अपने ग्राहक की साख दूसरी बैंक को बता देती है।

(४) प्रार्थी फर्म के वार्षिक चिट्ठे के निरीक्षण से भी उसकी साख का अनुमान लगाया जा सकता है।

(५) प्रार्थी फर्म के वार्षिक अंकेक्षण विवरण (Audit Report) को देख कर।

(६) अपने कर्मचारियों और विशेषज्ञों को भेज कर जानकारी प्राप्त करके।

(७) यदि प्रार्थी बैंक का ही पुराना ग्राहक है तो उसकी लेन-देन का पिछला इतिहास देखकर।

अधि-विकर्ष की सुविधा केवल बैंक के जमाधारी को ही दी जाती है। रुपया जमा करने वाले को यह सुविधा दी जाती है कि वह आवश्यकता पड़ने पर जमा की राशि से कुछ अधिक रुपया भी अपने खाते में से निकाल सकता है। यह सुविधा चालू खातों पर ही दी जाती है। जमाधारी से केवल उतनी ही राशि पर ब्याज लिया जाता है जितनी वह दिन प्रति दिन निकालता रहता है। साधारणतया अधि-विकर्ष की सीमा निश्चित कर दी जाती है और इस प्रकार के ऋण के लिए कोई जमानत नहीं माँगी जाती है, यद्यपि कभी-कभी बैंक जमानत का भी अनुरोध करती है।

नकद साख की सुविधा भी साधारणतया ग्राहकों अथवा खाताधारियों को ही दी जाती है, यद्यपि कभी-कभी यह अन्य व्यक्तियों को भी दी जा सकती है। इस प्रकार के ऋणों के लिए प्रत्येक दशा में जमानत ली जाती है और वह भी माल अथवा सम्पत्ति की। व्यक्तिगत जमानत अथवा प्रतिज्ञा-पत्र पर ऋण नहीं दिये जाते हैं। ऋणी माल अथवा सम्पत्ति को बैंक के गोदाम में जमा कर देता है, अथवा अपनी फसल, धन, तैयार माल आदि को गिरवी रखता है। जैसे-जैसे ऋणी रुपया चुकाता जाता है, बैंक उसके माल को छोड़ती रहती है। साधारणतया अचल तथा अक्रय प्रति-भूति पर ऐसे ऋण नहीं दिये जाते हैं। अधि-विकर्ष की भाँति ऐसे ऋणों में भी केवल उसी राशि पर ब्याज लिया जाता है जिसका ऋणी द्वारा वास्तव में उपयोग किया जाता है। बिना निकाली हुई राशि पर ब्याज नहीं लिया जाता है।

प्रतिभूतियाँ अथवा जमानतें (Securities)—

बैंक द्वारा सभी प्रकार के ऋण किसी न किसी प्रकार की जमानत पर दिये जाते हैं। इन जमानतों को आर्थिक भाषा में प्रतिभूति कहा जाता है। प्रतिभूतियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है:—(१) व्यक्तिगत प्रतिभूति (Personal Security) और (२) सहायक प्रतिभूति (Collateral Security)।

व्यक्तिगत प्रतिभूति किसी ऐसी जमानत को कहते हैं जो स्वयं ग्राहक के व्यक्तित्व द्वारा प्रस्तुत की जाती है। बैंक ऋण लेने वाले की आर्थिक स्थिति, साख, चरित्र, व्यवसाय प्रणाली और व्यापार कुशलता को देखती है और यदि ये सभी विश्वसनीय हैं तो इन्हीं के आधार पर बिना किसी प्रकार की जमानत लिये ऋण दे सकती है। ऐसे ऋणों के देने में विशेष सावधानी बर्ती जाती है और बैंक बिना समुचित जाँच के ऋण नहीं देती है। इस प्रकार दिये हुए ऋणों की संख्या और मात्रा भी सीमित ही रहती है। यह सुविधा साधारणतया उन ग्राहकों को दी जाती है जो काफी समय से बैंक के साथ व्यवसाय करते चले आये हैं और जिन्हें बैंक भली भाँति

जानती है। भारत में इस प्रकार दिए जाने वाले ऋणों का सबसे महत्त्व-पूर्ण उदाहरण अधि-विकर्ष है, जिनमें बैंक अपने ग्राहक को बिना किसी जमानत के उसके खाते में जमा की हुई राशि से अधिक रुपया निकाल लेने का अधिकार दे देती है। व्यक्तिगत प्रतिभूति पर दिए जाने वाले अन्य ऋण वे होते हैं जिनमें ऋणी से प्रतिज्ञा-पत्र लिखवा लिया जाता है और उस पर जमानत के रूप में दो प्रतिष्ठित व्यक्तियों के हस्ताक्षर करा लिए जाते हैं। इस प्रकार की जमानत के दो रूप हो सकते हैं :—प्रथम, विशेष (Specific), जिसमें जमानत देने वालों के हस्ताक्षर किसी विशेष ऋण के ही लिए स्वीकार किये जाते हैं और दूसरा, चालू (Current), जिसमें जमानती हस्ताक्षरों को ऋण लेने वाले के प्रत्येक आगे के ऋण के लिए भी मान लिया जाता है।

सहायक प्रतिभूतियाँ—

ऐसी जमानतें किसी वस्तु की आड़ के रूप में ली जाती हैं। बैंक बहुधा व्यक्तिगत प्रतिज्ञा-पत्र अथवा जमानती हस्ताक्षरों पर ऋण नहीं देती हैं, बल्कि माल, जायदाद, सोना, चांदी आदि को आड़ में रखकर ऋण देती हैं। ये जमानतें भौतिक वस्तुओं के रूप में होती हैं। तीन प्रकार की भौतिक जमानत अधिक प्रचलित हैं—(१) ग्रहणाधिकार (Lien), जिसमें आड़ में रखी हुई वस्तु बैंक के पास रखी जाती है, परन्तु ऋण का भुगतान न होने की दशा में बैंक वस्तु को उस समय तक नहीं बेच सकती है जब तक वह अदालत से कुर्की का हुक्म प्राप्त नहीं कर लेती है, (२) गिरवी (Pledge), जिसमें आड़ में रखी हुई वस्तु को बेचने के लिए अदालत की आज्ञा की आवश्यकता नहीं पड़ती है, बैंक द्वारा ऋणी को समुचित सूचना देना ही पर्याप्त होता है और (३) प्राधि अथवा रहन (Mortgage), जिसमें अंकित शर्त के अनुसार आड़ में रखी हुई वस्तु पर ऋणी का ही अधिकार रहता है, अथवा उसके स्वामित्व का बैंक को हस्तान्तरण हो सकता है।

सहायक प्रतिभूतियों के प्रकार—

भारत में साधारणतया पाँच प्रकार की सहायक प्रतिभूतियों का चलन है :—(१) स्टाक एक्सचेंज में बिकने वाले पत्र, (२) विनिमय बिल, (३) माल अथवा माल के अधिकार-पत्र, (४) जीवन बीमा-पत्र और (५) अचल सम्पत्ति।

स्टाक एक्सचेंज में बिकने वाले पत्र—

इन पत्रों में सरकारी हुण्डियाँ, कम्पनियों के अंश, ऋण-पत्र, प्रतिज्ञा-

प्रतिभूतियों को बैंक बहुत पसन्द करती है। इनके प्रमुख गुण निम्न प्रकार होते हैं :—(१) इन्हें आवश्यकता पड़ने पर सरलतापूर्वक तुरन्त बेच कर नकदी प्राप्त की जा सकती है। (२) इनकी बाजारू कीमत का पता आसानी से तुरन्त लग जाता है। (३) विक्री-साध्य होने के कारण इनके स्वामित्व में किसी प्रकार का झगड़ा नहीं होता है। (४) इनकी कीमत बिना कठिनाई के वसूल की जा सकती है। (५) इनकी कीमतों में काफी स्थिरता रहती है। इन्हें केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंक भी ऋणों की जमानत के रूप में स्वीकार कर लेती हैं।

इन गुणों के साथ-साथ ऐसी प्रतिभूतियों के कुछ दोष भी होते हैं:—प्रथम, अंशों को सावधानी के साथ देख-भाल कर खरीदना आवश्यक होता है, क्योंकि यदि अंशधारी पर कम्पनी का कुछ पैसा बकाया है तो कम्पनी उसे अंश में से वसूल कर लेती है, जिस दशा में ऐसे अंश को प्राप्त करने वाली बैंक को हानि हो सकती है। दूसरे, बैंक को यह भी देखना पड़ता है कि अंश विशेष की पूरी रकम चुका दी गई है या नहीं। यदि सावधानी से काम नहीं लिया जाता है तो अशोधित रकम बैंक को चुकानी पड़ती है। तीसरे, कुछ साख-पत्र पूर्णतया विनिमय-साध्य नहीं होते हैं, इसलिए उन्हें प्राप्त करके बैंक बेचने में कठिनाई अनुभव कर सकती है। उपरोक्त सभी दोषों से केवल यही सिद्ध होता है कि इन प्रतिभूतियों के स्वीकार करते समय सावधानी की आवश्यकता होती है। व्यावहारिक जीवन में तीन प्रकार की सावधानी रखने से बैंक के लिए हानि का भय कम रह जाता है :—(१) प्रतिभूतियों की कीमतों में परिवर्तन की सम्भावना रहती है। इसीलिये यह आवश्यक है कि प्रतिभूति की कीमत से कम के ऋण दिये जायँ। (२) ऐसे अंश अथवा अन्य पत्र न खरीदे जायँ जिनका पूरा भुगतान नहीं हो पाया है। (३) बैंक को ऐसे साख-पत्र नहीं खरीदने चाहिए जो स्वतन्त्रतापूर्वक विनिमय-साध्य (Negotiable) नहीं हैं।

विनिमय बिल—

विनिमय बिलों को भी बैंक द्वारा अच्छी प्रतिभूति समझा जाता है। एक व्यापारी विनिमय बिल को बैंक से भुनवा कर ऋण प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में उसे बिल की परिपक्वता अवधि के शेष भाग के लिए ही बैंक को ब्याज देना पड़ता है। परिपक्वता पर बैंक बिल को लिखने वाले व्यापारी के पास प्रस्तुत करती है और रुपया वसूल कर लेती है। आवश्यकता पड़ने पर बैंक भी बिल को दुबारा भुनवा सकती है। यह कार्य केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है। विनिमय बिल एक विक्री-साध्य साख-पत्र होता

है और बैंक के अल्पकालीन विनियोग को सूचित करता है। इस प्रकार की प्रतिभूति के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) इसके मूल्य में परिवर्तन का प्रश्न नहीं उठता है।
(२) इसको बेचने तथा दुबारा भुनवाने में कठिनाई नहीं होती है, इसलिए यह एक बहुत तरल आदेय होता है।
(३) इसकी आड़ पर ऋण मिल सकते हैं।
(४) यदि विनिमय बिल सावधानीपूर्वक चुना जाता है तो इसकी रकम के वसूल होने में सन्देह नहीं होता है।

इस प्रतिभूति का एक-मात्र दोष यही होता है कि यदि स्वीकार करने वाला पक्ष भुगतान देने से इन्कार कर देता है तो बैंक को काफी कठिनाई होती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि बैंक विनिमय बिल के स्वीकार करने वाले की साख की सावधानी के साथ जाँच करे। स्वीकार करने वाले पक्ष की साख का देख लेना आवश्यक होता है। साथ ही, बैंक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह गिरवी (Pledge) के रूप में विनिमय बिल को स्वीकार न करे। ऐसी दशा में भी काफी परेशानी हो सकती है।

विनिमय बिल का स्वीकरण (Accepting of a Bill of Exchange)-

आधुनिक व्यावसायिक जगत में बैंक द्वारा बिल के स्वीकरण का भारी महत्त्व है। बैंक द्वारा बिल के स्वीकरण का अभिप्राय यह होता है कि बैंक अपने ग्राहक की ओर से बिल पर हस्ताक्षर करके उसे स्वीकार कर लेती है। यह बिल लिखने वाले अर्थात् माल बेचने वाले के विश्वास के लिए किया जाता है। यदि बैंक का ग्राहक किसी व्यापारी से माल खरीदता है तो ग्राहक की साख अज्ञात होने के कारण व्यापारी माल उधार देने में संकोच करता है। वह ग्राहक पर बिल लिखने में इसलिए डरता है कि कहीं रुपया डूब न जाय। ऐसी दशा में विक्रेता के विश्वास के लिए ग्राहक अपनी बैंक पर बिल लिखने का आदेश दे सकता है। बिल बैंक पर लिखने में विक्रेता के अविश्वास का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस बिल को अपने ग्राहक की ओर से बैंक द्वारा स्वीकार किया जाता है। परिपक्वता पर विक्रेता बैंक से रुपया पा लेने का अधिकारी होता है और क्योंकि बैंक अपने ग्राहक की साख से परिचित होती है, वह भी इस प्रकार के बिल के भुगतान की जिम्मेदारी ले लेती है। परिपक्वता पर बैंक ग्राहक से बिल की रकम ले लेती है और इसके अतिरिक्त कमीशन के रूप में अपनी सेवा का पारितोषण भी ले लेती है। इस स्वीकरण से विक्रेता, ग्राहक और बैंक तीनों को ही लाभ होता है। विक्रेता को रुपया डूबने का भय नहीं रहता है, ग्राहक को उधार माल मिल जाता है और बैंक अपना कमीशन पा जाती है।

बैंक बिलों का स्वीकरण भी सोच-विचार के बाद करती है। हर किसी व्यक्ति को यह सुविधा नहीं दी जा सकती है। केवल कुछ विश्वसनीय व्यापारियों तथा बैंक के अपने ग्राहकों की ओर से ही बिल स्वीकार किये जाते हैं। प्रत्येक दशा में बैंक दो बातों पर ध्यान देती है :—(१) उस व्यक्ति की साख और आर्थिक स्थिति जिसकी ओर से बिल स्वीकार किया जा रहा है और (२) अपनी स्वयं की शोधनक्षमता। यदि ग्राहक की साख सन्देहपूर्ण है अथवा यदि उसकी आर्थिक स्थिति बिगड़ने वाली है तो बैंक उसकी ओर से बिल स्वीकार करने से इन्कार कर सकती है। ठीक इसी प्रकार यदि बैंक को यह भय है कि बिल को स्वीकार करने से उसकी अपनी आर्थिक दशा के बिगड़ने की सम्भावना है तो बैंक स्वीकरण नहीं करेगी। स्मरण रहे कि बिल के भुनाने (Discounting) तथा उसकी स्वीकरण (Acceptance) में अन्तर होता है, यद्यपि दोनों में ही बैंक लाभ कमाती है। भुनाने की दशा में तो बैंक एक पहले से स्वीकार किये हुये बिल को खरीदती है, परन्तु स्वीकरण में वह ग्राहक की ओर से स्वयं बिल को स्वीकार करती है।

माल और उसके अधिकार-पत्र—

इस प्रकार की प्रतिभूति माल की वास्तविक जमा अथवा माल की जमा की रसीदों के रूप में होती है। बैंक अपने गोदामों में गिरवी माल को जमा करा सकती है अथवा माल ऋणी के ही गोदामों में रह सकता है, परन्तु गोदाम की चाबी बैंक के पास रहती है। इन दोनों ही दशाओं में बैंक के सामने माल की भौतिक उपस्थिति आवश्यक होती है, परन्तु सभी दशाओं में बैंक ऐसी उपस्थिति का अनुरोध नहीं करती है। वह माल के अधिकार पत्रों (Documents of Titles) को भी आड़ में रख कर ऋण दे सकती है, जैसे—जहाजों की रसीदें, डाक की रसीदें, रेलों की रसीदें, स्वीकृत गोदामों की माल जमा की रसीदें, इत्यादि। प्रतिभूति के रूप में ऐसे अधिकार-पत्रों के दो लाभ होते हैं :—(१) माल की कीमत आसानी से जानी जा सकती है और (२) रुपया डूबने का भय नहीं रहता, क्योंकि आड़ में रखे हुये माल की बिक्री पर तुरन्त रुपया मिल जाता है। व्यापारी द्वारा रुपये न देने की दशा में बैंक माल को नीलाम करके रुपया वसूल कर सकती है, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं और बैंक को सावधान रहने की आवश्यकता है। प्रमुख कठिनाइयाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) बैंक को गोदाम का प्रबन्ध करना पड़ता है। उसे या तो अपनी ओर से गोदाम बनाने पड़ते हैं या ऐसे गोदामों को खोजना पड़ता है जो सुरक्षित तथा विश्वसनीय हों।

(२) यह भय सदा ही रहता है कि रखे-रखे माल के दाम घट जाने के कारण प्रतिभूतियों का मूल्य कम हो जाय ।

(३) गोदामों में माल के ख़राब हो जाने अथवा नष्ट हो जाने का भय रहता है।

(४) अधिकार-पत्रों द्वारा सूचित माल के खो जाने अथवा नष्ट हो जाने का भय रहता है ।

(५) माल की सही कीमत का आँकना कठिन होता है ।

(६) अधिकार-पत्र झूठे हो सकते हैं । धोखेबाजी की काफी सम्भावना रहती है ।

(७) ऋणी ऋण की रकम धीरे-धीरे किश्तों में चुकाता जाता है और अपना माल भी गोदाम से धीरे-धीरे निकालता रहता है। इसमें बैंक को काफी असुविधा रहती है और गलती होने का भी डर रहता है।

(८) यदि ऋणी माल नहीं छुड़ाता है और बैंक उसे एक दम नीलाम करती है तो कम कीमत वसूल होती है, परन्तु बैंक के लिए रुक जाना भी जोखिम उठाने के बराबर होता है ।

इस सम्बन्ध में धोखे तथा हानि से बचने के लिए बैंक के लिए निम्न प्रकार की सावधानी होती है :—

(१) जितना ऋण दिया जाता है उससे अधिक कीमत का माल आड़ में रखा जाय, ताकि माल के दाम गिरने अथवा उसके नीलाम करने की दशा में हानि का भय न रहे ।

(२) माल की कीमत का पता लगाने, उसके सुरक्षित रखने तथा उसे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में निकालने का हिसाब रखने के लिए अलग कर्मचारी रहने चाहिए ।

(३) माल को रखने से पहले उसकी किस्म और उसके खराब हो जाने की सम्भावना की जाँच होनी चाहिए। यदि माल ऋणी के ही गोदामों में रखा है तो भी जाँच आवश्यक है ।

(४) गोदाम सुरक्षित होने चाहिए और समय-समय पर माल की देख-भाल होनी चाहिए, ताकि दीमक, चूहा और पानी से माल खराब न होने पाये ।

(५) माल के अधिकार-पत्रों को सावधानीपूर्वक देख लेना और उनके असली स्वामी का पता लगा लेना आवश्यक है ।

(६) जिन अधिकार-पत्रों की कई प्रतिलिपियाँ होती हैं उनकी सभी प्रतिलिपियाँ बैंक को प्राप्त कर लेनी चाहिए ।

(७) यह देखना आवश्यक है कि माल बिक्री योग्य है या नहीं।

जीवन बीमा पत्र—

जीवन बीमा पत्र (Life Insurance Policy) पर ऋण देने का चलन भारत में बहुत कम है, क्योंकि स्वयं बीमा कम्पनियाँ इनकी प्रतिभूति पर ऋण देती हैं, परन्तु कुछ दशाओं में बैंक भी उनकी जमानत पर ऋण दे देती हैं। ऋण देने से पहले बैंक बीमा कम्पनी की आर्थिक स्थिति की जाँच कर लेती है और साधारणतया बीमा-पत्र के अध्यर्पण मूल्य (Surrender Value) से अधिक ऋण नहीं देती है। इन दोनों बातों को देखने के पश्चात् बीमा-पत्र की आड़ पर ऋण दिये जा सकते हैं। प्रतिभूति के रूप में बीमा-पत्र के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) अध्यर्पण मूल्य का पता लगाने में कठिनाई नहीं होती है।

(२) यदि बीमा कम्पनी विश्वसनीय है तो भुगतान न होने का भय नहीं रहता है। जीवन बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् तो सभी कम्पनियाँ विश्वसनीय हो गई हैं।

(३) जैसे-जैसे बीमे की और किश्तें चुकाई जाती हैं, प्रतिभूति की कीमत बढ़ती जाती है।

(४) इन पत्रों का हस्तान्तरण हो सकता है और ये दूसरी बैंकों को बेचे जा सकते हैं।

(५) बीमा कम्पनी से पूछकर स्वामित्व का सही पता लगाया जा सकता है।

इस प्रतिभूति के दोष इस प्रकार हैं :—(१) बीमा-पत्र में त्रुटि रहने की दशा में बीमा कम्पनी भुगतान देने से इन्कार कर सकती है। (२) बीमा-पत्र के हस्तान्तरण की दशा में बीमा कम्पनी सर्वप्रथम सूचना देने वाले के ही अधिकार को स्वीकार करती है। इसमें बैंक को धोखा होने का भय रहता है। (३) बीमा कराने वाले की आयु का प्रमाण-पत्र न होने की दशा में वसूली कठिन होती है। (४) प्रतिभूति के मूल्य को बढ़ाने के लिए कभी-कभी बैंक को स्वयं किश्त चुकानी पड़ती है, जिससे बैंक का खर्चा बढ़ता है।

इन दोषों से बचने के लिए बैंक को अध्यर्पण मूल्य से कुछ कम रकम ही का ऋण देना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि बैंक बीमा कराने वाले की आयु के प्रमाण-पत्र, अधिकार तथा बीमा चुकाने की स्थिति को देखती रहे और समुचित रूप में जाँच कर ले और बीमा-पत्र प्राप्त करते ही कम्पनी को उसकी सूचना तुरन्त दे दे। व्यवहार में बैंक आमरण बीमे (Whole life Insurance) की अपेक्षा निश्चित अवधि बीमे (Endowment) को अधिक पसन्द करती है।

सम्पत्ति—

सम्पत्ति दो प्रकार की होती हैं :—चल (Movable) और अचल (Immovable)—दोनों ही प्रकार की सम्पत्ति को गिरवी रखा जा सकता है। चल सम्पत्ति तो सोने, चाँदी जेवरात, अनाज आदि के रूप में होती है। इनके अतिरिक्त माल के अधिकार-पत्र, हुण्डियाँ, विनिमय बिल आदि भी चल सम्पत्ति ही होते हैं। इस प्रकार की सम्पत्ति का स्थानान्तरण सम्भव होता है और इसके क्रय-विक्रय में भी सुविधा रहती है। ऐसी सम्पत्ति को आड़ में लेकर बैंक आसानी से ऋण दे देती है। सावधानी केवल इतनी बर्ती जाती है कि ऋण की रकम सम्पत्ति की कीमत से कम रखी जाती है, ताकि कीमतों के नीचे गिरने की दशा में हानि का भय न रहे। ऐसी जमानतों पर ५० से ७०% तक की कीमत के ऋण दिये जाते हैं। ऐसी प्रतिभूतियों का सबसे बड़ा लाभ उनकी विक्री-साध्यता होती है। ऋणी द्वारा समय पर भुगतान न होने की दशा में बैंक तुरन्त इन्हें बेचकर धन प्राप्त कर लेती है। इस दृष्टिकोण से कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों को उत्तम प्रतिभूति माना जाता है। इसी प्रकार सरकारी हुण्डियाँ और कोषागार विपत्र भी परम प्रतिभूति (Gilt-edged Securities) होते हैं। भारत में अंश बाजार के अभाव के कारण सरकारी हुण्डियों का ही इस रूप में अधिक चलन है।

अचल सम्पत्ति से हमारा अभिप्राय ऐसी सम्पत्ति से होता है जिसका स्थानान्तरण सम्भव नहीं होता है, जैसे—जमीन, मकान इत्यादि। साधारणतया बैंक ऐसी सम्पत्ति की जमानत लेने में संकोच करती है। कभी-कभी तो बैंकों पर ऐसी सम्पत्ति की आड़ न लेने का वैधानिक प्रतिबन्ध भी लगा दिया जाता है। ऐसी आड़ का स्वीकार करना जोखिम से खाली नहीं होता है, क्योंकि एक ओर तो अचल सम्पत्ति को तुरन्त बेच कर धन प्राप्त कर लेना कठिन होता है और दूसरी ओर ऐसी सम्पत्ति के स्वामित्व को प्राप्त करने में काफी झगड़ा रहता है। इस प्रकार की प्रतिभूति का एक मात्र गुण यह होता है कि बहुत से ऐसे व्यक्तियों को भी ऋण मिल जाता है जिनके पास अन्य प्रकार की आड़ नहीं है और जिनको व्यक्तिगत साख पर ऋण नहीं दिया जा सकता है।

प्रतिभूति के रूप में अचल सम्पत्ति के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं:—

(१) ऐसी सम्पत्ति के सही-सही स्वामित्व का पता लगाना कठिन होता है।

(२) सम्पत्ति की ठीक कीमत केवल विशेषज्ञ ही आँक सकते हैं।

(३) ऐसी सम्पत्ति की कीमत में काफी हद तक परिवर्तन होते रहते हैं।

(४) ऐसी सम्पत्ति के प्रबन्ध और निरीक्षण पर काफी खर्चा होता है और उसे एक दम बेच देना सम्भव नहीं होता है।

(५) स्वामित्व के हस्तान्तरण के लिए लम्बी-चौड़ी अदालती कार्यवाही की आवश्यकता पड़ती है।

उपरोक्त कारणों से ऐसी जमानत को स्वीकार करने में संकोच किया जाता है। अचल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण देने वाली बैंक को बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है:—(१) बैंक को चाहिए कि सम्पत्ति के स्वामित्व और अधिकार का ठीक-ठीक पता लगाये। (२) सम्पत्ति को गिरवी रखने के लिए वैधानिक प्राधि (Mortgage) आवश्यक होता है। (३) हस्तान्तरित करने वाले के स्वामित्व और अधिकार की भली-भाँति जाँच होनी चाहिए। (४) सम्पत्ति की कीमत से ऋण की रकम काफी कम रहनी चाहिए।

उधार देने के सम्बन्ध में सावधानियाँ—

इस प्रश्न का उत्तर कठिन है कि ऋण देते समय किसी बैंक को कौन-कौन सी बातों का ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि अलग-अलग बैंकों और अलग-अलग ग्राहकों की समस्याएँ अलग-अलग होती हैं। सभी बैंक समान रूप में व्यापार कुशल भी नहीं हो सकती हैं और सभी ग्राहक भी समान रूप में विश्वासप्रद नहीं होते हैं। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्त्व बैंक के अनुभव का है। अपने कार्यवाहन के अन्तर्गत बैंक यह जान लेती है कि किन ग्राहकों के साथ किस प्रकार व्यवहार किया जाय। इसके अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों और कालों की समस्याएँ भी अलग-अलग हो सकती हैं। ऋणों के सम्बन्ध में सबसे अधिक ध्यान ऋणी के चरित्र, उसकी आर्थिक स्थिति और उसके ऋण के लेने के कारण की ओर देना चाहिए। यद्यपि प्रत्येक बैंक की ऋण दान नीति में अन्तर हो सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में निम्न सामान्य सुझाव दिये जा सकते हैं:—

(१) आदेयों की तरलता और बैंक की अपनी सुरक्षा के लिए बहुत ही लम्बे काल के लिए ऋण देना अनुपयुक्त होता है।

(२) जोखिम का यथासम्भव अधिक से अधिक वितरण होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से कुछ थोड़े से व्यक्तियों को बड़े-बड़े ऋण देने की अपेक्षा बहुत से व्यक्तियों को छोटे-छोटे ऋण देना अधिक अच्छा होता है। इसी प्रकार एक क्षेत्र में ऋण देने अथवा एक ही प्रकार के व्यापारियों को ऋण देने की अपेक्षा बहुत से क्षेत्रों और अनेक प्रकार के व्यापारियों को ऋण देना अच्छा होता है।

(३) ऋण अधिकतर उत्पादक होने चाहिए, ताकि ऋणी उनसे प्राप्त

आय में से ब्याज और मूलधन चुका सके। उपभोग अथवा सट्टे के लिए दिए हुए ऋण अच्छे नहीं होते हैं।

(४) जमानत लेने में सावधानी की आवश्यकता है। बैंक को प्रतिभूतियों की तरलता पर अनुरोध करना चाहिए। अचल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण कम देने चाहिए।

(५) बैंक को चाहिए कि ऐसी नीति अपनाये कि ऋण की रकम प्रतिभूति की रकम से काफी कम रहे। इससे जोखिम बच जाती है और हानि का भय नहीं रहता। ऐसी दशा में स्वयं ऋणी भी शीघ्र भुगतान करके अपने माल को छुड़ाने के लिए उत्सुक रहता है।

(६) ऋण के वसूल करने पर अधिक ध्यान देना चाहिए। यदि ऋणी को बार-बार ऋण को बदलने अथवा उसका नवीनीकरण (Renewal) करने की सुविधा दी जाती है तो वह भुगतान करने में उत्सुकता नहीं दिखाता है और शोधन अवधि बढ़ जाती है।

(७) ऋण की कुल मात्रा सोच-समझकर निश्चित करनी चाहिए। प्रत्येक ऋण निक्षेप उत्पन्न करता है और नकद कोष को कम करने की सम्भावना रखता है। नकद कोषों की तुलना में निक्षेपों के बहुत बढ़ जाने से बैंक के फेल होजाने का डर रहता है।

(८) ऋणी का चरित्र ही ऋण के भुगतान की सबसे बड़ी गारन्टी होती है, इसलिए इस सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त किये बिना ऋण नहीं देना चाहिए।

बैंक का चिट्ठा अथवा बैलेन्स शीट (The Balance Sheet)—

किसी भी बैंक की वास्तविक आर्थिक स्थिति का सही अनुमान उसके चिट्ठे द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इसमें एक बैंक की सम्पूर्ण लेनदारी और देनदारी का विस्तृत विवरण होता है। कोई भी व्यक्ति चिट्ठे को देख कर बैंक की पूँजी, विनियोग नीति तथा उसकी व्यापार कुशलता का पता लगा सकता है। चिट्ठा वार्षिक आधार पर बनाया जाता है। दो वर्षों के चिट्ठों की तुलना करने से यह भी आसानी से जाना जा सकता है कि बीच के काल में बैंक की स्थिति किस अंश तक सुधर गई है अथवा बिगड़ गई है। जनता में बैंक के प्रति विश्वास उत्पन्न करने के लिए भी चिट्ठे का भारी महत्त्व होता है। पुराने काल में अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ दिखाने के लिए बैंक के कर्मचारी चिट्ठे को जान-बूझ कर इस प्रकार बनाते थे कि बैंक की स्थिति अच्छी दिखाई पड़े। वैसे भी अलग-अलग बैंकों के चिट्ठा बनाने की विधि अलग-अलग थी। इससे धोखेबाजी की काफी सम्भावना रहती थी और विभिन्न बैंकों की आर्थिक स्थिति की तुलना करने में भी कठिनाई होती थी। बैंक की समुचित प्रगति पर भी इसका

बुरा प्रभाव पड़ता था। भारत सरकार ने इस सम्बन्ध में सन् १६४६ के के बैंकिंग कम्पनी विधान में चिट्ठा बनाने की एक रीति निर्धारित कर दी है और अब सभी भारतीय बैंक उसी के अनुसार चिट्ठा तैयार करती हैं। व्यावसायिक दृष्टिकोण से भी आधुनिक बैंक चिट्ठे में जान-बूझ कर परिवर्तन करना उचित नहीं समझती हैं, क्योंकि इसका उनकी साख पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उपरोक्त नियम के अनुसार भारत में बैंकों के वार्षिक चिट्ठे का निम्न रूप होता है:—

बैंक के वार्षिक चिट्ठे का नमूना
(Specimen of Bank Balance Sheet)

पूँजी और देनदारी (Liabilities)	लेनदारी और आदेय (Assets)
(१) पूँजी : अधिकृत अथवा परिदत्त (Capital : Authorised or Paid-up) :	(१) नकदी :
(क) पूर्वाधिकार अंश (Preference Shares)	(क) हाथ की नकदी (Cash in hand)
(ख) साधारण अंश (Ordinary Shares)	(ख) रिजर्व बैंक में जमा
(ग) अस्थगित अंश (Deferred Shares)	(ग) स्टेट बैंक में धरोहर
(२) सुरक्षित कोष एवं अन्य जमा (Reserves and Funds)	(घ) अन्य बैंकों के पास चालू खातों में जमा
(३) जमाधन तथा अन्य खाते (Deposits and other Accounts) :	(२) याचना राशि (Money at Call & Short Notice)
(क) सावधि जमा (Fixed Deposits)	(३) भुनाये और खरीदे हुए बिल
(ख) सेविंग बैंक जमा	(४) विनियोग (Investments)
(ग) चालू जमा (Current Account)	(क) केन्द्रीय और राज्य सरकारों की हुण्डियाँ और कोषागार-विपत्र
(४) अन्य बैंकों, अभिकर्त्ताओं आदि के ऋण :	(ख) अंश :
(क) भारत के भीतर	(अ) पूर्वाधिकार
(ख) भारत के बाहर	(आ) साधारण
	(इ) अस्थगित
	(ग) ऋण-पत्र और बाँड (Debentures and Bonds)
	(घ) स्वर्ण
	(ङ) अन्य विनियोग

ँजी और देनदारी (Liabilities)	लेनदारी और आदेय (Assets)
(५) शोधनीय बिल (Bills Payable)	(५) ऋण तथा अग्रिम (Loans and Advances including Over-draft and Cash-Credit)
(६) अन्य बिल (Bills for Collection, etc.)	(क) पूर्णतया सुरक्षित ऋण (Fully secured Debts)
(७) अन्य देन (Other Liabilities)	(ख) व्यक्तिगत जमानत पर दिये हुए ऋण (Loans on Personal Security)
(८) स्वीकृतियाँ, बेचान तथा इसी प्रकार की अन्य देन (Acceptances, Endorsements and such other Obligations)	(ग) ऋण, जिन पर व्यक्तिगत जमानत के अतिरिक्त और व्यक्तियों की भी व्यक्तिगत जमानत है।
(९) लाभ और हानि खाता (Profit and Loss A/c)	(घ) बिना जमानती ऋण (Unsecured or Doubtful Loans)
(१०) सामयिक अथवा आकस्मिक देन (Contingent Liabilities)	(ङ) बैंक के संचालकों अथवा अधिकारियों को दिये गये ऋण (Loans to the Directors and Officers of the Bank)
	(च) ऐसी कम्पनियों अथवा फर्मों को दिये हुए ऋण जिनसे बैंक के संचालक सम्बन्धित हैं। (Loans to Companies or Firms with which the Directors of the Bank are connected)
	(छ) कुल ऐसे ऋणों का योग जो बैंक के संचालकों, मैनेजर

	तथा अन्य अधिकारियों को दिये गए हैं। (ज) कुल ऐसे ऋणों का योग जो उन कम्पनियों तथा फर्मों को दिये गये हैं जिनसे बैंक के संचालक किसी प्रकार सम्बन्धित हैं। (झ) अन्य बैंकों पर ऋण (Dues from other) Banks) (६) वसूली के लिए प्राप्त बिल (Bills acquired for collection) (७) स्वीकृतियाँ, बेचान आदि (Acceptances, Endorsements, etc.) (८) कार्य-स्थान (Premises minus depreciation) (६) फर्नीचर और अन्य सामान (१०) अन्य आदेय (११) गैर-बैंकिंग आदेय (१२) लाभ और हानि
योग	योग

चिट्ठे का विश्लेषण—

चिट्ठा ठीक इसी प्रकार तैयार किया जाता है जिस प्रकार कि बही खाते का एक पृष्ठ। इसमें दाहिनी ओर देनदारी दिखाई जाती है और बाईं ओर लेनदारी। दोनों तरफ की मदों का योग अन्त में बराबर हो जाता है और बैलेन्सशीट का सन्तुलन हो जाता है। बैलेन्सशीट को ठीक-ठीक समझाने के लिये हम देनदारी की प्रमुख मदों को एक-एक करके लेते हैं।

पूँजी—

बैंक अपनी पूँजी को चिट्ठे में विशेष रीति से दिखाती है। प्रारम्भन से पूर्व ही यह घोषित कर दिया जाता है कि बैंक कितनी पूँजी से अपना कारोबार आरम्भ करेगी। ऐसी घोषणा बैंक के स्मारक-पत्र (Memorandum of Association) में कर दी जाती है और इसी के आधार पर

बैंक अपने अंश निकालती है। ऐसी पूँजी को अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) कहा जाता है। कोई भी बैंक अधिकृत पूँजी से अधिक कीमत के अंश नहीं निकाल सकती है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि सम्पूर्ण अधिकृत पूँजी के अंश बेचे जायँ। अधिकृत पूँजी के जिस भाग के अंश वास्तव में निकाले जाते हैं और बेचने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं उसे निर्गमित पूँजी (Issued Capital) कहा जाता है। यदि सम्पूर्ण अधिकृत पूँजी के अंश निकाले जाते हैं तो निर्गमित और अधिकृत पूँजी बराबर होगी। अब यह भी आवश्यक नहीं है कि सभी निकाले हुए अंश खरीद लिये जायँ। जितनी कीमत के अंश जनता द्वारा खरीद लिये जाते हैं उसे प्रार्थित पूँजी (Subscribed Capital) कहते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना आवश्यक है कि बैंक अपने अंश की सारी कीमत एक ही साथ बहुधा नहीं लेती है। १०० रुपये के अंश पर आरम्भ में ५० रुपये लिये जा सकते हैं और बाद को आवश्यकता पड़ने पर धीरे-धीरे अंश की कीमत का शेष रुपया ले लिया जाता है। प्रार्थित पूँजी का वह भाग जो बैंक को वास्तव में चुका दिया जाता है, परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital) कहलाता है। यह आवश्यक है कि चिट्ठे में पूँजी को दिखाते समय चारों प्रकार की पूँजी को अलग-अलग दिखाया जाय।

सुरक्षित कोष तथा अन्य जमा—

इस मद में वह कुल राशि दिखाई जाती है जो बैंक लाभाँश घोषित करने से पहले सुरक्षित कोष में डालती रहती है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से कार्यों के लिए बैंक धन जमा कर सकती है। इस प्रकार की समस्त जमा इस शीर्षक के अन्दर दिखाई जाती है।

जमाधन तथा अन्य खाते—

इस शीर्षक में विभिन्न व्यक्तियों और फर्मों द्वारा बैंक में जमा की हुई राशि को दिखाया जाता है। प्रत्येक प्रकार की जमा का अलग-अलग दिखाना आवश्यक होता है।

अन्य बैंकों के ऋण—

इस शीर्षक में दूसरी बैंकों से लिया हुआ उधार दिखाया जाता है। देश के भीतर और देश के बाहर की बैंकों के ऋणों को अलग-अलग दिखाना आवश्यक होता है।

शोधनीय बिल—

इस मद में उन सब बिलों की राशि का जोड़ लिखा जाता है जिनका भुगतान करने की बैंक ने जिम्मेदारी ली है।

अन्य बिल—

यह शीर्षक उन बिलों की रकम को दिखाता है जिन्हें बैंक ने अपने ग्राहकों की ओर से एकत्रित करने के लिये जमा किया है। यह रुपया एकत्रित हो जाने के पश्चात् ग्राहकों को लौटा दिया जाता है, इसलिये ऐसे बिलों की रकम को लेन और देन दोनों के रूप में दिखाया जाता है। वसूली से पहले यह बैंक की लेन होती है और वसूली के पश्चात् उसकी देन बन जाती है।

स्वीकृतियां तथा बेचान—

इस शीर्षक में उस राशि को दिखाया जाता है जिसकी कीमत के विनिमय बिल बैंक ने अपने ग्राहक की ओर से स्वीकार कर लिए हैं। स्वीकार किये हुए बिल का रुपया ग्राहक से मिल जाता है और बिल का भुगतान कर दिया जाता है, परन्तु जब तक बिल का भुगतान नहीं होता है, यह बैंक की देन ही रहती है।

सामयिक अथवा आकस्मिक देन—

इस शीर्षक की रकम को देनदारी के योग में नहीं जोड़ा जाता है। बैंक अपनी ऐसी देनदारी को इस मद में दिखाती है जो केवल अनुमान-जनक है और किसी प्रकार निश्चित नहीं है। किसी आकस्मिक देन के लिए, जो अज्ञात है, पहले से ही कुछ न कुछ व्यवस्था कर दी जाती है।

लेनदारी अथवा आदेय (Assets)—

दाहिनी तरफ के खाने में बैंक की लेनदारी अथवा उस रकम का ब्यौरा दिया जाता है जो बैंक को प्राप्त होनी है। इस ओर के प्रमुख शीर्षकों की विवेचना निम्न प्रकार है :—

नकदी—

भारतीय बैंक अपने पास ग्राहकों की माँग को पूरा करने के लिए सदा ही नकदी का संचय रखती हैं। इसके अतिरिक्त समय और माँग देन का एक निश्चित प्रतिशत विधानानुसार रिजर्व बैंक में जमा किया जाता है। बैंक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा अन्य बैंकों में भी धरोहर रख सकती हैं, ताकि आवश्यकता पड़ने पर पर्याप्त मात्रा में नकदी प्राप्त हो सके।

याचना राशि—

इस शीर्षक में इन सब धनों को सम्मिलित किया जाता है, जो माँगने पर तुरन्त मिल जाते हैं। ऐसी राशि अधिक से अधिक एक सप्ताह के भीतर बैंक द्वारा वसूल की जा सकती है।

भुनाये और खरीदे हुए बिल—

उन सब बिलों की कीमत इस शीर्षक में दिखाई जाती है जो या तो बैंक ने खरीद लिये हैं अथवा भुना दिये हैं। परिपक्वता पर इनका रुपया बैंक को मिल जाता है, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर इन्हें बेचा जा सकता है, अथवा रिजर्व बैंक से भुनवा लिया जाता है।

विनियोग—

विनियोगों में बैंक के लाभदायक आदेयों को सम्मिलित किया जाता है। प्रत्येक प्रकार के विनियोग की राशि अलग-अलग दिखाई जाती है। अल्पकालीन और दीर्घकालीन तथा सरकारी और गैर-सरकारी हुण्डियों के विनियोग का विस्तृत ब्यौरा दिया जाता है।

ऋण तथा अग्रिम—

इस शीर्षक में दूसरों को उधार दी गई राशि चिट्ठे में दिखाये हुये क्रम के अनुसार लिखी जाती है।

स्वीकृतियां—

इस मद में उन बिलों की सारी कीमत दिखाई जाती है जिन्हें बैंक ने ग्राहकों की ओर से स्वीकार किया है। वह कीमत देनदारी में भी दिखाई जाती है।

कार्य-स्थान—

इसके अन्तर्गत बैंक की समस्त अचल सम्पत्ति की कीमत दिखाई जाती है। ऐसी सम्पत्ति में बैंक के कार्यालय की बिल्डिंग, बैंक का फर्नीचर तथा उसके कार्य-स्थान से सम्बन्धित अन्य स्थिर सामानों की कीमत को सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार की सम्पत्ति बैंक के मृत स्कन्ध होते हैं। इन्हें उसी समय बेचा जाता है जबकि बैंक फेल होती है और उसका निस्तारण (Liquidation) करके लेनदारों का भुगतान किया जाता है।

अध्याय २६

बैंक और ग्राहक का सम्बन्ध

(The Relation Between the Bank and the Customer)

बैंक और ग्राहक के सम्बन्ध को समझने से पहले दोनों के सही-सही अर्थ समझ लेना आवश्यक है। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि बैंक की बिल्कुल सही परिभाषा करना कठिन है। साधारण रूप में हम बैंकर उस संस्था अथवा व्यक्ति को कहते हैं जो मुद्रा और साख में व्यवसाय करे। दूसरे शब्दों में, रुपये की लेन-देन और साख का क्रय-विक्रय बैंक की प्रमुख विशेषताएँ होती हैं। धनादेशों द्वारा भुगतान करने की प्रणाली के विकास के कारण अधिकाँश शोधन धनादेशों पर ही किये जाते हैं, अतएव् डा० हार्ट ने बैंक की परिभाषा इस प्रकार की है:—"एक बैंकर वह व्यक्ति है जो अपने साधारण व्यवसाय के अन्तर्गत ऐसे धनादेशों का भुगतान करता है जो उन व्यक्तियों द्वारा लिखे गये हैं जिनके लिये अथवा जिनकी ओर से उसके पास चालू खाते में रुपया जमा किया गया है।" इस प्रकार धनादेशों पर भुगतान करना ही आधुनिक बैंक की प्रमुख विशेषता है और यह भुगतान उस रुपये में से किया जाता है जो ग्राहकों ने बैंक में जमा कर रखा है। कुछ लोगों से रुपया जमा के रूप में स्वीकार करके बैंक दूसरे व्यक्तियों को ऋण के रूप में दे देती है। साख का निर्माण भी इस प्रकार की जमा के ही आधार पर किया जाता है। इस कारण शायद यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि बैंक एक प्रकार अपने विभिन्न ग्राहकों के बीच लेन-देन का सम्बन्ध स्थापित कराने में मध्यस्थ का कार्य करती है।

अब ग्राहक शब्द का सही अर्थ समझने की आवश्यकता है। साधारण बोल-चाल में ग्राहक का अभिप्राय खरीदार से होता है, जो किसी वस्तु अथवा सेवा को खरीदता है। बैंक के सम्बन्ध में भी ग्राहक के लगभग यही अर्थ होते हैं, परन्तु बैंकिंग के सम्बन्ध में खरीदने का विशेष अर्थ होता है। बैंक के सम्बन्ध में ग्राहक का अभिप्राय ऐसे व्यक्ति, फर्म अथवा संस्था से होता है जिसने बैंक में धन जमा करके अपने नाम का खाता खुलवाया है और इस खाते में से वह बिना पहले से सूचना दिए धनादेश द्वारा रुपया निकाल सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति विशेष काफी समय से बैंक के साथ व्यवसाय करे। ग्राहक ऐसा कोई भी व्यक्ति हो सकता है जिसका बैंक में इस प्रकार का खाता है कि उसमें से धनादेश द्वारा रुपया

निकाला जा सकता है। इस प्रकार ग्राहक सदा ही बैंक में रुपया जमा करने वाला व्यक्ति होता है। यहाँ इस प्रश्न का उठना आवश्यक है कि क्या उस व्यक्ति को बैंक का ग्राहक नहीं कहा जायगा जो बैंक में रुपया जमा करने के स्थान पर उलटा बैंक से रुपया उधार लेता है ? व्यावसायिक जगत में ऋणी और जमाधारी दोनों ही को बैंक का ग्राहक कहा जाता है। बात यह है कि बैंक से ऋण लेने वाले तथा बैंक में रुपया जमा करने वाले के बीच बैंक के व्यावसायिक दृष्टिकोण से कोई भी अन्तर नहीं होता है। ऋण भी जमा को उत्पन्न करते हैं। बैंक की रुपया उधार देने की रीति यह है कि ऋण की राशि का ऋणी के नाम बैंक में खाता खोल दिया जाता है, जिसमें से वह धनादेशों द्वारा भुगतान ले सकता है, अतः बैंक का ऋणी भी ऐसा ही व्यक्ति होता है जिसके खाते में बैंक में रुपया जमा रहता है और धनादेशों द्वारा निकाला जा सकता है। इस प्रकार बैंक का प्रत्येक ग्राहक उसका जमाधारी होता है।

बैंक का ग्राहक व्यक्ति, फर्म, कम्पनी, संस्था, सभा, संघ आदि कोई भी हो सकता है। इसी प्रकार एक अधिकारी अथवा संघ का मन्त्री भी सभा की ओर से खाता खोल सकता है। किसी व्यक्ति अथवा संस्था को ग्राहक बना लेने के पश्चात् बैंक को उससे सम्बन्धित कर्त्तव्यों को पूरा करना आवश्यक होता है, इसलिए ग्राहक बनाते समय बैंक अपने भावी ग्राहक के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। किसी भी व्यक्ति के नाम का खाता खोलने से पहले उसके चरित्र, उसकी साख, उसकी ईमानदारी, उसकी व्यावसायिक ख्याति तथा उसकी आर्थिक स्थिति का पता लगाया जाता है। यही कारण है कि बैंक नये ग्राहक से हवाला अथवा परिचय माँगती है। ऐसे व्यक्ति के विषय में दूसरी बैंकों तथा पुराने ग्राहकों से गुप्त जाँच की जाती है और व्यक्तिगत मुलाकातों द्वारा बैंक का व्यवस्थापक वास्तविक स्थिति का पता लगाने का प्रयत्न करता है। सुरक्षा के लिए ग्राहक के हस्ताक्षरों के नमूने लिए जाते हैं और बैंक इस बात पर अनुरोध करती है कि प्रत्येक धनादेश पर नमूने के अनुसार ही हस्ताक्षर होने चाहिए। नमूने के हस्ताक्षर सुरक्षित रखे जाते हैं।

ग्राहक और बैंकर का पारस्परिक सम्बन्ध—

एक बैंकर और उसके ग्राहक के बीच तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं:-

(१) साहूकार तथा ऋणी का सम्बन्ध (Creditor and Debtor)—

(२) अभिकर्त्ता अथवा प्रतिनिधि और प्रधान का सम्बन्ध (Agent and Principal)।

(३) धरोहर-धारी और धरोहर-धर्त्ता अथवा अमानत लेने वाले

और अमानत देने वाले का सम्बन्ध (Bailee and Bailer)।

साहूकार और ऋणी—

बैंकर और ग्राहक के बीच का आधारभूत सम्बन्ध ऋणी और साहूकार का ही है। जब कोई व्यक्ति बैंक में अपना रुपया जमा करके खाता खुलवाता है तो जमाधन की मात्रा के अनुसार बैंक जमा करने वाले अर्थात् ग्राहक की ऋणी हो जाती है। यह बैंक का उत्तरदायित्व होता है कि वह निश्चित शर्तों पर ग्राहक की माँग पर उसका रुपया लौटा दे। इसके विपरीत कुछ दशाओं में बैंकर साहूकार होता है और ग्राहक उसका ऋणी होता है। बैंकर अपने ग्राहक को रुपया उधार देता है, जो अधि विकर्ष, नकद साख, ऋण, अग्रिम आदि किसी भी रूप में दिया जा सकता है। रुपये का लौटाना ग्राहक की जिम्मेदारी होती है। इस प्रकार कभी ग्राहक ऋणी होता है और कभी बैंकर। बैंकर और ग्राहक के इस सम्बन्ध की कुछ विशेषतायें होती हैं, जो साधारणतया अन्य साहूकारों और ऋणी व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में नहीं पाई जाती हैं। इन विशेषताओं की गणना निम्न प्रकार की जा सकती है :—

(१) स्वभाव में ग्राहक द्वारा जमा की गई राशि एक सामान्य ऋण की भाँति होती है, जो एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को दिया जाता है। ग्राहक अर्थात् जमाधारी को बैंक के विरुद्ध वही अधिकार प्राप्त होते हैं जो एक साहूकार को ऋणी पर प्राप्त होते हैं। यदि बैंक का दिवाला निकल जाता है तो जमाधारी को अपनी जमा के प्रमाण देने पड़ते हैं और तभी उसका दावा सच्चा माना जाता है, परन्तु एक साधारण व्यापारिक ऋण और बैंक की जमा में अन्तर होता है। जो रकम बैंक में जमा की जाती है वह बैंक के पास अमानत अथवा धरोहर के रूप में नहीं होती है, बल्कि यह रकम ऋण के रूप में होती है, जिसे बैंकर आवश्यकता पड़ने पर किसी भी प्रकार उपयोग कर सकता है, परन्तु यद्यपि एक साधारण कर्जदार कर्ज की रकम को कभी भी चुका सकता है और चुकाने के सम्बन्ध में कोई समय अवधि अथवा शर्त नहीं लगाई जाती है, बैंक ऐसा नहीं कर सकती है। वह अपनी ओर से धन का भुगतान करके ऋण से निबटारा नहीं पा सकती है। ग्राहक का खाता केवल ग्राहक की प्रार्थना पर ही बन्द किया जा सकता है। बिना माँग के बैंक भुगतान नहीं कर सकती है। इस प्रकार साधारण ऋणों के विपरीत भुगतान की प्राथमिकता साहूकार अर्थात् ग्राहक की ओर से ही होती है।

(२) बैंकर को उसके पास जमा किये हुए रुपये के उपयोग का पूरा-

पूरा अधिकार होता है। एक साधारण कर्जदार किसी निश्चित उद्देश्य से ऋण लेता है और प्राप्त राशि का उपयोग निर्धारित शर्तों के अनुसार करता है, परन्तु बैंक के ऊपर इस प्रकार की कोई जिम्मेदारी नहीं होती है, वह जमाधन का इच्छानुसार विनियोग कर सकती है। बैंकर का केवल इतना दायित्त्व रहता है कि जमाधन को यदि वह चालू खाते में है तो माँग पर तुरन्त चुका दे और यदि वह सावधि जमा में है तो निर्धारित अवधि के पश्चात् चुका दे। इससे आगे धन के उपयोग पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता है।

(३) विधान के अनुसार बैंक के लिए यह अनिवार्य है कि यह ग्राहक की आज्ञानुसार उसके खाते में से भुगतान करती रहे। ग्राहक की यह आज्ञा धनादेश द्वारा दी जाती है और बैंक का यह उत्तरदायित्त्व है कि जैसे ही धनादेश प्रस्तुत किया जाता है, तुरन्त भुगतान कर दे। यदि चैक में किसी प्रकार की अनियमितता नहीं है और चैक लिखने वाले के खाते में पर्याप्त धन है तो बैंक भुगतान करने से इन्कार नहीं कर सकती है। यदि कोई बैंक बिना समुचित कारण के चैक का अनादर अथवा तिरस्कार करती है तो इसका बैंक की साख पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यही नहीं, इससे चैक लिखने वाले के आर्थिक मान और उसकी प्रतिष्ठा पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। जिस व्यक्ति द्वारा लिखे हुए चैक का अनादर हो जाता है उसे लोग शंका की दृष्टि से देखने लगते हैं और उसके साथ व्यवसाय करने में संकोच करते है। ग्राहक को यह भी अधिकार है कि यदि बैंक ने अकारण चैक का अनादर किया है तो वह बैंक पर मान-हानि का दावा करके मुआवजा प्राप्त कर ले। न्यायालय बैंक को हर्जाना देने पर वाध्य करते हैं।

(४) बैंकर के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने ग्राहक के खाते से सम्बन्धित सभी बातों को गुप्त रखे। वह अन्य पक्षों को ग्राहक के सम्बन्ध में कोई बात उस समय तक नहीं बता सकती है जब तक कि ऐसा करना या तो आवश्यक न हो और या उपयुक्त। प्रत्येक बार जब बैंक अपने ग्राहक की आर्थिक स्थिति की सूचना अन्य व्यक्तियों को देती है तो वह एक प्रकार की जोखिम उठाती है। यदि बैंक के ऐसा करने से ग्राहक के मान की हानि होती है तो ग्राहक बैंक के ऊपर क्षय पूर्ति का दावा कर सकता है। वैसे भी बैंक की ऐसी कार्यवाहियों का परिणाम यह होगा कि बैंक अपने ग्राहकों को खो बैठेगी। केवल निम्न दशाओं में ग्राहक की आर्थिक स्थिति का रहस्य खोलना उचित हो सकता है :—

(क) जबकि किसी न्यायालय के आदेशानुसार ग्राहक की आर्थिक स्थिति का बताना आवश्यक है।

(ख) यदि ऐसा करना राष्ट्र, समाज अथवा व्यावसायिक उन्नति के लिए आवश्यक है।

(ग) जबकि ग्राहक स्वयं रहस्य को खोलने की आज्ञा देता है।

(घ) जबकि ग्राहक बैंक का हवाला देता है और संदर्भ (Reference) के लिए बैंक को ग्राहक की आर्थिक स्थिति बतानी पड़ती है।

(ङ) यदि ग्राहक की आर्थिक स्थिति बताना स्वयं बैंक की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

उपरोक्त दशाओं में भी जब कभी भी ग्राहक के खाते और उसकी साख की सूचना दी जाती है तो बैंक को सावधानी से काम लेना चाहिए। यदि बैंक की असावधानी के कारण ग्राहक की साख को ठेस पहुँचती है तो इससे बैंक और ग्राहक दोनों ही को हानि होती है।

अभिकर्त्ता और प्रधान—

बैंकर और ग्राहक का दूसरा सम्बन्ध अभिकर्त्ता और प्रधान का होता है। बैंक का प्रमुख कार्य तो रुपये का जमा करना और उधार देना ही है, परन्तु आधुनिक बैंक को अपने ग्राहक के प्रतिनिधि अथवा अभिकर्त्ता के रूप में भी अनेक सेवाएँ सम्पन्न करनी पड़ती हैं। इन सेवाओं का व्यापार और वाणिज्य जगत में भारी महत्त्व है। इनसे ग्राहक को विशेष सुविधा होती है और क्योंकि बैंकर अपनी सेवाओं का पारितोषण लेता है, इसलिए उसकी भी आय में वृद्धि होती है। अभिकर्त्ता के रूप में बैंकर के निम्न कार्य महत्त्वपूर्ण हैं :—(१) ग्राहक के चैकों का भुनाना, (२) ग्राहक की ओर से विनिमय बिलों को स्वीकार करना और एकत्रित करना, (३) ग्राहक का रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना, (४) ग्राहक की ओर से अंशों, ऋण-पत्रों, प्रतिज्ञा-पत्रों, स्टाक आदि को खरीदना और बेचना, (५) ग्राहक की ओर से ब्याज, मूलधन, लाभांश आदि एकत्रित करना और चुकाना, (६) ग्राहक की ओर से बीमा, ब्याज, ऋण आदि की किश्तों का चुकाना, (७) ग्राहक की ओर से अन्य आदेशित कार्य करना, इत्यादि।

इन कार्यों की संख्या और उनका महत्त्व आधुनिक संसार में बराबर बढ़ता ही जा रहा है। ये सभी कार्य ग्राहक के आदेशानुसार बैंक उसके प्रतिनिधि के रूप में करती है और यदि बैंक अपके ग्राहकों की आज्ञानुसार कार्य करती है तथा अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करती है तो बैंक के कार्यों के लिए ग्राहक उत्तरदायी होता है। इस सम्बन्ध में ग्राहक और बैंक के पारस्परिक सम्बन्ध पर भारतीय प्रसंविदा विधान (Indian Law

of Contracts) की व्यवस्थाएँ लागू होती हैं। जब तक बैंक की लापरवाही, अधिकार से बाहर काम करना अथवा बेईमानी सिद्ध नहीं होती है, ग्राहक बैंक की उन सभी कार्यवाहियों के लिए जिम्मेदार होता है जो उसने ग्राहक की ओर से की हैं।

धरोहर-धारी और धरोहर-धर्त्ता—

बैंकर तथा ग्राहक के बीच तीसरी प्रकार का सम्बन्ध प्रन्यासी (Trustee) तथा लाभधारी (Beneficiary) का होता है। आधुनिक बैंक अपने ग्राहकों की बहुमूल्य वस्तुओं के संरक्षण का भी कार्य करती हैं। एक ग्राहक जेवरात, हीरे, बहुमूल्य प्रतिभूतियाँ और पत्र बैंक के संरक्षण में छोड़ सकता है। इस संरक्षण के लिए बैंक शुल्क अथवा कमीशन लेती है, परन्तु बैंक धरोहर को सुरक्षित रखने और लौटाने की गारन्टी देती है। धरोहर के खो जाने अथवा नष्ट हो जाने की दशा में बैंक को उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। विधान के अनुसार धरोहर के प्रति बैंक को इतनी ही सावधानी वर्तनी पड़ती है जितनी वह निजी माल के सम्बन्ध में रखती है। यदि बैंक की किसी भी प्रकार की असावधानी के कारण ग्राहक को हानि होती है तो बैंक को उसकी क्षय पूर्ति करनी पड़ती है।

व्यवहार में बैंक इस प्रकार की धरोहर को मुहर लगे हुए लिफ़ाफ़ों अथवा मुहर लगे हुये तालाबन्द सन्दूकों में लेती है और बैंक यह जिम्मेदारी लेती है कि माँगने पर धरोहर-धर्त्ता को उसी प्रकार बिना मुहर टूटे धरोहर लौटा दी जायगी, परन्तु ऐसी वस्तु के लौटाने में सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि यह किसी अनाधिकृत (Unauthorised) व्यक्ति को लौटा दी जाती तो बैंक उत्तरदायी होती है। कुछ देशों में इस प्रकार का नियम है कि यदि धरोहर रखने के लिए पारितोषण नहीं लिया जाता है और बैंक की घोर लापरवाही सिद्ध नहीं होती है तो बैंक धरोहर की क्षय पूर्ति के लिए उत्तरदायी नहीं होती है। भारत का नियम इस सम्बन्ध में अधिक कड़ा है। यहाँ प्रत्येक धरोहर पर बैंक की असावधानी सिद्ध होने पर क्षय-पूर्ति आवश्यक होती है, चाहे उसके संरक्षण के लिये बैंक ने कमीशन लिया है या नहीं।

जब बैंक बहुमूल्य वस्तुओं के संरक्षण और सुरक्षित रखने की जिम्मेदारी लेती है तो वह एक प्रन्यासी (Trustee) के रूप में कार्य करती है। इसी प्रकार जब बैंक निश्चित शर्तों पर जमा स्वीकार करती है और उसका हिसाब जमा करने वाले को देती रहती है तो भी बैंक प्रन्यासी ही रहती है।

उपरोक्त सम्बन्धों के अतिरिक्त व्यावहारिक जीवन में बैंक की उसके ग्राहकों के प्रति कुछ विशेष जिम्मेदारियाँ होती हैं. जिनका निभाना बैंक के

लिये आवश्यक होता है। ये उत्तरदायित्व निम्न प्रकार हैं :—प्रथम, बैंक के लिए उसके ग्राहकों द्वारा उस पर लिखे हुए धनादेशों का आदर करना आवश्यक होता है। जब तक ग्राहकों के खाते में पर्याप्त धन है और धनादेश के बारे में कोई अन्य प्रकार की त्रुटि नहीं है, बैंक को उस पर लिखे हुए सभी चैकों का भुगतान करने के लिये तैयार रहना चाहिए। दूसरे, यदि कोई विरोधी समझौता नहीं हुआ है तो प्रतिभूति के रूप में बैंक किसी भी ऐसी सम्पत्ति को रोक सकती है जो उसके संरक्षण में रखी हुई हो। तीसरे, बैंक का यह महान् उत्तरदायित्व होता है कि वह अपने ग्राहक के खाते को गुप्त रखे। बहुत बार ग्राहक की आर्थिक स्थिति के खुल जाने से उसकी साख तथा उसके व्यवसाय को काफी हानि हो सकती है, अतएव जब तक कानून, लोक हित अथवा ग्राहक की स्वीकृति के कारण ऐसा करना आवश्यक नहीं होता है, बैंक अपने ग्राहक की आर्थिक स्थिति को छुपाकर ही रखती है, परन्तु बैंक अपने ग्राहकों को एक दूसरे की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में गोपनीय रिपोर्ट दे सकती है। चौथे, बैंक को अपने ग्राहकों से आनुषांगिक व्यय (Incidental Charges) वसूल करने का अधिकार होता है और ग्राहक उन्हें देने से इन्कार नहीं कर सकता है। पाँचवे, बैंक को चक्रवर्ती ब्याज लगाने का अधिकार होता है। अन्त में, बैंक ऐसी गारन्टी देती है कि निक्षेपदाताओं द्वारा जमा की हुई राशि पर समय सीमा (Time Limitation) लागू नहीं होती है। यदि निक्षेप-दाता को तीन साल से भी अधिक समय रुपया जमा किये हुए हो जाता है और समय सीमा विधान (Limitation Law) के अनुसार ऋण के अशोधनीय हो जाने की अवस्था उत्पन्न हो जाती है तो भी बैंक उसे चुकाने से कभी भी इन्कार नहीं करती है।

बैंकर और ग्राहक के सम्बन्ध की कुछ विशेष दशाएँ—

चार महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों में, जो नीचे दी जाती हैं, बैंक को विशेष रूप में सावधानी से काम करना पड़ता है :—

(१) **ग्राहक के धनादेशों का भुगतान**—वैसे तो ग्राहक के धनादेशों का भुगतान करने के लिए बैंक उत्तरदायी है और अकारण भुगतान न करने पर बैंक को मान-हानि की क्षय-पूर्ति करने के लिए बाध्य किया जा सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में भी थोड़ी सी सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि बैंक को इस प्रकार की सूचना मिल चुकी है कि ग्राहक पागल हो गया है, उसका दिवाला निकल चुका है, ग्राहक ने धनादेश विशेष का भुगतान न करने का लिखित आदेश दे दिया है, अथवा ग्राहक ने चैक के खो जाने की सूचना दे दी है तो बैंक को चाहिए कि वह ग्राहक

के धनादेश का भुगतान न करे। यदि सब कुछ जानते हुए भी बैंक भुगतान करती है तो वह हर्जाना देने के लिये जिम्मेदार होती है।

(२) अल्पव्यस्क ग्राहक के प्रति—अल्पव्यस्क अथवा नाबालिग (Minor) के साथ व्यवसाय करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। विधान के अनुसार अल्पव्यस्क के साथ किये हुए प्रसंविदे (Contracts) अमान्य होते हैं। यदि ऐसा व्यक्ति ऋण लेता है, अधि-विकर्ष प्राप्त करता है, अथवा बिल को स्वीकार करता है तो उससे रुपया वसूल नहीं किया जा सकता है। ऐसे व्यक्ति के नाम का खाता खोलते समय बैंक को इन सब बातों का ध्यान रखना पड़ता है। व्यवहार में बैंक इस बात पर अनुरोध करती है कि ऐसे व्यक्ति की ओर से उसके संरक्षक के नाम पर खाता खोला जाय और उसे जमाधन से अधिक रुपया निकालने का अधिकार न दिया जाय।

(३) सम्मिलित हिन्दू परिवार का खाता—सम्मिलित हिन्दू परिवार की ओर से उसका प्रबन्धकर्त्ता सभी बातों के लिए उत्तरदायी होता है। परिवार के अन्य सदस्यों के वैधानिक अधिकार सीमित होते हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसे खाते से सम्बन्धित सभी धनादेशों पर प्रबन्धकर्त्ता के हस्ताक्षर रहें। साझेदारी फर्म में सभी साझेदारों की सामूहिक और व्याक्तगत जिम्मेदारी होती है, इसलिए किसी भी साझेदार के हस्ताक्षर अथवा आदेश पर भुगतान किया जा सकता है, परन्तु सम्मिलित हिन्दू परिवार में यह बात नहीं होती है।

(४) संस्था की ओर से खोला हुआ खाता—फर्मों की भाँति संस्थाओं अथवा विभागों की ओर से भी खाते खोले जा सकते हैं। इन खातों पर संस्थाओं और विभागों के अधिकारियों द्वारा धनादेश लिखे जाते हैं और बहुधा चैकों पर दो या उससे अधिक हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी बैंक को पहले से ही बता दिया जाता है कि अमुक खाते से रुपया निकालने का अधिकार किसको है। बैंक के लिए यह आवश्यक है कि सभी धनादेशों का समुचित जाँच के पश्चात् भुगतान करे और संदेह की दशा में बिना प्रमाण के भुगतान न करे।

अध्याय २७

बैंकिंग के प्रकार

(The Types of Banking)

देश की प्रचलित मुद्रा साधारणतया बैंक मुद्रा ही होती है और यह बैंक मुद्रा व्यापार बैंकों द्वारा निर्मित होती है। विभिन्न देशों में व्यापार बैंकों के संगठन और उनकी कार्य-विधियों में भारी अन्तर पाया जाता है, परन्तु व्यापार बैंकिंग प्रथा को हम दो बड़े-बड़े भागों में बाँट सकते हैं :—(१) ब्रिटेन की शाखा बैंकिंग प्रणाली (Branch Banking System) तथा (२) अमरीका की इकाई बैंकिंग पद्धति (Unit Banking System)। सबसे पहले हम बैंकों की इस कार्य-विधि के अन्तर का ही अध्ययन करेंगे।

शाखा बैंकिंग प्रणाली—

इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली का सबसे अच्छा उदाहरण इङ्गलैण्ड में मिलता है, जहाँ व्यापार बैंक साधारणतया एक विशालकाय संस्था होती है, जिसकी शाखाएँ देश भर में फैली रहती हैं। अन्य बहुत से देशों में भी, जिनमें भारत भी शामिल है, यही प्रणाली प्रचलित है। इङ्गलैण्ड की कुल १०,८७४ बैंकिंग संस्थाओं में से ६७,७१७ पर पाँच बड़ी-बड़ी बैंकों का, जिन्हें 'महान पाँच' (Big Five) कहा जाता है, आधिपत्य है। इसी प्रकार जर्मनी और फ्रान्स में भी अधिकांश बैंकिंग व्यवसाय कुछ थोड़ी सी ही बैंकों के हाथ में है। इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) शाखा बैंकिंग को बड़े पैमाने की उत्पत्ति तथा श्रम-विभाजन के सभी लाभ प्राप्त होते हैं। एक ही बैंक का विशाल संगठन होता है और उसके पास पूँजी तथा अन्य साधन भी काफी मात्रा में होते हैं। ऐसी बैंक बैंक-कार्यों के संचालन के लिये विशेषज्ञ रख सकती है और इस प्रकार अपने व्यवसाय का वैज्ञानिक तथा कुशल प्रबन्ध कर सकती है। छोटी-छोटी बैंकों के लिए धनाभाव के कारण यह सम्भव नहीं है कि वे ऊँचा वेतन देकर विशेषज्ञों को रख सकें।

(२) इस प्रणाली में निधि की बचत होती है। एक विशाल बैंक के लिए यह सम्भव हो सकता है कि वह प्रत्येक शाखा में थोड़ी-थोड़ी

सुरक्षित निधि रखे, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर एक शाखा से दूसरी शाखा को नकद कोषों का हस्तान्तरण किया जा सकता है; परन्तु यदि बैंक की शाखाएं नहीं हैं तो उसे काफी बड़ा सुरक्षित कोष रखना पड़ता है, जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर कठिनाई न हो। इस प्रकार व्यवसाय के विस्तार की तुलना में इकाई बैंकिंग की अपेक्षा शाखा बैंकिंग में कम सुरक्षित कोषों की आवश्यकता पड़ती है।

(३) शाखा बैंकिंग के लिये विप्रेष व्यवसाय (Remittance Business) अर्थात् धन का एक स्थान से दूसरे को हस्तान्तरण सस्ता और सरल होता है, क्योंकि बैंक की एक शाखा से दूसरी को धन का हस्तान्तरण हो सकता है। यही कारण है कि ऐसी बैंकों के कारण देश के विभिन्न भागों के लिए ब्याज की दरों में समानता आ जाती है।

(४) शाखा बैंकिंग में व्यावसायिक जोखिम का भौगोलिक वितरण हो जाता है। कुल सम्पत्ति अथवा कुल व्यवसाय एक ही क्षेत्र में केन्द्रित न होकर कई स्थानों पर फैला हुआ होता है। इस प्रकार एक स्थान की हानियों का दूसरे स्थान के लाभों से समायोजन होता रहता है। यदि एक स्थान पर मन्दी भी आती है तो भी बैंक सरलतापूर्वक उसके दुष्परिणामों को सहन कर सकती है।

(५) इस पद्धति द्वारा देश के सभी नगरों, अविकसित क्षेत्रों और देहात तक में बैंकिंग सेवाएँ उपलब्ध की जा सकती हैं। इस प्रकार इसके द्वारा देश के उन भागों को भी बैंकिंग सेवाओं के लाभ प्राप्त हो जाते हैं जहाँ स्वतन्त्र रूप में बैंक खोलने का विचार भी नहीं किया जा सकता है।

इस पद्धति के दोष—

यह प्रणाली आधुनिक आर्थिक विकास प्रणाली के अनुकूल तो अवश्य है, परन्तु आधुनिक उत्पादन प्रणाली के सभी दोष भी इसमें पाये जाते हैं। प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) इस प्रणाली में बड़े पैमाने की उत्पत्ति के सभी दोष होते हैं। विशालकाय संगठन के कारण प्रबन्ध, निरीक्षण और नियन्त्रण की गम्भीर समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(२) एक बैंक के लिए दो बातों की भारी आवश्यकता होती है :— एक तो यह कि क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों और ग्राहकों की रुचि के अनुसार कार्य विधि निश्चित की जाय और दूसरे, उसके कार्य में लोच तथा प्रारम्भन प्रेरणा (Initiative) रहे। शाखा बैंकिंग में ये दोनों बातें मुश्किल से पूरी होती हैं, क्योंकि प्रत्येक बात प्रधान कार्यालय से पूछ कर उसकी निर्धारित नीति के अनुसार की जाती है ऐसी प्रणाली को व्यक्तिगत सम्पर्क के लाभ बहुत ही कम प्राप्त होते हैं।

(३) शाखा बैंकिंग प्रणाली साधारणतया व्ययपूर्ण होती है। प्रत्येक नई शाखा की स्थापना पर अलग-अलग व्यय करना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे शाखाओं की संख्या बढ़ती है और उनका फैलाव बढ़ता है वैसे-वैसे समन्वय, नियन्त्रण तथा निरीक्षण का व्यय बढ़ता जाता है।

(४) यह पद्धति बैंकिंग सेवाओं के अनावश्यक तथा प्रतियोगी विकास को प्रोत्साहन देती है। प्रत्येक नगर और क्षेत्र में सभी बैंक अपनी-अपनी शाखाएँ खोलती हैं। इससे सेवाओं की दोबारगी (Duplication) होती है और विभिन्न बैंकों के बीच हानिकारक प्रतियोगिता उत्पन्न हो जाती है।

(५) एक शाखा की भूल का सारी शाखाओं पर प्रभाव पड़ता है। यदि किसी एक क्षेत्र में संकट अथवा मन्दी आती है तो सारी की सारी बैंकिंग प्रणाली का ढाँचा हिलने लगता है।

इकाई बैंकिंग— Unit Banking.

इस प्रकार की बैंकिंग प्रणाली का चलन संयुक्त राज्य अमरीका में है। इसके अन्तर्गत बैंक का कार्य साधारणतया एक ही कार्यालय तक सीमित होता है, यद्यपि यह सम्भव है कि कुछ बैंकों को एक सीमित क्षेत्र के भीतर शाखाएँ खोलने का भी अधिकार हो। इस प्रणाली में प्रतिनिधि बैंकिंग पद्धति द्वारा काम किया जाता है। धनों के हस्तान्तरण तथा कार्य की सुविधा के लिए विभिन्न बैंकों को एक दूसरे से सम्बन्ध रखना पड़ता है। इकाई बैंकिंग प्रणाली इस आधारभूत विचार के अनुसार ठीक समझी जाती है कि एक बैंक का प्रारम्भन स्थानीय समाज द्वारा ही होना चाहिये और उसका स्वामित्त्व भी उसी के पास रहना चाहिये। ऐसी बैंक का व्यवसाय साधारणतया आस-पास के उद्योगपतियों, व्यापारियों तथा कृषकों से ही सम्बन्धित होता है। ऐसी प्रणाली में बैंक के कार्य का स्थानीय आर्थिक और सामाजिक संगठन के साथ एकीकरण होता है। ऐसी पद्धति में जन-संख्या के अनुपात में बैंकों की संख्या काफी अधिक होती है। अमरीका में हजारों छोटी-छोटी स्वतन्त्र और निजी बैंक हैं, जिनका स्वामित्त्व भी स्थानीय होता है। एकाधिकारी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए अमरीकन सरकार बैंकों के कार्य-क्षेत्र को सीमित रखने का प्रयत्न करती है। इस प्रणाली के समर्थक इसे विभिन्न कारणों से अधिक उपयुक्त बताते हैं :— प्रथम, यह कहा जाता है कि इकाई-बैंकिंग स्वतन्त्र व्यवसाय (Free Enterprise) सिद्धान्त के अधिक अनुकूल है। दूसरे, इसमें स्थानीय कल्याण का विशेष ध्यान रखा जाता है। शाखा बैंकिंग स्वभाव से ही ऐसी होती है कि अपने लाभ के पीछे स्थानीय जन-संख्या के हितों का ध्यान नहीं

रख सकती है। तीसरे, बैंक का स्थानीय जन-संख्या से प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत सम्पर्क रहता है और उसका संचालन तथा उसकी कार्य-विधि स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार होती है। चौथे, यह प्रणाली एकाधिकारी बैंकिंग के विरुद्ध एक अच्छी रोक है।

परन्तु इस प्रणाली के विरुद्ध भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। जोखिम का फैलाव न होने के कारण इस प्रणाली में स्थिरता कम होती है और बैंकों की विफलता का भय अधिक रहता है। दूसरे, कोषों में गतिशीलता नहीं रहती और उनका हस्तान्तरण कठिन और व्ययपूर्ण होता है। तीसरे, व्यवसाय का पैमाना छोटा होने के कारण प्रबन्ध की कुशलता तथा कार्य-विधियों के सुधार सम्बन्धी लाभ कम ही प्राप्त होते हैं। ऐसी प्रणाली में छोटे-छोटे नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाएँ उपस्थित करने में कठिनाई होती है, क्योंकि एक स्वतन्त्र बैंक की स्थापना शाखा खोलने की अपेक्षा अधिक कठिन होती है और नये क्षेत्रों में शुरू में व्यवसाय भी कम मिलता है। अन्त में, सरकारी नियन्त्रण तथा निरीक्षण के दृष्टिकोण से भी इकाई बैंकिंग शाखा बैंकिंग की तुलना में अच्छी नहीं होती है, क्योंकि प्रत्येक बैंकिंग इकाई पर अलग-अलग नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है।

इकाई बैंकिंग प्रणाली के दोषों को देखते हुए अमरीकन बैंकिंग पद्धति में कुछ आवश्यक सुधार किये गये हैं। कुछ बैंकों को थोड़ी-थोड़ी शाखाएँ खोलने का अधिकार दिया गया है। इसके अतिरिक्त वहाँ श्रृंखलाकारी अथवा वर्गीय (Chain or Group) बैंकिंग पद्धति को प्रोत्साहन दिया गया है, जिसके अन्तर्गत बहुत सी बैंकों पर एक ही साथ एक ही व्यक्ति अथवा कुछ थोड़े से व्यक्तियों का सामूहिक स्वामित्व रहता है, यद्यपि वैसे प्रत्येक बैंक की पूँजी, प्रबन्ध तथा कर्मचारी अलग-अलग होते हैं। साथ ही, ऐसी भी व्यवस्था पाई जाती है कि ग्रामीण क्षेत्रों तथा छोटे-छोटे नगरों की बैंक बड़े-बड़े नगरों की बैंकों में अपने खाते खोलती हैं और इस प्रकार विभिन्न बैंकिंग इकाइयों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। बड़े-बड़े नगरों की बैंक छोटी-छोटी बैंकों को व्यावसायिक सलाह देती हैं, उनके फालतू धन को एक से दूसरी के पास हस्तान्तरित करती हैं और आवश्यकता के समय उन्हें आर्थिक सहायता भी देती हैं।

यह निर्णय करना थोड़ा कठिन है कि भारत में इन दोनों में से कौन सी प्रणाली अधिक उपयुक्त है। इस सम्बन्ध में टामस् (Thomas) ने कहा है कि "यद्यपि दोनों ही प्रणालियाँ अपूर्ण हैं, परन्तु दोनों की कार्य पद्धति को देखने से पता चलता है कि शाखा बैंकिंग प्रणाली अधिक उत्तम है।" वास्तविकता यह है कि अमरीका जैसे धनी देश में तो, जहाँ जन-साधारण की आय काफी ऊँची है और जहाँ व्यवसायों का काफी विस्तार

हो चुका है, इकाई बैंकिंग प्रणाली ठीक हो सकती है, यद्यपि उसके सफल संचालन के लिए उसमें समय-समय पर परिवर्तन आवश्यक होते हैं। भारत में पूँजी की कमी है, आय की कमी के कारण बचत कम होती है, बैंकिंग प्रणाली का विकास बहुत ही कम हुआ है और प्रस्तुत बैंकों के पास समुचित व्यवसाय नहीं है, इसलिए यहाँ इकाई बैंकिंग उपयुक्त नहीं हो सकती है। हमारे लिए तो शाखा बैंकिंग ही अधिक अच्छी है, परन्तु आवश्यकता इस बात है कि एक बैंक की अलग-अलग शाखाएँ स्थानीय दशाओं के अनुसार अपनी-अपनी नीति और कार्य-प्रणाली का निर्माण करें, ताकि बैंक और स्थानीय व्यावसायिक वर्ग का निकटतम् सम्बन्ध बना रहे।

बैंकों का वर्गीकरण (The Classification of Banks)—

बैंक साधारणतया निम्न प्रकार की होती हैं:—

(१) **केन्द्रीय बैंक** (Central Bank)—यह देश की राष्ट्रीय बैंक होती है। ऐसी देश में साधारणतया एक ही बैंक होती है, यद्यपि इसकी अनेक शाखाएँ हो सकती हैं। भारत की केन्द्रीय बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया है। लगभग सभी केन्द्रीय बैंकों की दो प्रमुख विशेषताएँ होती हैं:—प्रथम, ऐसी बैंक को देश में नोट निर्गम का एकाधिकार प्राप्त होता है और दूसरे, विशेष परिस्थितियों को छोड़कर उसे जनता से व्यवसाय करने का अधिकार नहीं होता है। केन्द्रीय बैंक विभिन्न प्रकार के कार्य सम्पन्न करती है। सरकारी धन की लेन-देन और उसका हिसाब-किताब केन्द्रीय बैंक ही रखती है और यह बैंक आवश्यकता पड़ने पर सरकार को ऋण भी देती है। दूसरे शब्दों में, केन्द्रीय बैंक सरकार की बैंकर होती है। सरकारी रोकों का रखना और सरकारी ऋणों का प्रबन्ध भी इसी के हाथ में होता है। इसके अतिरिक्त यह बैंक विभिन्न रीतियों से देश की चलन तथा साख व्यवस्था पर नियन्त्रण रखती है, सरकार को आर्थिक, वित्तीय तथा मौद्रिक मामलों में सलाह देती है और इन मामलों से सम्बन्धित आवश्यक सूचना और आँकड़े एकत्रित करती है। बैंकिंग प्रणाली के दृष्टिकोण से भी केन्द्रीय बैंक कई प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। यह बैंकों की बैंक होती है, बैंकों को विभिन्न रूपों में ऋणों, अग्रिमों तथा उनके द्वारा भुनाये हुए विनिमय बिलों को पुनः भुनाकर आर्थिक सहायता देती है, उनके समुचित संचालन की देख-रेख करती है और सरकार को बैंकिंग विधान के सम्बन्ध में सुझाव देती है। आधुनिक युग में तो मौद्रिक, साख, विनियोग तथा वित्तीय समस्याओं की जटिलता के कारण केन्द्रीय बैंक का महत्त्व और भी बढ़ गया है।

(२) व्यापार बैंक (Commercial Banks)—भारत की अधिकाँश सम्मिलित पूँजी बैंक (Joint-stock Banks) इसी प्रकार की हैं। इन बैंकों का प्रमुख कार्य व्यापार की वित्तीय व्यवस्था में सहायता देना होता है। इन बैंकों की विशेषता यह होती है कि ये अल्पकालीन ऋण और अग्रिम प्रदान करती हैं। भारत में ऐसी बैंक साधारणतया ३ महीने तक के लिए ही ऋण देती हैं, यद्यपि कुछ दशाओं में अधिक से अधिक १ वर्ष तक के लिए भी ऋण दे दिये जाते हैं। ये अग्रिम वैयक्तिक प्रतिभूतियों, विनिमय बिलों अथवा बाँड की आड़ पर दिये जाते हैं, परन्तु तैयार माल, जो गोदामों में रखा गया है, फसलें, कृषि की उपज, अन्य उपयुक्त तरल आदेय तथा चल सम्पत्ति को भी बैंक द्वारा अच्छी प्रतिभूति समझा जाता है। प्रतिज्ञा-पत्रों पर साधारणतया किसी दूसरे सम्मानित दल के हस्ताक्षरों को भी अनुरोध किया जाता है। विधानानुसार ऐसी बैंक अचल सम्पत्ति की आड़ पर तथा दीर्घकालीन औद्योगिक कार्यों के लिए ऋण नहीं देती हैं, परन्तु भारत की कुछ व्यापार-बैंक व्यापारिक वित्त के अतिरिक्त और भी बहुत सी सेवाओं को अपने कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित करती हैं। ऐसी बैंक लगभग सभी प्रकार की निक्षेपों को स्वीकार करती हैं और बैंक सम्बन्धी अन्य सामान्य सेवाओं को भी सम्पन्न करती हैं। बहुत बार ये बैंक विदेशी विनिमय व्यवसायों में भी भाग लेती हैं।

(३) औद्योगिक बैंक (Industrial Banks)—ये बैंक व्यापार के स्थान पर औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करती हैं। इन बैंकों के तीन कार्य महत्त्वपूर्ण होते हैं :—प्रथम, जमा का प्राप्त करना—व्यापार बैंकों की भाँति औद्योगिक बैंक भी जमा स्वीकार करती हैं, परन्तु ये साधारणतया निश्चित तथा अनिश्चितकालीन निक्षेपों अर्थात् दीर्घकालीन जमा ही स्वीकार करती हैं, क्योंकि इन्हें ऋण भी लम्बे काल के लिये देने पड़ते हैं। दूसरे, ये बैंक दीर्घकालीन औद्योगिक ऋण प्रदान करती हैं। उद्योगों को दो प्रकार के ऋणों की आवश्यकता होती है :—मशीनरी, बिल्डिङ्ग तथा फर्नीचर आदि के लिए दीर्घकालीन ऋण आवश्यक होते हैं, परन्तु मजदूरी चुकाने, कच्चा माल खरीदने और तैयार माल की विक्री के लिये अल्पकालीन ऋणों से काम चल जाता है। दूसरी प्रकार के ऋण तो व्यापार बैंकों से मिल जाते हैं, परन्तु प्रथम प्रकार के ऋण औद्योगिक बैंकों से मिलते हैं। इस सम्बन्ध में औद्योगिक बैंक ऋण लेने वाले उद्योग की साख और वित्तीय स्थिति की विस्तृत जाँच करती है और नियन्त्रण तथा सुरक्षा के लिए फर्म के प्रबन्ध में सक्रिय हिस्सा लेती है। तीसरे, ये बैंक और भी बहुत सी फुटकर सेवाएँ सम्पन्न करती हैं, जैसे—औद्योगिक फर्मों को विनियोग

सम्बन्धी सलाह देना, औद्योगिक कम्पनियों के अंशों को खरीदना और बेचना, औद्योगिक फर्मों के लिए विज्ञापन करना, इत्यादि।

भारत में ऐसी बैंक लगभग न होने के बराबर हैं, परन्तु जर्मनी और जापान में उनका चलन बहुत है। भारत में औद्योगिक वित्त प्रमण्डल (Industrial Finance Corporation) तथा राज्य औद्योगिक वित्त प्रमण्डल इसके अच्छे उदाहरण हैं। कुछ देशों में मिश्रित बैंक पद्धति भी प्रचलित है। जर्मनी की औद्योगिक बैंक व्यापार बैंकों का भी कार्य करती हैं और अमरीका में व्यापार बैंक औद्योगिक बैंक भी होती हैं।

इन बैंकों का औद्योगिक विकास में भारी महत्त्व होता है, क्योंकि ये स्थिर यन्त्र (Plant), बिल्डिङ्ग, मशीनरी आदि की प्रतिभूतियों पर दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं। ये बैंक भी साधारणतया मिश्रित पूँजी बैंक होती हैं और इनकी पूँजी कई मदों से प्राप्त होती हैं:—प्रथम, अंशों की बिक्री से पूँजी मिलती है। इन बैंकों की परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital) व्यापार बैंकों की अपेक्षा अधिक होती है। दूसरे, इनकी पूँजी का दूसरा साधन दीर्घकालीन जमा होता है। तीसरे, ये बैंक बीमा कम्पनियों से दीर्घकालीन ऋण प्राप्त करती हैं। अन्त में, ये बैंक ऋण-पत्र (Debentures) निकाल कर पूँजी प्राप्त करती हैं।

(४) **विदेशी विनिमय बैंक** (Foreign Exchange Banks) इन बैंकों का प्रमुख कार्य विदेशी बिलों की खरीद और बेच द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन को सुलझाना होता है। स्मरण रहे कि प्रत्येक देश के व्यापारी अपने ही देश के चलन में भुगतान लेना पसन्द करते हैं, इसलिए किसी ऐसी संस्था की आवश्यकता पड़ती है जो एक देश की मुद्रा को दूसरे देशों की मुद्राओं में बदलने का कार्य करती हो। इन बैंकों को विभिन्न देशों की मुद्राएँ रखनी पड़ती हैं और इनकी शाखाएँ भी देश-विदेश में फैली रहती हैं। इन बैंकों को कभी-कभी केवल 'विनिमय बैंक' भी कहा जाता है।

इन बैंकों की कार्य-विधि यह होती है कि विनिमय बैंक की एक देश की शाखा बिल खरीदती है और कीमत चुकाती है और फिर दूसरे देश की शाखा इसी बिल को बेचती है और रुपया वसूल करती है। इस प्रकार बिना रुपये का हस्तान्तरण किये अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन सुगमतापूर्वक वैसे ही तय हो जाता है। ये बैंक विदेशी व्यापार की सहायता करके उसके प्रोत्साहन में भी सहायक होती हैं। इसके अतिरिक्त इन बैंकों के अन्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान, प्रतिभूतियों का आयात-निर्यात तथा अग्रिम या भावी विनिमय व्यापार (Forward Exchange) भी हैं। ये बैंक विनिमय दरों के आकस्मिक उच्चावचनों को रोक कर आयात-

निर्यात व्यापारियों को अनिश्चितता तथा उससे सम्बन्धित जोखिम से बचा देती हैं। इन कार्यों के साथ-साथ विनिमय बैंक बैंकों के और भी लगभग सभी प्रकार के सामान्य कार्य सम्पन्न करती हैं।

भारत में पूर्णतया भारतीय विनिमय बैंक कोई भी नहीं है। अधिकांश विनिमय बैंक विदेशी बैंकों की ही शाखाएँ हैं, परन्तु आधुनिक काल में कुछ ऐसी प्रवृत्ति देखने को आती है कि एक ही बैंक एक ही साथ कई प्रकार की बैंकों के कार्य करती है। व्यापार बैंक विदेशी विनिमय व्यवसाय करती हैं और विनिमय बैंक व्यापार बैंकों के भी कार्य करती हैं। इस कारण एक बैंक को उसके प्रधान कार्य के अनुसार ही व्यापार अथवा विनिमय बैंक का नाम दिया जाता है। यदि किसी बैंक का मुख्य कार्य विदेशी विनिमय व्यवसाय है तो उसे विनिमय बैंक का नाम दिया जाता है।

(५) **कृषक बैंक** (Agricultural Banks)—कृषि की समस्याएँ व्यापार तथा निर्माण उद्योगों से भिन्न होती हैं। कृषक व्यापारियों तथा उद्योगपतियों की भाँति ऐसी प्रतिभूतियाँ नहीं दे सकते हैं जो व्यापार तथा औद्योगिक बैंकों को मान्य हों। इसके अतिरिक्त कृषि की वित्तीय आवश्यकताएँ दो प्रकार की होती हैं:—बीज, खाद तथा फसलों की बिक्री के लिए अल्पकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है, परन्तु भूमि में स्थायी सुधार के लिए दीर्घकालीन ऋणों की जरूरत पड़ती है। वैसे भी कृषि में सामयिक वित्त (Seasonal Finance) का काफी महत्त्व होता है। इसी कारण कृषि की वित्तीय व्यवस्था के लिए अलग प्रकार की ही बैंकों की आवश्यकता पड़ती है।

कृषि सम्बन्धी वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए दो प्रकार की बैंक होती हैं:—एक तो, सहकारी बैंक, जो साधारणतया अल्पकालीन ऋण देती हैं और दूसरी, भू-प्राधि अथवा भूमि-बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks), जो दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था करती हैं। भारत में दोनों ही प्रकार की बैंक हैं, परन्तु सहकारी बैंकों का रिवाज अधिक है और ये बैंक बहुत बार दीर्घकालीन ऋण भी प्रदान कर देती हैं।

(६) **सहकारी बैंक** (Co-operative Banks)—भारत में दस या दस से अधिक आदमी मिलकर एक सहकारी साख समिति खोल सकते हैं और उसका पंजीयन (Registration) भी करा सकते हैं। ऐसी समितियाँ केन्द्रीय बैंक तथा राज्य सहकारी बैंकों से सहायता प्राप्त कर सकती हैं। इनका उद्देश्य पारस्परिक साख का निर्माण करना तथा कृषकों को कम ब्याज पर अल्पकालीन ऋणों का प्रदान करना होता है। सहकारी साख समितियों में उत्तरदायित्व सीमित अथवा असीमित हो सकता है,

परन्तु भारत में ग्रामीण साख समितियों का संगठन साधारणतया असीमित उत्तरदायित्व (Unlimited Liability) आधार पर ही किया जाता है। इन समितियों पर राज्य सहकारी संस्थाओं का सामान्य निरीक्षण रहता है।

एक साधारण सहकारी बैंक अथवा साख समिति की पूँजी प्रवेश शुल्क (Entrance Fee), अंशों की विक्री, जनता तथा सदस्यों द्वारा जमा किए हुए निक्षेपों, सुरक्षित कोषों, सरकारी सहायता और केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी बैंकों से लिए हुए ऋणों से प्राप्त होती है। कुछ काल से भारत में सहकारी आन्दोलन के रूप में परिवर्तन किया जा रहा है और सहकारी साख समितियों के स्थान पर बहुमुखी समितियाँ (Multi-purpose Societies) खोलने का प्रयत्न किया जा रहा है, जो साख सुविधा के अतिरिक्त एक ही साथ और भी अनेक प्रकार की सेवाएँ सम्पन्न करने का प्रयत्न करती हैं।

(७) **भूमि बन्धक बैंक** (Land Mortgage Banks)—ये बैंक कृषि उद्योग को दीर्घकालीन ऋण, अर्थात् ५ से लेकर २० वर्ष के काल के लिये ऋण, प्रदान करती हैं। ये ऋण खेतों में स्थायी सुधार के लिए दिए जाते हैं और भूमि को गिरवी रख कर प्राप्त किये जाते हैं। खेतों में कुएँ खुदवाने, मवेशी खरीदने, बाढ़ को रोकने का प्रबन्ध करने आदि के सम्बन्ध में ये ऋण लिए जाते हैं। इनका भुगतान बहुधा किश्तों में किया जाता है, जो एक निश्चित समय के पश्चात् आरम्भ होती हैं।

कुछ समय से भारत में भू-प्राधि बैंकों को खोलने का काफी प्रयत्न किया जा रहा है और साधारणतया ऐसी बैंकों को मिश्रित पूँजी बैंकों के रूप में खोला जा रहा है। कभी-कभी भू-प्राधि बैंक सहकारी भूमि बन्धक बैंक भी होते हैं और कभी-कभी उनको अभास-सहकारी भू-प्राधि बैंक (Quasi-Cooperative Land Mortgage Bank) के रूप खोला जाता है। ऐसी बैंकों के सदस्य ऋण लेने वाले तथा देने वाले दोनों हो सकते हैं, लेकिन इनमें उत्तरदायित्व सीमित होता है।

एक अच्छी बैंक प्रणाली की आवश्यक विशेषताएँ—

किसी भी देश के आर्थिक जीवन में बैंकों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। बैंकों से समाज को अनेक लाभ होते हैं :—प्रथम तो, ये देश में बचत को प्रोत्साहन देकर पूँजी के निर्माण में सहायक होती हैं। दूसरे, ये बचत करने वालों तथा विनियोगियों के बीच मध्यस्थ का कार्य करके दोनों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर देती हैं। तीसरे, साख का निर्माण अधिकाँश इन्हीं के द्वारा किया जाता है, इस कारण इनके द्वारा साख

पद्धति के सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं। आधुनिक युग में बिना बैंकिंग का समुचित विकास किये औद्योगिक तथा वाणिज्यिक उन्नति की आशा निर्मूल है।

परन्तु अपनी सेवाओं का सफलतापूर्वक प्रतिपादन करने के लिए बैंक प्रथा में कुछ विशेषताओं का होना आवश्यक होता है। ये विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) बैंक प्रथा ऐसी हो कि वह समाज के सभी वर्गों की आवश्यकता पूरी करे। इसका अर्थ यह होगा कि बैंक प्रथा देश की आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल हो। एक कृषि प्रधान देश में सहकारी तथा भू-प्राधि बैंकों की प्रधानता रहेगी और एक व्यावसायिक देश में व्यापार बैंकों की। इसी प्रकार विदेशी व्यापार के लिये विनिमय बैंकों का होना आवश्यक होता है।

(२) यह आवश्यक है कि बैंकिंग प्रणाली का इस प्रकार संगठन किया जाय जिससे कि समाज के धनी तथा निर्धन दोनों ही वर्गों की बचत को एकत्रित किया जा सके।

(३) क्योंकि साख का अत्यधिक निर्माण देश के लिए घातक होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसे विधान बनाये जायँ जिससे बैंक प्रथा पर समुचित नियन्त्रण रखा जा सके और वह देश की आवश्यकतानुसार साख की मात्रा को घटाती-बढ़ाती रहे।

(४) यह आवश्यक है कि बैंकिंग प्रणाली के विभिन्न अङ्गों के बीच समुचित समन्वय अथवा समचय (Co-ordination) बना रहे। इससे एक ओर तो सेवाओं की दोबारगी (Duplication) नहीं होने पायगी और दूसरी ओर अनार्थिक प्रतियोगिता समाप्त हो जायगी। इसके अतिरिक्त बैंकिंग संगठन के पूरे-पूरे लाभ भी उसी दशा में प्राप्त होते हैं जबकि बैंकिंग सेवाओं का विकास समचययुक्त (Co-ordinated) होता है।

अध्याय २८

केन्द्रीय बैंकिङ्ग

(Central Banking)

परिभाषा—

केन्द्रीय बैंक से हमारा अभिप्रायः देश की उस बैंक से होता है जो प्रधानतः देश में बैंकिंग तथा साख पर नियन्त्रण रखती है। ऐसी बैंक को हम केन्द्रीय बैंक इस कारण कहते हैं कि इसका देश की मुद्रा और साख व्यवस्था में केन्द्रीय स्थान होता है। इस बैंक को कुछ ऐसे विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं जो अन्य बैंकों को या तो प्राप्त ही नहीं होते या बहुत ही कम अंश तक उपलब्ध होते हैं। इन अधिकारों के कारण केन्द्रीय बैंक देश की मौद्रिक और साख नीति को काफी अंश तक प्रभावित कर सकती है। केन्द्रीय बैंक की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं:—"यह वह बैंक है जो देश की साख और मौद्रिक नीति का जन-साधारण के कल्याण के लिए प्रबन्ध करती है।" वर्तमान युग में ऐसी बैंक का विधान, उसके कार्य और उसकी कार्य-विधि सभी साधारण बैंकों से भिन्न होते हैं। ऐसी बैंक के अपने सिद्धान्त तथा व्यवहार भी अलग होते हैं। केन्द्रीय बैंक को इस योग्य बनाने के लिए कि वह अपने कार्यों को समुचित रूप में पूरा कर सके, सरकार द्वारा कुछ विशेष अधिकार दिये जाते हैं, जैसे—पत्र-मुद्रा निर्गम का एकाधिकार, सरकारी धन का रखना, चलन निधि को रखना, अन्य बैंकों की जमा को रखना और अन्य बैंकों को सङ्कट काल में सहायता देना, इत्यादि। इन विशेष अधिकारों के कारण केन्द्रीय बैंकिंग के सिद्धान्त एवं व्यवहार अन्य बैंकों से अलग होते हैं और केन्द्रीय बैंकिंग का एक पृथक विषय के रूप में अध्ययन किया जाता है।

केन्द्रीय बैंक की प्रकृति—

एक साधारण व्यापार बैंक के विरुद्ध केन्द्रीय बैंक का कार्य देश की बैंकिंग प्रणाली पर इस प्रकार नियन्त्रण रखना होता है कि राज्य की सामान्य मौद्रिक नीति को सफल बनाया जा सके। इसका अभिप्राय यह होता है कि :—प्रथम तो, केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य व्यापार की भाँति अपने स्वामियों अथवा अंशधारियों के लिए अधिकतम् लाभ कमाना नहीं होता है। दूसरे, केन्द्रीय बैंक के पास व्यापार बैंकों पर नियन्त्रण रखने के कुछ

उपाय अथवा साधन होते हैं। तीसरे, केन्द्रीय बैंक सदा ही राज्य के आदेशानुसार कार्य करती है। कुछ ऐसी परम्परा बन गई है कि सभी देशों में, चाहे वहाँ की शासन-प्रणाली का रूप कुछ भी क्यों न हो, सरकार कुछ इस प्रकार के नियम अवश्य बनाती है जिनके द्वारा केन्द्रीय बैंक पर नियन्त्रण रखा जा सके। अधिकांश दशाओं में तो केन्द्रीय बैंक एक राष्ट्रीय संस्था के रूप में कार्य करती है, परन्तु जिन देशों में यह व्यक्तिगत अंशधारियों की बैंक होती है वहाँ भी सरकार इसके प्रबन्ध में भाग लेती है, इसकी नीति का निर्धारण करती है और इसके कार्यवाहन पर नियन्त्रण रखती है। केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य मौद्रिक प्रणाली का संरक्षण करना होता है। इस उद्देश्य से ही इसे नोट निर्गम का एकाधिकार दिया जाता है और अन्य बैंकों पर इसका आधिपत्य स्थापित किया जाता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक सरकार तथा देश की अन्य बैंकों के बैंकर के रूप में भी कार्य करती है।

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता—

बैंकों का एक महत्त्वपूर्ण कार्य साख का निर्माण है और साख के इस निर्माण से समाज और राष्ट्र को काफी लाभ होता है, परन्तु अपने लाभों को बढ़ाने के लिए बैंक साख के निर्माण को एक निश्चित सीमा से भी बाहर ले जा सकती हैं। ऐसी दशा में साख राष्ट्र की सेविका न रहकर उल्टा उसके लिए अभिशाप बन जाती है। इस कारण आवश्यकता इस बात की है कि देश के हितों को ध्यान में रखते हुए साख के निर्माण पर नियन्त्रण रखा जाय, जिससे उनकी निकासी एक सीमित क्षेत्र के ही भीतर रहे, परन्तु बैंकिंग पर इस प्रकार का नियन्त्रण कौन रखे? प्रत्येक बैंक को भी अपनी सुरक्षा का ध्यान रखना पड़ता है, इसलिए वह स्वयं भी अपने कार्यवाहन को इस प्रकार नियन्त्रित करती है कि उसके पास नकद कोषों की कमी न होने पाये और संकट काल में आसानी से धन प्राप्त करके ग्राहकों की माँग को पूरा करने में कठिनाई न हो। व्यवहार में लगभग सभी बैंक अपनी माँग देन (Demand Liabilities) का १५-२० प्रतिशत नकदी के रूप में रखती हैं। वास्तव में अपने अनुभव द्वारा बैंक यह जान लेती है कि उसे कितना नकद कोष रखना चाहिए, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता है कि नकद कोषों के रखने के सम्बन्ध में बैंक को पूरी-पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय। बात यह है कि अधिक लाभ कमाने के लिए बैंक अपनी सुरक्षा को खतरे में डाल सकती है। बैंक की ऐसी नीति से बैंक और उसके अंशधारियों को तो हानि होती है, परन्तु देश की सारी अर्थव्यवस्था पर भी उसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि [illegible] ही व्यक्ति अथवा संस्था द्वारा साख का नियन्त्रण आव-

श्यक हो जाता है। यह संस्था कोई बैंक ही होनी चाहिए, क्योंकि उसी को जनता की साख सम्बन्धी आवश्यकता का ठीक-ठीक पता रहता है। इसके अतिरिक्त साख के नियन्त्रण के लिए भारी योग्यता तथा तान्त्रिक क्षमता की आवश्यकता होती है, जो किसी एक व्यक्ति अथवा सरकारी अधिकारी को प्राप्त नहीं हो सकती है। इस कार्य के लिए देश की केन्द्रीय बैंक ही सबसे उपयुक्त संस्था हो सकती है। यही नहीं, केन्द्रीय बैंक आवश्यकता पड़ने पर अन्य बैंकों को अपने पास से आर्थिक सहायता भी देती है, जिससे कि संकट के काल में उन्हें डूबने से बचाया जा सके।

केन्द्रीय बैंकिंग की आवश्यकता यथार्थ में उसके कार्यों से सिद्ध होती है। सन् १६२० की ब्रुसेल्स की अन्तर्राष्ट्रीय वित्त परिषद् ने कहा था—"जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं हैं वहाँ शीघ्र ही ऐसी बैंक स्थापित की जायें।" ऐसा समझा गया था कि वित्तीय और मौद्रिक आधार को सुदृढ़ बनाने के लिए यही आवश्यक है। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् संसार के सभी देशों में केन्द्रीय बैंकिंग के महत्त्व को समझा जाने लगा। सन् १६२६ में हिल्टन यंग आयोग ने भारत में भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया, यद्यपि ऐसी बैंक सन् १६३५ में ही स्थापित हो पाई थी। केन्द्रीय बैंक देश में पूँजी की गतिशीलता को भी बढ़ाती है।

केन्द्रीय बैंक के स्वामित्व का प्रश्न (The Question of the Ownership of the Central Bank)—

बहुत बार ऐसा कहा जाता है कि केन्द्रीय बैंक 'स्वतन्त्र' होनी चाहिए, परन्तु 'स्वतन्त्र' शब्द के निश्चित अर्थ को समझने में कठिनाई होती है। यदि स्वतन्त्र होने का अर्थ यह है कि केन्द्रीय बैंक पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए तो यह अनुपयुक्त है, क्योंकि मौद्रिक इतिहास में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता है। केन्द्रीय बैंक पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण अवश्य रहता है, यद्यपि अलग-अलग देशों तथा अलग-अलग कालों में नियन्त्रण के अंश में काफी अन्तर रहा है। कुछ दशाओं में तो सरकार केवल इतना कर देती है कि चलन की कीमत को स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर घोषित कर देती है और मौद्रिक प्रणाली के प्रबन्ध का शेष कार्य केन्द्रीय बैंक पर छोड़ देती है, परन्तु कुछ दशाओं में सारा अधिकार सरकार के पास होता है और केन्द्रीय बैंक को सभी मामलों में सरकार की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। दोनों ही प्रकार के सरकारी नियन्त्रण के उदाहरण संसार में मिलते हैं।

केन्द्रीय बैंक के स्वामित्व का प्रश्न भी सरकारी नियन्त्रण से ही सम्बन्धित है। सरकारी स्वामित्व भी एक प्रकार का सरकारी नियन्त्रण ही है।

जिन देशों में केन्द्रीय बैंक की स्वतन्त्रता को महत्त्व दिया जाता है वहाँ उसको जन-साधारण अथवा व्यापार बैंकों के स्वामित्व में रखा जाता है। इसके विपरीत जिन देशों में सरकारी आधिपत्य को अधिक महत्त्व दिया जाता है वहाँ केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण को आवश्यक बताया जाता है। १९ वीं शताब्दी में जब सबसे पहले केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अनुभव की गई थी तो इस बात पर जोर दिया गया था कि ऐसी बैंक की स्वतन्त्रता को बनाये रखना आवश्यक था। यह कहा गया था कि केन्द्रीय बैंक पर किसी भी प्रकार राज्य का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसका राजनैतिक शोषण होगा और वह सरकार की वित्त-सम्बन्धी मनमानी नीति का साधन बन जायगी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक को व्यक्तिगत अंशधारियों की बैंक बनाया जाता था, परन्तु स्मरण रहे कि लगभग कभी भी केन्द्रीय बैंक को अपने लाभों को इच्छानुसार बाँटने का अधिकार नहीं दिया जाता था। इन लाभों में राज्य का हिस्सा अवश्य रहता था। जो लोग केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के समर्थक हैं उनका विचार है कि केन्द्रीय बैंक के संचालन के लिए राजकीय निर्देशन तथा नियन्त्रण आवश्यक होता है और इसके लिए केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण से अच्छा उपाय कोई भी नहीं है। स्वामित्व के दृष्टिकोण से केन्द्रीय बैंक सात अलग-अलग प्रकार की हो सकती हैः—(१) उसकी कुल पूँजी सरकारी हो सकती है, (२) जन-साधारण अथवा साधारण व्यक्तिगत अंशधारियों की हो सकती है; (३) व्यापार बैंकों द्वारा प्रसादित की जा सकती है, (४) जन-साधारण तथा सरकार द्वारा मिल कर दी जा सकती है, (५) सरकार तथा व्यापार बैंकों की मिली-जुली पूँजी हो सकती है, (६) सरकार, जन साधारण तथा व्यापार बैंक तीनों द्वारा मिलकर उपलब्ध की जा सकती है, अथवा (७) जन-साधारण तथा व्यापार बैंकों की सम्मिलित पूँजी हो सकती है। वर्तमान युग में बहुमत केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के ही पक्ष में है। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् बैंक ऑफ इङ्गलैंड, बैंक ऑफ फ्रांस तथा रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है। वैसे तो अलग-अलग देशों में केन्द्रीय बैंक का रूप अलग-अलग होता है, परन्तु कुछ विशेषतायें ऐसी अवश्य हैं जो किसी न किसी अंश में लगभग सभी केन्द्रीय बैंकों में पाई जाती हैं। ऐसी संस्थाएँ साधारणतया लाभ कमाने के उद्देश्य से स्थापित नहीं की जाती हैं। उनका अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य राष्ट्रीय हितों को उन्नत करना होता है, दूसरे, इन बैंकों पर सरकारी नियन्त्रण तथा निरीक्षण काफी रहता है। तीसरे, ऐसी संस्थाएँ साधारणतया जनता के साथ व्यवसाय नहीं करती हैं। चौथे, इन संस्थाओं को कुछ ऐसे अधि-

कार प्राप्त होते हैं जो अन्य किसी भी बैंक को प्राप्त नहीं होते हैं। वैसे भी ये शक्तिशाली संस्थाएँ होती हैं।

केन्द्रीय बैंक के कार्य (The Functions of the Central Bank)–

केन्द्रीय बैंक के कार्यों को हम निम्न भागों में बाँट सकते हैं :—

(१) **नोट निर्गम का एकाधिकार**—आरम्भ में नोटों की निकासी का अधिकार राज्य का ही एक विशेष अधिकार समझा जाता था, परन्तु व्यापार बैंकों के विकास के बाद यह अधिकार उन्हें सौंप दिया गया। यह व्यवस्था बहुत सफल न रह सकी और ऐसा अनुभव किया गया कि राज्य तथा व्यापार बैंक दोनों ही इस कार्य के लिए अनुपयुक्त थे। धीरे-धीरे यह अधिकार केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया गया, क्योंकि ऐसी आशा की गई थी कि यह बैंक इस कार्य को राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से अधिक सफलतापूर्वक कर सकेगी। लगभग सभी देशों में नोट निर्गम का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक के पास है। इसके मुख्य कारण निम्न प्रकार हैं :—

(क) प्रत्येक देश ने ऐसा अनुभव किया है कि नोट निर्गम में अनुरूपता लाने तथा उस पर सरकारी नियन्त्रण तथा निरीक्षण को मजबूती के साथ बनाये रखने के लिए उसका एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को ही देना ठीक था।

(ख) व्यापार बैंकों द्वारा निकाली हुई साख मुद्रा के प्रचलन के बढ़ जाने के कारण इस साख मुद्रा पर समुचित नियन्त्रण रखने की समस्या वर्तमान युग में काफी महत्त्वपूर्ण हो गई है। इस सम्बन्ध में ऐसा अनुभव किया जाता है कि केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गम का एकाधिकार देने से एक अंश तक नियन्त्रण की समस्या सुलझ जाती है, क्योंकि साख-मुद्रा की प्रत्येक वृद्धि के लिए चलन की वृद्धि की आवश्यकता पड़ती है। केन्द्रीय बैंक उसे नियन्त्रित करके साख मुद्रा के विस्तार को सीमित कर सकती है।

(ग) ऐसा भी अनुभव किया गया है कि किसी ऐसी बैंक को नोट निर्गम का अधिकार देने से जिसे सरकारी संरक्षण प्राप्त है, नोटों के प्रति जनता के विश्वास को काफी ऊँचा रखा जा सकता है।

(घ) नोट निर्गम एक लाभदायक व्यवसाय है। एक ही बैंक के पास नोट निर्गम का एकाधिकार रहने की दशा में राज्य को निर्गम लाभों को प्राप्त करने में भारी सुविधा रहती है, क्योंकि सरकार के लिए इन लाभों को प्राप्त कर लेना सरल होता है।

(क) नोट निर्गम के एकाधिकार द्वारा केन्द्रीय बैंक को मुद्रा की आन्तरिक तथा वाह्य कीमत की स्थिरता बनाये रखने में काफी सफलता मिलती है। इसका परिणाम यह होता है कि विदेशी विनिमय दर में उच्चावचन कम होते हैं और देश के भीतर भी कीमतों में कम ही परिवर्तन होते हैं।

(२) सरकारी बैंकर—यह केन्द्रीय बैंक का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस रूप में केन्द्रीय बैंक सरकारी कोषों का संरक्षण करती है और विभिन्न सरकारी विभागों के खातों तथा हिसाबों को रखती है। सरकारी करों की राशि केन्द्रीय बैंक में ही जमा होती है और आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक सरकार को अल्पकालीन ऋण भी देती है। इसके अतिरिक्त यह सरकार की ओर से विदेशी मुद्राओं तथा प्रतिभूतियों को खरीदती और बेचती भी है, सरकारी ऋणों का प्रबन्ध करती है और लगभग सभी आर्थिक मामलों में सरकारी अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करती है। मौद्रिक तथा बैंकिंग मामलों में सरकार केन्द्रीय बैंक से सलाह भी लेती है। सरकारी पैसा केन्द्रीय बैंक में ही जमा किया जाता है और सरकारी देनों का भुगतान भी वही करती है।

(३) बैंकों की बैंक—केन्द्रीय बैंक का देश की अन्य बैंकों से लगभग उसी प्रकार का सम्बन्ध होता है जैसे कि एक साधारण बैंक का अपने ग्राहकों से होता है। विधान अथवा परम्परा के अनुसार सभी बैंकों को अपनी रोक निधि (Cash Reserves) का एक भाग केन्द्रीय बैंक में जमा करना पड़ता है। इससे दो महत्त्वपूर्ण लाभ होते हैं:—प्रथम, साख प्रणाली में लोच उत्पन्न हो जाती है और दूसरे, साख-मुद्रा के नियन्त्रण की समस्या सरल हो जाती है। इसके अतिरिक्त बैंकों की बैंक के रूप में केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को ऋण देती है, उन्हें आवश्यक व्यावसायिक सलाह देती है तथा उनके पारस्परिक लेखों का समायोजन भी करती है। केन्द्रीय बैंक ही साधारणतया देश में निकासी गृह (Clearing House) खोलने का कार्य करती है।

बैंकों की बैंक के रूप में केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बैंकों को ऋण तथा अग्रिम प्रदान करना होता है। केन्द्रीय बैंक को अन्तिम ऋण-दाता (Lender of last resort) कहा जाता है। जब किसी बैंक को अन्य किसी भी सूत्र से ऋण प्राप्त नहीं होता है तो वह केन्द्रीय बैंक से सहायता ले सकती है। व्यापार बैंकों द्वारा भुनाए हुए बिलों को दुबारा भुनाकर अथवा उपयुक्त स्वीकृत प्रतिभूतियों पर ऋण देकर केन्द्रीय बैंक संकट अथवा आवश्यकता के काल में बैंकों की भारी सहायता कर सकती है। संकट के काल में तो बैंकों का जीवन ही केन्द्रीय बैंक पर निर्भर

होता है । एक दूसरे दृष्टिकोण से भी केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋण-दाता कही जा सकती है । आर्थिक कठिनाई के काल में केन्द्रीय बैंक सरकार अथवा जन-साधारण को भी ऋण दे सकती है। खुले बाजार प्रतिभूतियाँ खरीद कर केन्द्रीय बैंक साख का विस्तार करती है और आर्थिक कठिनाई को बड़े अंश तक दूर कर देती है।

(४) **राष्ट्र के अन्तर्राष्ट्रीय चलन संचय की संरक्षक**—स्वर्ण तथा सर्भ प्रकार के विदेशी विनिमय संचयों का संरक्षण केन्द्रीय बैंक ही करती है यह केन्द्रीय बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि देशी चलन की वाह कीमत को बनाये रखना केन्द्रीय बैंक का ही कर्त्तव्य होता है। इस काय को सम्पन्न करने के लिए केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्राओं का संचय रखती है

(५) **साख-मुद्रा का नियन्त्रण**—अधिकांश अर्थशास्त्री और बैंकर साख-मुद्रा के नियन्त्रण को ही केन्द्रीय बैंक का प्रधान कार्य मानते हैं। इस कार्य में केन्द्रीय बैंकिंग नीति सम्बन्धी लगभग सभी मामले सम्मिलित होते हैं। केन्द्रीय बैंक के लगभग सभी कार्यों का अन्तिम उद्देश्य मुद्रा की मात्रा पर समुचित नियन्त्रण रखना होता है और इसके लिए साख नियन्त्रण एक प्रारम्भिक आवश्यकता है। वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाओं में साख-मुद्रा महत्त्वपूर्ण सेवाएँ कर सकती है। ये सेवाएँ अच्छी और बुरी दोनों ही प्रकार की हो सकती हैं। यही कारण है कि आधुनिक युग में साख नियन्त्रण की आवश्यकता को सभी स्वीकार करते हैं। यद्यपि यह विषय विवाद-ग्रस्त है कि साख नियन्त्रण का सही उद्देश्य क्या होना चाहिये—इसके द्वारा देश में आन्तरिक कीमतों की स्थिरता स्थापित की जाय अथवा विनिमय दरों की स्थिरता, परन्तु साख नियन्त्रण के महत्व से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता है। साख नियन्त्रण के कई उपाय होते हैं, जैसे—बैंक दर अर्थात् केन्द्रीय बैंक की ब्याज की दर में परिवर्तन करना, केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार व्यवसाय करना, बैंकों पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाना, इत्यादि। केन्द्रीय बैंक इनमें से पहले दो उपाय ही कर सकती है। इन उपायों का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

(६) **सलाहकारी कार्य**—केन्द्रीय बैंक राज्य के आर्थिक सलाहकार का कार्य करती है। वह सरकार को आर्थिक तथा वित्तीय मामलों में आवश्यक सलाह देती है और सरकार किसी भी उलझी हुई समस्या के सम्बन्ध में इससे विचार-परामर्श कर सकती है। इसके अतिरिक्त मुद्रा, साख, विदेशी विनिमय तथा लोक ऋण सम्बन्धी नियम साधारणतया केन्द्रीय बैंक की ही सिफारिश के अनुसार बनाये जाते हैं। भारत में बैंकिंग विधान सम्बन्धी सलाह सदा ही रिजर्व बैंक द्वारा प्रस्तुत की जाती है। राजकीय अर्थप्रबन्ध में भी इसकी सलाह उपयोगी होती है।

(७) **सूचनाओं और आँकड़ों का एकत्रित करना**—यह भी केन्द्रीय बैंक का एक लगभग आवश्यक कार्य ही बन गया है। मुद्रा, अधिकोषण तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यक आँकड़े केन्द्रीय बैंक ही एकत्रित करती है। इन आँकड़ों की सहायता से देश की आर्थिक प्रगति का वेग जाना जा सकता है, विधान की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है और आर्थिक नियोजन के आधार को दृढ़ किया जा सकता है। इन आँकड़ों की सहायता से विभिन्न देशों की स्थिति का भी तुलनात्मक अनुमान लगाया जा सकता है।

उपरोक्त सभी कार्य लगभग सभी केन्द्रीय बैंकों द्वारा किये जाते हैं, परन्तु इन कार्यों की गणना कर देने से यह सिद्ध नहीं हो जाता है कि इससे केन्द्रीय बैंक के सभी कार्य समाप्त हो जाते हैं। केन्द्रीय बैंक के कार्यों का निरन्तर विस्तार हो रहा है और विभिन्न अर्थशास्त्री इस सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं कि केन्द्रीय बैंक के कार्यों की सीमा किस स्थान पर निर्धारित कर दी जाय। प्रो० स्प्रेग (Sprague) का मत है कि—"केन्द्रीय बैंकों के विशेष कार्यों का उल्लेख तीन भागों में किया जा सकता है। वे सरकार के आर्थिक अभिकर्त्ता का कार्य करती हैं, नोट निर्गम के एकाधिकार के कारण उनका चलन पर विस्तृत नियन्त्रण रहता है और अन्त में, क्योंकि इनके पास अन्य बैंकों की निधि का काफी बड़ा भाग रहता है, वे समस्त साख के ढ़ाँचे की बुनियाद के लिए प्रत्यक्ष रूप में उत्तरदायी होती हैं। अन्तिम कार्य केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य होता है।"*

सन् १६२६ के भारतीय चलन और वित्त आयोग के सम्मुख बैंक ऑफ इङ्गलैंड के गवर्नर ने केन्द्रीय बैंक के निम्न कार्यों का वर्णन किया था :—"इसे नोट निर्गम का एकाधिकार होना चाहिए, विधि ग्राह्य मुद्रा की निकासी तथा उसके प्रचलन से हटाने का एकमात्र सूत्र यही होना चाहिए। सरकार की सभी शेषें (Balances) तथा देश की अन्य बैंकों और उनकी शाखाओं की सभी शेष इसी के पास रहनी चाहिए। यह एक ऐसी अभिकर्त्ता का कार्य करे जिसके द्वारा देश के आन्तरिक और विदेशी आर्थिक कार्य सम्पन्न किये जायँ। केन्द्रीय बैंक का यह भी कर्त्तव्य होना चाहिए कि देश के चलन की आन्तरिक और वाह्य कीमत की

---

* "The special functions of the Central Banks may be grouped under three heads: They serve as fiscal agents of Governments; they have large powers of control over currency through the more or less complete monopoly of note-issue; and finally, since they hold a large part of the reserves of other banks, they are directly responsible for the foundation of the entire structure of credit. This last is by far the most important function of the Central Bank."

स्थिरता को यथासम्भव बनाये रखते हुए चलन प्रणाली में उपयुक्त विस्तार तथा संकुचन करे। आवश्यकता के समय अथवा संकट के काल में यह ऋण का अन्तिम साधन होनी चाहिये जो कि स्वीकृत बिलों को दुबारा भुनवाकर अग्रिम के रूप में अथवा सरकारी हुण्डियों की जमानत पर मिल सके।"

मौद्रिक तथा साख नियन्त्रण की रीतियाँ (Methods of Monetary and Credit Control)—

केन्द्रीय बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य देश में मुद्रा और साख के विस्तार पर नियन्त्रण रखना होता है, जिससे कि सरकार की मौद्रिक नीति को सफल बनाया जा सके। इसके लिए कई प्रकार के उपाय किये जाते हैं, कुछ उपाय तो सीधे सरकार द्वारा किये जाते हैं और कुछ केन्द्रीय बैंक द्वारा, परन्तु सभी प्रकार के उपायों को केन्द्रीय बैंक द्वारा ही कार्य-रूप दिया जाता है। प्रमुख उपाय बैंक दर और खुले बाजार व्यवसाय हैं, यद्यपि इनके अतिरिक्त और भी बहुत सी रीतियों से इस कार्य को सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार के अलग-अलग उपायों से निश्चित तथा सप्रभाविक परिणाम प्राप्त करने के लिए बहुधा उनका सामूहिक रूप में भी उपयोग किया जाता है। विशेषतया आधुनिक सरकारें तो किसी एक उपाय पर कभी भी निर्भर रहने का प्रयत्न नहीं करती हैं। अब हम इन सब उपायों की सविस्तार जाँच करेंगे :—

बैंक दर नीति (Bank Rate Policy)—

बैंक दर से हमारा अभिप्राय ब्याज की उस न्यूनतम् दर से होता है जिस पर देश की केन्द्रीय बैंक अच्छी श्रेणी के बिलों को फिर से भुनाने (Rediscounting) अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियों पर ऋण या अग्रिम देने को तैयार रहती हैं। दूसरे शब्दों में, यह केन्द्रीय बैंक द्वारा निश्चित ब्याज की दर होती है। इङ्गलैंड में बैंक दर का आशय सरकार द्वारा प्रकाशित उस दर से होता है जिस पर बैंक ऑफ इङ्गलैंड एक विशेष प्रकार के तीन-मासीय बिलों को भुनाने को तैयार रहती है। इस सम्बन्ध में बैंक दर तथा 'बाजार दर' (Market Rate) के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। बाजार दर से हमारा आशय बाजार में प्रचलित ब्याज की दर अर्थात् ब्याज की उस दर से होता है जिस पर सम्मिलित पूँजी बैंक, डिस्काउन्ट गृह आदि स्वीकृत विनिमय बिलों को भुनाते हैं, परन्तु बैंक दर तो केन्द्रीय बैंक की डिस्काउन्ट दर होती है। इसका अर्थ यह नहीं होता है कि बैंक दर तथा बाजार दर में कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है। यह अवश्य सही है कि केन्द्रीय बैंक साधारणतया बिलों को भुनाने का कार्य नहीं करती है और बैंक दर ब्याज की बाजार दर से साधारणतया

ऊँची रहती है। केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने का प्रश्न तभी उठता है जबकि ऋण प्राप्ति के अन्य साधन समाप्त हो चुके हैं। एक प्रकार बैंक दर एक दण्ड के रूप में होती है। यदि कोई बैंक अपनी साख का अत्यधिक विस्तार कर देती है तो उसे ऊँचे ब्याज पर केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है, इसका परिणाम यह होता है कि बाजार दर भी ऊपर उठकर बैंक दर के बराबर हो जाती है, परन्तु सब कुछ होते हुए भी बैंक दर ब्याज की बाजार दर से सम्बन्धित होती है। जिन देशों में केन्द्रीय बैंक की ब्याज की दर महत्त्वपूर्ण होती है वहाँ ब्याज की बाजारी दर भी बैंक दर के ही अनुसार बदलती रहती है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि सन् १६१४ से पूर्व स्वर्णमान प्रणाली के अन्तर्गत बैंक दर केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण का सबसे महत्त्वपूर्ण अस्त्र होती थी। अन्य जो भी उपाय किये जाते थे वे बैंक दर नीति के सहायक अथवा गौण के रूप में ही काम में लाये जाते थे। प्रथम महायुद्ध के काल में सरकार ने बैंक दर नीति का उपयोग वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा तथा साख-विस्तार को सम्पन्न करने के उद्देश्य से किया और युद्ध के पश्चात् भी यही प्रवृत्ति बनी रही। सन् १६२५ में स्वर्णमान की पुनर्स्थापना के पश्चात् बैंक दर को साख नियन्त्रण के साधन के रूप में उपयोग करने का कार्य फिर आरम्भ हुआ, परन्तु इस काल में साख नियन्त्रण की अन्य रीतियों की तुलना में इसका महत्त्व घट गया था। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् इस नीति का महत्त्व फिर बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि वर्तमान युग में इसको साख नियन्त्रण की केवल एक सहायक अथवा गौण रीति के रूप में ही अपनाया जाता है। सन् १६५० से बैंक दर की वृद्धि का मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति के रूप में संसार के अधिकांश देशों में विस्तृत उपयोग हुआ है। सर्वप्रथम २५ अगस्त सन् १६५० को संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी बैंक दर को १·५०% से बढ़ाकर १·७५% किया था। तत्पश्चात् फरवरी सन् १६५१ में तुर्की ने उसमें १% की वृद्धि की। अप्रैल सन् १६५१ में हालैण्ड ने भी बैंक दर को १% बढ़ाया। इसी वर्ष जुलाई में बेल्जियम ने ०·२५%, अक्टूबर में जापान ने ०·७३%, फ्रान्स ने ०·५०%, नवम्बर में ब्रिटेन ने ०·५०, फ्रान्स ने १·००% तथा भारत ने ०·५०% और दिसम्बर में आस्ट्रेलिया ने १·५०% तथा फिनलैण्ड ने ०·२५% से अपनी बैंक दरों को बढ़ाया, बैंक दरों की वृद्धि का यह क्रम सन् १६५२ में भी चालू रहा। २२ जनवरी सन् १६५२ को हॉलैण्ड ने अपनी बैंक दर में ०·५०% की कमी कर दी, परन्तु १२ मार्च सन् १६५२ को इङ्गलैण्ड ने अपनी बैंक दर

में १·५०% की फिर वृद्धि की यद्यपि मार्च सन् १९५८ में इसमें फिर १% की कमी कर दी गई है।

बैंक दर नीति का सिद्धान्त (The Theory of Bank Rate Policy)—

बैंक दर नीति का सिद्धान्त इस आधार पर स्थित है कि बैंक दर के परिवर्तनों के फलस्वरूप सभी प्रकार की मौद्रिक दरों में परिवर्तन होते हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यदि बैंक दर ऊँची कर दी जाती है तो सभी प्रकार की ब्याज की दरें ऊपर उठती हैं, ऋणों का लेना कम लाभदायक हो जाता है और इस प्रकार साख का संकुचन होता है। इसके विपरीत यदि बैंक दर घटाई जाती है तो ब्याज की दरों के घटने के कारण ऋणों को प्रोत्साहन मिलता है और साख का विस्तार होता है।

कीन्ज के अनुसार बैंक दर नीति के परम्परागत सिद्धान्त के सम्बन्ध में तीन प्रकार की विचारधाराएँ हैं।* इनमें से प्रथम विचाराधारा के अनुसार बैंक दर केवल बैंक मुद्रा को नियन्त्रित करने का एक साधन है। इस दृष्टिकोण से प्रचलित मुद्रा की मात्रा का संकुचन करने के लिए बैंक दर की वृद्धि आवश्यक होती है, परन्तु इस सिद्धान्त का दोष यह है कि बैंक दर तथा बैंक मुद्रा की पूर्ति में कोई स्थिर सम्बन्ध नहीं है। यदि बैंक दर अपना प्रभाव डालने में सफल भी होती है तो अभिवृद्धि (Boom) के काल में यह आवश्यक नहीं है कि बैंक दर की वृद्धि को साख के विस्तार पर कोई प्रभाव पड़े ही। इसी प्रकार मन्दी अथवा अवसाद के काल में बैंक दर के घटाने पर भी बहुधा साख का विस्तार नहीं हो पाता है।

दूसरी विचारधारा के अनुसार बैंक दर का कार्य विदेशी ऋणों के ब्याज की दर को नियन्त्रित करके देश के स्वर्ण-कोषों की रक्षा करना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत यदि एक स्वर्णमान देश अपनी बैंक दर में वृद्धि करता है तो इससे केवल स्वर्ण का देश के बाहर जाना ही नहीं रुक जाता है, अपितु ऊँचे ब्याज के लालच में विदेशी ऋणों के रूप में सोना देश में आने लगता है। इस प्रकार उपरोक्त विचारधारा के अनुसार बैंक दर विनिमय दरों को प्रतिकूल हो जाने से रोकती है और देश के स्वर्ण कोषों की रक्षा करती है।

तीसरी विचारधारा के अनुसार बैंक दर का प्रभाव विनियोग दरों पर पड़ता है और इससे बचत और विनियोग के पारस्परिक अनुपात में

* See J. M. Keynes : *A Treatise on Money.*

परिवर्तन हो जाता है। बैंक दर की प्रत्येक वृद्धि बचत की तुलना में विनियोगों को हतोत्साहित करती है और इसके विपरीत बैंक दर की कमी के कारण बचत की तुलना में विनियोग अधिक प्रोत्साहित होते हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यद्यपि बैंक दर और बचत में तो एक प्रकार का प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट सम्बन्ध रहता है, परन्तु बैंक दर तथा विनियोगों का सम्बन्ध इतना स्पष्ट नहीं है। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि बैंक दर का देश के आर्थिक जीवन और देश की आर्थिक क्रियाओं पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता हैं, परन्तु यह विषय विवाद-ग्रस्त है कि बैंक दर के परिवर्तनों का आर्थिक क्रियाओं पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में कीन्ज और हॉटरे (Hawtrey) की दो विरोधी विचारधाराएँ हैं :—हॉटरे का विचार है कि बैंक दर के परिवर्तनों के प्रभाव का मुख्य स्रोत व्यवसायों पर पड़ने वाले ब्याज की अल्पकालीन दरों के प्रभाव होते हैं। बैंक दर के परिवर्तनों का दूकानदारों की तैयार तथा अर्द्ध-तैयार वस्तुओं के स्टॉक जमा करने की प्रवृत्ति पर प्रभाव पड़ता है। यदि अल्पकालीन ब्याज की दरें घटती हैं तो स्टॉकों को रखने के व्यय में भी कमी आ जाती है और दूकानदार स्टॉकों को बढ़ाने लगते हैं। निर्माणकर्त्ताओं को माल मँगाने के अधिक आदेश प्राप्त होते हैं और वे उत्पत्ति को बढ़ाते हैं, जिसके फलस्वरूप रोजगार तथा मौद्रिक आय का भी विस्तार होता है। परन्तु यह तर्क दो बातों पर आश्रित है—(१) इस बात पर कि ब्याज की दर तथा स्टॉक रखने के व्यय में क्या सम्बन्ध है और (२) इस बात पर कि स्टॉक जमा करने की सुविधा की माँग की लोच कितनी है। व्यावहारिक जीवन में न तो इस सम्बन्ध का ही ठीक-ठीक पता लगाया जा सकता है और न स्टॉक जमा करने की सुविधा की माँग की लोच को ही किसी निश्चित रूप में नापा जा सकता है।

कीन्ज का विचार है कि बैंक दर का मुख्य प्रभाव दीर्घकालीन ब्याज की दरों द्वारा ही आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर पड़ता है। यदि बैंक दर ऊँची की जाती है तो दीर्घकालीन प्रतिभूतियों से प्राप्त होने वाली आय की तुलना में ऋण प्राप्त करने का खर्चा बढ़ जाता है। जो व्यक्ति अथवा फर्में पहिले बैंकों से ऋण लेकर व्यवसाय करते थे अब उसके स्थान पर इन दीर्घकालीन प्रतिभूतियों को बेच कर धन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार प्रतिभूतियों को बेचने की आग्रहपूर्णता बढ़ती है, परन्तु दूसरी ओर, जिन व्यक्तियों अथवा फर्मों के पास फालतू धन होता है वे उसे प्रतिभूतियों की अपेक्षा निक्षेपों में लगाना अधिक लाभदायक समझते हैं, क्योंकि इसमें लाभ अधिक होता है। इस प्रकार प्रतिभूतियों की माँग घटती है। दोनों ही कारणों से दीर्घकालीन प्रतिभूतियों की कीमतों का पतन होता है।

प्रतिभूतियों की कीमतों के गिरने का अर्थ यह होगा कि उनसे प्राप्त आय बढ़ेगी और इस प्रकार अल्पकालीन ब्याज की दर की प्रत्येक वृद्धि से दीर्घकालीन ब्याज की दरें भी ऊपर उठ जायेंगी और इसके विपरीत अल्पकालीन दरों का पतन दीर्घकालीन दरों को भी गिरा देगा।

साहसियों की विनियोग नीति पर दीर्घकालीन ब्याज की दरों का ही सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। उसी को देखकर वे यह निश्चय करते हैं कि पूँजी का विस्तार किया जाय अथवा नहीं। यदि ब्याज की दीर्घकालीन दरें नीची हैं तो प्रतिभूतियों की कीमत ऊँची होगी और साहसी के लिए अंश तथा ऋण पूँजी का प्राप्त करना सरल होगा। इसी काल में स्टॉकों को बदलने और नये करने का कार्य भी तेजी के साथ होता है। इस प्रकार बैंक दर वास्तव में दीर्घकालीन ब्याज की दरों को प्रभावित करके अपना असर दिखाती है।

बैंक दर के परिवर्तनों का प्रभाव—

बैंक दर के परिवर्तनों का प्रभाव एक देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था पर तीन रूप में पड़ता है :—दो प्रकार के प्रभाव तो प्रत्यक्ष रूप में देशी अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित होते हैं, परन्तु तीसरी प्रकार का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय शोधनाशेष के परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होता है। जहाँ तक आन्तरिक प्रभावों का सम्बन्ध है, उन्हें हम मुख्य तथा गौण कह सकते हैं। बैंक दर की वृद्धि का मुख्य प्रभाव यह होता है कि यदि देश में लोगों की आय यथास्थिर रहती है तो बचत की मात्रा बढ़ती है और स्थिर पूँजीगत वस्तुओं की कीमत घट जाती है, परन्तु उपरोक्त प्रभाव का गौण प्रभाव यह होगा कि बैंक दर के बढ़ने के कारण पूँजीगत माल की कीमतों में जो कमी उत्पन्न हो जाती है उसके कारण उस माल का उत्पादन भी घटता है। पूँजीगत माल उत्पन्न करने वाले व्यवसायों में बेरोजगारी बढ़ती है, जिसके कारण आय घटती है और अन्त में उपभोगीय वस्तु उद्योगों (Consumer goods industries) के माल की भी कीमतें घटती हैं। इस प्रकार सारी अर्थ-व्यवस्था पर मन्दी छा जाती है। सर्वप्रथम पूँजीगत माल बनाने वाले उद्योगों में लाभों का अन्त होने लगता है, फिर धीरे-धीरे सभी उद्योगों में लाभ समाप्त हो जाते हैं और चारों ओर व्यावसायिक मन्दी फैल जाती है। इसके विपरीत बैंक दर के गिर जाने से सभी ओर तेजी की दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, क्योंकि इससे सभी व्यवसायों को विस्तार करने का प्रोत्साहन मिलता है।

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से, यदि स्वर्णमान का चलन है तो, बैंक दर की वृद्धि के कारण स्वर्ण निर्यात रुक जायेंगे और हो सकता है कि विदेशों से

पूँजी का आयात होने लगे। इसके कारण विदेशी विनिमय दर अनुकूल हो जायगी। दूसरे, क्योंकि बैंक दर की वृद्धि के कारण देश में कीमतें तथा मौद्रिक आय घटती हैं, इस कारण विदेशी आयात कम हो जाते हैं, क्योंकि देशी माल की तुलना में विदेशी माल के दाम ऊँचे हो जाते हैं। इसके विपरीत विदेशों में देशी माल के दाम घट जाने के कारण निर्यात प्रोत्साहित होते हैं। इस प्रकार व्यापाराशेष की प्रतिकूलता अनुकूलता में बदल जाती है। अन्त में, कीमतों और मौद्रिक आय के घटने के कारण रोजगार तथा मजदूरियों में भी कमी आ जाती है, जिसके कारण उत्पादन व्यय घटता है और देशी अर्थ-व्यवस्था का असन्तुलन दूर हो जाता है। देशी उद्योगों की प्रतियोगी शक्ति बढ़ती है और निर्यात् व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। जब बैंक दर इस अन्तिम उद्देश्य को पूरा कर चुकती है तो राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के असन्तुलन का दोष पूर्णतया दूर हो जाता है, परन्तु यह फल देर में प्राप्त होता है। अल्प तथा दीर्घ दोनों ही कालों के दृष्टिकोण से बैंक दर नीति का विदेशी व्यापार के अर्थप्रबन्ध में भारी महत्त्व होता है।

बैंक दर के परिवर्तन विदेशी विनिमय दर को तीन रीतियों अथवा तीन साधनों द्वारा प्रभावित करते हैं—अल्पकालीन मौद्रिक बाजार को प्रभावित करके, दीर्घकालीन पूँजी बाजार के परिवर्तनों द्वारा और व्यापार [illegible] के परिवर्तनों द्वारा। जब देश के सामने विनिमय दर के गिरने की समस्या आती है, स्वर्ण का निर्यात होता है और स्वर्ण-कोष तेजी के साथ घटने लगते हैं तो बैंक दर को ऊँचा कर देने से देश की भीतरी कीमतों और ब्याज की दरों पर इस प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं कि बिना स्वर्ण निर्यात के ही शोधनाशेष का सन्तुलन हो जाता है, क्योंकि अल्पकालीन कोषों का देश में आयात होने लगता है। विदेशी अधिक ब्याज कमाने के लिए अपने ऋणों का भुगतान लेना स्थगित कर देते हैं, बल्कि और अधिक ऋण देने लगते हैं और देशवासियों द्वारा विदेशियों को दिये हुए ऋण वापिस मंगा लिए जाते हैं। स्वर्ण, ऋण तथा कोषों के इस प्रवाह के कारण देश के चलन की माँग बढ़ जाती है और विनिमय दर देश के लिए अनुकूल हो जाती है।

कुछ समय पश्चात् बैंक दर के परिवर्तनों का प्रभाव दीर्घकालीन प्रतिभूतियों की ब्याज की दर पर भी पड़ने लगता है। इस वृद्धि के कारण ऋणों की माँग घटती है। प्रतिभूतियों की कीमत घटने के कारण उनसे प्राप्त आय बढ़ जाती है और क्योंकि विदेशों में ऋणों की माँग घट जाती है, इस कारण स्वर्ण, पूँजी और कोषों का देश से बाहर जाना रुक जाता है। इसके फलस्वरूप देश के [illegible] की पूर्ति विदेशी विनिमय बाजार में कम

हो जाती है और अन्य मुद्राओं में देश की मुद्रा की मूल्य-वृद्धि हो जाती है।

दीर्घकाल में बैंक दर की वृद्धि के परिणाम आर्थिक जीवन की अन्य शाखाओं में भी दृष्टिगोचर होंगे। विनियोगों में कमी होगी और व्यावसायिक कार्य का संकुचन होगा। विस्फीतिक प्रवृत्तियों के कारण उत्पादन व्यय तथा मौद्रिक आय दोनों में ही कमी आ जायगी। फल यह होगा कि निर्यातों को प्रोत्साहन मिलेगा और आयात घटते जायेंगे, जिसके कारण व्यापाराशेष भी अनुकूल हो जायगा। व्यापाराशेष की यह अनुकूलता विनिमय दरों को भी अनुकूल बना देगी। बैंक दर के नीचा कर देने के सभी दिशाओं में विपरीत प्रभाव पड़ते हैं। व्यापाराशेष प्रतिकूल हो जाता है और उसके साथ ही साथ विनिमय दर भी प्रतिकूल हो जाती है।

बैंक दर नीति के महत्त्व की कमी—

वर्तमान संसार में साख नियन्त्रक साधन तथा व्यापाराशेष के असन्तुलन को दूर करने का उपाय दोनों ही के रूप में बैंक दर का महत्त्व काफी कम हो गया है। इस कमी के तीन कारण हैं—प्रथम, वर्तमान युग में मुद्रा-बाजार तथा आर्थिक व्यवस्था में इतने गम्भीर परिवर्तन हो गये हैं कि बैंक दर का अस्त्र पूर्णतया सफल नहीं रहा है। दूसरे, अधिक प्रत्यक्ष परिणामों के कारण अन्य उपायों का उपयोग बढ़ गया है और तीसरे, वर्तमान संसार ने सस्ती मुद्रा नीति को लोक नीति का आवश्यक आधार मान लिया है। स्वर्णमान के पतन के पश्चात् स्वर्ण कोषों के आवागमनों को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से तो बैंक दर का कोई महत्त्व ही नहीं रह गया है। नियन्त्रण की इतनी कठोर तथा सप्रभाविक रीतियों का आविष्कार हो गया है कि बैंक दर के अध्ययन का लगभग ऐतिहासिक महत्त्व ही शेष रह गया है। इसके साथ ही साथ, ऐसा अनुभव किया जाता है कि बैंक दर के परिवर्तनों द्वारा शोधनाशेष का जो संतुलन स्थापित किया जाता है वह देश के लिए काफी मँहगा पड़ता है, क्योंकि उसके कारण बेरोजगारी और मानव कष्टों का जोर बढ़ता है। इस कारण विदेशी विनिमय दरों की स्थिरता को प्राप्त करने के लिए आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था की स्थिरता को खो देना बुद्धिमानी नहीं समझी जाती है। वर्तमान सरकारें विनिमय ह्रास तथा विनिमय नियन्त्रण जैसे प्रत्यक्ष उपायों द्वारा विनिमय दरों की स्थिरता स्थापित करना मुद्रा संकुचन और उसके दुष्परिणामों से कहीं अच्छा समझती हैं, क्योंकि इनका आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर इतना बुरा प्रभाव नहीं पड़ता है

अधिक निश्चित होती है।

वैसे भी बैंक दर नीति की सफलता दो बातों पर निर्भर होती है, जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) देश में सभी प्रकार की ब्याज की दरों में बैंक दर के परिवर्तनों के अनुसार बदलने का गुण होना चाहिए। केवल ऐसी ही दशा में बैंक दर अपनी साख विस्तार अथवा साख संकुचन नीति में सफल हो सकती है। यह शर्त केवल तभी पूरी होती है जबकि देश का मुद्रा-बाजार सुसंगठित हो, जैसे—इङ्गलैंड में, परन्तु सभी देशों में ऐसा सम्भव नहीं है, जिसके कारण बैंक दर ब्याज की दरों में आवश्यक परिवर्तन उत्पन्न करने में असफल रहती है। भारत में तो मुद्रा-बाजार इतना असंगठित है कि बैंक दर नीति की सफलता बहुत ही संदेहपूर्ण रहती है।

(२) देश की अर्थ-व्यवस्था में काफी लोच रहनी चाहिए ताकि साख नियन्त्रण का प्रभाव कीमतों पर, मजदूरियों पर, मौद्रिक आय पर, उत्पादन व्यय पर तथा अन्य सम्बन्धित आर्थिक शाखाओं और घटनाओं पर पड़ सके। व्यवहार में केवल इतना हो पाता है कि यह प्रभाव कुछ शाखाओं तक पहुँचकर ही रुक जाता है, जिसके कारण विभिन्न आर्थिक घटनाओं के बीच समायोजन नहीं हो पाता है।

विगत वर्षों में बैंक दर नीति के महत्त्व के घट जाने के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्थाओं में वह लोच नहीं रह पाई है जो पहले थी। परिणाम यह हुआ है कि बैंक दर का परिवर्तन सारी अर्थ-व्यवस्था पर अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रहता है।

(२) बैंक दर की सप्रभाविकता उसी दशा में सम्भव होती है जबकि आवश्यकता के समय सभी बैंक ऋण के लिए केवल केन्द्रीय बैंक पर ही निर्भर रहें, परन्तु आधुनिक युग में ऐसी प्रथम श्रेणी की बहुत सी बैंक हैं जो दूसरी बैंकों की केन्द्रीय बैंक पर आश्रिता दूर कर देती हैं। काफी समय तक इम्पीरियल बैंक एक इसी प्रकार की बैंक रही है।

(३) आधुनिक जगत में आन्तरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध नकद साख तथा अधि-विकर्ष ऋणों द्वारा किया जाता है। विनिमय बिलों की आड़ पर प्राप्त ऋणों और उनसे सम्बन्धित बैंक दर का महत्त्व घट गया है।

(४) साख नियन्त्रण के अधिक सफल और सप्रभाविक उपायों के आविष्कार ने बैंक दर का महत्त्व घटा दिया है।

(५) संसार से सभी देशों की नीति सस्ती अथवा सुलभ मुद्रा नीति है, जिसके अन्तर्गत बैंक दर को नीचा रखना ही आर्थिक नीति का स्थायी आधार माना जाता है।

(६) आधुनिक काल में बैंकों के आदेयों की तरलता बढ़ती जा रही है, जिसके कारण केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने की आवश्यकता घटती जा रही है।

(७) बैंक दर के परिवर्तनों का मुद्रा बाजार पर कुछ समय पश्चात् ही प्रभाव पड़ता है। परन्तु मौद्रिक क्षेत्र में वही नीति लाभदायक हो सकती है जिसका अल्पकाल में प्रभाव पड़ सके। बैंक दर इसके लिए उपयुक्त नहीं है।

(८) बैंक दर की वृद्धि के प्रभाव को एक बैंक अपनी निक्षेपों पर अधिक ब्याज देकर दूर कर सकती है। अधिक निक्षेप प्राप्त हो जाने के कारण केन्द्रीय बैंक से ऋण की आवश्यकता नहीं रहती है। वर्तमान काल में यह प्रवृत्ति बराबर बलवान होती जा रही है।

बैंक-दर नीति की सीमाएँ—

विगत वर्षों में साख-नियन्त्रण के दृष्टिकोण से बैंक-दर नीति के महत्त्व का घट जाना इस बात को स्पष्ट कर देता है कि यह नीति सभी दशाओं में आवश्यक अंश तक सफल नहीं होती है। वास्तव में इस नीति के उपयोग की दो महत्त्वपूर्ण सीमायें हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) देश में प्रचलित सभी प्रकार की ब्याज की दरों से बैंक-दर का ऐसा सम्बन्ध होना चाहिए कि बैंक-दर का प्रत्येक परिवर्तन उनमें भी वैसा ही परिवर्तन कर सके। ऐसा सम्बन्ध तभी सम्भव हो सकता है जबकि मुद्रा-बाजार पूर्णतया संगठित (Organised) हो। यदि सभी प्रकार की ब्याज की दरें स्वयं ही बैंक-दर के परिवर्तनों के अनुसार बदल जाती हैं तो साख की मात्रा में बैंक-दर के परिवर्तनों के अनुसार ही विस्तार और संकुचन हो जायगा। जिन देशों में ऐसी स्थिति नहीं है वहाँ बैंक-दर साख-नियन्त्रण का सप्रभाविक उपाय नहीं हो सकती है।

(२) देश के आर्थिक कलेवर में काफी लचीलापन (Flexibilty) होना चाहिए, जिससे कि साख की मात्रा के परिवर्तवनों का उत्पादन, कीमत, मजदूरी, व्यापार, भाड़ों तथा मौद्रिक आय पर आवश्यक प्रभाव पड़ सके। इस प्रकार की लचक सयोग से ही कहीं मिलती होगी।

वास्तविक जीवन में इन दोनों शर्तों का पूरा होना कठिन होता है। शायद इङ्गलैंड ही एक ऐसा देश है जहाँ का मुद्रा-बाजार बहुत संगठित है और जहाँ आर्थिक कलेवर में लचीलापन भी काफी है। यही कारण है कि उस देश में बैंक-दर नीति को अधिक सफलता मिली है। संसार के दूसरे देशों में अनुकूल परिस्थितियाँ न रहने के कारण यह नीति बहुत ही कम सफल हो पाई है। भारत में संगठित मुद्रा-बाजार और आर्थिक कलेवर की लोच दोनों ही का अभाव है। यहाँ तो इस नीति से सफलता की आशा बहुत ही कम हो सकती है।

विगत वर्षों में बैंक-दर के परिवर्तन—

यद्यपि अब बैंक-दर नीति का पहला सा महत्त्व शेष नहीं रह गया है, परन्तु सन् १६४५ के पश्चात् संसार के अधिकांश देशों में इसका उपयोग फिर बढ़ता हुआ दिखाई देता है। अधिकांश देशों ने मुद्रा-प्रसार से उत्पन्न होने वाली स्थिति का बैंक-दर में परिवर्तन करके सामना करने का प्रयत्न किया है, यद्यपि साथ में अन्य उपाय भी किये गये हैं। बैंक-दर में वृद्धि करने की प्रवृत्ति विश्वव्यापी होती गई है। निम्न तालिका में इस परिवर्तन के क्रम को दिखाया गया है:—

देश	वर्तमान दर	परिवर्तन की तिथि	परिवर्तन से पूर्व की दर	अन्तर
१. भारत	४·००	जनवरी १६५७	४·५	+०·५०
२. आस्ट्रेलिया	५·००	दिसम्बर १६५१	३·५०	+१·५०
३. फिनलैंड	५·००	दिसम्बर १६५४	५·७५	—०·७५
४. फ्रान्स	३·००	दिसम्बर १६५४	३·७५	—०·७५
५. तुर्की	४·५०	जून १६५५	३·००	+१·५०
६. बेल्जियम	३·००	अगस्त ४, १६५५	२·७५	+०·२५
७. जापान	७·३०	अगस्त १६५५	५·८४	+१·४६
८. संयुक्त राज्य अमरीका	२·५०	नवम्बर १६५५	२·२५	+०·२५
९. नीदरलैण्डस्	३·००	फरवरी ६, १६५६	२·५०	+०·५०
१०. ब्रिटेन	४·५०	मार्च १६५८	५·५०	—१·००
११. रूस	४·००	जुलाई १, १६५६	४·००	—४·००
१२. इटली	५·५०	....	....	....
१३. दक्षिणी अफ्रीका	३·५०	....	....	....
१४. नार्वे	२·५०	....	....	....
१५. स्वीडन	२·५०	....	....	....

१६. कनाडा	१·५०	....	....	....
१७. स्विटजरलैंड	१·५०	....	....	....
१८. न्यूजीलैण्ड	१·५०	....	....	....

खुले बाजार क्रियाएँ (Open Market Operations)—

साधारणतया, केन्द्रीय बैंक को व्यक्तिगत फर्मों तथा जन-साधारण के साथ व्यवसाय करने का अधिकार नहीं होता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों के लिए ऐसी व्यवस्था की जाती है कि साख नियन्त्रण हेतु केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के प्रतियोगी के रूप में जन-साधारण से व्यवसाय करने लगती है। इसी को केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार क्रिया कहा जाता है। 'खुले बाजार क्रिया'* को दो प्रकार के अर्थ में उपयोग किया जाता है। विस्तृत अर्थ में इसका उपयोग केन्द्रीय बैंक द्वारा किसी भी प्रकार के बिलों अथवा प्रतिभूतियों के खरीदने और बेचने से होता है, परन्तु संकुचित अर्थ में इसका अभिप्राय केवल सरकारी प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय से होता है। साख नियन्त्रण की इस रीति का प्रचलन पिछले २०-३० वर्षों से अधिक बढ़ गया है। प्रकृति में यह नीति केन्द्रीय बैंक द्वारा साख के निर्माण तथा रद्द करने की एक विधि होती है। प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय द्वारा केन्द्रीय बैंक प्रत्यक्ष रूप में एक दम देश में चलन की मात्रा तथा बैंकों के नकद कोषों को घटा-बढ़ा देती और इस प्रकार अन्य बैंकों की साख निर्माण शक्ति में परिवर्तन कर देती है।

यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को खरीदती है तो चलन की अधिक मात्रा जनता के हाथ में चली जाती है। जनता की मौद्रिक आय बढ़ती है और उसके साथ ही साथ कीमतें भी ऊपर को जाने लगती हैं। जनता को जो अधिक मात्रा में आय प्राप्त होती है उसका एक भाग उसके द्वारा बैंकों में भी जमा किया जाता है और इस प्रकार बैंकों के नकद कोषों का विस्तार होता है। साख-मुद्रा की अधिक मात्रा में निकासी होने लगती है, कीमतों की वृद्धि के कारण उत्पादन भी अधिक लाभदायक हो जाता है और साख-मुद्रा की माँग बढ़ने लगती है। इस प्रकार इस नीति का परिणाम यह होता है कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है और साख का विस्तार होता है। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियाँ बेचती है तो क्योंकि केन्द्रीय बैंक पर अन्य सभी बैंकों की अपेक्षा अधिक विश्वास रहता है, लोग बैंकों से रुपया निकाल कर, अधिक बचत द्वारा तथा अपने दिए हुये ऋणों को वापिस लेकर इन प्रतिभूतियों को खरीदते हैं। इस प्रकार प्रचलित मुद्रा की मात्रा घटती है और नकद कोषों में कमी हो जाने के

* कुछ लेखकों ने इन्हें "विवृत विपण क्रियायें" भी कहा है।

कारण बैंकों को अपनी साख-मुद्रा का संकुचन करने पर वाध्य होना पड़ता है। मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाने के कारण कीमतों में गिरने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण व्यवसाय हतोत्साहित होते हैं। इस नीति का स्पष्ट परिणाम साख-संकुचन के रूप में प्रकट होता है, क्योंकि बैंकों की साख निर्माण शक्ति और साख-मुद्रा की माँग दोनों ही में कमी आ जाती है।

इस नीति का उपयोग बहुधा बैंक-दर नीति के साथ ही साथ उसे अधिक सप्रभाविक वनाने के लिए किया जाता है, परन्तु स्वतन्त्र रूप में भी इसका उपयोग हुआ है। बैंक दर के परिवर्तनों का तो ब्याज की दीर्घकालीन दरों पर केवल परोक्ष ही प्रभाव पड़ता है, परन्तु खुले बाजार व्यवसाय द्वारा उन्हें प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त बैंक दर का प्रभाव तुरन्त तो केवल ब्याज की अल्पकालीन दरों पर ही पड़ता है, दीर्घकालीन दरों पर वह काफी समय पश्चात् प्रकट होता है, परन्तु खुले बाजार व्यवसाय का दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन दोनों ही प्रकार की ब्याज की दरों पर एक ही साथ प्रभाव पड़ता है और वह भी तुरन्त ही। यही कारण है कि इस नीति के फल प्रत्यक्ष रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

खुले बाजार क्रिया नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक होता है कि प्रचलित मुद्रा की मात्रा तथा व्यापार बैंकों के नकद कोषों में खुले बाजार व्यवसाय की प्रकृति और विस्तार के ही अनुसार परिवर्तन हों, व्यापार बैंक अपने नकद कोषों की मात्रा के अनुपात में ब्याज की दरों को घटाने-बढ़ाने के लिए तैयार हों और बैंक-साख की माँग ब्याज की प्रत्येक वृद्धि और कमी के साथ घट-बढ़ जाय। साधारणतया व्यावहारिक जीवन में उपरोक्त सभी मान्यताएँ सत्य होती हैं, यद्यपि कुछ परिस्थितियाँ भिन्न भी हो सकती हैं।

खुले बाजार क्रिया नीति की सीमाएँ—

यह नीति निम्न कारणों से कभी-कभी असफल रहती है :—

(१) यह सम्भव है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियाँ खरीदने पर भी प्रचलित मुद्रा तथा व्यापार बैंकों के नकद कोषों की मात्रा न बढ़ सके। विशेष रूप से यदि उसी काल में पूँजी का निर्यात होता है, शोधनाशेष प्रतिकूल है अथवा लोग नोटों को जमा करके रखने लगते हैं। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियाँ बेचने पर मुद्रा-संकुचन का होना आवश्यक नहीं है यदि शोधनाशेष अनुकूल है अथवा यदि लोग अपने आसंचित कोषों को खाली करने लगते हैं। दूसरे शब्दों में, हम इस

प्रकार कह सकते हैं कि यह नीति भी केवल अनुकूल परिस्थितियों में ही सफल होती है।

(२) साख के आधार अर्थात् नकद कोषों को विस्तृत अथवा संकुचित कर देने के फलस्वरूप साख की मात्रा में उसी अनुपात में विस्तार अथवा संकुचन होना आवश्यक नहीं है जब तक कि बैंक नकद कोषों के बनाये रखने में एक कड़ी नीति नहीं अपनाती है। इङ्गलैंड में तो बैंकों की नीति यही है, परन्तु इसके विपरीत अमरीका की बैंक नकद कोषों की वृद्धि का उपयोग साधारणतया संघ निधि प्रणाली (Federal Reserve System) के ऋण चुकाने के लिए ही करती हैं। इसके अतिरिक्त नकद कोषों की वृद्धि के आधार पर साख का विस्तार करने के लिए बैंक को और भी बहुत सी व्यावसायिक बातों को ध्यान में रखना पड़ता है। इस कारण यह आवश्यक नहीं है कि नकद कोषों के बढ़ने की प्रत्येक दशा में साख का विस्तार ही किया जाय।

(३) यह भी सम्भव है कि नकद कोषों के बढ़ने पर भी बैंक साख का विस्तार न कर सकें, क्योंकि साख का विस्तार ऋणों की माँग पर निर्भर होता है। अवसाद के काल में बहुधा ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत अभिवृद्धि के काल में ब्याज की दर के ऊँचा हो जाने के कारण साख के विस्तार की प्रवृत्ति को नकद कोषों की कमी भी रोकने में असमर्थ ही रहती है। अतः ऋणों की माँग की आग्रहपूर्णता भी साख के विस्तार और संकुचन की सीमाएँ निर्धारित करती हैं।

(४) खुले बाजार व्दवसाय नीति की सफलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि केन्द्रीय बैंक के पास बेचने के लिए कितनी प्रतिभूतियाँ हैं और वह कितनी प्रतिभूतियाँ खरीद सकती है। दोनों ही दिशाओं में भारी सीमितता होती है, जिसके कारण अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। वास्तविक जीवन में न तो केन्द्रीय बैंक के पास पूँजी की ही प्रचुरता रहती है और न उसके पास विक्री-साध्य प्रतिभूतियाँ ही असीमित मात्रा में होती हैं। केन्द्रीय बैंक सभी प्रकार की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय भी नहीं कर सकती है। इस प्रकार इस नीति का कार्य-क्षेत्र भी सीमित ही रहता है।

बैंक दर तथा खुले बाजार क्रिया के अतिरिक्त और भी बहुत सी रीतियों से साख-नियन्त्रण के उद्देश्य को पूरा किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में जो उपाय किये जाते हैं उनका अलग-अलग अथवा कई को एक साथ मिलाकर उपयोग किया जा सकता है। प्रमुख उपाय निम्न प्रकार हैं :—

(१) **व्यापार बैंकों की न्यूनतम् नकद निधि को बदलना**—केन्द्रीय बैंक व्यापार बैंकों द्वारा उसके पास जमा की हुई न्यूनतम् नकद निधि के अनुपात में परिवर्तन करके साख-नियन्त्रण का उपाय कर सकती है। यह रीति सर्वप्रथम सन् १६२३ में अमरीका में अपनाई गई थी, परन्तु इसके पश्चात् संसार भर में इसका काफी विस्तृत उपयोग हुआ है। बैंकों द्वारा रखी हुई सुरक्षित निधि के अनुपात को बढ़ाने से साख का विस्तार रोका जा सकता है और इसके विपरीत उसे कम कर देने से साख का विस्तार हो सकता है। अमरीका ने तो बैंक दर नीति के साथ-साथ इस उपाय को भी कितनी ही बार अपनाया है, परन्तु यह रीति भी पूर्णतया दोष-विमुक्त नहीं है। सभी बैंकों के बीच नकद कोषों का समान वितरण नहीं होता है, इसलिये इसके फलस्वरूप कुछ बैंकों को दूसरों की अपेक्षा अधिक कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त यह एक कठोर रीति है, जिसका प्रभाव सभी व्यापार बैंकों पर पड़ता है, इसलिये केन्द्रीय बैंक को इसका उपयोग सावधानीपूर्वक करना पड़ता है।

(२) **साख की राशनिङ्ग** (Rationing of Credit)—यह एक अत्यधिक कठोर उपाय है और इसका उपयोग साधारणतया तानाशाही शासन प्रणाली में ही अधिक विस्तृत रूप में हुआ है। इसके अन्तर्गत व्यावसायिक आवश्यकताओं को देखते हुए साख के निर्माण की एक अधिकतम् सीमा निश्चित कर दी जाती है और उसमें से विभिन्न बैंकों तथा विभिन्न प्रकार के व्यवसायों के लिये अभ्यंश निश्चित कर दिये जाते हैं। इस प्रकार साख का विस्तार अथवा संकुचन नहीं हो पाता है। उसकी मात्रा पहले से ही निश्चित कर दी जाती है। कोई भी बैंक निर्धारित अभ्यंश (Quota) से कम या अधिक साख उत्पन्न नहीं कर सकती है। यह वैसे तो एक बड़ी सप्रभाविक रीति है, परन्तु इसमें व्यावहारिक कठिनाइयाँ बहुत हैं क्योंकि केन्द्रीय बैंक को विभिन्न व्यवसायों की ऋण आवश्यकताओं और उनसे सम्बन्धित साख के निर्माण की मात्रा का सही-सही अनुमान लगाना पड़ता है और फिर सभी बैंकों के अलग-अलग अभ्यंश निर्धारित करने पड़ते हैं।

(३) सीधी कार्यवाही (Direct Action)—सीधी कार्यवाही का अभिप्राय प्रतिविरोधी कार्यों से होता है। यदि कोई बैंक केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित साख नीति का पालन नहीं करती है तो केन्द्रीय बैंक उसके विरुद्ध अनेक प्रकार की कार्यवाइयाँ कर सकती है, जैसे—उसके बिलों को भुनाने से इन्कार करना, उसे ऋण न देना अथवा उससे जुर्माना वसूल करना। कठोर रूप में इसके अन्तर्गत बैंक विशेष के बैंकिंग अधिकार भी छीने जा सकते हैं। सीधी कार्यवाही की सैद्धान्तिक वाँछनीयता यही है कि इस प्रणाली में बैंक-साख का अधिक अच्छा गुणात्मक वितरण हो जाता है, जबकि अन्य साधारण उपायों का प्रभाव केवल साख की मात्रा के वितरण पर ही पड़ता है, परन्तु यह रीति भी सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि इससे कोई भी रचनात्मक कार्य सम्पन्न नहीं होता है। यह तो केवल एक प्रकार का प्रतिकार है, जिसका उद्देश्य केवल बैंक विशेष की प्रस्तुत साख नीति में परिवर्तन करना होता है और उसे केन्द्रीय बैंक के आदेशों को मानने पर वाध्य किया जाता है।

(४) समझाना (Persuasion)—यह भी एक प्रकार की सीधी कार्यवाही ही है, परन्तु इसमें किसी प्रकार का भय नहीं दर्शाया जाता है, बल्कि एक प्रकार सोचने-समझाने के आधार पर प्रार्थना की जाती है और बैंक विशेष के सम्मुख उसकी नीति के दुष्परिणाम स्पष्ट कर दिये जाते हैं। इस उपाय का आधार यह है कि केन्द्रीय बैंक देश की बैंकों का एक प्रकार से नेतृत्व करती है और इस नाते उसे सलाह देने तथा पथ-प्रदर्शन करने का अधिकार होता है। यह प्रणाली इसलिए अच्छी है कि इसका उपयोग सीधी कार्यवाही की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है, परन्तु उसको केवल उसी देश में अधिक सफलता मिलती है जिसमें थोड़ी सी ही संख्या में बड़ी-बड़ी बैंक हों, जिनसे केन्द्रीय बैंक का घनिष्ट सम्बन्ध रहे। भारत में यह नीति बहुत सफल नहीं रह सकती है, क्योंकि रिजर्व बैंक के लिए प्रत्येक बैंक को अलग-अलग समझाना कठिन है।

(५) प्रतिभूति ऋणों की आवश्यकता सीमा में परिवर्तन (Changes in Margin Requirements on Security Loans)—यह भी साख के गुणात्मक नियन्त्रण का ही एक उपाय है और इसका उपयोग साधारणतया उस साख के नियन्त्रण हेतु किया जाता है जो सट्टा प्रतिभूतियों के लिए निर्मित किया जाता है। इस प्रणाली का आविष्कार भी अमरीका में हुआ था। इस प्रणाली में केन्द्रीय बैंक को ऐसे वैधानिक अधिकार दे दिये जाते हैं कि वह बैंकों द्वारा सट्टा बाजार को दिये जाने वाले ऋणों की मात्रा के सम्बन्ध में नियम बना सके, जिससे कि उस

बाजार के लिए नियन्त्रित मात्रा में ही साख मिल सके। यह उपाय सट्टे बाजार पर नियन्त्रण रखने की एक काफी सप्रभाविक रीति है।

(६) **उपभोक्ता साख का नियमन** (Regulation of Consumer Credit)—इस रीति का उपयोग सर्वप्रथम दूसरे महायुद्ध के काल में अमरीका में रक्षा उद्देश्य से किया गया था। केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली को यह अधिकार दिया गया था कि वह ऐसे नियम बनाये कि जिनके आधार पर उपभोक्ताओं को किश्तों पर थोड़ी-थोड़ी करके साख सुविधाएँ दी जा सकें। लड़ाई के पश्चात् कनाडा ने इस प्रणाली को अपनाया। ऐसी व्यवस्था की गई कि बैंकों को स्थायी उपभोगीय वस्तुओं की १०% कीमत नकदी में देनी पड़ती थी। परिणाम यह होता था कि प्रत्येक ऋण का एक भाग अनिवार्य रूप में नकदी में चुकाना आवश्यक था और साख विस्तार एक निश्चित सीमा के परे नहीं हो पाता था।

(७) **विज्ञापन तथा प्रचार** (Publicity)—यह भी समझाने का ही एक उपाय है। इसका आधार यह है कि वर्तमान युग में किसी भी नीति के प्रति एक सप्रभाविक जनमत तैयार करके उसकी सफलता को काफी अंश तक निश्चित किया जा सकता है। केन्द्रीय बैंक प्रचार द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न करती है कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के हितों को देखते हुए साख सम्बन्धी कौन सी नीति अधिक उपयुक्त है और कौन-कौन सी बैंक उस नीति का पालन नहीं करती हैं।

(८) **अन्य उपाय**—विगत वर्षों में युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार के विरुद्ध साख नियन्त्रण की और भी कई रीतियों का उपयोग किया गया है। उदाहरणस्वरूप, कुछ देशों ने विदेशी ऋणों को प्राप्त करके मुद्रा-प्रसार को रोकने का प्रयत्न किया है। लङ्का की केन्द्रीय बैंक ने व्यापार बैंकों को प्राप्त विदेशी आदेय कम मात्रा में बाहर भेजने की सलाह दी है। कनाडा ने लचीली (Flexible) विनिमय दरों को ग्रहण किया है और अनुसूचित बैंकों को निक्षेप प्रमाण-पत्र दिये हैं।

इस प्रकार साख नियन्त्रण के उपाय अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इनमें कुछ तो तुरन्त फल प्रदान करते हैं और कुछ थोड़े समय पश्चात्, कुछ कठोर होते हैं और कुछ उदार। प्रत्येक देश अपनी आवश्यकता और अर्थ-व्यवस्था की स्थिति के अनुसार उपायों को चुनता है। इस सम्बन्ध में केवल इतना कहा जा सकता है कि प्रत्येक उपाय का उपयोग सोच-समझ कर करने की आवश्यकता है। यह अविवेचक (Indiscriminate) नहीं होना चाहिए।

अध्याय २६

भारतीय मुद्रा बाजार

R.P.Ku 20-1-62

(The Indian Money Market)

मुद्रा-बाजार का अर्थ—

साधारण भाषा में बाजार अथवा मण्डी का अभिप्राय उस स्थान से होता है जहाँ पर वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। आर्थिक दृष्टिकोण से बाजार शब्द ऐसी वस्तु की ओर संकेत करता है जिसके ग्राहकों और विक्रेताओं के बीच इस प्रकार की प्रतियोगिता रहे कि सभी स्थानों पर वस्तु विशेष के दामों के समान रहने की ही प्रवृत्ति रहे। कुछ भी सही, बाजार शब्द सदा ही क्रय-विक्रय से ही सम्बन्धित होता है, परन्तु क्या इस सम्बन्ध में मुद्रा-बाजार* भी हो सकता है? क्या-मुद्रा का भी क्रय-विक्रय होता है? सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि क्रय-विक्रय के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु की कीमत मुद्रा में चुकाई जाती है, परन्तु यदि मुद्रा का क्रय-विक्रय होता है तो उसकी कीमत किस वस्तु में चुकाई जायगी? यह कहना थोड़ा विचित्र सा लगता है कि मुद्रा को भी खरीदा अथवा बेचा जा सकता है, परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसा दिन प्रति दिन ही होता रहता है। मुद्रा को बेच कर बदले में जो कुछ प्राप्त किया जाता है वह केवल भविष्य में उसके लौटाने का वायदा ही होता है। दूसरे शब्दों में, हम इस प्रकार कह सकते हैं कि क्रय-विक्रय का अर्थ केवल मुद्रा के उधार लेने तथा उधार देने से होता है। अब हमें मुद्रा की कीमत का अर्थ समझने में भी कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि मुद्रा की कीमत केवल उस पारितोषण की ओर संकेत करती है जो मुद्रा को भविष्य में उसके लौटाने के वायदे में बदलने के लिए प्राप्त होती है। इस प्रकार मुद्रा की कीमत उसके ऋणों पर मिलने वाली ब्याज की दर को कहते हैं, अतः मुद्रा-बाजार से हमारा अभिप्राय मुद्रा के उधार लेने-देने तथा इस उधार से सम्बन्धित अन्य क्रियाओं से होता है। प्रस्तुत अध्याय में मुद्रा-बाजार से हमारा अभिप्राय यही होगा।

इस सम्बन्ध में मुद्रा बाजार (Money Market) तथा पूँजी बाजार (Capital Market) का भेद समझ लेना आवश्यक है। दोनों ही बाजारों का मुद्रा के उधार लेने-देने से सम्बन्ध होता है। अन्तर केवल

---

* मुद्रा बाजार के स्थान पर मुद्रा-विपणि शब्द का भी उपयोग हो सकता।

इतना है कि मुद्रा-बाजार शब्द का उपयोग केवल अल्पकालीन ऋण बाजार के लिए किया जाता है, जबकि पूँजी बाजार दीर्घकालीन ऋणों की लेन-देन की ओर संकेत करता है। मुद्रा-बाजार में काम करने वाली संस्थायें भी साधारणतया पूँजी बाजार से भिन्न होती हैं, परन्तु विस्तृत अर्थ में मुद्रा-बाजार में पूँजी-बाजार को भी सम्मिलित किया जाता है और सभी प्रकार के ऋणों का बाजार मुद्रा-बाजार कहलाता है। वैसे भी मुद्रा-बाजार और पूँजी-बाजार में घनिष्ट सम्बन्ध होता है, क्योंकि अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों को एक दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता है। दोनों ही बाजारों में व्यापारिक तथा आर्थिक उत्पादन की आवश्यकताओं के लिए मुद्रा और साख की पूर्ति होती है। अन्तर केवल उस समय अवधि का होता है, जिसके लिए ऋण लिये जाते हैं।

भारतीय मुद्रा-बाजार के अङ्ग (The Constituents of the Indian Money Market)—

भारतीय मुद्रा-बाजार को दो भागों अर्थात् भारतीय अंग तथा योरोपियन अंग में बाँटने की प्रथा चली आई है। योरोपियन भाग में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा विदेशी विनिमय बैंकों को सम्मिलित किया जाता था और भारतीय भाग में स्वदेशी अधिकोष (देशी बैंकर), सहकारी बैंकों तथा संयुक्त-स्कन्ध बैंकों (Joint-stock Banks) को सम्मिलित किया जाता था। देश के आर्थिक जीवन में अधिक महत्त्व देशी बैंकरों तथा सहकारी बैंकों का ही होता है। योरोपियन भाग को आरम्भ से ही सरकारी नियन्त्रण तथा संरक्षण के लाभ प्राप्त रहे हैं, परन्तु भारतीय भाग प्रायः अनियन्त्रित तथा अनियमित ही रहा है। सन् १९३५ तक रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व दोनों अंगों में किसी प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं था, परन्तु तत्पश्चात् सम्पर्क को स्थापित करने का भारी प्रयत्न किया गया है। स्वतन्त्रता के पश्चात् इस स्थिति में काफी परिवर्तन हो गया है और इस समय रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो चुका है तथा इम्पीरियल बैंक जैसी विशाल संस्था का भारतीयकरण (Indianisation) हो चुका है। भारत सरकार ने उसका भी राष्ट्रीयकरण कर लिया है और इसे 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया' का नाम दिया है, अतः भारतीय और योरोपियन अंगों का अलग-अलग महत्त्व बहुत ही कम रह गया है।

हमारे देश में यूरोप के देशों की भाँति कोई सुसंगठित मुद्रा-बाजार नहीं है। मुद्रा-बाजार के भी छोटे-छोटे टुकड़े हैं और उनमें से अधिकाँश केवल स्थानीय बाजार हैं, जैसे—कलकत्ता तथा बम्बई के महान् मुद्रा-बाजार तथा दिल्ली, कानपुर आदि के छोटे मुद्रा-बाजार। अभी तक भी

हमारे देश में कोई अखिल भारतीय मुद्रा-बाजार उत्पन्न नहीं हो पाया है। भारतीय मुद्रा-बाजार के प्रमुख अंग निम्न प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, (२) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, (३) संयुक्त-स्कन्ध बैंक, (४) सहकारी बैंक, (५) विनिमय बैंक और (६) स्वदेशी अधिकोष अथवा देशी बैंकर। भारतीय मुद्रा-बाजार के इन अलग-अलग अंगों का विस्तृत अध्ययन आगे चल कर किया जायगा। प्रस्तुत अध्याय में तो मुद्रा-बाजार सम्बन्धी सामान्य परिस्थितियों तथा सामान्य समस्याओं का ही अध्ययन पर्याप्त होगा। संगठन तथा नियन्त्रण के दृष्टिकोण से भारतीय मुद्रा-बाजार स्वयं एक समस्या है।

भारतीय मुद्रा-बाजार के दोष (Defects of the Indian Money Market)—

भारतीय मुद्रा-बाजार के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) **संगठन का अभाव**—यह एक गम्भीर दोष है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, देश में कोई अखिल भारतीय मुद्रा-बाजार है ही नहीं, अधिकाँश मुद्रा-बाजार स्थानीय हैं, जिनके बीच सम्पर्क तथा समन्वय का भारी अभाव है। अभी तक भी भारतीय मुद्रा-बाजार के दो लगभग पूर्णतया स्वतन्त्र भाग अर्थात् आधुनिक मुद्रा-बाजार तथा देशी मुद्रा-बाजार मौजूद हैं। प्रथम भाग में रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, व्यापार बैंक, विनिमय बैंक, सहकारी बैंक आदि सम्मिलित हैं और दूसरे में साहूकार, महाजन, देशी बैंकर आदि। मुद्रा-बाजार के इन विभिन्न अंगों के बीच सहयोग तो दूर रहा, सम्पर्क भी नहीं है। आधुनिक बैंकिंग प्रणाली तथा देशी मुद्रा-बाजार के बीच निरन्तर हानिकारक और अपव्ययी प्रतियोगिता होती रहती है, परन्तु स्वयं आधुनिक मुद्रा-बाजार के विभिन्न सदस्यों में भी सहयोग और समन्वय की भारी कमी है। स्टेट बैंक, व्यापार बैंक तथा विदेशी विनिमय बैंक एक दूसरी को अपना प्रतिद्वन्दी समझती हैं और ठीक यही हाल विभिन्न देशी महाजनों और बैंकरों का है। प्रत्येक एक दूसरे का व्यवसाय छीन लेने का प्रयत्न करती है। इस दोष की गम्भीरता इस कारण और भी बढ़ जाती है कि भारत में बैंकिंग सेवाओं की सामान्य कमी है। कुछ समय से रिजर्व बैंक इस दोष को दूर करने में लगी हुई है, परन्तु अभी तक सफलता बहुत ही कम मिली है।

(२) **ब्याज की दरों की भिन्नता**—यह दोष मुख्यतया संगठन तथा समन्वय के अभाव से ही उत्पन्न होता है। इङ्गलैंड में मुद्रा-बाजार का समुचित संगठन होने के कारण सभी प्रकार के ब्याजों की दरें बैंक दर पर निर्भर होती हैं, परन्तु भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न अंगों में समुचित

नियन्त्रण, समन्वय तथा घनिष्ट सम्बन्ध न होने के कारण बैंक दर, बाजारी ब्याज की दर, स्टेट बैंक की दर तथा बट्टा दर (Discount Rate) में भारी अन्तर होते हैं। अलग-अलग स्थानों पर ब्याज की दरों में भारी अन्तर होते हैं और इन दरों की सामान्य प्रवृत्ति ऊँची रहने की ओर होती है। बैंक दर की असफलता का मुख्य कारण यही है और इसी कारण रिजर्व बैंक को नियन्त्रण कार्य में भारी कठिनाई होती है। जमा आकर्षित करने के लिए बैंक अपनी-अपनी दरों को बढ़ाती रहती हैं। ब्याज की दरों की इस भिन्नता के कारण देश के मुद्रा-बाजार में विचित्र परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(३) **एक अच्छे बिल बाजार का अभाव**—देश के मुद्रा-बाजार का एक बहुत बड़ा दोष व्यापारिक बिलों अथवा हुन्डियों के बाजार की भारी कमी है। लन्दन के मुद्रा-बाजार में बैंकों के आदेयों का एक महत्त्वपूर्ण भाग बिलों के रूप में होता है और विदेशों में तो वे अपने कोषों का अधिकांश भाग बिलों में ही लगाती हैं। भारतीय मिश्रित पूँजी बैंक अपनी कुल निक्षेपों का केवल ३ से ६% तक ही बिलों के भुनाने में लगाती हैं। लगभग सभी केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समितियों तथा बैंकिंग विशेषज्ञों का मत है कि भारतीय बैंकिंग प्रणाली को सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित करने के लिए व्यापारिक बिलों के उपयोग में वृद्धि तथा सुसंगठित सट्टे बाजार की स्थापना आवश्यक है।

बिलों के अभाव के अनेक कारण हैं, यद्यपि धीरे-धीरे अब इन कारणों में भी कमी होती जा रही है। प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं:—

(क) आरम्भ से ही भारतीय बैंकों को नक़द कोष अधिक मात्रा में रखने पड़े हैं और इसी कारण वे अपने अधिकांश विनियोग परम प्रतिभूतियों (Guilt-edged Securities) में ही करती आई हैं ताकि आदेयों की तरलता बनी रहे, परन्तु क्योंकि आय के दृष्टिकोण से बिलों का अपहरण (Discounting) परम प्रतिभूतियों की अपेक्षा अधिक लाभदायक होता है, इसलिए धीरे-धीरे यह परिस्थिति बदल रही है।

(ख) बिलों के उपयोग की कमी का एक कारण यह भी है कि निर्गम-गृहों (Issue Houses) जैसी संस्थाओं की कमी है, जो बिलों को स्वीकार (Accept) करके आर्थिक स्थिति का सही ज्ञान दे सकती हैं। इस कारण बैंक बिलों का अपहरण करने में संकोच करती है, क्योंकि बहुत सी दशाओं में स्वीकार करने वाले की साख सन्देह से खाली नहीं होती है।

(ग) सन् १९३५ से पूर्व देश में कोई ऐसी संस्था नहीं थी जिससे बिलों को फिर से भुनाया जा सके। इम्पीरियल बैंक इस कार्य को अवश्य करती थी, परन्तु वह अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करती थी।

(घ) देश में व्यापार बिलों तथा अर्थ-बिलों में भूतकाल में कोई अन्तर नहीं होता था और सन्देह के कारण बिलों के अपहरण में हिचकिचाहट रहती थी, क्योंकि भुनाने वाले के लिए बिल की सही प्रकृति का पता लगाना कठिन होता था।

(ङ) भारत में हुन्डियों की भाषा, रूप तथा प्रकृति में स्थानान्तर के अनुसार इतने गम्भीर अन्तर होते हैं कि बैंक उलझन में पड़ जाती है।

(च) बिलों को भुनाने की अपेक्षा भारतीय बैंक नकद ऋणों का देना अधिक पसन्द करती हैं, क्योंकि ऐसे ऋणों को बैंक कभी भी रद्द कर सकती हैं और ग्राहक को भी व्याज कम देना पड़ता है।

(छ) लम्बे काल से केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें अपनी वित्तीय आवश्यकताओं को कोषागार-विपत्रों द्वारा पूरा करती आई हैं। इनमें विनियोग अधिक सुरक्षित समझा जाता है और बिलों का उपयोग कम होता है। यही कारण है कि पूर्णतया विश्वासजनक बिल कम ही मात्रा में रहते आये हैं।

(४) **धन की कमी**—यह भी एक गम्भीर दोष है। उद्योग-धन्धों और व्यापार के लिए आवश्यक पूँजी तथा साख की माँग की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त धन की कमी है। इस अभाव के तीन मुख्य कारण हैं:—पर्याप्त विनियोग के साधनों की कमी, बैंक प्रणाली का अपर्याप्त विकास तथा बैंकों के बराबर टूटते रहने के कारण उनके प्रति अविश्वास। इसके अतिरिक्त देश में आय तथा बचत की कमी, बचतों को गाड़ कर रखने की प्रवृत्ति, आय के वितरण की असमानता और जन-साधारण की अशिक्षा भी बैंकों के पास धन की कमी उत्पन्न कर देती है। देहातों में तो ऐसी संस्थाओं की भी भारी कमी है जो बचत को एकत्रित कर सकें, परन्तु आज-कल बचतों को प्रोत्साहन देने तथा एकत्रित करने की दिशा में विशेष प्रयत्न किया जा रहा है। इस कारण निकट भविष्य में इस दोष के दूर हो जाने की काफी सम्भावना है।

(५) **मुद्रा बाजार में लोच तथा स्थायित्व का अभाव**—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व साख पर इम्पीरियल बैंक नियन्त्रण रखती थी, जो एक बहुत ही अनुपयुक्त साधन थी और मुद्रा पर सरकारी नियन्त्रण रहता था।

उस दशा में मुद्रा बाजार में लोच तथा स्थायित्व का प्रश्न कम ही उठता था, परन्तु नोट निर्गम के एकाधिकार तथा खुले बाजार व्यवसाय नीति की सहायता से रिजर्व बैंक ने एक अंश तक इस कमी को दूर कर दिया है। फिर भी भारतीय बैंकों के साधन आज भी बहुत सीमित हैं, उनके कोष भी सीमित हैं और चैक प्रथा का प्रचार भी बहुत कम है। इस कारण मुद्रा बाजार देश की बढ़ती हुई मुद्रा और साख की आवश्यकता को पूरा करने में असमर्थ रहता है।

(६) **ब्याज की दरों के मौसमी परिवर्तन**—देश की कृषि प्रधानता के कारण देश में विभिन्न मौसमों की ब्याज की दरों में भारी अन्तर होते हैं। नवम्बर से जून तक के मौसम में धन की आवश्यकता अधिक रहती है और ब्याज की दरें ऊपर चढ़ जाती हैं। शेष काल में वे नीची रहती हैं। यह परिस्थिति अभी तक भी ठीक नहीं हो पाई है।

(७) **साहूकारों तथा देशी बैंकरों का प्रभाव**—आधुनिक बैंकिंग का विकास भी इनके महत्त्व को कम नहीं कर पाया है। कृषि, वित्त तथा आन्तरिक व्यापार में आज भी साहूकारों और देशी बैंकरों का ही बोल-बाला है। इनके बीच समन्वय तथा सहयोग का भारी अभाव है और इसके कारण मुद्रा-बाजार में काफी उथल-पुथल होती रहती है। कठिनाई यह भी है कि इन पर समुचित नियन्त्रण रखना कठिन है। देश के विभिन्न भागों में इनकी कार्य विधियाँ अलग-अलग हैं और ये बैंकिंग के साथ-साथ और भी कार्य करते हैं।

(८) **बैंकिंग सुविधाओं की सामान्य कमी**—यह कमी ग्रामीण क्षेत्रों में तो बहुत ही अधिक है। जन-संख्या के आधार पर हमारे देश में प्रत्येक १ लाख ३० हजार व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है, जबकि अमरीका में प्रत्येक ३,७३७ व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है। परिणाम यह होता है कि न तो बचत प्रोत्साहित होती है, न वह एकत्रित हो पाती है और न ही आर्थिक दशाओं में समानता आने पाती है।

दोषों को दूर करने के उपाय—

रिजर्व बैंक की स्थापना, उसके राष्ट्रीयकरण तथा सन् १९४९ और सन् १९५० के बैंकिंग कम्पनी विधान द्वारा भारतीय मुद्रा-बाजार के बहुत से दोष दूर हो गये हैं और बैंकिंग सेवाओं के विकास, सरकारी बचत प्रोत्साहन नीति तथा वैधानिक उपायों द्वारा शेष दोषों को धीरे-धीरे दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। हमारे मुद्रा-बाज़ार का सबसे गम्भीर दोष उसका असंगठन है, जो उसी दशा में दूर हो सकता है जबकि देशी बैंकरों का रिजर्व बैंक से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय, जैसा कि केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने भी सुझाव दिया है, परन्तु इसके लिए

देशी बैंकरों की कार्य-विधि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की आवश्यकता है। मुद्रा-बाजार के विभिन्न अंगों से सम्बन्धित दोषों को दूर करने के उपायों का सविस्तार अध्ययन आगे के अध्यायों में किया जायगा। सामान्य रूप में केवल इतना कहा जा सकता है कि देश में बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार की भारी आवश्यकता है, परन्तु यह विकास एक निर्धारित योजना के अनुसार होना चाहिए, जिससे कि समन्वय स्थापित हो जाय, सेवाओं की दोबारगी समाप्त हो जाय और हानिकारक प्रतियोगिता दूर हो सके। बिल-बाजार के विकास की आवश्यकता बहुत है और इस दिशा में विशेष प्रयत्न होने चाहिए। इसके बिना बैंकिंग प्रणाली का समुचित विकास भी कठिन होगा।

बिल बाजार नियोजन के सुझाव—

इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय। (यह सुझाव सन् १९३५ में कार्य-रूपित किया जा चुका था)।

(२) बैंकों को व्यापारियों की आर्थिक स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान हो, जिसके लिए ऐसी संस्थाएँ स्थापित की जायँ जो इस प्रकार का ज्ञान दे सकें।

(३) बट्टा अथवा अपहरण दर (Discount Rate) यथासम्भव कम रखी जाय।

(४) राज्यों में बिलों के पारस्परिक भुगतान के लिए समाशोधन-गृह (Clearing Houses) स्थापित किये जायँ, जो बिलों के भुगतान में उसी प्रकार की सहायता दें जैसी कि धनादेशों के भुगतान में दी जाती है। इस समय देश में २६ ऐसी संस्थाएँ हैं, परन्तु उनसे यथेष्ट लाभ प्राप्त नहीं हो रहा है, क्योंकि वे बिलों के भुगतान का काम कम करती हैं।

(५) विपत्रों के मुद्रांक कर (Stamp Duty) में कमी की जाय। सन् १९४० में इस प्रकार की कमी की भी गई थी।

(६) एकरूपता लाने के लिए बिलों की भाषा और लिपि सम्बन्धी भिन्नताएँ दूर की जायँ। देशी हुण्डियों में भी इसी प्रकार के सुधार किए जायँ।

(७) खड़ी फसलों की आड़ पर बिलों की स्वीकृति और उनका उपयोग बढ़ाया जाय और ऐसे बिलों के आधार पर ऋण दिए जायँ।

इनके अतिरिक्त और भी सुझाव दिए जा सकते हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—

(क) भण्डार गृहों (Warehouses) की स्थापना—ऐसे गोदामों में जमा किये हुए माल की रसीद बिलों के साथ लगा देने से उनकी साख बढ़ जायगी। इसी प्रकार राज्य सरकारें भी राज्यों में गोदामों की स्थापना कर सकती हैं।

(ख) भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषिज वस्तुओं की प्रतिभूति पर लिखे हुए बिलों में भी व्यवसाय होना चाहिए। इस सम्बन्ध में यूरोप के अर्थ बिलों (Finance Bills) का उपयोग लाभदायक रहेगा।

(ग) यह अच्छा होगा कि बिल अनादरण पर उनका आलोकन (Noting) तथा प्रमाणन (Protesting) सरकारी संस्थाओं के स्थान पर बैंकों से संघों द्वारा ही किए जायँ।

(घ) केन्द्रीय बैंक को इस सम्बन्ध में अधिक दिलचस्पी लेनी चाहिए।

भारतीय पूँजी बाजार (The Indian Capital Market)—

पूँजी बाजार से हमारा अभिप्राय दीर्घकालीन ऋणों के बाजार से होता है। इस बाजार का सम्बन्ध राष्ट्रीय पूँजी को दीर्घकालीन प्रतिभूतियों, बाँडों और अँशों आदि में विनियोग करने से होता है और तत्पश्चात् इस बाजार में इसी प्रकार की प्रतिभूतियों का व्यवसाय होता है। सरकार तथा उद्योगों की दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति इसी बाजार द्वारा की जाती है। ऐसे बाजार में एक ओर तो जनता, बीमा कम्पनियाँ तथा ट्रस्ट संघ होते हैं, जो ऋणदाता का कार्य करते हैं और दूसरी ओर उद्योग और व्यवसाय होते हैं, जो ऋण लेने का काम करते हैं। अधिकाँश ऋण अँशों और ऋण-पत्रों को खरीदने के रूप में दिये जाते हैं और ऋणदाताओं तथा ऋणियों के बीच अंशों के दलाल तथा अभिगोपन गृह (Underwritng Houses) होते हैं। दलाल लोग उद्योगों और विनियोगों के बीच सम्पर्क स्थापित करते हैं और अभिगोपन गृह अंशों और ऋण-पत्रों पर हस्ताक्षर करके उनके प्रति विश्वास को बढ़ाते हैं तथा उनकी बिक्री का प्रबन्ध करते हैं। ये सबके सब पूँजी बाजार के ही अंग होते हैं।

भारत में पूँजी का निर्माण—

भारत में भूतकालीन पूँजी निर्माण के सम्बन्ध में कोई सही तथा निश्चित आँकड़े प्राप्त नहीं हैं। इस सम्बन्ध में डा० लोकनाथन का यह अनुमान है कि सन् १९१३ तथा १९३२ के बीच वार्षिक राष्ट्रीय बचत ७५

करोड़ रुपया रही है। इसके विपरीत डा० जैन (L. C. Jain) के अनुसार सन् १६२६ और सन् १६३२ के बीच राष्ट्रीय बचत में लगभग २१० करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है और इस प्रकार वार्षिक राष्ट्रीय बचत २३ करोड़ रुपये के आस-पास बैठती है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि दूसरे महायुद्ध के काल में बचत में काफी वृद्धि हुई, क्योंकि बिल्डिंग तथा स्वर्ण आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे, परन्तु युद्धोत्तर काल के विषय में ईस्टर्न इकॉनॉमिस्ट (Eastern Economists) ने जो अनुमान लगाये हैं वे बहुत ही निराशाजनक हैं। उपरोक्त पत्रिका के अनुसार सन् १६४६-४७, १६४७-४८ तथा सन् १६४८-४६ में बचत अधिक नहीं हुई है और इन वर्षों में बचत केवल १.४% की दर पर हो पाई है। योजना कमीशन के अनुसार प्रथम पंच-वर्षीय योजना के काल में कुल व्यक्तिगत बचत का अनुमान ५१५.८ करोड़ रुपये का लगाया गया है, जिनमें से ११५.० करोड़ रुपया जनता से ऋण के रूप में प्राप्त करने का अनुमान लगाया गया है, २७०.० करोड़ रुपया छोटी बचतों तथा अन्य ऋणों के रूप में मिलने और शेष १३०.८ करोड़ रुपया जमाधन कोष तथा अन्य विविध साधनों से प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया है। अभी तक योजना की जो प्रगति हुई है उससे तो यही पता चलता है कि वास्तविक बचत अनुमान से बहुत कम रही है। यह सन्देहपूर्ण है कि क्या कमीशन द्वारा निर्धारित लक्ष्य पूरा हो सकेगा? वास्तविकता यह है कि पूँजी निर्माण की समस्या भारत की इस समय एक बड़ी कठिन परन्तु महत्त्वपूर्ण समस्या है। सन् १६५०-५१ में पूँजी निर्माण कुल राष्ट्रीय आय का ६.२% था, जो बढ़कर सन् १६५३-५४ में ६.८% हो गया था। सन् १६५५-५६ के लिए इसका अनुमान ७% है। योजना कमीशन का अनुमान है कि दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन के अन्त तक यह १२% हो जायगा। इससे देश में पूँजी के निर्माण की गति काफी हो जायगी।

पूँजी का निर्माण यथार्थ में एक दीर्घकालीन क्रिया है और इसकी तीन बड़ी-बड़ी अवस्थायें होती हैं। सर्वप्रथम, तो बचत होना चाहिए, जो मुख्यतया जनता की बचत करने की शक्ति, बचत करने की इच्छा तथा बचत करने की सुविधाओं पर निर्भर होती है; दूसरे, इन बचतों को विनियोग साध्य कोषों में परिवर्तित किया जाता है। यह कार्य बैंकिंग संस्थाओं द्वारा सम्पन्न किया जाता है। अन्त में, इस प्रकार के कोषों से पूँजीगत वस्तुएँ प्राप्त की जाती हैं, जो देश के औद्योगिक विकास की स्थिति पर निर्भर होता है। सारी की सारी बचत पूँजी का निर्माण नहीं करती है। उसका एक भाग आसंचित कोषों (Hoards) अथवा विदेशी निर्यातों

में चला जाता है। इसके अतिरिक्त पूँजीगत माल को खरीदने में समय लगता है और इस प्रकार बचत तुरन्त ही पूँजी का निर्माण नहीं कर सकती है। पूँजी-निर्माण का कार्य तभी पूरा होता है जबकि एक निश्चित योजना के अनुसार एकत्रित बचतों को उपयुक्त विनियोगों में लगा दिया जाता है।

वर्तमान संसार में यह भी एक सन्तोषजनक स्थिति समझी जाती है, यदि किसी देश के निवासी अपनी आय का ५% भी बचा सकते हैं, यद्यपि कुछ देशों ने विभिन्न कालों में राष्ट्रीय आय का १५-२०% भी बचाया है। शायद वर्तमान दशाओं में हमारे लिये इतनी अधिक बचत सम्भव न हो सके, परन्तु यदि हम राष्ट्रीय आय का ५% भी बचाने में सफल हो जाते हैं तब भी हमारी वार्षिक बचत कम से कम ४५० करोड़ रुपया होनी चाहिये। वर्तमान स्थिति यह है कि हमारी बचत इससे भी बहुत कम है। दूसरे पञ्च-वर्षीय आयोजन के अन्त तक यह बढ़कर ४०० करोड़ रुपया प्रति वर्ष तक हो जायगी।

भारत में पूँजी निर्माण की धीमी प्रगति के कारण—

पूँजी निर्माण की शिथिलता के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) देश में आय-स्तर काफी नीचा है और यद्यपि जनता की बचत करने की इच्छा काफी बलवान है, परन्तु बैंकिंग सेवाओं तथा उद्योगों के समुचित विकास के अभाव के कारण बचत करने की सुविधा बहुत कम है। यही कारण है कि बचत, जो कि पूँजी निर्माण का आधार होती है, कम ही हो पाती है।

(२) देश के विभाजन ने पूँजी निर्माण की गति को काफी शिथिल कर दिया है और इसी प्रकार युद्धोत्तर काल की दूसरी घटनाओं ने, जिनमें देशी राज्यों का अन्त तथा जमींदारी उन्मूलन भी सम्मिलित हैं, बचत तथा पूँजी निर्माण दोनों की प्रगति ढीली कर दी है। पंजाब के हिन्दू व्यापारी, देशी राज्यों के राजा तथा जमींदार बचत करने वाले वर्गों में सबसे महत्त्वपूर्ण लोग थे और इनका अन्त होने से बचत में भारी कमी हो गई है।

(३) कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि युद्धोत्तर काल में करारोपण स्तर के ऊँचा रहने के कारण विनियोग हतोत्साहित हुए हैं। सन् १९४७-४८ के बजट ने पूँजी निर्माण पर सबसे बड़ा आघात किया था। उसके पश्चात् विभिन्न प्रकार की छूट देकर सरकार ने स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया है और

अब इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की शिकायत शेष नहीं रह गई है।

(४) उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के भय ने पूँजीपतियों को भयभीत कर दिया है। सन् १९४८ में सरकार ने राष्ट्रीयकरण को देश की औद्योगिक नीति का आधार घोषित कर दिया था। तत्पश्चात् सरकार ने १० वर्ष के लिए राष्ट्रीयकरण को स्थगित रखने का वचन दिया और संविधान में यह स्पष्ट किया गया कि सरकार बिना मुआवजा दिये किसी उद्योग को अपने अधिकार में नहीं लेगी, परन्तु सरकार की उद्योग राष्ट्रीयकरण घोषणा ने भारी अनिश्चितता उत्पन्न कर दी और पूँजी निर्माण के मार्ग में बाधायें खड़ी कर दीं।

(५) भारत में सट्टे बाजार का संचालन कुछ इस प्रकार हुआ कि उसने विनियोग साध्य कोषों के स्वतन्त्र प्रवाह को रोका है। सट्टे बाजार में जुआरी प्रकृति का जोर रहा है, जिसके कारण कीमतों में अकारण ही भारी उच्चावचन हुए हैं और वास्तविक विनियोगी हतोत्साहित हुए हैं।

(६) मैनेजिंग एजेन्टों की दोषपूर्ण तथा धोखेबाजी की नीति के कारण कितने ही उद्योग या तो चौपट हो गये हैं या अंशधारियों के लिये किसी प्रकार का लाभ नहीं कमा पाये हैं। इन एजेन्टों ने अपने स्वार्थ हेतु विनियोगियों को हानि पहुँचाई है और पूँजी निर्माण के मार्ग में कठिनाई उत्पन्न कर दी है।

(७) युद्ध-काल तथा युद्धोत्तर काल में देश के भीतर आय के वितरण में इस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं कि राष्ट्रीय आय का काफी बड़ा भाग उन वर्गों के पास चला गया है जो बचत तथा विनियोग करना जानते ही नहीं हैं। साथ ही, उद्योगों में रुपया लगाने वाले वर्गों की बचत बराबर घटती जा रही है।

(८) ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु-करों में बचत तथा पूँजी निर्माण को हतोत्साहित करने की प्रवृत्ति होती है, विदेशों के अनुभव से यह बात सिद्ध तो नहीं होती है, परन्तु इन करों का बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इसके अतिरिक्त भारत में निर्यात करों और बिक्री करों ने औद्योगिक विनियोगों से प्राप्त होने वाली आय कम कर दी है और इस प्रकार पूँजी के निर्माण को हतोत्साहित किया है। उपरोक्त तीनों प्रकार के कर बचत और विनियोग दोनों को ही घटाने की प्रवृत्ति रखते हैं।

(९) युद्धोत्तर काल में भी युद्धकालीन तनाव समाप्त नहीं हो पाया है। लगभग सभी देशों ने आवश्यक मालों को जमा करने तथा हथियारबन्दी करने की नीति अपनाई है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार को तो बहुत से मुद्रा-प्रसार विरोधी उपाय भी करने पड़े हैं। परिणामस्वरूप पूँजी के निर्माण में शिथिलता आई है।

(१०) भारत में पूँजी निर्गम नियन्त्रण (Capital Issue Control) का कार्यवाहन कुछ इस प्रकार हुआ है कि कोष लाभदायक विनियोगों की ओर प्रवाहित नहीं हो पाये हैं।

(११) बहुत से अर्थशास्त्रियों का मत है कि सन् १९५१ का उद्योग (विकास तथा नियन्त्रण) एक्ट व्यक्तिगत विनियोगों को हतोत्साहित करने की प्रवृत्ति रखता है।

(१२) भारतीय उद्योगों के लाभों का एक बहुत बड़ा भाग, जिसका साधारणतया पूँजी के रूप में उपयोग होना चाहिए था, विदेशी पूँजी के ब्याज के रूप में देश से बाहर चला जाता है। ऐसी राशि का वार्षिक अनुमान २६ करोड़ रुपया है।

(१३) ऐसा कहा जाता है कि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत निजी क्षेत्र पर जो प्रतिबन्ध लगाये जा रहे हैं उन्होंने पूँजी के विनियोग को घटाया है।

भारत में पूँजी निर्माण प्रोत्साहन के सुझाव—

भारत में देश के औद्योगिक विकास के लिए इस समय घोर प्रयत्न किया जा रहा है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना अपना जीवन-काल समाप्त कर चुकी है और दूसरी को लागू किया जा चुका है, परन्तु देश का औद्योगिक तथा सामान्य आर्थिक विकास अभी बहुत पीछे है। इस विकास के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं, परन्तु सबसे बड़ी बाधा वित्तीय कमी है। यह निश्चय है कि जब तक देश की बचतों में वृद्धि न होगी और यह बचतें उद्योगों में नहीं लगाई जायेंगी तब तक कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति सम्भव नहीं है। इस कारण इस समय हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन देना है। इसमें सन्देह नहीं है कि सरकार इस दिशा में भरसक प्रयत्न कर रही है, परन्तु अभी तक स्थिति संतोषजनक नहीं है। भविष्य तो आशाजनक दिखाई पड़ता है, क्योंकि औद्योगीकरण राष्ट्रीय आय को बढ़ा कर स्वयं बचत तथा पूँजी निर्माण को उन्नत करता है, परन्तु आरम्भ में तो पूँजी निर्माण की उन्नति करके ही औद्योगिक विकास सम्पन्न किया जा सकता है। यह तो सही है कि कुछ अंश तक हम विदेशी सहायता और हीनार्थ-प्रबन्धन का सहारा ले सकते हैं, परन्तु इसकी भी एक सीमा

है। अन्तिम दशा में देश में पूँजी का निर्माण ही एक मात्र उपाय है। इस निर्माण को प्रोत्साहित करने के सुझाव निम्न प्रकार हो सकते हैं :—

(१) सबसे पहली आवश्यकता यह है कि देश में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की शासन-व्यवस्था में इस प्रकार के सुधार किये जाएँ कि अपव्यय समाप्त हो और व्यय में बचत हो सके। इस सम्बन्ध में सन् १९४९-५० की सरकारी व्यय बचत समिति की सिफारिशें महत्त्वपूर्ण हैं। इसके साथ ही साथ सरकार के व्यय में जो बचत की जाय उससे प्राप्त राशि का इस प्रकार उपयोग किया जाय कि वर्तमान काल में औद्योगिक विकास हो और भविष्य के लिए पूँजी के निर्माण की नींव पड़े।

(२) इस बात की भारी आवश्यकता है कि आसंचित कोषों को तोड़ा जाय, जिससे कि उनका लाभदायक उपयोग हो सके। इसके लिए दो बातों की आवश्यकता है:—प्रथम, इस सम्बन्ध में सप्रभाविक प्रचार करके लोगों को गढ़े हुए धन के उपयोग का महत्त्व समझाया जाय और दूसरे. विनियोगों के लाभ अथवा ऋणों के ब्याज की दरें आकर्षक रखी जायँ। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यदि स्वर्ण आसंचित कोषों को ही निकाल लेने में सफलता मिल जाती है तो पाँच वर्ष तक राष्ट्रीय आय का लगभग २% पूँजी के रूप में प्राप्त हो सकता है। पिछले दिनों सरकार ने स्वर्ण तथा बहुमूल्य जेवरात की आड़ पर ऋण देने का जो आदेश बैंकों को दिया है उससे काफी लाभ की आशा है।

(३) छोटी आय वर्गों को तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बचत को प्रोत्साहन देने के लिए प्रचार की भारी आवश्यकता है और यह भी आवश्यक है कि बैंकिंग सेवाओं तथा सेविंग बैंकों का विकास किया जाय। इस सम्बन्ध में ब्याज की दरों में वृद्धि करना लाभदायक हो सकता है। वर्तमान दरें बहुत आकर्षक नहीं हैं।

(४) अधिक आय वर्ग के व्यक्तियों के लिए बचत प्रोत्साहित करने वाली संस्थाओं का अभाव नहीं है। उनके लिए तो केवल यही पर्याप्त है कि उन्हें उपभोग घटाने तथा बचत को लाभदायक कार्यों में लगाने को प्रोत्साहित किया जाय। मध्यम आय वर्गों की बचत उनके लिए स्टाक् एक्सचेन्ज सुविधाएँ उपलब्ध करके बढ़ाई जा सकती हैं। छोटी आय वर्गों में प्रचार की भारी आवश्यकता है।

(५) उद्योगों तथा कम्पनियों की बचत को प्रोत्साहन देने के लिए यह उपयुक्त होगा कि लाभ पर लगाये जाने वाले करों में छूट दी जाय और मशीनों की घिसावट आदि के लिए अधिक व्यवस्था की जाय। ऐसी बचत औद्योगिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन सकती है।

(६) यह आवश्यक है कि पूँजी के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाये जायँ और विदेशी पूँजीपतियों से यह अनुरोध किया जाय तथा उन्हें ऐसी सुविधायें दी जायँ कि वे लाभ का अधिकांश भाग भारतीय विनियोगों में लगायें। विदेशी पूँजी के आयात के लिए अधिक प्रयत्न किया जाय।

सरकारी उपायों का संक्षिप्त वर्णन—

उपरोक्त सभी दिशाओं में भारत की राष्ट्रीय-सरकार प्रयत्यशील है। योजना कमीशन ने पंचवर्षीय योजना के लिए २,३५० करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की थी। योजना कमीशन के अनुसार इस राशि में से १,२५८ करोड़ रुपया बचत द्वारा प्राप्त होने का अनुमान लगाया था, जिसमें से ७३८ करोड़ रुपया लोक बचतों से और शेष ५२० करोड़ रुपया व्यक्तिगत बचत से प्राप्त होने का अनुमान था। १५६ करोड़ रुपया विदेशी ऋणों के रूप में मिल चुका है तथा भविष्य में और भी ऐसे ऋणों के मिलने की आशा है। २९० करोड़ रुपये की राशि पौंड पावना मद से प्राप्त हो सकती थी। शेष वित्तीय आवश्यकता करों की वृद्धि, ऋण तथा हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) द्वारा पूरा होने की सम्भावना थी। वास्तविक व्यय २,००० करोड़ रुपये से भी कम रहा है। हीनार्थ प्रबन्धन की आवश्यकता अनुमान से कम ही रही है और पौंड-पावना मद से तो नाम-मात्र राशि ही निकाली गई है। बचत के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सरकारी उपाय छोटी बचतों से सम्बन्धित हैं।

छोटी बचत योजना—

इस सम्बन्ध में भारत सरकार ने एक छोटी बचत योजना (Small Savings Scheme) का निर्माण किया है, जिसके अन्तर्गत इस प्रकार की पहले से चालू योजनाओं के विस्तार के अतिरिक्त कुछ नई योजनाएँ भी चालू की गई हैं। इस प्रकार की योजनाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) **डाकखानों के सेविंग बैंक**—यह योजना काफी लम्बे काल से चालू है, परन्तु इसमें हाल के वर्षों में कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार तथा संशोधन किये गये हैं। ये बैंक सभी डाकखानों में खोली गई हैं। इनमें कोई भी वयस्क रुपया जमा कर सकता है। किसी भी नाबालिग की ओर से भी

उसके संरक्षक द्वारा खाता खोला जा सकता है। जमा करने वाले को एक सप्ताह में एक बार खाते में से कभी भी रुपया निकालने का अधिकार होता है। कम से कम २ रुपया जमा करके खाता खोला जा सकता है और इस प्रकार के खाते में अधिक से अधिक १५,००० रुपये तक जमा किया जा सकता है। जमा की हुई राशि पर २% प्रति वर्ष की दर पर ब्याज दिया जाता है, परन्तु १०,००० रुपये से ऊपर की राशि पर ब्याज की दर केवल १½% है, शर्त यह है कि यदि किसी महीने में जमा की रकम २५ रुपये से कम होती है तो उस महीने का ब्याज नहीं दिया जाता है। ऐसी जमा से प्राप्त ब्याज आय कर तथा अति-कर से मुक्त है।

(२) बारह-वर्षीय राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्र (The 12-Years National Savings Certificates)—इस प्रकार के प्रमाण-पत्र भी डाकखानों द्वारा ही बेचे जाते हैं। ये प्रमाण-पत्र ५, ५०, १००, ५००, १,००० तथा ५,००० रुपये के होते हैं और उन ज—करने वालों के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं जो मूलधन तथा ब्याज की प्राप्ति के लिए कुछ काल तक प्रतीक्षा कर सकते हैं। एक व्यक्ति अपनी ओर से अथवा बच्चों की ओर से प्रमाण पत्र खरीद सकता है, परन्तु इस प्रकार के प्रमाण-पत्रों में एक व्यक्ति अधिक से अधिक २५,००० रुपये तक लगा सकता है, जिस राशि में वह रकम भी सम्मिलित की जाती है जो व्यक्ति विशेष ने पहले चालू किये गये पञ्च-वर्षीय तथा सप्त-वर्षीय राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्रों में लगा रखी है। दो व्यक्ति सम्मिलित रूप में अधिक से अधिक ५०,००० रुपया ऐसे प्रमाण-पत्रों में लगा सकते हैं। इन पत्रों में ब्याज की दर इस प्रकार रखी गई है कि परिपक्वता पर अर्थात् १२ वर्ष पीछे १½ गुनी रकम मिल सकती है। इस प्रकार ब्याज की औसत वार्षिक दर ४·१६% निकलती है, परन्तु इनमें रुपया लगाने वालों को परिपक्वता से पूर्व भी रुपया निकाल लेने का अधिकार दिया गया है। कम से कम एक वर्ष पीछे रुपया निकाला जा सकता है, परन्तु उस दशा में ५ रुपये के प्रमाण-पत्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी राशि के प्रमाण-पत्र पर ब्याज नहीं मिलता है। जैसे-जैसे समय अवधि बढ़ती जाती है, ब्याज की दर भी बढ़ती है। उदाहरण-स्वरूप, ३ वर्ष पीछे १०० रुपये के प्रमाण-पत्र पर ५ रुपये ब्याज के रूप में मिलते हैं, ४ वर्ष पीछे १० रुपये, ५ वर्ष पीछे १५ रुपये, ८ वर्ष पीछे ३० रुपये, १० वर्ष पीछे ४० रुपये और पूरे १२ वर्ष पीछे ५० रुपये। ब्याज से प्राप्त राशि आय-कर तथा अति-कर से विमुक्त है और आय-कर की दर निर्धारित करने के लिए भी उसे कुल आय में सम्मिलित नहीं किया जाता है।

(३) पञ्च-वर्षीय तथा सप्त-वर्षीय राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्र—इन प्रमाण-

पत्रों के नियम १२-वर्षीय प्रमाण-पत्रों की ही भाँति हैं, अन्तर केवल इतना है कि इन पर ब्याज की दर कम होती है। पञ्च-वर्षीय प्रमाण-पत्रों पर ३% तथा ७ वर्षीय पत्रों पर ३·५७% ब्याज की दर रहती है। इनसे प्राप्त ब्याज पर भी करों में छूट दी गई है।

(४) बचत मुद्राङ्क (Saving Stamps)—यह सबसे छोटी बचतों की योजना है। जो लोग ५ रुपये के भी प्रमाण-पत्र नहीं खरीद सकते हैं उनके लिये यह व्यवस्था की गई है कि वे समय-समय पर डाकखाने से ४ आने, ८ आने, अथवा एक रुपये के बचत मुद्रांक खरीद लें। ऐसी टिकटें डाकखाने से दी गई एक पास-बुक पर चिपका दी जाती हैं और जब उसकी कीमत ५ रुपये अथवा १० रुपये तक हो जाती है तो उनके बदले में बचत प्रमाण-पत्र खरीदने का अधिकार दे दिया जाता है।

लगभग सभी प्रकार के प्रमाण-पत्रों के सम्बन्ध में कुछ विशेष रूप में सुविधाजनक नियम बनाये गये हैं, जैसे—खोये हुये प्रमाण-पत्र के स्थान पर स्वामी की घोषणा को स्वीकार कर लिया जाता है, सरकारी करों को चुकाने में इन्हें स्वीकार कर लिया जाता है और उपकारी संस्थाओं, संघों आदि को अधिक धन इनमें लगाने का अधिकार दिया गया है। इसके अतिरिक्त प्रतिभूति के रूप में सरकार इन्हें स्वीकार कर लेती है और नकद प्रतिभूति पर अनुरोध नहीं करती है।

(५) दस-वर्षीय कोषागार बचत निक्षेप (The 10-Years Treasury Savings Deposits)—यह जमा १०० रुपये से कम की नहीं हो सकती है और इसके लिए १००-१०० रुपये के ही प्रमाण-पत्र होते हैं। एक व्यक्ति अधिक से अधिक २५,००० रुपया इस योजना में लगा सकता है। दो व्यक्ति मिलकर ५०,००० रुपये लगा सकते हैं और दानी संस्थायें १ लाख रुपये तक लगा सकती हैं। इन निक्षेपों की विशेषता यह होती है कि जमा करने वाले की पूँजी ज्यों की त्यों बनी रहती है, परन्तु उसे नियमित रूप में प्रति वर्ष ३½% की दर पर ब्याज मिलता रहता है, इस कारण यह योजना उन लोगों के लिए अधिक उपयुक्त है जो अपनी बचत से एक नियमित आय प्राप्त करना चाहते हैं। रुपया रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक अथवा सरकारी कोषागार में जमा किया जा सकता है। नाबालिगों की ओर से भी संरक्षकों को रुपया जमा करने का अधिकार दिया गया है। एक साल के बाद कभी भी जमा की राशि को निकाला जा सकता है, परन्तु १० वर्ष से पूर्व रुपया निकालने की दशा में विभिन्न दरों पर बट्टा लगाया जाता है। ब्याज की शुद्ध दर प्रति वर्ष इस प्रकार बढ़ती जाती है कि १० वर्ष पीछे वह ३·५% हो जाती है। ऐसी जमा के प्रमाण-पत्र भी प्रतिभूतियों के रूप में स्वीकार किये जाते हैं और इनके ब्याज की राशि भी सरकारी करों

से मुक्त होती है और आय-कर की दरों के निर्धारण में भी उसे कुल आय में सम्मिलित नहीं किया जाता है।

हाल ही में सरकार ने एक नई योजना बनाई है, जिसके अनुसार सोने, चाँदी, हीरे, जवाहरात, आभूषण आदि की आड़ पर राष्ट्रीय ऋणों में धन लगाने के लिए बैंकों को ऋण देने का अधिकार दिया गया है। इसका परिणाम काफी महत्त्वपूर्ण होगा, क्योंकि इस योजना के अनुसार देश के अनुत्पादक आसंचित कोषों का भी लाभदायक उपयोग हो सकेगा। १५ अक्टूबर सन् १९५३ से भू-सम्पत्ति कर (Estate Duties) के रूप में भारत सरकार ने मृत्यु-कर भी लागू कर दिया है, जिससे प्राप्त होने वाली समस्त आय को पूँजी के रूप में आर्थिक योजनाओं की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उपयोग करने का निश्चय किया गया है। प्रचार द्वारा बचत को प्रोत्साहन देने का भी काफी प्रयत्न किया जा रहा है और काफी मात्रा में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें बार-बार लोक ऋणों को जारी करती रहती हैं। विदेशों से पूँजी प्राप्त करने के भी प्रयत्न किये जा रहे हैं और इस सम्बन्ध में कुछ विशेष प्रकार की छूट भी दी गई हैं।

सन् १९५७ के अन्त में देश के पूँजी बाजार की स्थिति निम्न तालिका द्वारा सूचित की जाती है :— (करोड़ रुपयों में)

अंतिम शुक्रवार	सभी अनुसूचित बैंकों के निक्षेप (१)	चलन (२)	कोषागार विपत्र बकाया (४)	(१) का (३) से % अनुपात	(३) का (२) से % अनुपात
जनवरी	१,१२३·२६	१,४८५·५२	७०७·२५	७५·७२	४७·६१
फरवरी	१,१५१·९४	१,५०६·२५	७३८·५७	७६·४८	४९·०३
मार्च	१,१७५·३०	१,५२६·०९	८३५·७०	७७·०१	५४·७६
अप्रैल	१,२२०·५२	१,५६१·९१	८५१·८६	७८·१४	५४·५४
मई	१,२३८·७१	१,५७०·००	९१४·७२	७८·९०	५८·२७
जून	१,२६२·३१	१,५४२·१७	९४१·७५	८१·८५	६१·०७
जुलाई	१,२८८·०८	१,४८९·८३	९७३·२५	८५·९४	६४·९३
अगस्त	१,२८८·०४	१,४७०·६३	९१२·४२	८७·५८	६२·०४
सितम्बर	१,३१०·६५	१,४७१·११	९४३·७३	८९·०९	६४·१५
अक्टूबर	१,३६५·४०	१,४८६·२०	१,००१·२७	९१·८७	६७·३७
नवम्बर	१,३६५·१९	१,४७८·६६	१,०५८·२६	९२·३३	७१·५७
दिसम्बर	१,३६९·०४	१'५०६·७९	१,०५८·२६	९०·८६	६९·६१

अध्याय ३०

समाशोधन-गृह अथवा निकासी गृह

(The Clearing Houses)

अर्थ—

समाशोधन-गृह ऐसी संस्था अथवा संगठन है जो बैंकों को पारस्परिक भुगतान की सुविधा प्रदान करती है। टाउजिग के शब्दों में—"समाशोधन-गृह किसी एक स्थान की बैंकों का एक सामान्य संगठन है, जिसका आधारभूत उद्देश्य धनादेशों द्वारा निर्मित पारस्परिक दायित्वों का प्रतिसाद अथवा भुगतान करना होता है।"* यह साधारणतया एक महान बैंक होती है, जो विभिन्न बैंकों की लेन-देन का इस प्रकार हिसाब करती है कि पारस्परिक लेन-देन की चुकती कम से कम नकदी देकर केवल खातों में आवश्यक परिवर्तन करके ही की जा सके।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समाशोधन-गृहों का आरम्भ सर्वप्रथम इङ्गलैंड में हुआ था, क्योंकि उस देश में धनादेशों द्वारा भुगतान करने की प्रथा काफी लम्बे काल से महत्त्वपूर्ण रही है। सबसे पहला समाशोधन-गृह लन्दन में सन् १७७५ ई० में स्थापित किया गया था। अमरीका में यह संस्था सर्वप्रथम सन् १८५३ में खोली गई थी। इसका विकास धनादेश प्रणाली के उपयोग के बढ़ने के साथ-साथ बढ़ता गया। समाशोधन गृहों की स्थापना देश की बैंकिंग प्रणाली की एक भारी कमी को पूरा करती है। धनादेशों के उपयोग की विस्तृत सामान्य प्रथा न होने के कारण भारत में ऐसी संस्थाओं की आश्वयकता काफी देर में अनुभव हुई है, क्योंकि यहाँ बैंकिंग प्रणाली का विकास ही देर में हुआ है और धनादेश का प्रचलन अभी तक भी बहुत कम है, परन्तु सन् १९२० में इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई, जिसने देश की अधिकोष प्रणाली को एक समुचित आधार प्रदान कर दिया। कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली और मद्रास में समाशोधन गृह स्थापित हुए, जो इम्पीरियल बैंक के निरीक्षण में कार्य करने लगे। सदस्य बैंकों का पारस्परिक भुगतान इम्पीरियल बैंक की स्थानीय शाखाओं पर लिखे हुए धनादेशों द्वारा होने लगा। रिजर्व बैंक

---

* "Clearing House is a general organisation of banks of a given place having for its main purpose the off-setting of cross obligations in the form of cheques."—Taussig.

की स्थापना के पश्चात् सन् १९३५ से अनुसूचित बैंकों को रिजर्व बैंक में अपने खाते खोलने पड़े और उनका पारस्परिक भुगतान इन खातों पर लिखे हुए धनादेशों द्वारा होने लगा। साथ ही, रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार दिया गया कि वह समाशोधन गृहों के समुचित कार्यवाहन के लिए नियम बनाये। रिजर्व बैंक इन गृहों की व्यवस्था करती है, यद्यपि उनके सम्बन्ध में समुचित विधान अभी तक भी नहीं बन पाया है। इस समय भारत में कुल २७ समाशोधन गृह हैं।

समाशोधन-गृह की कार्य प्रणाली—

समाशोधन-गृह के सदस्यों में बहुत सी बैंक होती हैं, जिन्हें समाशोधन बैंक (Clearing Banks) कहा जाता है। एक निश्चित समय पर प्रति दिन प्रत्येक सदस्य बैंक के लिपिक (Clerk) समाशोधन-गृह में एकत्रित होते हैं। समाशोधन-गृह में एक विशेष प्रकार के प्रपत्रों पर प्रत्येक सदस्य बैंक का प्रतिनिधि बैंक विशेष की लेन-देन का हिसाब बनाता है। तैयार किये हुए प्रपत्रों को वहिर्पुस्त (Out Book) तथा उन्हें तैयार करने वाले लिपिकों को वहिर्शोधक (Out Clearers) कहा जाता है, परन्तु उपरोक्त प्रपत्रों के अतिरिक्त 'अन्तर्पुस्त' (In Book) भी होती हैं और उनसे सम्बन्धित अन्तर्शोधक (In Clearers) भी होते हैं। समाशोधन गृह के अन्य कर्मचारियों में संधावक (Runners) भी होते हैं। इनका कार्य प्रत्येक बैंक के छँटे हुये धनादेशों को लाना तथा उनका वर्गीकरण करके यथा-स्थान रखना होता है। वहिर्पुस्त तथा अन्तर्पुस्त की लिखाई के पश्चात् दोनों की तुलना करके प्रत्येक बैंक की लेन-देन निकाली जाती है। इस लेन-देन का ब्यौरा विशेष छपे हुए प्रपत्रों पर लिखा जाता है और इनमें सदस्य बैंक की समस्त लेन-देन को सविस्तार दिखाया जाता है। इस विस्तृत लेखे से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक बैंक को कितना लेना-देना है। भुगतान की विधि यही होती है कि जिस बैंक को देना है वह लेने वाली बैंक के नाम अपने केन्द्रीय बैंक के समाशोधन-गृह पर देन राशि का धनादेश लिखती है और फलस्वरूप सदस्य बैंकों के समाशोधन गृह खातों में आवश्यक समायोजन हो जाते हैं। इस प्रकार दिन के अन्त में समाशोधन-गृह लेखे की लेन-देन सन्तुलित हो जाती है और सदस्य बैंक में से एक दूसरे पर कुछ भी शेष नहीं रहता है। समाशोधन गृह एक बैंक से प्राप्त राशि दूसरे को दे देता है। वास्तविकता यह है कि समाशोधन-गृह प्रणाली व्यक्तिगत व्यवहार के स्थान पर सामूहिक व्यवहार प्रणाली को प्रतिपादित करती है। नीचे की तालिका में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि समाशोधन-गृह किस प्रकार विभिन्न बैंकों की लेन-देन को छाँटता है :—

सदस्य बैंक	कुल देन	कुल देन			
		क	ख	ग	घ
क	५०,०००	२०,०००	२५,०००	१०,०००	१५,०००
ख	४०,०००	५,०००	१५,०००	४,०००	३,०००
ग	३०,०००	१५,०००	६,०००	११,०००	४,०००
घ	२०,०००	४,०००	१२,०००	७,०००	—
कुल	१,४०,०००	४४,०००	६१,०००	३२,०००	२२,०००

इस तालिका से प्रत्येक सदस्य बैंक की लेन-देन साफ-साफ अलग-अलग दिखाई पड़ जाती है।

समाशोधन गृह के लाभ—

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, समाशोधन-गृह बैंकिंग प्रणाली की एक महान् आवश्यकता को पूरा करते हैं। उनके प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) सभी सदस्य बैंकों की लेन-देन का भुगतान व्यक्तिगत रूप में न होकर सामुदायिक अथवा सामूहिक रूप में होता है, जिसके कारण पारस्परिक भुगतान शीघ्रतापूर्वक तथा सुविधाजनक रीति से हो जाते हैं। समाशोधन-गृह की सेवाओं का लाभ केवल सदस्य बैंकों को ही नहीं, वरन् अन्य बैंकों को भी प्राप्त होता है। ऐसी दशा में सेवायें प्रदान करने के लिए उनसे शुल्क लिया जाता है।

(२) सभी सदस्य बैंकों के पारस्परिक दायित्वों का आपसी निबटारा होने के कारण एक बैंक पर लिखे गये तथा दूसरी बैंक में जमा किये गये सभी चैकों का भुगतान नकदी में नहीं करना पड़ता है। केवल लेन और देन के अन्तर का ही इस प्रकार भुगतान आवश्यक होता है। अन्तर का भुगतान भी बैंक विशेष की केन्द्रीय बैंक में जमा की हुई राशि पर चैक लिखकर किया जाता है। इस प्रकार नकदी के उपयोग में बचत होती है।

(३) समाशोधन-गृहों की स्थापना के कारण बैंकों को नकद कोष कम मात्रा रखने पड़ते हैं और वे अधिक मात्रा में साख का निर्माण कर सकती हैं। इस प्रकार देश के व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग की उन्नति होती है।

भारतीय-समाशोधन-गृह—

भारतीय समाशोधन-गृह स्वतन्त्र रूप में कार्य करते हैं और उनके नियम भी स्वतन्त्र हैं। सभी प्रकार की अनुसूचित बैंक (Seheduled

Banks) इनकी सदस्य होती हैं। नई सदस्यता प्रस्तुत सदस्यों के ¾ बहुमत से ही प्रदान की जाती है और इसे प्रदान करने से पूर्व प्रार्थी बैंक के स्थिति-विवरण की सावधानीपूर्वक और सविस्तार जाँच की जाती है। कुछ समाशोधन-गृहों की सदस्यता प्राप्त करने के लिए परिदत्त-पूँजी की एक न्यूनतम् सीमा भी रखी जाती है। कलकत्ते और बम्बई के समाशोधन-गृहों की सदस्यता प्राप्त करने के लिए बैंक के पास कम से कम ५ लाख रुपये की परिदत्त पूँजी होनी चाहिए। इससे कम पूँजी वाली बैंक सदस्यों की सिफारिश पर उप-सदस्य बनाई जा सकती हैं, परन्तु उनकी जिम्मेदारी उनकी सिफारिश करने वाले सदस्य को लेनी पड़ती है। सिफारिश करने वाली बैंकों को प्रवेशक बैंक (Sponsorer Bank) कहा जाता है। भारत में विभिन्न स्थानों के समाशोधन-गृहों की सदस्यता सम्बन्धी नियमों में काफी अन्तर होता है।

समाशोधन-गृहों का प्रबन्ध व्यवस्थापक समितियों द्वारा किया जाता है, जिसमें रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक की स्थानीय शाखाओं का एक-एक प्रतिनिधि होता है और अन्य सदस्यों के निर्वाचित प्रतिनिधि रहते हैं। इन गृहों का निरीक्षण रिजर्व बैंक की स्थानीय शाखा द्वारा किया जाता है और प्रत्येक सदस्य को इस प्रकार के निरीक्षक बैंक के पास एक निश्चित राशि जमा करनी पड़ती है, जिस पर धनादेश लिखकर पारस्परिक भुगतान चुकाये जाते हैं। जिन स्थानों पर समाशोधन-गृह नहीं हैं वहाँ उनका कार्य स्टेट बैंक करती है। ऐसे गृह कलकत्ते और बम्बई में काफी उन्नति कर चुके हैं। कलकत्ते में दो समाशोधन-गृह हैं:—एक कलकत्ता समाशोधन बैंक-संघ (Calcutta Clearing Banks Association) और दूसरा मेट्रोपोलिटन समाशोधन-गृह। प्रथम गृह केवल उन बड़ी-बड़ी बैंकों को ही पारस्परिक भुगतान सुविधायें प्रधान करता है जिनकी परिदत्त पूँजी १० लाख रुपया अथवा उसके ऊपर है। दूसरा गृह सन् १६३६ से उन बैंकों द्वारा खोला गया है जो अनुसूचित बैंक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कलकत्ते में पिछले १०-१२ वर्षों से एक और भी समाशोधन प्रणाली प्रचलित है, जिसे हम प्रारम्भिक समाशोधन प्रणाली (Pioneer Clearing System) कहते हैं, जिसमें पारस्परिक भुगतानों को समझौतों द्वारा चुकाया जाता है। वास्तविकता यह है कि भारत में समाशोधन-गृहों की कार्य विधि में किसी प्रकार की अनुरूपता नहीं है और उनके सम्बन्ध में कोई समुचित विधान भी नहीं है।

इस समय भारत में निम्न स्थानों पर समाशोधन-गृह स्थापित हो चुके हैं:—

बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, कानपुर, मद्रास, अहमदाबाद, अमृतसर,

कोयम्बटूर, कोझीकर, लखनऊ, बंगलौर, मदुरा, नागपुर, शिमला, पटना, इलाहाबाद, मंगलौर, जालन्धर, आगरा, देहरादून, अप्रैला, राजकोट, गया, पूना, नई दिल्ली और मुजफ्फरपुर।

भारत के समाशोधन-गृह स्वतन्त्र रूप में कार्य करते हैं और उनके नियम भी स्वतन्त्र हैं। विनिमय बैंकों, अनुसूचित संयुक्त स्कन्ध बैंकों को समाशोधन-गृहों की सदस्यता प्राप्त होती है। अन्य बैंक सदस्यों के ¾ बहुमत की सिफारिश पर सदस्य बनाई जा सकती है, यदि वे पूँजी सम्बन्धी नियमों को पूरा करती हैं। सदस्यता प्रदान करने से पहले प्रार्थी बैंक के स्थिति-विवरण की विशेषज्ञों द्वारा जाँच करा ली जाती है। पूँजी सम्बन्धी शर्तें अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग हैं। कलकत्ते और बम्बई के समाशोधन-गृह ५ या १० लाख रुपये की चुकती पूँजी पर अनुरोध करते हैं। इससे कम पूँजी वाली बैंक अन्य बैंकों की सिफारिश पर उप-सदस्य बनाई जा सकती हैं।

प्रबन्ध—

प्रत्येक समाशोधन-गृह का प्रबन्ध एक प्रबन्ध समिति करती है, जिसमें रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक की स्थानीय शाखा का एक-एक सदस्य होता है और अन्य सदस्य बैंकों के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं। नवीन सदस्यों के प्रवेश की आज्ञा यह प्रबन्ध समिति ही देती है। समाशोधन-गृहों का निरीक्षण रिजर्व बैंक करती है, यदि उसकी वहाँ शाखा है। अन्यथा यह कार्य स्टेट बैंक द्वारा किया जाता है। प्रत्येक सदस्य बैंक को समाशोधन गृह के संचालन के लिए निरीक्षक बैंक के पास एक निश्चित राशि जमा करनी होती है, जिस पर समाशोधन-गृह के धनादेश आदि लिखकर भुगतान किया जाता है। जिन स्थानों पर समाशोधन-गृह नहीं हैं वहाँ पारस्परिक भुगतान स्टेट बैंक के माध्यम से धनादेशों द्वारा किया जाता है। समाशोधन गृहों के लिए लिपिकों की पूर्ति स्टेट बैंक तथा रिजर्व बैंक द्वारा की जाती है।

भारतीय समाशोधन गृह प्रणाली के दोष—

यह कहना अनुचित न होगा कि भारत में अभी तक भी बैंक के पारस्परिक भुगतान को सुलझाने की व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं है। वर्तमान व्यवस्था में ऐसा भुगतान स्थानीय धनादेशों के सम्बन्ध में निबटाया जा सकता है। अन्य स्थानों के धनादेशों का भुगतान स्थानीय रूप में प्राप्त नहीं हो पाता है, जिसके कारण अनावश्यक विलम्ब और व्यय होता है तथा इस प्रणाली में असुविधा भी काफी रहती है। दूसरे, ऐसे अनेक बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्र हैं जहाँ पर काफी बैंकों के रहते हुए

भी अभी तक समाशोधन-गृह स्थापित नहीं हो पाये हैं। इससे व्यापारिक उन्नति में भारी बाधा पड़ती है। तीसरे, देश के विभिन्न स्थानों के समाशोधन-गृहों के नियमों तथा उनकी कार्य-प्रणाली में भी भारी अन्तर है, जिसके कारण बहुधा काफी उलझन होती है। चौथे, देश में समाशोधन-गृहों की सदस्यता के नियम बहुत कड़े हैं, जिसके कारण बहुत सी अच्छी बैंकों को भी उनकी सदस्यता का अवसर नहीं मिल पाता है। अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि समाशोधन-गृहों के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ने अपनी वैधानिक जिम्मेदारी को भली-भाँति निभाने का प्रयत्न नहीं किया है। इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है।

अध्याय ३१

भारत में विदेशी पूँजी की समस्या

(The Problem of Foreign Capital in India)

विदेशी पूँजी की समस्या स्वतन्त्र भारत की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। इस पूँजी के प्रति दो प्रकार के विरोधी मत पाये जाते हैं। आर्थिक विद्वानों का मत है कि इस समय हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता देश का आर्थिक विकास है और क्योंकि हमारे पास इस कार्य के लिए यथेष्ठ पूँजी नहीं है, हमें विदेशी पूँजी का स्वागत करना चाहिए। इसके विपरीत राष्ट्रीयता के पुजारियों का तथा उन व्यक्तियों का, जो विदेशी पूँजीपतियों को शंका की दृष्टि से देखते हैं, मत यह है कि आर्थिक विकास को शीघ्रतम सम्पन्न करने के लिए देश की राजनैतिक स्वतंत्रता को संकट में डाल देना उचित नहीं है। विदेशी हमारे कल्याण के लिए हमारे देश में नहीं आते हैं, उनका उद्देश्य तो उचित और अनुचित रीति से हमारे देश के साधनों का शोषण करके अपनी जेबें भरना होता है। सामान्य अनुभव यही है कि देश की आर्थिक दासता अन्त में राजनैतिक दासता उत्पन्न करती है।

ये दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे के पूर्णतया विरोधी हैं; इनमें से एक शुद्ध राष्ट्रीयवाद पर आधारित है और दूसरा भौतिक बुद्धिमानी पर। सत्य शायद दोनों के बीच में है। विदेशी पूँजी के प्रति अविश्वास को छोड़ देना किसी भी प्रकार उचित नहीं हो सकता है, परन्तु यह समझना

भी भूल होगी कि प्रत्येक दशा में विदेशी पूँजी बुरी होती है। समुचित नियन्त्रण द्वारा विदेशी पूँजी के दोषों को दूर करना सम्भव है और उसके उपयोग से पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है।

भारत में विदेशी पूँजी के प्रवेश का इतिहास—

भारत में सर्वप्रथम पुर्तगालियों (Portugese) ने सन् १५०० में कालीकट में अपनी फैक्ट्री स्थापित करके विदेशी पूँजी देश में उपस्थित की। बाद को डच ईस्ट इन्डिया कम्पनी, ब्रिटिश ईस्ट इन्डिया कम्पनी तथा फ्रांसीसी कम्पनियों ने पुर्तगालियों का अनुकरण किया। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारत में विदेशी पूँजी के विकास के तीन युग अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं: आरम्भ में १८ वीं शताब्दी के अन्त तक व्यापारी पूँजी का जोर रहा, दूसरी अवस्था में औद्योगिक पूँजी आई, जिसने देश के साधनों का शोषण करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार की पूँजी अभी तक भी देश में आती रहती है। अन्तिम प्रकार की पूँजी ऋण पूँजी है, जिसका प्रवेश थोड़े ही काल से आरम्भ हुआ है और जो विदेशी पूँजी सम्बन्धी बुराइयों से साधारणतया विमुक्त होती है।

१७ वीं शताब्दी के अन्त तक ब्रिटिश व्यापारियों की नीति यह थी कि भारतीय उद्योगों की तैयार उपज को यूरोप के देशों में बेचकर लाभ कमाएँ। इन व्यापारियों ने आरम्भ में भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिया और उनके विकास के लिए आर्थिक सहायता दी। इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् इस नीति में परिवर्तन हुआ और विदेशी व्यापारियों ने भारत से कच्चे माल का निर्यात तथा देश में इङ्गलैंड के उद्योगों के तैयार माल का आयात आरम्भ किया। फिर भी १८ वी शताब्दी के अन्त तक देश में लगाई हुई अधिकाँश पूँजी व्यापारी पूँजी ही रही, किन्तु १८ वीं शताब्दी के अन्त में इङ्गलैंड की निर्बाधावादी नीति के फलस्वरूप विदेशियों को भारत में अपने उद्योग-धन्धे खोलने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिली। भारतीय पूँजी तो सदा से ही शर्मीली थी और लोग उद्योगों में बचत को लगाने के स्थान पर उसे सोने-चाँदी तथा जेवरात के रूप में रखना अधिक पसन्द करते थे, अतः विदेशियों ने भारत में अपने उद्योग और उपक्रम खोल दिये और इस प्रकार औद्योगिक पूँजी देश में आने लगी। पूँजी के इस प्रवाह को दो बातों ने और भी प्रोत्साहित किया। एक ओर तो देश में आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था सुधर गई थी और दूसरी ओर विदेशी व्यापारियों ने ऐसा अनुभव किया था कि भारत में उद्योग खोलने से कच्चे माल को भारत से ले जाने और तैयार माल को फिर भारत में लाने का यातायात व्यय बचाया जा सकता था। इस औद्योगिक पूँजी ने रेलों, सड़कों, नहरों आदि के विकास में भारी

सहायता दी। २० वीं शताब्दी के आरम्भ में औद्योगिक पूँजी ने देश में निर्माण उद्योगों का भी विकास आरम्भ किया।

इसी काल में ऋण पूँजी भी देश में आने लगी, यद्यपि औद्योगिक पूँजी का आयात बराबर होता रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने निर्यात व्यापार के घाटे को ब्रिटिश व्यापारियों ने अपने भारतीय औद्योगिक विनियोगों से अधिक आय प्राप्त करके पूरा करने का प्रयत्न किया था। ऋण पूँजी का महत्त्व हाल ही के वर्षों में बढ़ा है। इस पूँजी को केवल ब्याज कमाने के लिए भारत में भेजा जाता है और विदेशी पूँजीपति का स्वार्थ केवल मूलधन तथा ब्याज का भुगतान प्राप्त करने तक ही सीमित रहता है। औद्योगिक पूँजी की तुलना में भारत में ऋण पूँजी की मात्रा काफी कम है।

भारत में विदेशी पूँजी की आवश्यकता—

यह अनुमान कठिन है कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था में विदेशी पूँजी का विभिन्न कालों में कितना महत्त्व रहा है। भूतकाल के सम्बन्ध में तो विदेशी पूँजी की मात्रा सम्बन्धी आँकड़े भी विश्वसनीय नहीं हैं। गैर-सरकारी अनुमानों में इतनी अधिक भिन्नता है कि किसी निश्चित बात का पता नहीं चल सकता है। सन् १९४८ में रिजर्व बैंक ने अनुमान लगाया था कि उस समय भारत में कुल विदेशी पूँजी की मात्रा ५९६ करोड़ रुपया थी, जिसमें से ३७६ करोड़ रुपये की ब्रिटिश पूँजी थी, ३० करोड़ रुपये की अमरीकन, २१ करोड़ रुपये की पाकिस्तानी और ६ करोड़ रुपये की कनाडियन (Canadian) पूँजी थी। विगत वर्षों में हमने विश्व बैंक और मुद्रा-कोष से भी ऋण लिए हैं और अमरीका से २० लाख टन गेहूँ का ऋण लिया है। इसी प्रकार कुछ दूसरे सूत्रों से भी ऋण मिले हैं।

भारत में विदेशी पूँजी की आवश्यकता इस कारण उत्पन्न होती है कि हमारे देश में प्रचुरता के बीच भी गरीबी है। देश के विभिन्न प्रकार के साधन पूँजी के अभाव के कारण बेकार पड़े हुए हैं। साथ ही, देश में पूँजी का निर्माण आवश्यक तेजी के साथ नहीं हो रहा है। आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए हमें आन्तरिक और बाहरी दोनों ही सूत्रों से पूँजी की पूर्ति बढ़ानी पड़ेगी। देश में पूँजी निर्माण की धीमी प्रगति के कारण हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। इसके अतिरिक्त हमारे अधिकाँश निर्यात बेलोच प्रकृति के हैं और वर्तमान दशाओं में हमें कच्चा माल, मशीनरी, कारीगर और भोजन सभी वस्तुएँ काफी मात्रा में विदेशों से मँगानी पड़ती हैं। यही कारण है कि देश की विदेशी विनिमय तथा ऋण सम्बन्धी आवश्यकता महान है।

भारत में विदेशी पूँजी की आवश्यकता उसके निम्न लाभों के कारण उत्पन्न होती है :—

(१) विदेशी पूँजी ने भारत के औद्योगीकरण में सहायता दी है। राष्ट्रीय सरकार की भावी विकास योजनाओं में इससे और भी अधिक लाभ की आशा है। विदेशी पूँजी के उपयोग द्वारा हम देश के बेकार पड़े हुए साधनों का उपयोग करके राष्ट्रीय धन और सम्पन्नता में वृद्धि कर सकते हैं।

(२) साधारणतया, औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जोखिम का अंश अधिक रहता है। यह सम्भव है कि प्रारम्भिक जोखिम विदेशी पूँजीपति उठायें और बाद को स्थापित उद्योग देशवासियों द्वारा प्राप्त कर लिया जाय।

(३) विदेशी पूँजी अपने साथ उत्पादन की नई-नई रीतियाँ लेकर आती है। इससे देश में उत्पादन की शिल्पदक्षमता बढ़ जाती है।

(४) विदेशी पूँजी एक आरोग्य प्रतियोगिता उत्पन्न करती है। देशी उद्योगपतियों को नींद से जगाया जा सकता है, क्योंकि विदेशी उत्पादकों से प्रतियोगिता करने के लिए उन्हें भी सुधार और कुशलता प्राप्त करनी पड़ती है।

विदेशी पूँजी की हानियाँ—

विदेशी पूँजी के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) सबसे बड़ा दोष राजनैतिक प्रकृति का है। "झण्डा व्यापार के पीछे-पीछे चलता है।" दूसरे शब्दों में, आर्थिक अधिकार राजनैतिक आधिपत्य उत्पन्न करता है। विदेशी पूँजी देश के आर्थिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता को मिटा देती है। चीन और ईरान का अनुभव तो ऐसा ही है।

(२) विदेशी पूँजी द्वारा देश के साधनों का विदेशियों द्वारा शोषण होता है। लाभ का अधिकाँश भाग विदेशियों की ही सम्पन्नता को बढ़ाता है।

(३) रक्षा और आधार उद्योगों में तो विदेशी पूँजी का उपयोग संकट से खाली नहीं होता है।

(४) भारत में विदेशी पूँजीपतियों ने भारतीयों के प्रति भेद-भाव किया है। उन्होंने हमारे राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध काम किया है और भारतीय कर्मचारियों को शिक्षण तथा अनुभव प्राप्त करने से बंचित रखा है।

(५) विदेशी पूँजीपतियों ने भारतीय व्यापारियों की अपेक्षा सदा ही दूसरे विदेशियों के साथ रिआयत की है।

(६) विदेशी पूँजी के बने रहने के कारण देश में पूँजी का निर्माण पूरी तेजी से नहीं होने पाया है। साधारणतया सभी उद्योगपति अपने लाभ के एक भाग को पूँजी के रूप में उपयोग करके उसका विनियोग कर देते हैं, परन्तु भारत से प्रति वर्ष लगभग ३६ करोड़ रुपये की पूँजी विदेशी उपक्रमों के लाभ के रूप में देश से बाहर चली जाती है।

भारत सरकार की विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति—

विदेशी पूँजी के गम्भीर दोषों के कारण उसके नियन्त्रण की भारी आवश्यकता है, परन्तु प्रश्न यह है कि हमें किस प्रकार की विदेशी पूँजी पर नियन्त्रण रखना चाहिए। यदि विदेशी पूँजी भारतीय उद्योगों तथा व्यवसायों के ऋण के रूप में मिलती है तो उससे किसी प्रकार का भय नहीं हो सकता है, परन्तु सबसे अधिक बुराई साहसी अथवा औद्योगिक पूँजी में होती है। इसी प्रकार की पूँजी की भारत में प्रधानता है। हमारे लिए आवश्यकता इस बात की है कि हम ऋण पूँजी को समुचित प्रोत्साहन दें और साहसी पूँजी पर समुचित नियन्त्रण रखें।

भारतीय स्वतन्त्रता के पूर्व विदेशी पूँजी के दोषों की गम्भीरता पर लगभग कभी भी विचार नहीं किया गया था। ब्रिटिश सरकार की सामान्य नीति उल्टी विदेशी पूँजीपतियों को विशेष सुविधायें देने की ओर थी। सन् १९२२ के आर्थिक आयोग को इस समस्या पर विचार प्रकट करने के लिए कहा गया था, परन्तु आयोग के बहुमत को ऐसी पूँजी में कोई दोष दृष्टिगोचर न हो सका। आयोग के अल्पमत का विचार था कि विदेशी पूँजी के बुरे प्रभावों को दूर करने के लिए उस पर निम्न प्रतिबन्ध आवश्यक थे:—

(१) विदेशी कम्पनियों को भारत सरकार से कार्याधिकार तथा पंजीयन प्राप्त करना चाहिए और पूँजी को रुपयों में लगाना चाहिये।

(२) ऐसी कम्पनियों के संचालक-मण्डल में भारतीयों का समुचित प्रतिनिधित्व रहना चाहिए।

(३) इन कम्पनियों को भारतवासियों के लिए शिक्षण सुविधाएँ देनी चाहिये।

सन् १९२५ की विदेशी पूँजी समिति ने भी उपरोक्त सुझावों का अनुमोदन किया था। इस समिति का विचार था कि ऐसी विदेशी कम्पनियों के संचालक मण्डल में भारतवासियों के प्रतिनिधि अवश्य रहने चाहिए, जिन्हें भारतीय साधनों के शोषण का विशेष अधिकार दिया गया था। इन सिफारिशों के रहते हुए भी भारत सरकार ने इस दिशा में कुछ भी प्रयत्न नहीं किया था। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि दोनों महायुद्धों

के बीच के काल में प्रति वर्ष लगभग ४०-५० करोड़ रुपया विदेशी विनियोगों के लाभ के रूप में या तो देश से बाहर जाता रहा है या उसे फिर से भारत में ही विनियोगों में लगा दिया गया है। राष्ट्रीय नियोजन समिति (National Planning Committee) ने भी विदेशी पूँजी की समस्या पर विचार किया था। समिति के निष्कर्ष निम्न प्रकार हैं:—

(१) विदेशी पूँजी ने आर्थिक और राजनैतिक दोनों ही दृष्टिकोणों से राष्ट्रीय विकास में बाधा डाली है।

(२) राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों में विदेशी अधिकार तथा प्रबन्ध नहीं रहना चाहिए। ऐसे उद्योगों में विदेशी पूँजी का केवल ऋण के रूप में ग्रहण करना ही उपयुक्त हो सकता है।

(३) विदेशी पूँजीपतियों के विशेषाधिकार समाप्त होने चाहिए।

(४) सभी महत्त्वपूर्ण उद्योगों में सरकार को मुआवजा देकर विदेशी पूँजी का धीरे-धीरे निस्तारण कर देना चाहिये।

भारत सरकार की वर्तमान नीति—

८ अप्रैल सन् १६४८ को औद्योगिक नीति प्रकथन (Industrial Policy Statement) में भारत सरकार की विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति की घोषणा की गई थी। इस प्रकथन में विदेशी पूँजी के आयात की आवश्यकता को तो स्वीकार कर लिया गया है, परन्तु इस सम्बन्ध में निम्न शर्तें लगा दी गई हैं:—

(१) विदेशी पूँजीपतियों को भारत सरकार की औद्योगिक नीति के अनुसार कार्य करना पड़ेगा। भारत सरकार देशी और विदेशी पूँजी के बीच भेद-भाव नहीं करेगी और दोनों के बीच सहयोग का आधार स्थापित करेगी।

(२) विदेशियों को लाभ तथा मूलधन भारत से निकाल ले जाने का अधिकार रहेगा।

(३) विदेशी कर्मचारी उन पदों पर रखे जा सकते हैं जिनके लिए उपयुक्त योग्यता तथा अनुभव प्राप्त भारतवासी उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु विदेशी कम्पनियों को भारतवासियों के शिक्षण की व्यवस्था करनी पड़ेगी।

(४) विदेशी कम्पनियों को सरकारी अधिकार में लेते समय उनके मालिकों को उचित मुआवजा दिया जायगा।

(५) जब तक विदेशी कम्पनियाँ रचनात्मक तथा सहयोगी कार्य करती रहेंगी, भारत सरकार उन्हें किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचायेगी।

जून सन् १९५० में इसी नीति को स्पष्ट करते हुए प्रधान मन्त्री नेहरू ने कहा था—"प्रथम जनवरी सन् १९५० के पश्चात् लगाई गई विदेशी पूँजी को, यदि वह ऐसे उपक्रमों में लगाई गई है जिन्हें केन्द्रीय सरकार ने स्वीकार किया है, प्रारम्भिक विनियोग तथा उसके लाभ की मात्रा तक भारत के बाहर लेने जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी।" सन् १९४९ में केन्द्रीय उद्योग सलाहकार समिति ने भी सिफारिश की थी—"भारत सरकार को अमरीकन तथा अन्य विदेशी पूँजी को भारत में नियन्त्रित करने के लिए शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिये।" सन् १९५०-५१ के बजट भाषण में भारत के वित्त मन्त्री ने घोषणा की थी कि भारत सरकार सम्मिलित हिस्सेदारी के आधार पर, यदि उसके साथ राजनैतिक शर्तें जुड़ी हुई नहीं हैं, विदेशी पूँजी का स्वागत करेगी, परन्तु भारत सरकार की सामान्य नीति इस प्रकार है कि प्रत्येक ऐसे व्यवसाय में, जहाँ विदेशी पूँजी लगी है, स्वामित्व तथा नियन्त्रण में भारतवासियों का बहुमत रहेगा और भारतवासियों के शिक्षण की समुचित व्यवस्था की जायगी।

सरकारी नीति का परिणाम यह हुआ है कि विदेशी पूँजी का आयात बराबर होता रहा है। सन् १९४९ में ६.३५ करोड़ रुपये की पूँजी विदेशों से भारत में आई थी। इसी प्रकार सन् १९५० में २.५७ और सन् १९५१ में ९.९६ करोड़ रुपये की पूँजी भारत को प्राप्त हुई। अधिकांश पूँजी ब्रिटेन से आई है। मार्च सन् १९५४ तक भारत सरकार का कुल विदेशी ऋण (लोक) १३६.९९ करोड़ रुपये का था, जिसमें ११२.०४ करोड़ रुपये की कीमत का डालर ऋण भी सम्मिलित था। प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना में ३०० करोड़ रुपये के विदेशी ऋणों की आवश्यकता बताई गई थी, यद्यपि यह अनुमान वास्तव में अधिक रहा है। अप्रैल सन् १९५३ और जून सन् १९५४ के बीच भारत को १६२.८६ लाख रुपये के विदेशी विनियोग प्राप्त हुए, परन्तु इसी काल में ८५.२४ लाख रुपये की विदेशी पूँजी लौटा दी गई है। प्राप्त विनियोग में से इङ्गलैंड से १३७.८५ लाख, अमरीका से १९.०० लाख तथा स्विटजरलैण्ड से २२.१५ लाख रुपये की कीमत के ऋण प्राप्त हुए हैं। इस समय का विदेशी पूँजी का कुल अनुमान १,०३६ करोड़ रुपये का है। दूसरी योजना में सन् १९५६-६१ के काल में ८०० करोड़ रुपये की विदेशी पूँजी की आवश्यकता दिखाई गई है।

सामान्य रूप में हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि हमारे लिए विदेशी पूँजी की आवश्यकता है और यदि वह सचमुच शर्तों पर मिलती है तो हमें उसका स्वागत करना चाहिए, परन्तु विदेशी पूँजी के प्रति पूर्णतया निर्भय होना उचित नहीं है। अनुभव बताता है कि लगभग प्रत्येक दशा में

ऐसी पूँजी के साथ अदृश्य राजनैतिक बन्धन लगे रहते हैं। यह भी आवश्यक है कि समुचित शर्तों के अन्तर्गत हमें किसी भी देश से पूँजी के आयात स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिए। भय यही है कि शायद मुँह माँगी शर्तों पर हमें आवश्यक मात्रा में विदेशी पूँजी न मिल सके।

दूसरा पञ्च-वर्षीय आयोजन और विदेशी पूँजी—

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि प्रथम पञ्च-वर्षीय आयोजन के काल में ३०६ करोड़ रुपये की विदेशी पूँजी मिली है, जिसमें विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त राशि भी सम्मिलित है। इस पूँजी का अधिकांश भाग संयुक्त राज्य अमरीका से प्राप्त हुआ है। उस देश से २३८ करोड़ रुपये की पूँजी मिली है, जिसमें से १२६·६० करोड़ रुपया ऋण के रूप में मिला है और शेष सहायता के रूप में। कुल प्राप्त विदेशी पूँजी में से लगभग २०४ करोड़ रुपये का ही प्रथम योजना काल में उपयोग हो सका है। शेष को दूसरी पञ्च-वर्षीय योजना के अर्थप्रबन्ध में शामिल कर लिया गया है। विभिन्न सूत्रों से प्राप्त राशि का ब्यौरा निम्न प्रकार है:—अमरीका २६·४० करोड़ डालर, आस्ट्रेलिया ६६ लाख पौंड, कनाडा ७·७० करोड़ डालर, न्यूर्जालैंड १६·४० लाख पौंड, फोर्ड फाउन्डेशन ८० लाख डालर, नॉरवे १ करोड़ क्रोनर और विश्व बैंक ६·६० करोड़ डालर।

नई योजनाओं में फ्रांस, ईरान, पश्चिमी जर्मनी, इटली, स्विटजरलैंड, ब्रिटेन, रूस, जापान तथा चैकोस्लोवेकिया से भी सहायता प्राप्त हुई है। आम तौर पर व्यक्तिगत फर्में भारतीय उद्योगों में साझेदारी के आधार पर पूँजी लगा रही हैं। अमरीका का आयात-निर्यात बैंक (Import Export Bank of U. S. A.) भी ऋणों के रूप में सहायता दे रहा है। दूसरे आयोजन में १६० करोड़ रुपया प्रति वर्ष का अनुमान है और इस प्रकार ५ वर्ष में ८०० करोड़ रुपया इस मद से मिलने की आशा है। योजना कमीशन का विश्वास है कि इस अंश तक विदेशी सहायता जरूर मिल जायगी। दूसरे आयोजन में ४०० करोड़ रुपये का घाटा दिखाया गया है, जिसका अधिकांश भाग भी विदेशी ऋणों से प्राप्त होने की आशा है। इस सम्बन्ध में कुछ आशाजनक घटनाएँ अभी से सामने आई हैं। व्यक्तिगत विदेशी ऋणों की मात्रा बराबर बढ़ रही है। विश्व बैंक से और अधिक ऋण प्राप्त होने की आशा है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी जर्मनी, चैकोस्लोवेकिया, रूस और स्वीडन से अधिक ऋण मिलने की आशा है। पिछले दो वर्षों से व्यापाराशेष भी अनुकूल रहा है और ऐसी आशा की जाती है कि विदेशी विनिमय मद पर भी कुछ अधिक बचत हो जायगी। भारत सरकार ने लगभग १७० करोड़ रुपया रिज़र्व बैंक के

विदेशी विनिमय संचय में से निकालने का भी निश्चय किया है। हमारी भावी नीति समुचित शर्तों के अन्तर्गत और अधिक मात्रा में विदेशी ऋण प्राप्त करने की है।

दूसरी योजना के काल में सन् १६५७ के अन्त तक ४८० करोड़ रुपया विदेशी ऋण के रूप में प्राप्त करने का अनुमान रखा गया है। सन् १६५८ का लक्ष्य ३२५ करोड़ रुपये का है। हाल में १०७ करोड़ रुपया अमरीका से, ६० करोड़ रुपया रूस से, २८ करोड़ रुपया फ्रांस से, २४ करोड़ रुपया जापान से और ६६ करोड़ रुपया पश्चिमी जर्मनी से प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त कनाडा से मार्च सन् १६५८ तक २८० लाख डालर का ऋण मिला है। मार्च सन् १६५८ में अमरीका ने २२० करोड़ रुपये के ऋण देने की घोषणा की है और विश्व बैंक से लगभग १५० करोड़ रुपया मिलने की आशा है। इस प्रकार सन् १६५८-५६ में विदेशी ऋण सम्बन्धी अनुमान काफी आशाजनक प्रतीत होते हैं।

भारतीय बैंकिङ्ग-उसका विकास एवं उसकी समस्यायें

(Indian Banking—its Development and Problems)

प्राचीन ग्रन्थों से इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि भारतवर्ष में बैंक प्रथा काफी लम्बे काल से प्रचलित रही है। वैदिक काल में भी रुपया उधार लेने और देने का चलन था और चाणक्य के अर्थशास्त्र से तो ऐसा स्पष्ट होता है कि उस काल में बैंकिंग व्यवस्था का काफी विस्तृत महत्त्व था। महाजन लोग जनता के रुपये को जमा भी करते थे और उधार रुपया भी देते थे, परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काल में भारत की देशी बैंकिंग प्रथा टूटने लगी, क्योंकि देशी बैंकर अंग्रेजी भाषा तथा विदेशी बैंकिंग प्रणाली से परिचित न थे। वैसे भी अंग्रेजों ने भारतीय बैंकरों की सेवाओं का लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया था, बल्कि अपना काम चलाने के लिए इङ्गलिश एजेन्सी-गृह स्थापित किये थे। भारत की आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का इतिहास वास्तव में इन्हीं एजेन्सी-गृहों की स्थापना से आरम्भ होता है। ये गृह अन्य व्यवसायों के साथ-साथ जनता से निक्षेप भी

स्वीकार करते थे और उनकी व्यापारिक तथा औद्योगिक आवश्यकताओं को भी पूरा करते थे। इन गृहों के पास आरम्भ में कोई निजी पूँजी न थी और वे कम्पनी के नौकरों द्वारा जमा की हुई राशि से ही व्यवसाय करते थे। भारत में सम्मिलित पूँजी बैंक प्रणाली का आरम्भ इन्हीं एजेन्सी गृहों द्वारा हुआ।

सन् १८१३ में भारत के व्यापार में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हो गया, जिससे एजेन्सी-गृहों को गहरी चोट पहुँची और सन् १८३२ तक उनका अन्त होने लगा। इनमें से दो एजेन्सी-गृहों ने अपने रूप में परिवर्तन करके सम्मिलित पूँजी के आधार पर अपने को संगठित करने का प्रयत्न किया और इस प्रकार सर्वप्रथम सन् १७७० में 'दी बैंक ऑफ हिन्दुस्तान' के नाम से भारत में सबसे पहली योरोपियन बैंक स्थापित हुई, जो सन् १८३२ में ठप्प हो गई। इसी प्रकार बंगाल बैंक भी स्थापित की गई थी, जो एजेन्सी गृहों से भिन्न थी और पत्र-मुद्रा का निर्गम भी करती थी। सन् १८८६ में 'दी जनरल बैंक ऑफ इण्डिया' स्थापित की गई थी, परन्तु आरम्भिक काल की सभी बैंक आगे चलकर डूब गईं और इस दिशा में किये गये पहले सभी प्रयत्न असफल ही रहे।

तत्पश्चात् प्रेसीडेन्सी बैंकों की स्थापना के साथ भारत में आधुनिक बैंकिंग विकास के जीवन-काल का दूसरा युग आरम्भ हुआ। सन् १८०६ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आज्ञा-पत्र के अनुसार 'बैंक ऑफ कलकत्ता' नाम की पहली बैंक स्थापित की गई, जिसका प्रमुख उद्देश्य अवमूल्यत चलन पद्धति के दोषों को दूर करना था। इसके पश्चात् सन् १८४० में 'बैंक ऑफ बम्बई' एवं सन् १८४३ में 'बैंक ऑफ मद्रास' की स्थापना हुई। ये तीनों 'प्रेसीडेन्सी बैंक' ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने तथा आन्तरिक व्यापार की अर्थ-व्यवस्था करने के लिए स्थापित की गई थीं और इन्हें नोट निर्गम का अधिकार भी दिया था, जो सन् १८६२ में छीन लिया गया था। कठिनाइयों के होते हुये भी ये तीनों बैंक सन् १९२० तक सफलतापूर्वक चालू रहीं और सन् १९२१ में तीनों को मिलाकर 'इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया' स्थापित किया गया, जिसे अब 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया' के रूप में फिर से संगठित किया गया है।

सन् १८६० से भारतीय बैंकिंग के इतिहास का तीसरा युग आरम्भ होता है। इस वर्ष से योरोपियन व्यवस्था में अनेक बैंकों की स्थापना हुई और सन् १८७४ तक सीमित उत्तरदायित्व बैंकों की संख्या १४ तक पहुँच गई। भारतीय व्यवस्था में संचालित सबसे पहली बैंक 'अवध कॉमर्शियल बैंक' थी, जो सन् १८८१ में स्थापित की गई थी। बाद को और भी कई बैंक,

जिनमें 'पंजाब नेशनल बैंक' (१८६४) भी सम्मिलित है, स्थापित हुई। सन् १६०५ के स्वदेशी आन्दोलन ने तो इस प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन दिया।

सन् १६०५ और सन् १६१३ के बीच ऐसी बैंकों की संख्या, जिनकी परिदत्त पूँजी तथा सुरक्षित निधि मिलकर ५ लाख रुपये से ऊपर थी, ६ से बढ़कर १८ हो गई। इन १८ बैंकों की परिदत्त पूँजी और निधि ४ करोड़ रुपये तक पहुँच गई और जमाधन २२ करोड़ रुपये के आस-पास पहुँच गया। इस काल में स्थापित होने वाली बड़ी-बड़ी बैंक दी बैंक ऑफ इण्डिया, सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, इलाहाबाद बैंक, पंजाब नेशनल बैंक, बैंक ऑफ बड़ौदा, बैंक ऑफ मैसूर तथा दी इण्डियन बैंक हैं। इनमें से प्रथम ५ अभी तक भी भारत की पाँच महान् बैंकों में से गिनी जाती हैं। इन बड़ी-बड़ी बैंकों के अतिरिक्त इस काल में बहुत सी छोटी-छोटी बैंक भी खोली गईं, जिनकी संख्या सन् १६१३ में ५०० तक पहुँच गई थी। अधिकाँश बैंक बिना समुचित आधार के ही खोल दी गई थीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि सन् १६१३-१७ के बैंकिंग संकट के काल में वे भारी संख्या में फेल हो गईं। इस संकट में फेल होने वाली प्रमुख बैंक निम्न प्रकार थीं :—दी इण्डियन स्पीशी बैंक, दी बंगाल नेशनल बैंक, क्रेडिट बैंक ऑफ इण्डिया, दी स्टैण्डर्ड बैंक, दी बॉम्बे मर्चेन्ट्स बैंक और बैंक ऑफ अपर इण्डिया लिमिटेड।

सन् १६१३-१७ का बैंकिंग संकट—

बैंक का जीवन जनता के विश्वास पर निर्भर रहता है। यह तो एक साधारण सत्य है कि प्रत्येक बैंक की देन उसके कोष में उपस्थित धन की तुलना में बहुत अधिक होती है। किसी भी बैंक के लिए अपने सभी जमाधारियों को एक ही साथ नकदी में भुगतान करना सम्भव नहीं होता है, यद्यपि बैंक प्रत्येक जमाधारी को माँग पर तुरन्त नकदी में भुगतान करने की गारन्टी देती है। बहुत बार साधारण नकदी सम्बन्धी माँग को पूरा करने की तुलना में कम नकदी अपने पास रखने के कारण बैंक को जमाधारियों को नकदी में भुगतान करने में कठिनाई होती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी-किसी बैंक के दिवालिया हो जाने की निराधार अफवाह फैल जाती है, जिसके कारण सभी जमाधारी तुरन्त नकदी की माँग करने लगते हैं और बैंक के लिए इस माँग को पूरा करना असम्भव हो जाता है। कुछ दशाओं में आर्थिक परिस्थितियाँ ही इस प्रकार की उत्पन्न हो जाती हैं कि लोग बैंक से नकदी में भुगतान लेने के लिए दौड़ते हैं। ऐसा काल बैंक के लिए बड़ी कठिनाई का काल होता है। यदि बैंक के आदेय अतरल हैं और उसे केन्द्रीय बैंक अथवा अन्य बैंकों से यथासमय सहायता नहीं मिलती है तो उसके लिए जमाधारियों की नकदी की

माँग को पूरा करना असम्भव हो जाता है। स्थिति कुछ इस प्रकार की है कि यदि कोई बैंक जमाधारी को नकदी में भुगतान करने से इन्कार करती है अथवा असमर्थ रहती है तो उस पर से जनता का विश्वास उठ जाता है। सभी जमाधारी एक दम नकदी में माँग करने लगते हैं और ऐसी दशा में बैंक पर दौड़ होती है (There is a run on the bank)। अब तो बैंक की स्थिति चिन्ताजनक हो जाती है। यदि इधर-उधर से धन प्राप्त करके वह नकदी की माँग को पूरा कर देती है तो धीरे-धीरे उस पर विश्वास फिर से जम जाता है, परन्तु यदि ऐसा सम्भव नहीं होता है तो बैंक को अपने फाटक बन्द करके दिवालिया हो जाने पर वाध्य होना पड़ता है। व्यावसायिक भाषा में ऐसी स्थिति को बैंकिंग संकट कहते हैं। व्यावहारिक जीवन में ऐसा देखने में आता है कि एक बैंक पर से विश्वास उठने के कारण अन्य बैंकों के प्रति भी विश्वास में कमी आ जाती है और बैंकिंग संकट एक सामान्य रूप धारण कर लेता है।

भारत में इस प्रकार के बैंकिंग संकट कई बार आये हैं। सन् १९०५ के पश्चात् देश में बैंकिंग का विकास इतनी तेजी के साथ हुआ था कि उसमें किसी प्रकार का स्थायीपन न आ सका। वैसे भी भारतीय मुद्रा-बाजार की अस्थायी प्रकृति के कारण बैंकिंग सङ्कट के लिए उपयुक्त दशायें मौजूद थीं। सन् १९१२-१३ में ही संकट के चिन्ह दिखाई पड़ने लगे थे। शीघ्रतापूर्वक स्थापित होने वाली बैंक युद्धकालीन परिस्थितियों का आघात न सह सकीं। भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों के बीच संगठन का अभाव था, जो एक बड़ी भारी कमजोरी थी। इसके अतिरिक्त भारत की साख प्रणाली में लोच का भी अभाव था। परिणाम यह हुआ कि भारतीय बैंकों के लिए एक दूसरे से सहायता प्राप्त कर लेना और आवश्यकता के अनुसार निक्षेपों को घटाना-बढ़ाना कठिन हो गया।

प्रथम महायुद्ध के आरम्भ में ही प्रेसीडेन्सी बैंकों की ब्याज की दर ७–८% थी। युद्ध का आरम्भ होते ही सरकार ने ऋण लेना प्रारम्भ कर दिया। देश में मुद्रा का विस्तार हुआ और एक प्रकार की सामान्य अभिवृद्धि दृष्टिगोचर हुई। व्यापारियों तथा उद्योगपतियों ने भी और ऋण प्राप्त करके व्यवसाय का विस्तार किया। सभी ओर से ऋणों की माँग बढ़ने लगी। परिणामस्वरूप मुद्रा और साख की कमी हुई और ब्याज की दर ऊपर चढ़ने लगी। बैंकों ने ऊंचे ब्याज का लाभ उठाने के लिए साख-मुद्रा का विस्तार करना आरम्भ कर दिया। निक्षेप बढ़ने लगे और उनकी तुलना में नकद कोष कम रह गये। यह सब एक ऐसे काल में हो रहा था जबकि युद्धकालीन अनिश्चितता के कारण लोगों का बैंकों के प्रति विश्वास घट रहा था और निक्षेपों को निकालने की माँग बढ़ रही थी। सबसे

पहले 'पीपुल्स बैंक ऑफ इण्डिया' पर संकट आया और सितम्बर सन् १९१३ में ही वह दिवालिया हो गई। इसका प्रभाव सारी बैंकिंग प्रणाली पर पड़ा और धीरे-धीरे एक-एक करके बहुत सी बैंक फेल होने लगीं। सन् १९१७-१८ तक बैंकों के डूबने का क्रम बराबर चलता रहा और इस काल में ८७ बैंक, जिनकी परिदत्त पूँजी और निधि १७५ लाख रुपया थी, डूब गईं। यह पूँजी इस समय की कुल बैंकों की पूँजी का ५०% थी। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सन् १९१३ और सन् १९२४ के बीच १६१ बैंकों का विलीयन हुआ है। तत्पश्चात् सन् १९३१ और सन् १९३६ के बीच के काल में औसत रूप में प्रति वर्ष ६४ बैंक ठप्प होती रही हैं। सन् १९३८ में 'ट्रावनकोर कोचीन एण्ड क्लिों बैंक' के निस्तारण ने तो समस्त दक्षिणी भारत में आंतक मचा दिया था।

बैंक विलीयन के कारण—

इस सङ्कट के काल में बैंकों के फेल होने के अनेक कारण थे। इन कारणों में से कुछ तो इस प्रकार के थे जो उसी काल से सम्बन्धित थे, परन्तु कुछ कारण ऐसे भी थे जो भारतीय बैंकिंग प्रणाली के दोषों के रूप में अभी तक भी मौजूद हैं और भविष्य के लिए भी खतरे से खाली नहीं हैं। प्रमुख कारण निम्न प्रकार थेः—

(१) स्वदेशी आन्दोलन के फलस्वरूप बैंक घास की भाँति उगने लगी थीं। बहुत सी बैंक ऐसे व्यक्तियों द्वारा खोली गई थीं और चलाई गई थीं जिन्हें न तो इस व्यवसाय में किसी प्रकार का अनुभव था और न ही बैंकिंग संकटों का ज्ञान था। ऐसा कहा जाता है कि 'क्रेडिट बैंक ऑफ इण्डिया' का मैनेजर 'बिल' शब्द का अर्थ तक नहीं जानता था। ऐसी बैंकों का फेल हो जाना निश्चय ही था।

(२) बहुत-सी बैंकों ने धोखेबाजी की नीति अपनाई थी। वे अपनी अधिकृत पूँजी को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाती थीं और प्रार्थित पूँजी तथा परिदत्त पूँजी को, जो अनुपात में बहुत कम रहती थी, छुपा कर रखती थीं। वास्तव में उनके पास कार्यवाहक पूँजी की भारी कमी रहती थी, जिसके कारण संकट की छोटी सी चोट भी उन्हें डुबा देती थी। प्रो० मुग्ञ्जन ने पता लगाया है कि 'पूना बैंक, पूना' ने अपनी अधिकृत पूँजी १० करोड़ रुपया दिखाई थी, जबकि उसकी प्रार्थित पूँजी केवल ५० लाख रुपया थी और इसमें से भी प्रत्येक १०० रुपये के अंश पर केवल १५ रुपये लिये गये थे और इस प्रकार परिदत्त पूँजी केवल ७·५ लाख रुपया थी।* इसी प्रकार अमृतसर बैंक, पायोनियर बैंक तथा हिन्दुस्तान बैंक जैसी

---

* *See* S. K. Muranjan : *Modern Banking in India p. 258-62*

छोटी-छोटी बैंकों ने थोड़े से ही काल में अनावश्यक रूप में अनेक शाखायें खोल ली थीं।

(३) इन बैंकों को पूँजी प्राप्त करने के लिये निक्षेपों पर निर्भर रहना पड़ता था और इसी कारण ये निक्षेपों पर ऊँचा ब्याज देकर उन्हें अधिक मात्रा में आकर्षित करने का प्रयत्न करती थीं। इस प्रकार इनके ऋण लेने और ऋण देने की ब्याज की दरों का अन्तर कम रहता था। अधिक लाभ कमाने के लिये इन्होंने नकद कोषों पर समुचित ध्यान दिये बिना निक्षेपों को बढ़ाना आरम्भ किया। बहुत-सी दशाओं में निक्षेपों के पीछे केवल १०–११% नकद कोष रखे गये थे।

(४) कुछ बैंकों ने दीर्घकालीन विनियोगों में रुपया लगाने की नीति अपनाई थी। इनके आदेयों में तरलता नहीं रह पाई थी, इस कारण जब निक्षेप-धारियों ने नकदी में माँग की तो बहुत सी बैंक उसे पूरा करने में असमर्थ रहीं। पीपुल्स बैंक ऑफ लाहौर, टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक तथा अमृतसर बैंक के फेल होने का प्रमुख कारण यही था।

(५) बहुत सी बैंकों ने सट्टा व्यवसाय में भी अपना धन लगाया और व्यापार तथा वाणिज्य सम्बन्धी अनेक ऐसे कार्य किये जो किसी भी बैंक के लिये अवाँछनीय होते हैं। इण्डियन स्पीशी बैंक के फेल होने का प्रमुख कारण सोने, चाँदी और मोती में सट्टेबाजी करना था। इस बैंक ने और भी बहुत से अनुपयुक्त ऋण दिये। प्रो० मुरञ्जन के अनुसार इस बैंक को निम्न प्रकार हानि हुई थी* :—

	(लाख रुपयों में)
चाँदी में सट्टा करने से हानि	१११
मोती व्यवसाय के सट्टे से हानि	३६
बदला व्यवसाय से हानि	१४
अवांछनीय ऋणों से हानि	४
कुल हानि	१६५

प्रो० मुरञ्जन ने पता लगाया है कि इस बैंक ने अपने सट्टा व्यवसाय को बराबर गुप्त रखा और यद्यपि इसे सन् १६०६ के पश्चात् लाभ बिल्कुल नहीं हुआ था, परन्तु इसने अपनी पूँजी में से २२ लाख रुपये की राशि लाभ के रूप में बाँटी, जो एक बहुत ही अनुचित कार्यवाही थी।

(६) बहुत-सी बैंक अनुभवहीन, स्वार्थी तथा धोखेबाज संचालकों के हाथों में थीं। संचालक अपने लिए तथा ऐसे उद्योगों के लिए ऋण प्राप्त करते रहते थे जिनमें उन्हें दिलचस्पी थी। झूठे लेखों का तैयार करना, अंकेक्षण की झूठी रिपोर्ट तैयार करना आदि अनेक अनियमित तथा

* Ibid p. 353.

धोखेबाजी के कार्य किये जाते थे। उदाहरण के लिए, काठियावाड़ एण्ड अहमदाबाद कॉरपोरेशन की लेखा पुस्तकें भी नहीं थीं। पायनियर बैंक की तो परिदत्त पूँजी भी कल्पनात्मक थी, क्योंकि अंश पूँजी अंशधारियों को ऋण के रूप में दी हुई दिखाई गई थी।

(७) कम से कम दो बैंक केवल अपने दुर्भाग्य के कारण फेल हुईं। किसी न किसी कारण इन पर से जनता का विश्वास उठ गया और इन्हें अपने दरवाजे बन्द करने पड़े। ऐसी बैंकों में बैंक ऑफ अपर इण्डिया, मेरठ का नाम उल्लेखनीय है। इस बैंक पर पीपुल्स बैंक के फेल होते ही सङ्कट आया और इसे ८७ लाख रुपये के निक्षेपों का नकदी में भुगतान करना पड़ा, परन्तु बैंक सङ्कट को झेल गई। सन् १९१४ में फिर सङ्कट आया और बैंक डूब गई। ऐसा पता लगा था कि इस बैंक द्वारा दिए हुए सभी ऋण सुरक्षित थे और विलीयन के पश्चात् भी इसके अंशधारियों तथा निक्षेपदाताओं को पूरी राशि मिली थी। इसी प्रकार की दूसरी बैंक एलायंस बैंक ऑफ शिमला थी। यह बैंक इस कारण फेल हुई कि इसकी बदनामी की झूठी अफवाहें फैल गई थीं और नकदी की माँग असाधारण रूप में अधिक हुई थी, जिसे किसी भी बैंक द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता था।

बैंक के विलीयन से सम्बन्धित उपरोक्त सभी कारण समय विशेष से सम्बन्धित थे, परन्तु कुछ कारण भारतीय बैंकिंग के आधारभूत दोषों के रूप में भी कार्यशील रहे हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) **नकद कोषों का कम अनुपात में रखना**—बहुत सी भारतीय बैंक नकद कोष कम अनुपात में रखती हैं। १०–११% नकद कोष रखने पर थोड़ा सा भी संकट आने पर नकदी की माँग को पूरा करना कठिन हो जाता है।

(२) **अपर्याप्त पूँजी**—भारतीय बैंकों में अधिकृत तथा स्वीकृत पूँजी की तुलना में परिदत्त पूँजी बहुत ही कम रहती है।

(३) योग्य प्रबन्धकों तथा निपुण संचालकों की कमी।

(४) **अव्यावसायिक व्यवहार**—ऐसे अनेक व्यवहार प्रचलित हैं जो व्यावसायिक दृष्टिकोण से अनुचित हैं, जैसे—निक्षेपों पर ऊंचे ब्याज देना, पूँजी में से लाभाँश बाँटना इत्यादि। इस सबका परिणाम यह होता है कि दीर्घकाल में बैंक को घाटा होता है। बनावटी लाभों द्वारा निक्षेपदाताओं तथा अंशधारियों को कुछ ही काल तक धोखा दिया जा सकता है। अन्त में पोल खुल ही जाती है।

(५) कभी-कभी बैंक की कार्यवाहक पूँजी का काफी बड़ा भाग

अतरल आदेयों तथा ऐसी प्रतिभूतियों में लगा दिया जाता है जो न तो बहुत विश्वासजनक होती हैं और न शीघ्र बेची जा सकती हैं, जैसे—भूमि, बिल्डिङ्ग आदि।

(६) बहुत सी दशाओं में मैनेजरों और संचालकों के धोखेपूर्ण व्यवहार के कारण भी बैंक फेल हुई हैं। भूतकाल में मैनेजिंग एजेन्ट इस सम्बन्ध में काफी गड़बड़ किया करते थे।

(७) देश में समुचित बैंकिंग विधान का अभाव रहा है, जिसके कारण बैंकों को मन-मानी कार्यवाहियाँ करने का अवसर मिल जाता था। सन् १९४९ के बैंकिंग विधान से यह कमी काफी अंश तक दूर हो गई है।

(८) देश में केन्द्रीय बैंक के न होने से भी विलीयन प्रवृत्ति को रोकना सम्भव न हो सका। प्रतियोगिता के भय से तथा अपनी सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए बैंक संकट के काल में एक दूसरी को सहायता नहीं देती हैं। अब रिजर्व बैंक की स्थापना ने यह दोष भी दूर कर दिया है।

बैंकिग संकटों का परिणाम—

प्रथम महायुद्ध के प्रथम अर्द्ध भाग में बैंकिंग संकट के कारण बैंकों पर से जनता का विश्वास हट गया था, परन्तु दूसरे अर्द्ध भाग में स्थिति सुधरने लगी। सबसे अच्छा परिणाम यह हुआ था कि सरकार और जनता दोनों ही के सम्मुख यह स्पष्ट हो गया कि देश में बैंकिंग के समुचित विकास के लिए उस पर नियन्त्रण आवश्यक था। यह सत्य तो स्वीकार कर लिया गया था, किन्तु फिर भी सरकार इस समस्या के प्रति उदासीन ही बनी रही। सन् १९२९ तक इस दिशा में कुछ भी नहीं किया गया था। महान अवसाद के प्रारम्भ होने पर सन् १९३० में सरकार ने केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति नियुक्त की। इस समिति को देश के बैंकिंग संगठन की जाँच करने के पश्चात् सुधार के सुझाव देने का आदेश दिया गया था। समिति ने दो महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये—प्रथम, इसने केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर जोर दिया और दूसरे, इसने बैंकिंग विधान बनाने और लागू करने की सिफारिश की। परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो १ अप्रैल सन् १९३५ से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गई और दूसरे ओर सन् १९३६ में सन् १९१३ के भारतीय कम्पनीज एक्ट में संशोधन किये गये, जिससे कि बैंकिंग कम्पनियों से सम्बन्धित नियमों में सुधार हो जाय।

दूसरे महायुद्ध के अन्तिम भागों में युद्ध-कालीन मुद्रा-स्फीति के कारण जनता के पास अधिक धन पहुँच गया था। फलतः बैंकों के निक्षेपों में भी वृद्धि होने लगी। इसके कारण बैंकों पर फिर से विश्वास जमने लगा। पहले से स्थापित बैंकों ने अपने व्यवसाय का विस्तार करना आरम्भ कर

दिया और कितनी ही नई बैंक खुलने लगीं। इस काल में औद्योगिक बैंकों की स्थापना पर अधिक जोर दिया गया और यह क्रम सन् १९२३ तक चलता रहा, जिस वर्ष 'टाटा इन्डस्ट्रियल बैंक' फेल हो गई। सन् १९२१ तक ऐसी बैंकों की संख्या, जिनकी परिदत्त पूँजी और सुरक्षित निधि ५ लाख रुपये से बाहर थी, २५ हो गई थी। सभी बैंकों की परिदत्त पूँजी और निधि बढ़कर क्रमशः ११ और ७१ करोड़ रुपये हो गई थी। इसी काल में सन् १९२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिला कर इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना हुई, जिसकी परिदत्त पूँजी और निधि उस समय ९'७ करोड़ रुपया थी और जिसके निक्षेपों की राशि ७३ करोड़ रुपया थी। सन् १९५५ में इस बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया है और इसका नया नाम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया है।

सन् १९२१ के बाद फिर एक मन्दी का काल आया। सरकार ने भी विस्फीतिक नीति ग्रहण की। एक बार फिर बैंकों की स्थिति डाँवाडोल हो गई और .विलीयन का क्रम आरम्भ हो गया। जनता की आय के घट जाने के कारण बैंकों के जमाधन में भी कमी आने लगी। सन् १९२१ और सन् १९२४ के बीच में बैंकों का जमाधन ८० करोड़ रुपये से घटकर केवल ५४ करोड़ रुपया रह गया। इस काल में कुल मिलाकर छोटी-बड़ी ४४७ बैंकों का दिवाला निकल गया। फेल होने वाली बैंकों की कुल परिदत्त पूँजी ८ करोड़ रुपया थी। सन् १९२४ के पश्चात् स्थिति फिर सुधरने लगी और सन् १९२५ में आर्थिक जीवन में सामान्यता आ गई, परन्तु सन् १९३० तक कोई विशेष प्रगति दृष्टिगोचर न हो सकी। सन् १९३० के पश्चात् बैंकों के विलीयन का क्रम फिर आरम्भ हुआ, जो सन् १९३८ तक चलता रहा। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यद्यपि सन् १९२२ और सन् १९३९ के बीच भारी संख्या में बैंक फेल हुई थीं, परन्तु इस काल में कुल बैंकों की शाखाएँ मिल कर तीन गुनी हो गई थीं। सन् १९३७ में दूसरा बैंकिंग संकट आया था, परन्तु उसका प्रभाव दक्षिणी भारत की बैंकों पर ही अधिक पड़ा। यह स्पष्ट हो गया था कि सन् १९३६ का विधान भी विलीयन प्रवृत्ति को रोकने में असफल ही रहा था। इसी कारण सन् १९४२ तथा सन् १९४४ के युद्धकालीन वर्षों में विशेष उपाय किये गये और अन्त में सन् १९४९ में विस्तृत बैंकिंग विधान लागू किया गया।

बैंकिंग विकास की विशेषताएँ—

दोनों महायुद्धों के बीच के काल में भारतीय बैंकिंग में एक ही साथ दो बातें स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती हैं। इस काल में नई बैंकों के खुलने और पूर्व स्थापित बैंकों के फेल होने का क्रम बराबर चलता रहा है।

साधारणतया मन्दी के आते ही बैंक फेल होने लगती थीं और सामान्यता के आते ही उनकी फिर से स्थापना होने लगती थी। बहुत सी दशाओं में तो एक ही साथ बैंकों के खुलने और ठप्प होने का कार्य चलता रहता था। इस काल के विषय में शायद ऐसा कहना अनुपयुक्त न होगा कि भारत का बैंकिंग विकास सब कुछ देखते हुए बड़ा ही अव्यवस्थित रहा है। देश में यथेष्ठ अनुभव, पूँजी तथा साहस का अभाव था। अधिकांश बैंक बिना भावी विकास की सम्भावनाओं पर विचार किये ही खोल दी जाती थीं। शाखाएँ खोलने के मामले में तो प्रत्येक बैंक उसी स्थान पर शाखा खोलने का प्रयत्न करती थी जहाँ पहले से ही किसी न किसी बैंक की शाखा मौजूद थी। इस सम्बन्ध में सभी बैंक देश की पाँच बड़ी-बड़ी बैंकों का अनुकरण करती थीं। जहाँ तक इन पाँच बड़ी-बड़ी बैंकों का प्रश्न था, ये भी शाखा खोलने में इम्पीरियल बैंक का अनुकरण करती थीं और इस बात की जाँच नहीं करती थीं कि स्थान विशेष में व्यवसाय की गुञ्जाइश कितनी थी। आधुनिक बैंकिंग के साथ-साथ देशी बैंकर भी अपने कार्यों में व्यस्त थे। इनका आधुनिक बैंकों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा है। आधुनिक बैंकों ने उन्हें अपने साथ मिलाने का कोई प्रयत्न भी नहीं किया था और अधिकांश बैंकों ने बड़े-बड़े औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्रों पर ही अपनी शाखाएँ खोली थीं।

इस अव्यवस्थित विकास के कारण देश के विभिन्न भागों के बीच बैंकिंग सेवाओं का समुचित वितरण न हो सका। उत्तर-प्रदेश, बम्बई, मद्रास, बंगाल और पंजाब में बैंकों की संख्या बराबर बढ़ती गई, परन्तु बिहार, उड़ीसा और मध्य-प्रदेश को इनकी सेवाओं के लाभ प्राप्त न हो सके। श्री पनानडिकर का विचार है कि लगभग सभी बैंक देशी रियासतों में शाखाएँ खोलने में संकोच करती थीं और यदि इम्पीरियल बैंक ने विशेष सुविधा न दी होती तो शायद ये क्षेत्र बैंकिंग सेवाओं से वंचित ही रहते।* शाखाएँ खोलने का काम इतनी अनियमित तथा आधारहीन रीति से हुआ कि बहुत से छोटे-छोटे नगरों में अनावश्यक ही अनेक शाखाएँ खुल गईं और कितने ही महत्त्वपूर्ण स्थानों को बैंकिंग सेवाएँ प्राप्त न हो सकीं।

इस प्रकार के अव्यवस्थित विकास का दूसरा परिणाम निक्षेपों के केन्द्रीयकरण के रूप में दृष्टिगोचर होता है। सन् १६२२ और सन् १६३६ के बीच बैंकों की निक्षेप राशि ७० करोड़ रुपये से बढ़कर ११० करोड़ रुपया हो गई थी, परन्तु कुल जमाधन का ८३% इम्पीरियल बैंक, विनिमय बैंक तथा सात अन्य बड़ी-बड़ी बैंकों के पास था। ऐसा अनुमान लगाया

* See G. S. Panandikar : *Banking in India,*

जाता है कि सात महान् बैंकों के पास कुल जमाधन का ७१% था, जिसमें से ६७% केवल पाँच बैंकों के पास था। इससे स्पष्ट होता है कि छोटी-छोटी बैंक निक्षेपों को आकर्षित करने में सफल नहीं हो पाई थीं। इस स्थिति के प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं:—

(१) छोटी-छोटी बैंकों ने अपना कारोबार छोटे-छोटे नगरों में आरम्भ किया था और शाखाएँ भी ऐसे ही नगरों में खोली थीं। इन स्थानों में व्यवसाय की कमी थी और लोगों के पास धन का भी अभाव था। इस कारण इन बैंकों के पास निक्षेप राशि सदा ही कम रही।

(२) बड़ी-बड़ी बैंकों की शाखाएँ छोटी बैंकों से होड़ करती थीं। वे केवल उनका व्यवसाय ही छीनने में सफल नहीं होती थीं, वरन् अपनी ऊँची साख के कारण नीची ब्याज की दरों पर भी अधिक निक्षेप प्राप्त कर लेती थीं।

(३) बड़े-बड़े औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्रों में शाखाएँ खोलने के कारण बड़ी बैंकों को धनी लोगों का संरक्षण मिलता था और इसी कारण छोटी बैंकों की तुलना में उनकी निक्षेप राशि अधिक रहती थी।

(४) इम्पीरियल बैंक की प्रतियोगिता के कारण बड़ी-बड़ी बैंकों ने देश के सभी भागों में शाखाएँ खोलकर छोटी बैंकों से प्रतियोगिता की।

(५) जिन क्षेत्रों में ब्याज की दरें ऊँची रहने के कारण छोटी-छोटी बैंक लाभ कमाने में सफल हो जाती थीं वहाँ भी बड़ी बैंकों ने शाखाएँ खोल कर उनके व्यवसाय को चौपट कर दिया।

(६) भारत में शाखा बैंकिंग प्रणाली अपनाई गई थी, जिसने निक्षेपों के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को और भी बलवान किया।

द्वितीय महायुद्ध और भारतीय बैंकिंग—

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, सन् १९३८ में भारतीय बैंकिंग प्रणाली एक संकट के काल से गुजर रही थी। सितम्बर सन् १९३९ में दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ, जिसका तुरन्त परिणाम यह हुआ कि जनता द्वारा भारी मात्रा में निक्षेपों को निकाला गया, क्योंकि युद्ध के आरम्भ ने भय की स्थिति उत्पन्न कर दी थी। थोड़े ही काल में ५·१२ करोड़ रुपये का जमाधन निकाल लिया गया, परन्तु धीरे-धीरे विश्वास का अभाव दूर हुआ और निक्षेपों में वृद्धि होने लगी। युद्धकाल में केवल सन् १९३९ और सन् १९४३ के बीच निक्षेपों की मात्रा २४९·४५ करोड़

से बढ़कर ६५५·७१ करोड़ रुपया हो गई। युद्धकाल के प्रथम दो वर्षों में तो बैंकिंग की प्रगति धीमी रही, परन्तु बाद में बैंकों ने अपनी शाखाओं का विस्तार किया और अनेक नई बैंक भी खोली गईं। सन् १९४२ और सन् १९४६ के बीच तो बड़ी तेजी के साथ विकास हुआ। सन् १९३९ और सन् १९४६ के बीच के काल में कुल बैंकों की संख्या १,९५१ से बढ़ कर ५,५२१ हो गई। इस काल में खुलने वाली बैंकों में यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक, हिन्दुस्तान कॉमर्शियल बैंक, हबीब बैंक तथा हिन्दुस्तान मर्केनटायल बैंक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सभी दृष्टिकोणों से इस काल में उन्नति हुई थी। परिगणित बैंकों की संख्या सन् १९४६ में ९३ हो गई और बैंकों के कार्यालयों की संख्या ३,१०६ तक पहुँच गई थी। जमाधन में भी भारी वृद्धि हुई और सन् १९४६ में इसकी मात्रा १,०९७ करोड़ रुपया हो गई। इस वृद्धि का प्रमुख कारण देश में क्रयःशक्ति का विस्तार तथा युद्धकालीन अभिवृद्धि थे। मुख्य-मुख्य कारणों की विवेचना निम्न प्रकार है:-

(१) सरकार ने मुद्रा-प्रसार की नीति ग्रहण की थी। युद्धकाल में पत्र-मुद्रा की कुल मात्रा लगभग साढ़े छः गुनी हो गई थी। जनता के पास धन था। व्यापारियों और उद्योगपतियों ने खूब लाभ कमाया था। इस रुपये में से बैंकों को भी जमाधन प्राप्त हुआ और उनके नकद कोषों का भारी विस्तार हुआ, जिसके कारण उनकी साख निर्माण शक्ति बहुत बढ़ गई।

(२) युद्धकाल में सोने-चाँदी और स्थायी सम्पत्ति की कीमत में घोर उच्चावचन हो रहे थे। इनमें रुपया लगाने में जोखिम थी, इसलिए लोगों ने फालतू धन को बैंकों में जमा करना ही अधिक उपयुक्त समझा।

(३) युद्धकाल में ऋणों की माँग में भारी वृद्धि हुई। स्वयं भारत सरकार अपनी और ब्रिटिश सरकार की ओर से ऋण ले रही थी। सरकार की सामान्य नीति यही थी कि पत्र-मुद्रा के साथ-साथ साख-मुद्रा का भी विस्तार हो, ताकि युद्धकालीन वित्त आसानी से प्राप्त हो जाय।

(४) युद्धकालीन अभिवृद्धि ने व्यापार तथा उद्योग को भी प्रोत्साहन दिया। कीमतों के निरन्तर बढ़ते रहने तथा युद्धकालीन माँग के कारण लाभ अधिक था। इसने विनियोगों को प्रोत्साहन दिया और ऋणों की माँग को बढ़ा दिया।

(५) व्यावसायिक तेजी के कारण रुपए का प्रचलन वेग बढ़ गया था और बैंकों के पास बराबर रुपया आता-जाता रहता था। इसने आदेयों में तरलता उत्पन्न कर दी और बैंकों को साख का अधिक विस्तार करने का अवसर दिया।

(६) रिजर्व बैंक ने भी साख विस्तार को प्रोत्साहन देने की नीति

अपनाई और बैंकों द्वारा नई शाखाएँ खोलने तथा नई बैंकों की स्थापना का विरोध नहीं किया।

इस काल में परिगणित बैंकों के विकास के साथ-साथ अपरिगणित बैंकों की भी उन्नति हुई और सन् १९३९ तथा सन् १९४६ के बीच उनकी भी संख्या २३१ से बढ़ कर २८८ हो गई, परन्तु इस सारी उन्नति का अर्थ यह नहीं होता है कि इस विकास में किसी प्रकार का दोष नहीं था। यद्यपि रिजर्व बैंक के खुल जाने तथा सन् १९३६ के कम्पनीज एक्ट के संशोधनों ने बैंकों के विलीयन का भय काफी अंश तक दूर कर दिया था, परन्तु फिर भी सन् १९३९ और सन् १९४० में कुछ बैंक फेल हो गई थीं। सन् १९४१ में लड़ाई सुदूरपूर्व के क्षेत्रों में फैल गई थी, जिनके कारण विनिमय बैंकों के प्रति अविश्वास उत्पन्न हुआ और उनके निक्षेप घटने लगे, यद्यपि अन्य बैंकों के निक्षेप बराबर बढ़ रहे थे।

महायुद्ध का बैंकों के आदेयों और लेनों पर प्रभाव—

युद्धकाल में बैंकों की स्थिर निक्षेपों (Fixed Deposits) में कमी हुई है। व्यापार ऋणों की अधिक माँग के कारण याचना ऋणों पर ब्याज की दर ऊँची रही है। सोने-चाँदी की कीमतों में अत्यधिक परिवर्तन होते रहने के कारण चालू खातों की जमा का विस्तार हुआ। इनके अतिरिक्त बैंकों द्वारा दिये जाने वाले विभिन्न प्रकार के ऋणों के अनुपात में भी कमी हुई है। युद्ध से पहले सम्पत्ति का ६२% ऋणों में दे दिया जाता था, जो युद्धकाल में घट कर २५% रह गया। इम्पीरियल बैंक में तो यह अनुपात ५५% से घट कर २०% रह गया था। बैंकों के आदेयों में तरलता का अंश भी बढ़ गया। सरकारी प्रतिभूतियों में धन का विनियोग बढ़ा। परिगणित बैंकों के ऐसे विनियोगों का प्रतिशत २४ से बढ़ कर ६१ हो गया और इम्पीरियल बैंक का ४३ से बढ़ कर ५१, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस परिवर्तन के कारण बैंकों की लाभ स्थिति में किसी प्रकार की कमी आई। व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के कारण लाभ का सामान्य स्तर ऊँचा ही बना रहा। युद्धकाल में बैंकों के नकद कोष भी अधिक दृढ़ हो गये। परिगणित बैंकों के नकद कोष ११% से बढ़ कर २५% हो गये और इम्पीरियल बैंक के १५% से बढ़ कर २४%। सभी दृष्टिकोणों से युद्ध-कालीन विकास की स्थिति अधिक सन्तोषजनक दिखाई पड़ती है।

युद्धकाल में बैंकों की दशा इतनी अच्छी हो गई थी कि उन्हें रिजर्व बैंक से सहायता की भी कम ही आवश्यकता पड़ी थी, परन्तु माँगने पर सहायता भी मिल जाती थी। इस काल में रिजर्व बैंक ने १ करोड़ से लेकर ४ करोड़ रुपये तक की वार्षिक सहायता दी थी। देश में बैंकिंग का

विकास इतनी तेजी से हुआ था कि अनुभवी और योग्य कर्मचारियों की कमी अनुभव हुई। यह कमी अभी तक भी दूर नहीं हो पाई है।

भारत में युद्धकालीन बैंकिंग विकास के दोष—

साधारणतया द्वितीय महायुद्ध के काल में भारतीय बैंकिंग का आधार सुदृढ़ रहा है, परन्तु यह भी पूर्णतया दोषरहित नहीं रहा है। इस काल में बैंकों की संख्या में और उनकी शाखाओं में भारी वृद्धि हुई है। अधिकांश शाखाएँ ऐसे स्थानों में खुली हैं जहाँ पहले से ही बैंकिंग सेवाएँ मौजूद थीं। इसका परिणाम यह हुआ है कि बैंकों के बीच आपसी प्रतियोगिता बढ़ी है, जो बहुत सी दशाओं में अनार्थिक हो गई है। यह स्वयं बैंकों के लिए नहीं, बल्कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिए भी अहितकर है। इस विकास के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं :—

(१) देश में अधिकोष सेवाओं का असमान तथा अनार्थिक वितरण हुआ है। कितने ही स्थान ऐसे हैं जहाँ आवश्यकता होते हुए भी बैंकिंग सेवाएँ स्थापित नहीं हो पाई हैं। इसके विपरीत बहुत सी जगहों पर इन सेवाओं की अनावश्यक दोबारगी हुई है।

(२) अनार्थिक प्रतियोगिता बढ़ी है और सेवाओं की दोबारगी के कारण संचालन व्यय भी बढ़ा है।

(३) युद्धकाल में अधिकोषण लाभ और लाभाँश इतने बढ़े हैं कि बैंकों के अंशों तथा अन्य प्रतिभूतियों में सट्टा होने लगा है।

(४) सहकारी हुण्डियों की कीमत बढ़ जाने के कारण लाभों का उपयोग सुरक्षित कोष को बढ़ाने के स्थान पर लाभाँश बाँटने के लिए अधिक हुआ है।

(५) युद्धकालीन विकास का सबसे बड़ा दोष यह है कि बैंकिग व्यवसाय का संचालन ऐसे व्यक्तियों के हाथ में चला गया है जिनका मुख्य व्यवसाय व्यापार अथवा उद्योग है। युनाइटेड कॉमर्शियल बैंक बिड़ला ब्रादर्स ने खोली है। इसी प्रकार हिन्दुस्तान कॉमर्शियल बैंक सिंघानिया ने और भारत बैंक, जिसका अब पंजाब नेशनल बैंक में विलय हो चुका है, डालमिया ने। यह एक अत्यधिक दोषपूर्ण प्रवृत्ति है, जो बैंकिंग व्यवसाय को अन्य व्यवसायों पर आश्रित कर देती है और उसके समुचित आधार को समाप्त कर देती है।

(६) जितनी तेजी के साथ बैंकिंग का विस्तार हुआ है उसकी तुलना में योग्य और अनुभवी कर्मचारी बहुत ही कम संख्या में पैदा हुए हैं।

(७) शाखायें खोलने में बहुधा अव्यावसायिक दृष्टिकोण अपनाया गया है। कुछ बैंकों ने ऐसे क्षेत्रों में शाखायें खोली हैं जिनसे उनका व्यावसायिक सम्बन्ध बिल्कुल नहीं था।

(८) लेखों में हेर-फेर करने और व्यवसाय की सही स्थिति को छिपाने का प्रवृत्ति बलवान हो गई है । युद्धकालीन अभिवृद्धि का लाभ उठाने के लिए अनुचित रीतियों का भी उपयोग बढ़ा है ।

(६) विलीयन का क्रम युद्धकाल में भी चलता रहा है । सन् १६३६ में ६० और सन् १६४० में १०२ बैंक फेल हुई थीं । उसके पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध की प्रगति के साथ इस प्रवृत्ति का बल घटता गया है, यद्यपि कुछ बैंक बराबर दिवालिया होती गई हैं । सन् १६४१ में ७७, सन् १६४२ में ४६, सन् १६४३ में ५१, सन् १६४४ में २२, सन् १६४५ में २६ और सन् १६४६ में २७ बैंक फेल हुई हैं । इस प्रकार सन् १६३६-४६ के काल में ४४४ बैंक फेल हुई हैं, जिनमें कुछ छोटी-छोटी बैंक सम्मिलित नहीं है ।

भारत के बँटवारे का प्रभाव—

युद्ध का अन्त होने पर भी भारतीय बैंकिंग का सुदृढ़ आधार बना ही रहा है । युद्धोत्तर काल में बैंकों की ऋणदान शक्ति में वृद्धि हुई है और उनके नकद कोषों का अनुपात घटा है । कीमतों की वृद्धि हो जाने के कारण कार्य-व्यय भी बढ़ा है, परन्तु बैंकों के लाभ में कोई विशेष कमी नहीं आई है । इस काल में चालू निक्षेपों में कमी आई है । और स्थायी निक्षेप बढ़े हैं । उपयुक्त कर्मचारियों की कमी के कारण सन् १६४६ के अन्त में एक छोटा बैंकिंग संकट फिर आया था, जिसका मुख्य प्रभाव बंगाल में दृष्टिगोचर हुआ था । बंगाल की कुछ बैंकों ने अंशों की आड़ पर अधिक ऋण दिये थे, जिसके कारण रोक निधि का अभाव हो गया और उन्हें भुगतान रोकने पड़े । इससे बहुत-सी छोटी-छोटी बैंक दिवालिया हो गईं । रिजर्व बैंक को एक ऐसा आदेश भी निकालना पड़ा है कि सट्टा व्यवहार के लिए ऋण न दिये जायँ । सन् १६४६ में ही रिजर्व बैंक ने शाखा विस्तार पर नियन्त्रण रखने के लिए सरकार से नियम पास करा लिए थे ।

१५ अगस्त सन् १६४७ को देश का विभाजन हुआ । विभाजन के साथ ही साम्प्रदायिक झगड़े हुए और पंजाब तथा बंगाल में पूरी अराजकता रही । देश में आयात-निर्यात, उत्पादन तथा सम्पत्ति का भारी विनाश हुआ । पंजाब की बैंकों को हानि अधिक हुई, जिसका सही अनुमान अभी तक भी नहीं लगाया जा सका है । विभाजन के फलस्वरूप करोड़ों की संख्या में लोगों को अपने घर-बार छोड़ने पड़े । इसके अतिरिक्त अनिश्चितता ने सट्टा व्यवहार को भी प्रोत्साहन दिया । सन् १६४७ में ३० अपरिगणित बैंकों का विलीयन हुआ और इस विलीयन के कारण दूसरी बैंकों के लिए भी कठिनाई हो गई । विभाजन होने से पहले ही

पंजाब की कुछ, बैंकों ने अपने कार्यालयों को दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब को स्थानतरित करना और पश्चिमी पंजाब में ऋणों का काम करना आरम्भ कर दिया था, परन्तु व्यवहार में ऐसा कम ही हो पाया था। विभाजन होते ही बहुत सी बैंकों को अपनी पश्चिमी पंजाब की शाखा बन्द करनी पड़ीं। ऋण वसूल न हो सके और आदेयों का भारत को हस्तान्तरण असम्भव हो गया। तुरन्त ही रिजर्व बैंक ने सहायता की योजना लागू की और अन्य बैंकों को विलीयन प्रभाव से बचाने का प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ने निम्न कार्य किये :—

(१) रिजर्व बैंक एक्ट में ऐसा संशोधन किया गया कि उपयुक्त प्रतिभूतियों की आड़ पर अपरिगणित बैंकों को भी रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त करने का अधिकार दिया गया।

(२) एक ऐसा आदेश निकाला गया जिसके अनुसार दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब राज्यों में स्थित बैंकों के विरुद्ध तीन मास तक कोई भी कार्यवाही नहीं हो सकती थी। यह भी आदेश दिया गया कि स्थगित शोधन काल में ये बैंक अपने भारत-स्थित चल निक्षेपों का केवल १०% अथवा २५० रुपये का (जो भी कम हो) भुगतान कर सकती थीं।

(३) ऐसी बैंकों के पुनर्वास के लिए सरकार ने १ करोड़ रुपये की सहायता दी।

(४) रिजर्व बैंक ने अन्य बैंकों के निरीक्षण और उसके सम्बन्ध में सरकार को रिपोर्ट देने का भी अधिकार प्राप्त किया।

इस प्रकार बँटवारे के दुष्परिणामों से बैंकिंग प्रणाली की रक्षा करने का प्रयत्न किया गया। बाद की घटनाओं में सन् १९४९ का बैंकिंग विधान तथा सन् १९५५ का संशोधन नियम महत्त्वपूर्ण हैं। इनका विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय में किया जायगा।

विलीयन प्रवृत्ति को रोकने के उपाय—

बैंकों की विलीयन प्रवृत्ति को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि बैंकों के संचालन के सामान्य मान को ऊपर उठाया जाय। छोटी बैंकों के सम्बन्ध में तो यह बहुत ही आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं।

(क) **शिक्षा**—बैंकिंग सिद्धान्त तथा व्यवहार सम्बन्धी शिक्षा इस सम्बन्ध में काफी लाभदायक हो सकती है। साथ ही साथ, यह भी आवश्यक है कि बैंकों में पारस्परिक सहयोग की भावना उत्पन्न की जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सन् १९२८ में 'इण्डिया इन्स्टीट्यूट ऑफ बैंकर्स' स्थापित की गई थी। यह इन्स्टीट्यूट भाषणों की व्यवस्था करती

है, परीक्षाएँ लेती है और अपनी एक पत्रिका भी निकालती है। इसके अतिरिक्त कुछ राज्य सरकारें भी बैंकिंग शिक्षण की व्यवस्था करती हैं, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि ऐसी संस्थाओं की क्रियाओं का विस्तार किया जाय।

(ख) **वैधानिक व्यवस्थाएँ**—बैंकों के समुचित संचालन के लिए समय-समय पर भारत सरकार वैधानिक व्यवस्थाएँ करती रही है। सन् १६३६ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में इस सम्बन्ध में कुछ प्रकार की व्यवस्थाएँ की गई थीं। बिना समुचित पूँजी के कार्य करने और अशिक्षित संचालकों तथा मैनेजिंग एजेन्टों के प्रभाव को दूर करने के लिए सन् १६४६ के बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में काफी विस्तृत व्यवस्थाएँ की गई हैं। इन व्यवस्थाओं द्वारा बैंकों को विलीयन का भय काफी दूर हो जाने की आशा है।

(ग) **रिजर्व बैंक का नियन्त्रण**—यह आवश्यक है कि सभी बैंकों पर कड़ा नियन्त्रण रहे, जिसके कारण उनके अनुचित व्यवहार रुके रहें। इस कार्य के लिए सन् १६४६ के एक्ट में रिजर्व बैंक को महत्त्वपूर्ण अधिकार दिए गये हैं। हाल के वर्षों में सभी बैंकों के लिए रिजर्व बैंक ने ऋणों, अग्रिमों तथा व्यवसायों के सम्बन्ध में आदेश निकाले हैं, जिनका पालन वास्तव में बैंकों को फेल होने से रोक सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में इस महत्त्वपूर्ण कथन को याद रखना आवश्यक है कि अच्छे नियम एक अच्छी बैंकिंग प्रणाली का निर्माण नहीं कर सकते हैं। ऐसा तो केवल अच्छे बैंकरों द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के उपाय—

समय-समय पर रिजर्व बैंक भारतीय बैंकिंग की स्थिति की जाँच करती रहती है और इस सम्बन्ध में वार्षिक रिपोर्ट भी प्रकाशित करती है। जो दोष सामने आये हैं उन्हें दूर करने के लिए रिजर्व बैंक ने कुछ सुझाव रखे हैं। विभिन्न मदों से सम्बन्धित सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) **प्रबन्ध के विषय में**—भारत की बैंकों को कुशल, शिक्षण प्राप्त तथा अनुभवशाली प्रबन्धकों की सेवाओं के लाभ बहुत ही कम प्राप्त हैं। इसी प्रकार बहुत सी बैंकों में भीतरी निरीक्षण तथा अंकेक्षण प्रणाली भी दोषपूर्ण होती है। संचालकों को न तो अपने कार्य का ज्ञान होता है और न उसके करने की योग्यता। बैंक के कुशल संचालन के लिए यह आवश्यक होता है कि संचालक न केवल उसके कार्य में दिलचस्पी लें, बल्कि समय-समय पर सप्रभाविक निरीक्षण भी करते रहें। इस कारण रिजर्व बैंक ने कर्मचारियों के शिक्षण, उनकी नियुक्ति में सावधानी तथा उनकी कार्य-विधि में सुधार के सुझाव दिये हैं।

(२) विनियोग नीति—इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक द्वारा किये गये अध्ययन से पता चलता है कि बैंक सरकारी प्रतिभूतियों में कम धन को लगाती हैं और उनका तरलता अनुपात कम रहता है। अपरिगणित (Non-Scheduled) बैंकों में ऋणों की मात्रा तो अधिक रहती है, परन्तु कुल निक्षेपों की तुलना में सरकारी प्रतिभूतियों में उनका विनियोग काफी कम रहता है। ऐसा पता लगाया गया था कि १२३ बैंकिंग कम्पनियाँ या तो सरकारी प्रतिभूतियों में रुपया लगाती ही नहीं थीं या उनका ऐसी प्रतिभूतियों में विनियोग कुल निक्षेपों के १% से भी कम था। सन् १९५१ से रिजर्व बैंक प्रत्येक बैंक से ऐसा विवरण माँग रही है कि उसने सरकारी प्रतिभूतियों में कितना धन लगा रखा है। बैंकों को यह समझाने का भी प्रयत्न किया जा रहा है कि वे ऐसी प्रतिभूतियों में विनियोग की मात्रा को बढ़ावें।

(३) ऋण नीति—इसमें भी सुधार की आवश्यकता है। बहुत सी बैंक अपने साधनों के बाहर भी ऋण दे देती हैं और ऋण लेने वाले की साख की समुचित जाँच किये बिना तथा बिना उपयुक्त प्रतिभूतियों के भी ऋण दे दिये जाते हैं। अधिक से अधिक लाभ कमाने के लिए बैंक अपने ऋणों की मात्रा को बढ़ाती जाती है। सन् १९४९ के नियम में तरल आदेयों में समय और माँग देन के २०% रखने की व्यवस्था की गई है, जो काफी लाभदायक हो सकती है, परन्तु यह आवश्यक है कि ऋण देने से पहले लेने वाले की शोधनक्षमता की समुचित जाँच की जाय। अचल सम्पत्ति की आड़ पर कम ऋण दिये जायँ और जोखिम की विविधता के लिए यथासम्भव विभिन्न प्रकार के ऋण दिये जाएँ।

(४) लाभाँश नीति—लाभाँश घोषित करने से पहले बैंकों को अविक्री साध्य आदेयों, अशोध्य ऋणों तथा विनियोगों के अवमूल्यन के लिए समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में नकद शेषों का भी पर्याप्त मात्रा में रखना आवश्यक है। इस विषय में सन् १९४९ के एक्ट की व्यवस्थाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। कोई भी बैंक अपने लाभों के २०% से अधिक को उस समय तक नहीं बाँट सकती है जब तक कि उसका सुरक्षित कोष परिदत्त पूँजी के बराबर न हो जाय, परन्तु और अधिक कोषों की व्यवस्था से स्थिति और भी सुधर सकती है। इसलिए बैंकों को केवल न्यूनतम वैधानिक सीमा पर संतोष नहीं करना चाहिए।

(५) शाखा नीति—बिना सोचे-बिचारे शाखाओं के बढ़ाने से बैंक, बैंक प्रणाली तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को काफी हानि हो सकती है। ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति ने इस बात पर जोर दिया है कि नई

शाखाएँ खोलने के स्थान पर वर्तमान दशाओं में मौजूद, व्यवसाय के आधार को दृढ़ करना अधिक उपयुक्त होगा। यद्यपि यह आवश्यक है कि अच्छी-अच्छी बैंक ग्रामीण क्षेत्रों तथा छोटे-छोटे नगरों में शाखाएँ खोलें, परन्तु शाखायें इस प्रकार न खोली जायँ कि पारस्परिक प्रतियोगिता बढ़े। रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि वह इस दिशा में सतर्क रहे।

(६) **बैंकिंग रीतियों में सुधार**—यह भी आवश्यक है कि कार्य-विधियों में सुधार हों और समुचित बैंकिंग सिद्धान्तों के आधार पर कार्य को चलाया जाय।

बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Banking)—

आधुनिक संसार में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के समर्थक बहुत हैं। ऐसा कहा जाता है कि ये महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ सरकार के हाथ में रहनी चाहिए, जिससे कि इनका संचालन राष्ट्रीय हितों को उन्नत करने के लिए किया जा सके। इसके अतिरिक्त यह भी अनुभव किया गया है कि उपयुक्त नियन्त्रण का सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय यही है।

बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता—

बैंकों की प्रकृति ऐसी है कि उनका राष्ट्र के आर्थिक और सामाजिक जीवन में भारी महत्त्व रहता है। बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता निम्न प्रकार बताई जाती है:—

(१) बैंकों का प्रमुख व्यवसाय साख-निर्माण होता है, जो वर्तमान आर्थिक जीवन की प्रमुख आवश्यकता है, परन्तु साख एक ऐसा अस्त्र है जिसका कल्याण तथा विनाश दोनों ही उद्देश्यों के लिए उपयोग किया जा सकता है। साख का नियन्त्रण बहुत ही आवश्यक है, जिससे कि उसका उपयोग व्यक्तिगत लाभ बढ़ाने के लिए न होकर राष्ट्रीय कल्याण के लिए हो सके। अनुभव बताता है कि साख तथा राष्ट्रीय आवश्यकताओं का ठीक-ठीक समायोजन केवल बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

(२) व्यापार चक्रों के काल में बैंक-मुद्रा तथा बैंकिंग नीति का भारी महत्त्व होता है। बैंकों की बुद्धिहीनता के कारण तो व्यापार चक्र उत्पन्न होते ही हैं, परन्तु यदि कोई समुचित बैंकिंग नीति अपनाई जाय तो आर्थिक संकटों की क्रूरता काफी अंश तक दूर की जा सकती है। यद्यपि व्यापार-चक्रों को पूर्णतया समाप्त करना कठिन होता है, परन्तु साख-मुद्रा के समायोजनों द्वारा उनकी क्रूरता घटाई जा सकती है। समाजवादी देशों में,

ज़हाँ बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण ही एक सामान्य नियम है, व्यापार-चक्र दृष्टिगोचर ही नहीं होते हैं।

(३) आधुनिक युग में राष्ट्रीय व्यापार तथा वाणिज्य के अर्थ-प्रबन्ध के लिए बैंकों का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। इस कारण यह उचित होगा कि बैंकिंग सेवाएँ ऐसे उद्देश्यों के लिए तथा उस अंश तक उपलब्ध की जायँ कि राष्ट्रीय हितों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति हो। इस कार्य के लिए राष्ट्रीयकरण ही एक मात्र उपाय है।

(४) बैंक लोक-धन तथा जनता के विश्वास में व्यवसाय करती हैं, इसलिए अच्छा यही है कि उनके लाभ भी जनता को प्राप्त हों, न कि निजी व्यक्तियों को।

भारत में तो बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता कई कारणों से और भी महत्त्वपूर्ण हो गई है। भारतीय पूँजी परम्परा से ही शर्मीली है। इस दोष का दूर करना भावी विकास के लिए आवश्यक है। देश में एक ओर तो बचत ही कम हो पाती है और दूसरी ओर बचत का अधिकाँश भाग आसंचित कोषों में चला जाता है, जिससे पूँजी के निर्माण में वाधा पड़ती है। देश में बैंकों का विकास कुछ इस प्रकार हुआ है कि कुछ स्थानों में बैंकों की संख्या आवश्यकता से बहुत अधिक है और उनके बीच हानिपूर्ण और अनुचित प्रतियोगिता है, जबकि सामान्य रूप में देश के भीतर बैंकिंग सेवाओं की भारी कमी है।

इसी प्रकार कई कारणों से भारतीय बैंकिंग जनता में विश्वास उत्पन्न नहीं कर पाई है। आरम्भ में अनेक बैंकों का प्रबन्ध विदेशियों के हाथ में था, जिसके कारण बैंक बराबर विदेशी संस्थाएँ समझी जाती थीं। दूसरे, भारत में बैंकिंग का विकास भी आयोजित रीति से नहीं हुआ है। तीसरे, बैंकों के विलीयन की संख्या बहुत अधिक रही है। सन् १६१३ में ५० ५५ बैंक फेल हो गई थीं। सन् १६१३ और सन् १६३६ के बीच २३८ बैंक ठप्प हो गईं, सन् १६३६ और सन् १६३८ के बीच ६४ बैंक प्रति वर्ष फेल होने का औसत रहा है और सन् १६४१ तथा सन् १६५१ के बीच में भी ४८ बड़ी बैंक फेल हो गई हैं।

हमारी बैंकिंग प्रणाली की एक विशेषता यह है कि आर्थिक दृष्टिकोण से रिजर्व बैंक साख नीति के नियन्त्रण में कमजोर रही, यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर सरकार रिजर्व बैंक को आवश्यक अधिकार दे देती है, परन्तु इसमें विलम्ब होता है। इस समस्या का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि युद्धोत्तर-काल में सरकार सभी साख नियन्त्रण उपायों का

उपयोग करने पर भी कीमतों को स्थिर करने में सफल नहीं हो पाई है। पिछले कुछ दिनों से हालत कुछ बदलती हुई अवश्य दीख रही है।

भारतीय बैंकिंग प्रणाली की दो और भी विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। देश में साधारणतया व्यापार बैंकों की ही प्रधानता है और औद्योगिक तथा कृषक वित्त की भारी कमी है। यह एक-दिशाई विकास ठीक नहीं है। दूसरे, भारतीय बैंकिंग का एक महत्त्वपूर्ण भाग अभी तक भी विदेशियों द्वारा चलाया जाता है। लगभग सभी विनिमय बैंक विदेशी हैं।

उपरोक्त विवेचन से पता चलता है कि भारतीय बैंकिंग का समुचित नियन्त्रण आवश्यक है। दूसरे महायुद्ध के काल में यह भी सिद्ध हो गया है कि समुचित नियन्त्रण द्वारा भारतीय बैंकिंग प्रणाली का किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करना सम्भव है। इस नियन्त्रण के लिए तथा बैंकिंग के अन्य दोषों को दूर करने के लिए राष्ट्रीयकरण ही उपयुक्त है।

जहाँ तक भारत में बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के व्यावहारिक रूप का प्रश्न है, प्रथम जनवरी सन् १६४६ से भारत सरकार ने रिजर्व बैंक का तो राष्ट्रीयकरण कर ही लिया है और साथ ही में इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की भी व्यवस्था की है। सारी बैंकिंग प्रणाली के राष्ट्रीयकरण का कोई विचार मालूम नहीं पड़ता है। राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध हम केवल इतना कह सकते हैं कि सरकारी व्यवसायों में व्यक्तिगत सम्पर्क, लोच, मितव्ययिता, शासन की कुशलता, समायोजन आदि गुण कम अंश तक प्राप्त हो सकते हैं। हाल में भारत सरकार ने जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करके बैंक के राष्ट्रीयकरण की सम्भावना को बढ़ा दिया है।

भारतीय बैंकिंग की नवीन प्रवृत्तियाँ—

भारतीय बैंकिंग का वर्तमान स्वरूप उन सरकारी नीतियों द्वारा निश्चित होता है जो स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने ग्रहण की हैं। इस काल में सरकार ने बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के अनेक उपाय किये हैं। प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं:—

(१) **रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण**—यह इस दिशा में सबसे पहला महत्त्वपूर्ण कार्य था। प्रथम जनवरी सन् १६४६ से रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया। उद्देश्य यह था कि देश की केन्द्रीय बैंक की शक्ति और सप्रभाविकता में वृद्धि की जाय। राष्ट्रीयकरण द्वारा यह आशा की गई है कि रिजर्व बैंक सरकार की आर्थिक नीति और देश के आर्थिक विकास में अधिक सहयोग दे सकेगी। वास्तव में आर्थिक नियोजन को आरम्भ करने से पहले यह राष्ट्रीयकरण उपयुक्त ही था।

(२) **नया बैंकिंग कम्पनी विधान**—मार्च सन् १६४६ से देश में बैंकिंग कम्पनी विधान लागू कर दिया गया है। उद्देश्य यह है कि देश की बैंकिंग व्यवस्था पर समुचित वैधानिक नियमन रहे और उसका विकास आरोग्य रूप में हो। इस विधान में रिजर्व बैंक के अधिकारों में काफी वृद्धि की गई है। अब केन्द्रीय बैंक देश की बैंकों का समय-समय पर निरीक्षण कर सकती है, बिना अनुज्ञापन प्राप्त किये कोई नई बैंक नहीं खोली जा सकती है, जनसाधारण के हित में रिजर्व बैंक बैंक की किसी भी अनुचित कार्यवाही को रोक सकती है और निक्षेपधारियों के हितों की रक्षा का विशेष उत्तरदायित्व केन्द्रीय बैंक के ऊपर रखा गया है।

(३) **एकीकरण को प्रोत्साहन**—ऐसा अनुभव किया गया है कि बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का एक उपाय उनका एकीकरण भी है। एकीकरण की नीति को सरकार और केन्द्रीय बैंक दोनों ने स्वीकार किया है। यह क्रम सन् १६५० में बङ्गाल की चार बैंकों को मिलाकर आरम्भ किया गया और तत्पश्चात् सन् १६५१ में भारत बैंक का पंजाब नेशनल बैंक में विलय किया गया।

(४) **स्टेट बैंक आफ इण्डिया का निर्माण**—१ जुलाई सन् १६५५ से इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया है और उसे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के नाम से एक नये आधार पर संगठित किया गया है। उद्देश्य यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों और पिछड़े हुए इलाकों को अधिक बैंकिंग सेवाएँ उपलब्ध की जायें। इसके अतिरिक्त सहकारी बैंक के विकास में भी इससे काफी सहायता मिलेगी।

(५) **निस्तारण विधि में सरलता**—सन् १६५० में प्रथम बार यह अनुभव किया गया था कि भारत में बैंकों की निस्तारण व्यवस्था (Process of Liquidation) बहुत जटिल और विलम्बपूर्ण थी। एक नियम द्वारा इसको सरल और शीघ्रगामी बनाने का प्रयत्न किया गया है।

(६) **बैंकिंग शिक्षा का आयोजन**—बैंकिंग शिक्षा की कमी हमारे देश के समुचित बैंकिंग विकास के मार्ग में एक भारी बाधा है। विगत वर्षों में रिजर्व बैंक ने इस ओर भी ध्यान दिया है। इण्डियन इस्टीट्यूट ऑफ बैंकर्स के कार्यों का विस्तार किया गया है। साथ ही, एक ऐसा कॉलिज रिजर्व बैंक द्वारा स्थापित किया जा रहा है जहाँ बैंकों के प्रबन्धकों और कर्मचारियों को आवश्यक सैद्धान्तिक और व्यावहारिक शिक्षा दी जायगी।

भारतीय बैंकों का एकीकरण (Amalgamation of Indian Banks)—

एकीकरण का अभिप्राय विलय अथवा मिल जाने से होता है। जब दो

या दो से अधिक बैंक इस प्रकार एक दूसरे से मिल जाती हैं कि इन सबका व्यक्तिगत अस्तित्त्व मिट जाता है और एक ऐसी संस्था का निर्माण हो जाता है जो सामूहिक रूप में सबका काम करती है तो हम कहते हैं कि इन बैंकों का एकीकरण हो गया है। इसी प्रकार जब एक बैंक का दूसरी में इस प्रकार विलय हो जाता है कि दोनों मिलकर एक हो जाती हैं तो इसे भी एकीकरण ही कहते हैं। उद्योग और व्यवसायों में आधुनिक युग में एकीकरण की प्रवृत्ति का काफी जोर है। एकीकरण द्वारा एक ओर तो पारस्परिक प्रतियोगिता को समाप्त किया जा सकता है और दूसरी ओर बड़े पैमाने के संगठन के लाभ कमाये जा सकते हैं। भारत में बैंकों का एकीकरण थोड़े ही काल से अधिक प्रचलित हुआ है।

दूसरे महायुद्ध के काल में भारतीय बैंकों और उनकी शाखाओं का भारी विस्तार हुआ, जिसके कारण यह विकास आरोग्यहीन न रह सका। अधिकाँश बैंकों ने अनावश्यक शाखाएँ खोलीं और वे अपने कार्यालय की कुशलता तथा शोधन-क्षमता की सुदृढ़ता प्राप्त करने में असमर्थ ही रहीं। सेवाओं की कुशलता बढ़ाने के लिए बहुत सी बैंकों ने ऊँचे वेतनों का लोभ देकर योग्य और अनुभवी कर्मचारियों को, जिनकी देश में भारी कमी है, अपने पास खींचने का प्रयत्न किया, जिससे उनका कार्य-व्यय बढ़ गया है। बहुत सी बैंकों ने शीघ्र लाभ कमाने के लिए सट्टा व्यवसाय में भी धन लगाया। युद्धकालीन अभिवृद्धि का अन्त होते ही बहुत सी बैंकों ने ऐसा अनुभव किया कि व्यवसाय का संकुचन हो रहा था और उन्होंने अपनी शाखाओं को बन्द करना आरम्भ किया। फिर भी सन् १९४६ और सन् १९५१ के पाँच वर्षों में १८३ बैंकों का विलीयन हुआ। कारोबार की मन्दी के फलस्वरूप बैंकों ने अपनी आर्थिक नींव दृढ़ करने का प्रयत्न किया। रिजर्व बैंक ने भी विलीयन प्रवृत्ति को रोकने के प्रयत्न आरम्भ किये। ऐसा अनुभव किया गया है कि कमजोर और अव्यवस्थित बैंकों को बड़ी और मजबूत बैंकों से जोड़ देने से हानिकारक प्रतियोगिता समाप्त हो जायगी, कार्यक्षमता बढ़ेगी और बैंकों के फेल होने का भय घट जायगा। सन् १९४९ के बैंकिंग विधान में एकीकरण का आयोजन किया गया है।

बैंकों के एकीकरण के लाभ—

उद्योग और व्यवसाय के एकीकरण की भाँति बैंकों के एकीकरण से भी अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं:—

(१) प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण हो जाने के कारण उसकी कुशलता बढ़ती है और व्यय कम हो जाता है।

(२) इसके द्वारा बैंकों के आर्थिक साधन दृढ़ हो जाते हैं और ऐसे साधनों का आकार बढ़ जाता है।

(३) छोटी बैंकों के बड़ी बैंकों में मिल जाने के कारण छोटी बैंकों को भी कुशल और अनुभवी कर्मचारियों की सेवाओं के लाभ प्राप्त हो जाते हैं। इसके द्वारा बड़ी बैंकों को शाखा बैंकिंग प्रणाली के सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं और उनमें आर्थिक संकटों का सामना करने के लिए अधिक शक्ति आ जाती है।

(४) एकीकरण निक्षेप प्राप्त करने के लिए ब्याज की दरों को बढ़ाने की प्रवृत्ति को रोकता है और विलीयन की सम्भावना कम कर देता है।

(५) इसके द्वारा बैंक को बड़े पैमाने के व्यवसाय के सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं।

(६) विशाल संगठन के कारण बैंक के लिए विशेषज्ञों का रखना सम्भव होता है, जिससे व्यावसायिक कुशलता और लाभ दोनों ही बढ़ते हैं।

(७) नकद कोषों के उपयोग में मितव्ययिता आती है, क्योंकि एक शाखा से दूसरी को धन का हस्तान्तरण होता रहता है।

(८) बैंकिंग सम्बन्धी जोखिम का प्रादेशिक वितरण हो जाता है और किसी क्षेत्र विशेष के संकटों का सारी अर्थ-व्यवस्था पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है।

(९) एकीकरण केन्द्रीय बैंक की निरीक्षण तथा नियन्त्रण क्षमता को बढ़ा देता है, जिससे मुद्रा बाजार में अनुरूपता आ जाती है और बैंकिंग व्यवसाय की कार्यकुशलता बढ़ती है।

(१०) एकीकरण एकाधिकार से सम्बन्धित सभी लाभों को उत्पन्न करता है।

एकीकरण की हानियाँ

अनेक लाभों के साथ-साथ एकीकरण के दोष निम्न प्रकार हैं:—

(१) एकीकरण बैंकों की सेवाओं और साधनों का केन्द्रीयकरण करता है, जिससे विशाल आर्थिक शक्ति थोड़े से व्यक्तियों के पास आ जाती है और जनता के शोषण की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। इसमें एकाधिकार के सभी दोष पाये जाते हैं।

(२) इससे बैंकिंग कलेवर में अत्यधिक विस्तार, भ्रष्टाचार तथा सट्टा-व्यवहार के दोष आ जाते हैं।

(३) इससे बहुधा रोजगार का संकुचन होता है और कर्मचारियों की छटनी होती है।

(४) एकीकरण में बड़े पैमाने तथा शाखा बैंकिंग प्रणाली के सभी दोष पाये जाते हैं।

(५) इसके द्वारा बैंक सेवाओं और स्थानीय दशाओं के बीच घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है।

इंगलैंड में एकीकरण की प्रवृत्ति प्रथम महायुद्ध के पश्चात् आने वाली मन्दी के काल में आरम्भ हुई थी। भारत में इसका सबसे पहला उदाहरण सन् १६२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों के मिल कर इम्पीरियल बैंक की स्थापना द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। दूसरे महायुद्ध के पश्चात् भारत में भी एकीकरण के लिये उपयुक्त दशाएँ उत्पन्न हो गईं। भारत सरकार ने सन् १६५० में बैंकिंग विधान में इस प्रकार के संशोधन किये कि समुचित तथा वांछित एकीकरण को प्रोत्साहन मिले। इससे पहले रिजर्व बैंक ने सन् १६३७ और सन् १६४५ में दो बार एकीकरण क्रिया में सहायता दी थी। सन् १६५० में बङ्गाल की चार बैंकों को, जिनका देश के विभाजन के कारण विलीयन का भय था, एकीकरण की सलाह दी गई। फलतः कोमिल्ला बैंकिंग कॉर्पोरेशन, कोमिल्ला यूनियन बैंक, हुगली बैंक तथा बङ्गाल सेन्ट्रल बैंक को मिलाकर युनाइटेड बैंक ऑफ इन्डिया लिमिटेड का निर्माण हुआ। सन् १६५१ में भारत बैंक का पंजाब नेशनल बैंक में विलय हुआ। इसी प्रकार राजस्थान की तीन बैंकों अर्थात् दी बैंक ऑफ जयपुर, दी बैंक ऑफ बीकानेर, दी बैंक ऑफ राजस्थान को मिलाकर राजस्थान बैंक लिमिटेड में परिवर्तित किया गया है। सरकार की नई योजना के अनुसार लगभग ४०० छोटी-छोटी बैंकों को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया में मिला दिया जायगा।

भारतीय बैंकिंग की वर्तमान स्थिति—

इस समय भारत में अनुसूचित बैंकों की कुल संख्या ६१ है, जिनमें से १५ विनिमय बैंक हैं। सन् १६५५ के अन्त में कुल संख्या ८६ थी। इन ८६ बैंकों की कुल पूँजी और निधि ६३'१० करोड़ रुपये की थी। इन बैंकों की कुल देय (Liabilities) १,०३४'६७ करोड़ रुपए थी और कुल सम्पत्ति ७४०'२० करोड़ रुपया। सन् १६५६ के आरम्भ में सभी प्रकार की कुल बैंकों की संख्या ४७२ थी, जिनकी पूँजी और निधि १,२४६'६७ करोड़ रुपया थी। सभी बैंकों के पास नकदी, ऋण, अग्रिम, विनियोग, बिल आदि के रूप में १,२११'६३ करोड़ रुपये थे।

भारतीय बैंकिंग का भविष्य—

इस अध्याय में भारतीय बैंकिंग के विकास और उसकी समस्याओं का विवेचन किया गया है। देश में बैंकिंग का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता

है, क्योंकि अभी विकास की समस्यायें बहुत हैं। रिजर्व बैंक की स्थापना, इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण तथा समुचित बैंकिंग विधान द्वारा सुदृढ़ उन्नति की आशा और भी बढ़ जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि कर्मचारियों के शिक्षण की समुचित व्यवस्था की जाय और प्रबन्ध में कुशलता प्राप्त की जाय। औद्योगिक वित्त की कमी को पूरा करने के लिए हमने विशेष प्रयत्न किया है। धीरे-धीरे उन सेवाओं का भी विकास होता जा रहा है जो बैंकिंग कार्यों में सहायक होती हैं। ऐसी आशा की जाती है कि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत बैंकिंग सेवाओं का भी समुचित विकास एवं सुधार होगा। डा० जॉन मथाई ने, जो स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के नये गवर्नर बनाए गये थे, कहा है—"शक्ति और कार्यक्षमता में भारतीय बैंकिंग प्रणाली इङ्गलैंड एवं अमरीका से कम नहीं है।.......उसकी वर्तमान स्थिति आशावर्द्धक है।"

भारतीय बैंकिंग का भावी स्वरूप—

यह प्रश्न अभी अनिश्चित सा ही है कि भारतीय बैंकिंग का भावी स्वरूप क्या रहेगा? भविष्य के बारे में दो विचारधाराएँ महत्त्वपूर्ण हं—प्रथम, क्या भारतीय बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण किया जाय और दूसरे, क्या भावी प्रगति एकीकरण के अन्तर्गत हो? एकीकरण के गुणों और दोषों का सविस्तार अध्ययन तो हम पहले कर ही चुके हैं, अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण कहाँ तक उचित होगा। इस सम्बन्ध में यह समझना आवश्यक है कि राष्ट्रीयकरण बैंकों की केवल अंशधारियों के लाभ के लिए काम करने की प्रवृत्ति को रोक देगा और बैंकिंग को जन-साधारण के हितों की उन्नति का साधन बनाने में भी सफल होगा। राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(१) क्योंकि हमने समाजवादी ढंग की समाज स्थापना का लक्ष्य निश्चित किया है, इसलिए राष्ट्रीयकरण आवश्यक ही होगा।

(२) साख निर्माण ही बैंकों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है और साख का उपयोग जन-साधारण के हितों को उन्नत करने के लिए भी किया जा सकता है और समाज का शोषण करने के लिए भी। राष्ट्रीयकरण इस सम्भावना को बढ़ा सकता है कि साख एक राष्ट्रीय-सेविका ही बनकर रहे। साख और राष्ट्रीय आवश्यकताओं का समायोजन सबसे अच्छी प्रकार राष्ट्रीयकरण द्वारा ही हो सकता है।

(३) राष्ट्रीयकृत बैंकिंग व्यापार चक्रों के विरुद्ध एक शक्तिशाली प्रतिबन्ध है।

(४) आर्थिक नियोजन की सफलता बड़े अंश तक इस बात पर

निर्भर होगी कि बैंकिंग नीति का उद्देश्य आर्थिक विकास में सहायता देना हो। राष्ट्रीयकरण समुचित वित्त प्रदान करने के अतिरिक्त मुद्रा-प्रसार के विरुद्ध भी अच्छा उपचार रहेगा।

(५) बैंकों के लाभ लोक धन और लोक विश्वास के कारण पैदा होते हैं, इसलिए वे व्यक्तियों के स्थान पर राज्य जैसी लोक संस्था को ही प्राप्त होने चाहिए।

(६) बैंकिंग सेवाओं के रोगहीन विकास के लिए राष्ट्रीयकरण ही अधिक उपयुक्त है।

(७) राष्ट्रीयकरण सरकारी नियन्त्रण का सबसे सप्रभाविक उपाय है।

(८) व्यक्तिगत बैंकिंग के सभी दोष राष्ट्रीयकरण द्वारा दूर किये जा सकते हैं।

इसमें तो सन्देह नहीं है कि राष्ट्रीयकरण हमारे बैंकिंग कलेवर की लगभग सारी कठिनाइयों को दूर कर देता है, परन्तु राष्ट्रीयकरण के मार्ग में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ अवश्य हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीयकरण बैंकिंग प्रणाली की लोच को समाप्त कर देता है और व्यक्तिगत रुचि के अभाव के कारण उत्साह और कार्यकुशलता को कम कर देता है। भारत में राष्ट्रीयकृत उद्योगों का अनुभव बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं है, यद्यपि सरकार द्वारा जीवन बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की सम्भावना काफी बढ़ गई है।

अध्याय ३२

भारत में बैंकिंग विधान

(Banking Legislation in India)

भारत में बैंकिंग विधान की आवश्यकता—

पुरानी विचारधारा के अनुसार बैंकिंग विधान आवश्यक नहीं है। स्वर्ण-मान की स्वयं-संचालक प्रकृति इस बात की गारन्टी थी कि साख का अत्यधिक विस्तार न होने पावे। इसके अतिरिक्त केवल बैंक दर में परि-

वर्तन करके ही देश की सरकार साख निर्माण को नियन्त्रित कर सकती थी। धीरे-धीरे बैंक दर की सप्रभाविकता घट गई और स्वर्णमान का भी अन्त हो गया। बीसवीं शताब्दी में बैंकिंग विधान की आवश्यकता सभी देशों ने अनुभव की। इंगलैंड ने भी अपनी परम्परागत निर्बाधावादी नीति में परिवर्तन किया और अन्त में तो बैंक ऑफ इंगलैंड का राष्ट्रीयकरण कर लिया। भारत में बैंक दर नीति की सप्रभाविकता सदा ही अनिश्चित रही है और बैंकों का विलीयन इतना अधिक हुआ कि लम्बे काल से इस दिशा में किसी उपयुक्त नीति की आवश्यकता अनुभव की गई थी। पाँच महत्त्व-पूर्ण कारणों से भारत में बैंकिंग विधान की आवश्यकता है :—

(१) भारत में देशी बैंकरों और महाजनों की संख्या काफी अधिक है। साख संगठन पर एकाकी नियन्त्रण स्थापित करने के लिए देशी बैंकिंग का सम्मिलित पूँजी बैंकिंग से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। समन्वय की आवश्यकता इस कारण और भी बढ़ जाती है कि वर्तमान दशा में दोनों प्रणालियों के बीच प्रतिस्पर्धा है, जबकि देश में बैंकिंग सेवाओं की सामान्य कमी है। अनुभव बताता है कि बिना वैधानिक व्यवस्था के समन्वय स्थापित नहीं हो सकता है। समन्वय द्वारा दोनों ही प्रणालियों का भला होगा।

(२) भारत में बैंक भारी संख्या में फेल हुई हैं। बैंकिंग विकास समुचित आधार पर नहीं हो पाया है। अनावश्यक विस्तार तथा शाखायें खोलने के सम्बन्ध में किसी उपयुक्त नियन्त्रण की आवश्यकता है। बैंकिंग विधान द्वारा आरोग्यहीन बैंकों का विकास रोका जा सकता है और बैंकों को समुचित साख विकास तथा विनियोग नीति अपनाने पर वाध्य किया जा सकता है।

(३) रिजर्व बैंक कुछ कारणों से कमजोर रही है। आरम्भ में ही यह स्पष्ट हो गया था कि लम्बे-चौड़े अधिकारों के बिना रिजर्व बैंक सरकार की मुद्रा साख तथा विदेशी विनिमय नीति को कार्य-रूप नहीं दे पायेगी। रिजर्व बैंक के पास बैंक दर और खुले बाजार व्यवसाय के दो महत्त्वपूर्ण अस्त्र हैं, परन्तु वे नाकाफी हैं। रिजर्व बैंक की सफलता का प्रमुख कारण उसके विस्तृत वैधानिक अधिकार हैं।

(४) विगत वर्षों में भारतीय बैंकिंग की एक और विशेषता दृष्टि-गोचर हुई है। प्रत्येक बैंक यही प्रयत्न करती है कि सभी स्थानों पर अपने व्यवसाय का विस्तार करे। शाखाएँ बिना व्यवसाय की सम्भावना की जाँच किये ही खोल दी जाती हैं और उनके द्वारा अन्य बैंकों से प्रति-योगिता करने का प्रयत्न किया जाता है। कुछ नगरों में तो बैंकिंग सेवाएँ आवश्यकता से बहुत अधिक हैं और कुछ उनकी सेवाओं से पूर्णतया

बंचित हैं। ऐसी अवस्था देश के लिए हितकारी नहीं है, इसलिए शाखा खोलने के सम्बन्ध में कुछ वैधानिक व्यवस्थाओं की भारी आवश्यकता है।

(५) ग्रामीण क्षेत्रों को वैंकिंग सेवायें प्रदान करने के लिए तथा सहकारी साख आन्दोलन को प्रोत्साहित करने के लिए बैंकिंग विधान आवश्यक है।

(६) भारतीय वैंकिंग को एक-दिशायी प्रवृत्ति भी समुचित विधान द्वारा रोकी जा सकती है।

भारत में वैंकिंग विधान का इतिहास—

भारत में देशी बैंकिंग के नियन्त्रण का कार्य काफी देर में आरम्भ हुआ। रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व इस दिशा में लगभग कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया था। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट सन् १९३४ की धारा ५५ (१) अ के अनुसार रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि वह देशी बैंकिंग प्रथा के सुधार के प्रस्ताव प्रस्तुत करे। मई सन् १९३७ में रिजर्व बैंक ने इस सम्बन्ध में परिगणित बैंकों और देशी बैंकरों से विचार परामर्श किया और एक योजना तैयार की। इस योजना में सन् १९३१ की केन्द्रीय बैंकिंग समिति की सिफारिशों को पूरा करने का प्रयत्न किया गया था। यह स्वीकार किया गया कि देशी बैंकरों का रिजर्व बैंक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखा जाय, परन्तु सहायता तथा स्वीकृति प्राप्त करने के लिए देशी बैंकरों के लिए निम्न पाँच शर्तों का पूरा करना आवश्यक बनाया गया है।

(१) केवल ऐसे देशी बैंकरों को जो कम से कम २ लाख रुपये की पूँजी से व्यवसाय करते हों और ५ साल के भीतर पूँजी की मात्रा को ५ लाख रुपये तक बढ़ाने को तैयार हों, रिजर्व बैंक से स्वीकृति मिल सकती है।

(२) ऐसे बैंकरों को बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य कार्य एक निश्चित अवधि के भीतर बन्द करने होंगे।

(३) ऐसे बैंकरों के लिए समुचित लेखे रखना आवश्यक है और रिजर्व बैंक को इन लेखों के निरीक्षण का अधिकार होगा।

(४) उन्हें अपने चिट्ठे प्रकाशित करने चाहिए और समय-समय पर निश्चित रिपोर्टें रिजर्व बैंक को भेजनी चाहिए।

(५) बदले में ऐसी बैंकों को रिजर्व बैंक से बिल भुनवाने का अधिकार दिया गया है। उन्हें वही सुविधाएं प्राप्त होंगी जो अपरिगणित बैंकों को प्रदान की गई हैं।

देशी बैंकरों को ये शर्तें कड़ी अनुभव हुई हैं। उन्होंने व्यापार और सोना, चाँदी तथा हीरे जवाहरात का व्यवसाय छोड़ना स्वीकार नहीं

ही बैंकों के फेल होने का वेग बढ़ गया। इस कारण रिजर्व बैंक ने समस्त स्थिति की विस्तृत जाँच की और नवम्बर सन् १९३९ में विधान में कुछ आवश्यक संशोधन करने के सुझाव प्रस्तुत किये। लड़ाई की कठिनाइयों के कारण इन सिफारिशों को कार्य रूप देना तो सम्भव न हो सका, परन्तु सन् १९४३-४४ में इण्डियन कम्पनीज (द्वितीय संशोधन) एक्ट पास किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक ऐसी कम्पनी को बैंकिंग कम्पनी घोषित कर दिया गया जो अपने नाम के साथ बैंक अथवा बैंकर शब्द का प्रयोग करती हो, परन्तु इसी काल में मुद्रा-प्रसार के कारण बैंकों की संख्या बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगी और उनमें से बहुत सी बैंकों की शासन तथा प्रबन्ध-व्यवस्था ठीक-ठीक नहीं चल रही थी, इसलिए सन् १९४४ में एक और संशोधक एक्ट पास हुआ, जिसमें मैनेजिग एजेन्टों की नियुक्ति पर प्रतिबन्ध लगाये गए।

दूसरे महायुद्ध के काल में भारतीय बैंकिंग का विकास बड़ी तेजी के साथ हुआ, परन्तु इस विकास का प्रमुख कारण देश में मुद्रा-प्रसार था। इस कारण इसमें कुछ दोष दृष्टिगोचर हुए और कुछ अनुचित प्रवृत्तियाँ भी उत्पन्न हो गईं। रिजर्व बैंक ने बैंकिंग विधान में आवश्यक संशोधन करा कर बैंकिग प्रणाली तथा साख विकास पर नियन्त्रण रखने का प्रयत्न किया। रिजर्व बैंक के गवर्नर ने बैंक की वार्षिक सभा में युद्धकालीन विकास की निम्न अनुचित प्रवृत्तियों पर जोर दिया था :—

(१) बिना विचारे शाखाएँ खोलने की प्रवृत्ति, जिससे कि बिना जोखिम पर ध्यान दिये निक्षेपों को आकर्षित किया जा सके।

(२) निक्षेपदाताओं के धन का प्रबन्धकों के लाभ के लिए उपयोग करना, इसके लिए अन्य कम्पनियों के अंश खरीदे गये, उद्योगों के अंश प्राप्त किये गए और विनियोग प्रन्यास (Investment Trusts) की स्थापना की गई, जिससे बैंकों के आदेय अतरल बन गये।

(३) चिट्ठों में अदला-बदली करने की प्रवृत्ति, जिससे कि बैंक की आर्थिक स्थिति का सही अनुमान न लगाया जा सके।

(४) सट्टेबाजी की प्रवृत्ति, जो अंशों, सरकारी हुण्डियों तथा चल और अचल सम्पत्ति में सट्टा करने तक विस्तृत थी।

(५) लाभों को लाभाँश के रूप में बाँटने की प्रवृत्ति और सुरक्षित कोष की ओर ध्यान न देना।

सन् १९४५ के बैंकिंग कम्पनीज बिल में इन प्रवृत्तियों को रोकने की व्यवस्था की गई थी, परन्तु यह बिल सन १९४८ तक संसद के सम्मुख नहीं

रखा जा सका था। बीच के काल में आर्डीनेन्सों द्वारा रिजर्व बैंक को विशेष अधिकार दिए गये। सन् १९४६ के अध्यादेश (Ordinance) ने रिजर्व बैंक को किसी भी बैंक के लेखों के निरीक्षण का अधिकार दिया। रिजर्व बैंक के आदेशों का पालन न करने पर किसी बैंक को परिगणित बैंकों की सूची में से निकाला जा सकता था, अथवा कुछ काल के लिए उसका कारोबार बन्द किया जा सकता था। सन् १९४७ के आर्डीनेन्स द्वारा रिजर्व बैंक को ऐसी बैंकों को आर्थिक सहायता देने का अधिकार दिया गया जिन पर देश के विभाजन के कारण संकट आ गया था। इसी प्रकार दो और नियमों द्वारा कुछ प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्रों की निकासी पर रोक लगाई गई और प्रत्येक बैंक के लिए नई शाखा खोलने के लिए रिजर्व बैंक से आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक बनाया गया। अन्त में, मार्च सन् १९४८ में एक नया बैंकिंग बिल पास किया गया, जिसे १६ मार्च सन् १९४९ से लागू किया गया है।

बैंकिंग कम्पनीज एक्ट सन् १९४९—

यह एक्ट जम्मू और काश्मीर राज्य को छोड़कर भारत के सभी राज्यों पर लागू होता है। इस एक्ट का उद्देश्य भारतीय बैंकिंग प्रणाली की निम्न दोषपूर्ण प्रवृत्तियों को दूर करना बताया गया है।

(१) अचल सम्पत्ति की आड़ पर काफी मात्रा में ऋण देना।

(२) ऐसी कम्पनियों को जिनमें बैंक के संचालकों अथवा उनके सम्बन्धियों का स्वार्थ हो, अपर्याप्त प्रतिभूतियों पर ऋण देना।

(३) बिना सोचे-विचारे बैंक की शाखाओं को खोलते रहना।

(४) बैंक के धन का ऐसी फर्मों में फँसा देना जिनमें बैंक के संचालकों को दिलचस्पी हो।

(५) कुछ प्रबन्धकों द्वारा बैंक के कोषों का अनुचित उपयोग करके दूसरी औद्योगिक कम्पनियों पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करना।

(६) बैंक की सही स्थिति को छिपाने के लिए प्रकाशित होने वाले आँकड़ों में फेर-बदल करके जनता को धोखा देना।

(७) कुछ छोटी-छोटी बैंकों का अपने साधनों की तुलना में बहुत अधिक मात्रा में ऋणों का प्रदान करना।

उपरोक्त एक्ट की प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) परिभाषा—'उधार देने अथवा विनियोग करने हेतु जनता से मुद्रा के ऐसे निक्षेपों का स्वीकार करना जो या तो माँग पर अथवा अन्य किसी प्रकार शोधनीय हों एवं धनादेश विकर्ष, आदेश अथवा अन्य प्रकार निकाली जा सकती हों', बैंकिंग कहलाता है। एक बैंकिंग कम्पनी

वह है जो भारतीय कम्पनीज एक्ट के अनुसार स्थापित हुई हो और बैंकिंग का व्यवसाय करती हो। वे औद्योगिक कम्पनियाँ जो अपनी वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए निक्षेपों को स्वीकार कर लेती हैं, बैंकिंग कम्पनी नहीं हैं।

(२) **बैंक का व्यवसाय**—इसके लिए एक विस्तृत सूची दी गई है, जिसमें वे सब व्यवसाय उल्लेखित किये गये हैं जो एक बैंकिंग कम्पनी कर सकती है। रुपये का उधार लेना और देना, विनिमय बिलों का भुनाना, हुन्डियों का भुनाना, विनिमय साध्य साख-पत्रों का जमा करना, सोने-चाँदी तथा विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय, साख प्रमाण-पत्रों का प्रदान करना, मूल्यवान वस्तुओं का संरक्षण करना, इत्यादि काफी कार्यों को बैंक के व्यावसायिक क्षेत्र में सम्मिलित किया गया है, परन्तु अपने ऋणों को वसूल करने के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से बैंकिंग कम्पनी को प्रत्यक्ष व्यापार का अधिकार नहीं है। व्यावसायिक कार्यालय की बिल्डिंग को छोड़ कर अन्य कोई भी अचल सम्पत्ति बैंक ७ साल से अधिक काल के लिये प्राप्त नहीं कर सकती है। प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी के लिए रिजर्व बैंक से अनुज्ञापन प्राप्त करना आवश्यक है। बिना ऐसा किये कोई भी कम्पनी अपने नाम के साथ बैंक अथवा बैंकर शब्द नहीं लगा सकती है और बैंकिंग व्यवसाय करने वाली सभी फर्मों के लिए इन शब्दों का उपयोग आवश्यक है।

यह भी व्यवस्था की गई है कि बैंकिग कम्पनी कुछ थोड़ी सी दशाओं को छोड़ कर गौण कम्पनियाँ स्थापित नहीं कर सकती है। इसी प्रकार एक बैंकिंग कम्पनी किसी अन्य कम्पनी में अपनी निर्गमित अंश पूँजी के ३०% अथवा अपनी परिदत्त पूँजी के ३०% से (जो भी कम हो) अधिक कीमत के अंश प्राप्त नहीं कर सकती है। इसके अतिरिक्त एक बैंकिंग कम्पनी ऐसी किसी भी कम्पनी के अंश प्राप्त नहीं कर सकती है जिसमें उसके संचालक अथवा प्रबन्धक स्वार्थ रखते हों।

(३) **प्रबन्ध**—बैंकिंग कम्पनियों के लिए मैनेजिंग एजेन्टों की नियुक्ति की आज्ञा नहीं दी गई है। ऐसे व्यक्ति बैंकिंग कम्पनी का प्रबन्ध करने योग्य नहीं हैं जो अन्य कम्पनियों के संचालक हैं, अन्य बैंक का प्रबन्ध करते हैं अथवा कोई दूसरा व्यवसाय करते हैं। कोई भी बैंक ऐसे व्यक्तियों को नौकर नहीं रख सकती है जो दिवालिया हो चुके हैं अथवा किसी फौजदारी के अपराध में जेल काट चुके हैं। इसी प्रकार किसी भी कर्मचारी को कमीशन अथवा अंश के आधार पर किसी प्रकार का पारितोषण नहीं दिया जा सकता है।

(४) **परिदत्त पूँजी तथा निधि**—भारत के राज्यों के बाहर यदि कोई भारतीय बैंकिंग कम्पनी स्थापित की जाती है तो उसकी परिदत्त पूँजी और सुरक्षित कोष मिल कर १५ लाख रुपये से कम नहीं होनी चाहिए और यदि उसकी कोई शाखा कलकत्ते अथवा बम्बई में भी है तो ऐसी पूँजी कम से कम २० लाख रुपया होनी चाहिये। यह राशि रिजर्व बैंक में जमा की जायगी। जिन कम्पनियों की स्थापना भारत में हुई है उनके लिए परिदत्त पूँजी और निधि की निम्न व्यवस्थाएँ की गई हैं :—

(क) यदि इस कम्पनी की शाखायें कलकत्ते अथवा बम्बई में हैं तो पूँजी कम से कम १० लाख रुपया होनी चाहिए।

(ख) यदि इसकी शाखाएँ एक से अधिक राज्यों में हैं तो ५ लाख रुपया।

(ग) यदि इसकी शाखायें एक ही राज्य में हैं तथा कलकत्ते और बम्बई में नहीं हैं तो इसके पास प्रधान कार्यालय में १ लाख और प्रत्येक शाखा में कम से कम १० हजार रुपये (यदि वे एक ही जिले में हैं) तथा २५ हजार रुपये (यदि वे अलग-अलग जिलों में हैं) होने चाहिये।

कम्पनी की निर्गमित पूँजी (Subscribed Capital) अधिकृत पूँजी की कम से कम आधी होनी चाहिए और परिदत्त पूँजी इसी प्रकार निर्गमित पूँजी की कम से कम ५०% होनी चाहिए।

प्रत्येक अंशधारी का मतदान अधिकार उसके द्वारा दी गई पूँजी के अनुपात में होगा, परन्तु किसी भी अंशधारी को कुल मतदान अधिकार के ५% से अधिक मत देने का अधिकार नहीं होगा।

बैंकिंग कम्पनी के लाभों का २०% उस समय तक सुरक्षित कोष में जमा करना आवश्यक है जब तक कि सुरक्षित कोष की राशि परिदत्त पूँजी के बराबर न हो जाय। साथ ही, प्रत्येक गैर-अनुसूचित बैंक को अपनी समय देन का २% तथा माँग देन का ५% रिजर्व बैंक में जमा करना होता है। अनुसूचित बैंकों के लिए इस प्रकार की जमा की व्यवस्था पहले से ही रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में कर दी गई थी। प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को अपनी समय एवं माँग देन का कम से कम २०% प्रत्येक दिन नकदी, स्वर्ण अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियों में रखना आवश्यक है और भारतीय बैंकिंग कम्पनियों को उपरोक्त देनों की कीमत के कम से कम ७५% आदेय भारत में रखने चाहिये।

(५) **रिजर्व बैंक के अधिकार**—सभी बैंकिंग कम्पनियों पर रिजर्व बैंक को नियन्त्रण तथा निरीक्षण के विस्तृत अधिकार दिये गये हैं। एक्ट की

कुल ५५ धारायें हैं, जिनमें से २७ केवल रिजर्व बैंक के अधिकारों के सम्बन्ध में हैं। रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया है कि संकट काल में वह बैंक के सब अथवा कुछ व्यवसायों को स्थगित करने की सिफारिश करे। इसी प्रकार रिजर्व बैंक की अनुमति पर बैंकिंग कम्पनी ७ वर्ष से अधिक काल के लिए अचल सम्पत्ति रख सकती है। रिजर्व बैंक प्रबन्धकों को अत्यधिक शोधन प्राप्त करने से रोक सकती है। अस्थाई रूप में रिजर्व बैंक परिदत्त पूँजी तथा सुरक्षित कोषों में भी छूट दे सकती है। गौण कम्पनी की स्थापना के लिए भी रिजर्व बैंक की आज्ञा लेना आवश्यक होता है। इस बात का निरीक्षण भी रिजर्व बैंक द्वारा किया जाता है कि बैंक एक्ट की व्यवस्थाओं का ठीक-ठीक पालन करती हैं या नहीं। साथ ही, यह भी रिजर्व बैंक का ही कर्त्तव्य है कि वह यह देख ले कि ऋणों तथा अग्रिमों के सम्बन्ध में बैंक कोई समुचित नीति अपनाती हैं या नहीं। रिजर्व बैंक की आज्ञा के बिना कोई भी कम्पनी कोई नई शाखा नहीं खोल सकती है। इसी प्रकार रिजर्व बैंक को सभी बैंकिंग कम्पनियों के निरीक्षण और आवश्यकता पड़ने पर उनके बन्द करने की सिफारिश करने का भी अधिकार दिया गया है। रिजर्व बैंक उन्हें कुछ प्रकार के व्यवसायों को करने से भी रोक सकती है और यदि उचित समझे तो प्रबन्ध के परिवर्तनों को भी बन्द कर सकती है। बैंकों के संयुक्तीकरण के लिए भी आज्ञा का लेना आवश्यक होता है। अनेक प्रकार के विवरणों तथा रिपोर्टों को रिजर्व बैंक को भेजा जाता है और उसकी आज्ञा के बिना बैंक तथा उसके ऋणदाताओं के बीच किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सकता है। रिजर्व बैंक की सिफारिश पर केन्द्रीय सरकार किसी बैंक को सदा के लिए अथवा कुछ समय के लिए एक्ट की कुछ अथवा समस्त व्यवस्थाओं से मुक्त भी कर सकती है।

(६) **निस्तारण**—ऐसी व्यवस्था की गई है कि बैंक के निस्तारण का कार्य शीघ्रतापूर्वक किया जा सके। बैंक के निस्तारण का अधिकार केवल उच्च न्यायालयों को ही दिया गया है, जिन्हें इस विषय में कुछ प्रकार के विशेष अधिकार दे दिये गये हैं।

(७) **अन्य व्यवस्थाएँ**—अंकेक्षण, खातों, विवरण-पत्र के प्रकाशन तथा कम्पनी के बन्द करने के सम्बन्ध में सविस्तार नियम बनाये गये हैं और नियमों का उलङ्घन करने वाली कम्पनियों के लिए दण्ड रखा गया है।

इस एक्ट की व्यवस्थाओं की दो प्रकार की आलोचनाएँ की गई हैं। जो लोग व्यापार बैंकों के राष्ट्रीयकरण को उचित समझते हैं उनके विचार में यह एक्ट पर्याप्त नहीं है। इसके विपरीत जो लोग ऐसा समझते हैं कि

बैंकिंग व्यवसाय में स्वतन्त्रता रहनी चाहिए उनके विचार में, यह बहुत से अनावश्यक प्रतिबन्ध लगाता है और देश में बैंकिंग विकास के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न करता है। सरकार के सामने इन दोनों विचारों के बीच समायोजन करने की समस्या थी। एक्ट की बहुत सी व्यवस्थाएँ कड़ी अवश्य हैं, परन्तु वे बैंकिंग व्यवस्था को काफी सुरक्षा प्रदान करती हैं। एक्ट की व्यवस्थाओं का शासन रिजर्व बैंक को सौंपा गया है। इस कारण उसी की कुशलता तथा ईमानदारी पर उनके कार्यरोपण के परिणाम निर्भर रहेंगे। स्मरण रहे कि रिजर्व बैंक की स्थापना को केवल २२ वर्ष हुए हैं और अभी उससे बहुत आशा नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त एक्ट में दो भारी कमियाँ और भी हैं। इसमें देशी बैंकरों के सम्बन्ध में कोई भी व्यवस्था नहीं की गई है और ऐसा नियम बनाकर कि एक्ट के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक तथा केन्द्रीय सरकार के द्वारा की जाने वाली अनुचित बातों के लिए भी बैंक कुछ न कर सकेंगी, बैंकों के साथ अन्याय किया गया है।

सन् १९४९ के नियम में दो संशोधन किये गए हैं। सन् १९५० में प्रबन्ध के सम्बन्ध में एक्ट की व्यवस्थाओं की कुछ कमियों को दूर किया गया है और सन् १९५३ का एक्ट बैंक के निस्तारण से सम्बन्धित है और उसे अधिक सरल, वैज्ञानिक तथा उचित बनाने का प्रयत्न करता है।

सन् १९५१ में रिजर्व बैंक के विधान में कुछ ऐसे परिवर्तन किये गये कि वह बैंकिंग कम्पनियों की कार्य प्रणाली पर अधिक नियन्त्रण रख सके और उन्हें उपयुक्त सहायता दे सके। इन परिवर्तनों के अनुसार प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक के पास भेजे हुए विवरण में यह दिखाना होता है कि उसकी कितनी पूँजी सरकारी प्रतिभूतियों में लगी हुई है, अन्य बैंकों में कितनी पूँजी जमा है और तत्कालीन देयधन (Money at short notice) कितना है। विवरण के रूप में भी कुछ परिवर्तन किए गये हैं और बैंक को अपनी विदेशी शाखाओं का भी विवरण भेजना पड़ता है।

सन् १९५१ के संशोधन द्वारा रिजर्व बैंक को कुछ और भी अधिकार दिये गये हैं, जो निम्न प्रकार हैं:—

(१) रिजर्व बैंक किसी बैंक को किसी समय विशेष में यह आज्ञा दे सकती है कि वह रिजर्व बैंक के पास न्यूनतम वैधानिक शेष (Minimum Statutory Balance) न रखे।

(२) रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को यह छूट दे सकती है कि वह किसी विशेष समय से सम्बन्धित लेखे उसके पास न भेजे।

(३) रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्य सहकारी बैंकों से भी विवरण लेखे माँग सके।

(४) रिजर्व बैंक को विदेशी सरकारों और सरकारी आज्ञा पर व्यक्तियों के भी प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने का अधिकार दे दिया गया है।

(५) रिजर्व बैंक को समझौते करके राज्य सरकारों और व्यक्तिगत दलों के मौद्रिक ऋण सम्बन्धी प्रबन्ध का भार स्वीकार करने का भी अधिकार मिल गया है।

इससे पहले सन् १९५० में बैंकिंग विधान में निम्न चार संशोधन पहले ही किये जा चुके थे:—

(क) प्रत्येक बैंक के लिए देश अथवा विदेश में शाखा खोलने के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति आवश्यक है।

(ख) एकीकरण को सुविधाजनक बनाने के नियम बनाये गये।

(ग) विलीन होने वाली बैंकिंग कम्पनियों की समस्त लेनदारी पूर्ण रूप में नई कम्पनियों को हस्तान्तरित हो जाती है।

(घ) बैंक और उसके ऋणदाता के बीच होने वाला ऐसा कोई भी समझौता अवैधानिक होगा जो रिजर्व बैंक को मान्य न हो।

सन् १९५० के संशोधक नियम द्वारा बैंकों के निस्तारण का जो क्रम निश्चित किया गया था वह काफी जटिल था और नियम के पास होते ही उसकी कमियों का अनुभव होने लगा था। सन् १९५२ की एक समिति ने बताया था कि ३२१ बैंकों के निस्तारण का कार्य सन् १९२६ से चल रहा था और अभी समाप्त नहीं हुआ था, अतः दिसम्बर सन् १९५३ में बैंकिंग कम्पनीज निस्तारण नियम पास किया गया। इस एक्ट में निस्तारण के व्यय को कम किया गया है, छोटे निक्षेपदाताओं को अधिक सुविधा दी गई है और निस्तारण की कार्य-विधि को अधिक सरल बनाया गया है।

निस्तारण सम्बन्धी नियम की प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं:—

(१) बचत और चालू खातों के ऐसे निक्षेपदाताओं को जिनकी जमा छोटी है, एक निश्चित रकम तक के भुगतान में प्राथमिकता दी जायगी।

(२) निस्तारक (Liquidator) को बैंक के बन्द हो जाने के ६ महीने के भीतर ही ऐसे ऋणी ग्राहकों की सूचना अदालत को देनी होगी, जिनके मामलों का निबटारा अदालत को करना होगा।

(३) अदालत को अधिकार होगा कि वह निस्तारक की डिग्री की रकम वसूल करने के लिए लगान वसूली की विधियों के उपयोग के आदेश दे सके।

(४) यदि उचित हो तो अदालत बैंक के संचालकों की भी जाँच कर सकती है और अयोग्य सिद्ध होने पर संचालक को ५ वर्ष तक के लिए बैंक का संचालक बनने से वंचित कर सकती है।

(५) अदालत और सरकार दिवालिया बैंक का रिजर्व बैंक से निरीक्षण करा सकती हैं।

(६) बैंकों के निस्तारण के लिए प्रत्येक उच्च न्यायालय में अदालती निस्तारक नियुक्त किया जा सकता है।

बैंकिंग कम्पनीज (संशोधन) अधिनियम, सन् १९५२—

इस नियम को दिसम्बर सन् १९५३ में बैंकिंग अधिनियम में शामिल कर दिया गया है। इस अधिनियम ने मुख्यतया बैंकों के निस्तारण की व्यवस्था की है। प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) उच्च न्यायालय का क्षेत्र बढ़ा दिया गया है जिससे कि उसी क्षेत्र का उच्च न्यायालय निस्तारण का कार्य कर सके, जिसमें कि बैंक स्थित है।

(२) उच्च न्यायालय (High Court) को बैंकिंग कम्पनी के संचालकों के विरुद्ध दावों के लिए समय अवधि निश्चित कर सकता है।

(३) संचालकों की देनदारी को शीघ्र निपटाने के लिए बैंकिग कम्पनियों के व्यवहारों की अनिवार्य सार्वजनिक जाँच की जायगी।

(४) उच्च न्यायालय को अधिकार दिया गया है कि यदि निस्तारक (Liquidator) बाहरी सबूत द्वारा सिद्ध कर देता है तो न्यायालय बैंकिंग कम्पनी के प्रवर्तक (Promoter) अधिकारी संचालक अथवा व्यवस्थापक से बैंक की राशि अथवा सम्पत्ति का भुगतान पा सके।

(५) केन्द्रीय सरकार को बैंकों के न्यायालय निस्तारक नियुक्त करने का अधिकार दिया गया है।

(६) ऐसी व्यवस्थाएँ की गई हैं कि बैंकिंग कम्पनियों के ऋणियों के विरुद्ध आदेश अथवा कुर्की की कार्यवाही शीघ्रतया की जा सके।

(७) उच्च न्यायालय अथवा सरकार के आदेश पर रिजर्व बैंक को निस्तारक बैंक के परीक्षण और उससे विवरण तथा सूचनाएँ माँगने का अधिकार दिया गया है।

(८) नियमानुसार कम्पनी के ऐसे जमाधारियों को भुगतान में प्राथमिकता दी गई है जिनकी बचत और चालू खातों में कम राशि जमा है।

(९) बैंक के लिए यह अनिवार्य किया गया है कि काम को बन्द करने के ६ मास के अन्दर निस्तारक को ऐसे ऋणियों की सूची प्रदान करे जिनका कि उच्च न्यायालय को भुगतान करना है।

बैंकिंग कम्पनीज (संशोधन) अधिनियम, सन् १९५६—

रिजर्व बैंक सम्बन्धी नियम के परिवर्तन के पश्चात् बैंकिंग कम्पनीज एक्ट में भी कुछ प्रकार के संशोधन आवश्यक हो गये थे। दिसम्बर सन् १९५६ में इसी आशय से उपरोक्त नियम पास किया गया। यह नियम १४ जनवरी सन् १९५७ से लागू किया गया है। इस नियम की व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) रिजर्व बैंक को जन साधारण तथा बैंकिंग कम्पनियों के हितों की रक्षा के लिए बैंकों तथा बैंकिंग कम्पनियों को आदेश देने का अधिकार दिया गया है।

(२) बैंकों के लिए यह अनिवार्य किया गया है कि वे अपने प्रमुख अधिकारियों और प्रबन्ध-संचालकों की नियुक्ति और नियुक्ति की शर्तों के बारे में रिजर्व बैंक से पूर्व स्वीकृति प्राप्त करें।

(३) किसी भी बैंक की संचालक सभा अथवा अन्य समिति अथवा अन्य संगठित सभा की कार्य-पद्धति की जाँच के लिए रिजर्व बैंक अपने अधिकारियों को भेज सकती है अथवा ऐसी जाँच और बैंक की स्थिति की रिपोर्ट देने के लिए अपने निरीक्षक (Observers) भेज सकती है।

बैंकिंग विधान का महत्त्व—

बैंकिंग विधान का उद्देश्य बैंकिंग विकास की दोषपूर्ण प्रवृत्तियों को रोकना और बैंक की अनुचित तथा जन-हित विरोधी कार्यवाहियों को बन्द करना होता है। बैंकिंग विधान की सफलता भी उसकी इन महत्त्व-पूर्ण कार्यों को सम्पन्न करने की क्षमता पर निर्भर होती है। भारतीय बैंकिंग विधान का भी यह उद्देश्य रहा है। वास्तव में व्यक्तिगत लाभ को अधिकतम् करने के लिए बैंक बहुधा सतर्कता और सुरक्षा के मार्ग को छोड़ देती हैं तथा जन-हित की अवहेलना करने लगती हैं। इस घातक प्रवृत्ति को समुचित विधान द्वारा रोका जा सकता है। भारत में वर्तमान बैंकिंग विधान काफी सोच-समझ कर बनाया गया है। सरकार की नीति यह भी रही है कि आवश्यकता पड़ने पर विधान में उपयुक्त दिशाओं में आवश्यक संशोधन भी किये जायें। हाल के एक संशोधन द्वारा बैंकों की रिजर्व बैंक में जमा सम्बन्धी प्रतिशत को भी घटाया गया है, ताकि दूसरी पंच-वर्षीय योजना के वित्तीय साधन सुलभ हो जायें। हमारे बैंकिंग विधान के दो दोष अवश्य हैं। प्रथम, यह भय है कि वैधानिक जटिलता प्रगति में बाधक हो सकती है। दूसरे, रिजर्व बैंक के अधिकार इतने बढ़ गये हैं कि उनका दुरुपयोग सम्भव है। विशेषकर, राजनैतिक आधार पर।

अध्याय ३४

रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया

(The Reserve Bank of India)

भारत में १ अप्रैल सन् १६३५ में एक अंशधारियों की बैंक के रूप में रिजर्व बैंक ने अपना कार्य आरम्भ किया। इससे पहले सन् १६३४ में रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट पास हो चुका था। ऐसी बैंक की स्थापना की सिफारिश हिल्टन-यंग आयोग ने की थी, जिसका विचार था कि भारत में एक केन्द्रीय बैंक की भारी आवश्यकता थी और ऐसी बैंक का नाम भी रिजर्व बैंक होना चाहिये, परन्तु कुछ दिनों तक सरकार ने इस समस्या के विचार को स्थगित करके रखा। सन् १६३४ का एक्ट पास होने से पहले काफी समय तक यह वाद-विवाद चलता रहा कि क्या इम्पीरियल बैंक को ही केन्द्रीय बैंक नहीं बनाया जा सकता था, क्योंकि पहले से ही वह बैंक कुछ केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी कार्य करती चली आ रही थी। इसके अतिरिक्त इस बात पर भी काफी सोच-विचार किया गया कि क्या रिजर्व बैंक को अंशधारियों की बैंक बनाया जाय, अथवा उसे आरम्भ से ही सरकारी नियन्त्रण में रखा जाय।

बैंक की आवश्यकता—

ऐसा अनुभव किया गया था कि इम्पीरियल बैंक का कार्य संतोषजनक नहीं था और मुद्रा पर सरकार का दोहरा नियन्त्रण रहता था, इसलिए यह आवश्यक था कि इन कमियों को दूर करने के लिए एक केन्द्रीय बैंक स्थापित की जाय। हिल्टन-यंग आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया था कि एक ऐसी प्रणाली में दोषों का रहना आवश्यक था जिसमें मुद्रा तथा साख पर दो अलग-अलग संस्थाओं का नियन्त्रण रहता हो, क्योंकि दोनों की नीतियों में भारी अन्तर का रहना सम्भव है। आयोग का विचार था कि केन्द्रीय बैंक की व्यवस्था द्वारा यह कमजोरी दूर हो जायगी। साथ ही, यह भी अनुभव किया गया था कि सन् १६३५ के नये विधान की सफलता एक बड़े अंश तक इस बात पर निर्भर थी कि देश की वित्तीय स्थिति दृढ़ रहे और उसकी साख भी बनी रहे।

इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक बनाना इस कारण उपयुक्त नहीं समझा गया था कि पहले से ही इम्पीरियल बैंक देश की अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करती चली आ रही थी, इसलिए अन्य बैंकों का उस पर

पूरा विश्वास न रहने के कारण उसके कार्य को सन्तोषजनक रीति में चलाना कठिन था। केन्द्रीय बैंक के अधिकार मिल जाने का अर्थ यह था कि इम्पीरियल बैंक अन्य बैंकों का संरक्षक तथा ऋण का अन्तिम सहारा बन जाती, जिससे वह अपने साधारण बैंकिंग कारोबार को चालू नहीं रख सकती थी। अन्य बैंकों पर उसका प्रभाव न होने के कारण उसकी कार्यक्षमता पर विश्वास भी कम रहने का भय था। वैसे भी इम्पीरियल बैंक का संचालक मण्डल बैंक द्वारा साधारण बैंकिंग कारोबार को छोड़ने के पक्ष में नहीं था। अतएव यह निश्चय किया गया कि भारत में एक रिजर्व बैंक स्थापित की जाय, जो नये सिरे से अपना कार्य आरम्भ करके अपनी नई परम्परा बनाये।

रिजर्व बैंक को राजकीय संस्था बनाने के पक्ष और विपक्ष में भी बहुत कुछ कहा गया था। ऐसा विचार था कि अंशधारियों की संस्था के रूप में यह बैंक देश के हित में कार्य नहीं कर पायगी, क्योंकि अंशधारी अपने अधिकारों का उपयोग निहित हितों (Vested Interests) को उत्पन्न करने के लिए कर सकते हैं और इस प्रकार प्राप्त शक्ति का उपयोग राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अपनी स्वार्थ पूर्ति में कर सकते हैं। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि एक अविकसित देश होने के कारण भारत में जनता को अपनी बचत उत्पादक कार्यों में लगाने का अभ्यास नहीं है, इसलिए इन दशाओं में कोई भी अंशधारियों की बैंक सफल नहीं रह सकती थी। इस बैंक को एक राजकीय संस्था बनाने के विरुद्ध भी कुछ गम्भीर तर्क रखे गये थे। यह कहा गया था कि सरकार द्वारा इस संस्था का एक भेद-भाव के साधन के रूप में विदेशी हितों को लाभ पहुँचाने के लिए उपयोग किया जा सकता था। यह भी प्रकट किया गया था कि राजकीय संस्था बन जाने पर रिजर्व बैंक भारतीय व्यापारियों के अनुभवों और उनकी सलाहों के लाभ से बंचित रहेगी। केवल अंशधारियों की बैंक रहने की दशा में ही ये लाभ उसे प्राप्त हो सकते हैं, अतः यह निश्चय हुआ कि रिजर्व बैंक को एक अंशधारियों की बैंक बनाया जाय और १ अप्रैल सन् १९३५ तथा ३१ दिसम्बर सन् १९४८ के बीच यही व्यवस्था बनी रही। १ जनवरी सन् १९४९ से रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया है।

बैंक का विधान—

आरम्भ में रिजर्व बैंक ने अंशधारियों की बैंक के रूप में कार्य शुरू किया। इसकी कुल अंश पूँजी ५ करोड़ रुपया रखी गई थी, जिसे १००-१०० रुपये के पूर्ण तथा घोषित अंशों में बाँटा गया था, परन्तु प्रयत्न यह किया गया था कि बैंकिंग को संचालक शक्ति थोड़े से हाथों में केन्द्रित न

होने पाये। इसके लिए एक योजना बनाई गई थी, जिसके अनुसार देश को कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली तथा रंगून के पाँच क्षेत्रों में बाँटा गया और प्रत्येक क्षेत्र में दर्ज अंशधारियों को बराबर की कीमत के अंश बेचे गये, परन्तु धीरे-धीरे हस्तान्तरण द्वारा सारे अंश बम्बई क्षेत्र में केंद्रित होने लगे। इसके कारण सन् १९४० में सरकार को यह नियम बनाना पड़ा कि यदि किसी व्यक्ति के पास २० हजार रुपये की कीमत से अधिक अंश हो जायँ तो उसका नाम अंशधारियों की सूची में दर्ज नहीं हो सकता था, परन्तु यह नियम भी अंशों को बम्बई क्षेत्र में केन्द्रित होने से रोक न सका। केवल राष्ट्रीयकरण द्वारा ही यह दोष दूर हो सका है।

वर्तमान विधान—

सन् १९४८ के रिजर्व बैंक (लोक स्वामित्व हस्तान्तरण) एक्ट द्वारा रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण किया गया। बैंक के सभी अंशों को प्रत्येक १०० रुपये के अंश को ११८ रुपये १० आने कीमत चुका कर सरकार ने प्राप्त कर लिया। बैंक का वर्तमान विधान निम्न प्रकार है :—

(क) पूँजी—बैंक की वर्तमान पूँजी पहले की ही भाँति ५ करोड़ रुपया है, परन्तु अब उसके सभी अंश सरकार के पास हैं।

(ख) प्रबन्ध—बैंक का प्रबन्ध एक केन्द्रीय संचालक समिति द्वारा किया जाता है, जिसमें १४ सदस्य होते हैं। इन १४ सदस्यों में से एक गवर्नर तथा २ उप-गवर्नर सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, ७ संचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा नामजद किये जाते हैं और ४ सञ्चालक स्थानीय समितियों (Local Boards) से छांटे जाते हैं।

स्थानीय समितियों के ३-३ सदस्य होते हैं, जो विभिन्न प्रादेशिक तथा आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इन हितों में सरकारी बैंक तथा देशी बैंकरों को भी सम्मिलित किया जाता है।

राष्ट्रीयकरण से पूर्व केन्द्रीय संचालक मण्डल में १६ सदस्य होते थे, जिनमें से १ गवर्नर तथा १ उप-गवर्नर सरकार नामजद करती थी, ४ संचालक सरकार नामजद करती थी, ८ संचालक विभिन्न क्षेत्रों के अंश-धारी निर्वाचित करते थे और एक सरकारी अधिकारी सरकार द्वारा नामजद किया जाता था। इसी प्रकार स्थानीय मण्डलों में ८-८ सदस्य होते थे, जिनमें से ५ वहाँ के अंशधारी निर्वाचित करते थे और ३ सदस्य केन्द्रीय सरकार नामजद करती थी।

(ग) नीति—रिजर्व बैंक की नीति तथा कार्यवाहन पूर्णतया केन्द्रीय सरकार के हाथ में है, जो समय-समय पर गवर्नर से सलाह करके बैंक को आदेश देती रहती है।

(घ) विभाग—बैंक के दो प्रमुख विभाग हैं :—निर्गम विभाग तथा अधिकोषण विभाग। यही व्यवस्था बैंक ऑफ इङ्गलैंड में भी है। निर्गम विभाग का सम्बन्ध केवल नोट निर्गम से है, अन्य सभी कार्य अधिकोषण विभाग द्वारा किये जाते हैं।

अधिकोषण विभाग के भी कई उप-विभाग हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department)—यह विभाग कृषि तथा ग्रामीण वित्त सम्बन्धी सभी प्रकार के कार्य करता है। देश में कृषि वित्त की कमी को दूर करने के लिए आरम्भ से ही इस विभाग का निर्माण किया गया था।

(२) विनिमय नियन्त्रण विभाग (The Exchange Control Department)—इस विभाग का कार्य विनिमय नियन्त्रण नियमन सम्बन्धी शासन को चलाना होता है।

(३) बैंकिंग कार्य विभाग (The Department of Banking Operations)—यह विभाग अन्य बैंकों के नियन्त्रण तथा निरीक्षण का कार्य करता है। यह विभाग १ अगस्त सन् १९४५ को खोला गया था और इसके तीन उप-भाग हैं :—(अ) संचालन विभाग (Operation Division), (ब) निरीक्षण विभाग (Inspection Division) तथा (स) निस्तारण विभाग (Liquidation Division)। प्रथम विभाग उन सब कार्यों को करता है जो रिजर्व बैंक को एक बैंक होने के नाते करने पड़ते हैं। निरीक्षण विभाग यह देखता है कि अन्य बैंक समुचित बैंकिंग कार्यवाहन के लिए सरकार तथा रिजर्व बैंक द्वारा जारी किये हुए आदेशों का कहाँ तक पालन करते हैं। निस्तारण विभाग का कार्य बैंकों के बन्द कर देने से सम्बन्धित उचित कार्यवाही का करना होता है।

रिजर्व बैंक के कार्य (The Functions of the Reserve Bank)—

रिजर्व बैंक भारत की केन्द्रीय बैंक है, इसलिए वह उन सभी कार्यों को सम्पन्न करती है जो एक साधारण केन्द्रीय बैंक द्वारा किए जाते हैं। इन कार्यों का विस्तृत वर्णन एक पिछले अध्याय में किया जा चुका है। प्रस्तुत अध्याय में रिजर्व बैंक के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा। बैंक के कार्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) सरकारी बैंकर का कार्य—केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की सभी नकद शेष (Cash Balances) रिजर्व बैंक में रखी जाती हैं और इन पर किसी प्रकार का ब्याज नहीं दिया जाता है। भारत के लोक ऋण (Public Debts) का प्रबन्ध भी यही बैंक करती है। ऋणों का हिसाब, उनका जमा करना तथा उनका चुकाना रिजर्व बैंक के ही कार्य हैं। इसके

अतिरिक्त सरकारी बैंकिंग व्यवसाय जिनमें सरकारी करों आदि से प्राप्त आय को जमा करना, सरकारी कोषों का एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना, सरकारी आदेशानुसार शोधन करना आदि कार्य शामिल हैं, भी यही बैंक करती है। यह बैंक स्वयं भी सरकार को ऋण दे सकती है, परन्तु ऐसे ऋण या तो माँग पर तुरन्त शोधनीय होते हैं अथवा मार्गोपाय अग्रिमों (Ways and Means Advances) के रूप में होते हैं, जो एक निश्चित अवधि के भीतर, जो अधिक से अधिक ६० दिन हो सकती है, शोधनीय होते हैं। बैंक को विदेशी सरकारों की ओर से भी कार्य करने का अधिकार है।

(२) नोटों का निर्गम—रिजर्व बैंक को भारत में नोट निर्गम का एकाधिकार प्राप्त है। इस कार्य के लिये बैंक का एक पृथक विभाग है, जिसे निर्गम विभाग कहा जाता है। कारण यह है कि नोट निर्गम को एक प्रकार से बैंकिंग कार्य नहीं कहा जा सकता है, परन्तु आधुनिक विचारधारा ऐसी व्यवस्था के विरुद्ध है। वर्तमान काल में करैंसी नोट तथा बैंक के जमाधन में कोई आधारभूत भेद नहीं होता है और दोनों ही मुद्रा होते हैं। इस कारण दोनों विभागों के भेद का कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं रह जाता है। केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गम तथा बैंकिंग व्यवसाय दोनों में ही प्रतियोगिता का कोई भय नहीं होता है।

भारत में नोट निर्गम प्रणाली पर जनता का विश्वास बनाए रखने के लिए यह व्यवस्था की गई है कि जितने नोटों का निर्गम हो उसके ४०% के बराबर सोने के सिक्के, स्वर्ण-पाट अथवा स्टर्लिंग होने चाहिए, जिसमें २१ रुपया ३ आना ८ पाई प्रति तोला की दर पर किसी भी समय ४० करोड़ रुपये से कम कीमत का सोना नहीं रहना चाहिए। शेष ६०% नोटों के पीछे रुपया प्रतिभूतियाँ, विनिमय बिल आदि हो सकते हैं, परन्तु भारत सरकार ने रुपया प्रतिभूतियों की अधिकतम् मात्रा ५० करोड़ रुपया अथवा कुल की एक चौथाई (जो भी अधिक हो) रखी है, परन्तु बाद के संशोधनों द्वारा यह प्रतिबन्ध हटा दिया गया है, जिसके कारण रुपया प्रतिभूतियों की राशि बराबर बढ़ती गई है। यह संशोधन सन् १९४९ में हुआ था।

(३) विनिमय स्थिरता को बनाये रखना—सन् १९३४ के एक्ट के अनुसार यह रिजर्व बैंक का एक वैधानिक कार्य है कि वह रुपये की वाह्य कीमत को एक निश्चित बिन्दु पर बनाये रखे। मुद्रा कोष (I. M. F.) की स्थापना से पूर्व रिजर्व बैंक की निर्धारित रुपये की कीमत १ शिलिंग ६ पैंस के बराबर थी। सन् १९४७ से इस नियम में संशोधन

किया गया है। अब रिजर्व बैंक विदेशी विनिमय केवल उन दरों पर खरीद तथा बेच सकती है जिनको सरकार समय-समय पर निर्धारित करती है। पहले की भाँति अब एक निश्चित दर पर स्टर्लिङ्ग का क्रय-विक्रय करना अनिवार्य नहीं रहा है।

(४) **बैंकिंग कार्य**—रिजर्व बैंक सरकारों के निक्षेपों को स्वीकार करती है, परन्तु इन निक्षेपों पर ब्याज नहीं दिया जा सकता है। बैंक को विनिमय बिलों, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि के क्रय-विक्रय तथा फिर से भुनाने का भी अधिकार है, परन्तु इसमें यह शर्त लगाई गई है कि ऐसे साख-पत्रों पर दो हस्ताक्षर होने चाहिए, जिनमें से एक किसी अनुसूचित अथवा राज्य सहकारी बैंक का हो और इनकी परिपक्वता अवधि ९० दिन से अधिक नहीं होनी चाहिए। ऐसे कृषक बिलों पर जो कृषि के मौसमी व्यवसायों की वित्तीय व्यवस्था के लिए लिखे जाते हैं, परिपक्वता अवधि १५ महीने की रखी गई है, परन्तु रिजर्व बैंक द्वारा अपहरण के लिए ऐसे बिलों पर भी दो अच्छे हस्ताक्षर होने चाहिए, जिसमें से एक अनुसूचित बैंक अथवा राज्य सहकारी बैंक का होना चाहिए। बैंक को विदेशी विनिमय खरीदने और बेचने का भी अधिकार है और वह किसी भी ऐसे देश पर लिखे हुए विदेशी विनिमय बिल का भी क्रय-विक्रय कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य हो। बैंक राज्यों, स्थानीय सरकारों, अनुसूचितबैंकों तथा राज्य सहकारी बैंकों को ऋण भी दे सकती है, यदि ऐसे ऋण माँग पर तुरन्त शोधनीय हैं अथवा ९० दिन के भीतर शोधनीय हैं और प्रसंविदित प्रतिभूति (Trustee Security), स्वर्ण अथवा चाँदी, स्वीकृत विपत्र तथा प्रतिज्ञा-पत्रों पर दिये गये हैं अथवा अनुसूचित या राज्य सहकारी बैंकों द्वारा लिए गये हैं और माल के अधिकार-पत्रों के रहन (Pledge) द्वारा सुरक्षित हैं। रिजर्व बैंक विदेशी केन्द्रीय बैंक के साथ एजेन्सी व्यवस्था भी कर सकती है।

(५) **बैंकों की बैंक**—रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि वह भारत में समुचित बैंकिंग प्रणाली को बनाये रखे। सन् १९४९ के विधान में उसे महत्त्वपूर्ण अधिकार दिये गये हैं। देश की बैंक-निधि का केन्द्रीयकरण करने तथा निक्षेपदाताओं के हितों की रक्षा करने के लिए यह निश्चित किया गया है कि सभी अनुज्ञापित बैंक अपने माँग दायित्वों का ५% तथा समय दायित्वों का २% रिजर्व बैंक में रखें। समय-समय पर प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक के पास अनेक प्रकार की रिपोर्टें भेजनी पड़ती हैं और प्रत्येक सप्ताह अपनी लेन-देन का विस्तृत विवरण भी भेजना पड़ता है। रिजर्व बैंक किसी भी अनुज्ञापित बैंक के लेखों का निरीक्षण कर सकती है, यह बैंकों को ऋण दे सकती है, उन्हें ऋण नीति के सम्बन्ध में आदेश दे सकती है और उनके अनुचित व्यवहारों को वर्जित कर सकती है। इसके अतिरिक्त

समाशोधन-गृहों की सेवायें उपलब्ध करके वह बैंकों के पारस्परिक भुगतानों को चुकाने में सुविधा देती है।

(६) **साख नियन्त्रण**—साख-नियन्त्रण का उद्देश्य यह होता है कि साख की मात्रा का व्यवसायों की साख सम्बन्धी माँग के साथ समायोजन किया जाय। साख की मात्रा बैंकों की ऋण नीति पर निर्भर होती है। इस कारण साख नियन्त्रण का अर्थ बैंकों की ऋण नीति पर नियन्त्रण करने से होता है। रिजर्व बैंक इस कार्य के लिए बैंक दर के परिवर्तनों, खुले बाजार व्यवसाय तथा वैधानिक अधिकारों का उपयोग करती है। साधारणतया, रिजर्व बैंक को जनता के साथ सीधे-सीधे व्यवसाय करने का अधिकार नहीं है, परन्तु यदि केन्द्रीय मण्डल की कोई विशेष समिति अथवा गवर्नर ऐसा अनुभव करता है कि विशेष परिस्थिति अथवा संकट का काल उत्पन्न हो गया है और वाणिज्य तथा व्यापार के हितों की रक्षा के लिए साख पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है तो अनुसूचित बैंक के हस्ताक्षर बिना भी रिजर्व बैंक बिलों को भुनाने तथा खरीदने और बेचने का कार्य कर सकती है। साख नियन्त्रण की इस प्रभावशाली रीति का रिजर्व बैंक ने पूरा-पूरा लाभ उठाया है, परन्तु इस अधिकार की भी कुछ सीमायें हैं। भारतीय मुद्रा-बाजार के असंगठित तथा अविकसित होने के कारण यह नीति बहुत सफल नहीं हो पाती है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक केवल कुछ विशेष प्रकार के ही साख-पत्रों का क्रय-विक्रय कर सकती है और क्योंकि ये साख-पत्र सरकारी होते हैं, इसलिए इनके सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता भी नहीं होती है। सरकारी साख नष्ट हो जाने के भय से उन्हें भारी मात्रा में नहीं बेचा जा सकता है।

(७) **कृषि वित्त-व्यवस्था**—रिजर्व बैंक कृषि साख से सम्बन्धित सभी समस्याओं का अध्ययन करने के लिए विशेषज्ञों को रखती है। बैंक का एक पृथक विभाग ही ऐसा है जिसका कार्य कृषि वित्त की उन्नति और सुविधाओं के लिए उपाय करना होता है। इसके अतिरिक्त यह विभाग राज्य सरकारों तथा राज्य सहकारी बैंकों को सलाह भी देता है। आरम्भ में यह विभाग केवल रिपोर्ट प्रकाशित करता था और कृषि साख के पुनर्सङ्गठन के सम्बन्ध में अन्य कोई भी कार्य नहीं करता था। पिछले तीन वर्षों से बैंक ने इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया है। सन् १९४९-५० की ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति की सिफारिशों पर इसने देश भर में साख व्यवसाय की जाँच का काम पूरा कियाहै।

रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य—

सन् १९३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार, जिसमें

बाद को संशोधन भी किये गये हैं, इस समय रिजर्व बैंक को निम्न कार्यों के करने से वर्जित किया गया है:—

(१) कुछ निश्चित काल के लिए अपनी लेन को वसूल करने के लिए ही रिजर्व बैंक व्यापार, वाणिज्य अथवा उद्योग में भाग ले सकती है, अन्यथा सामान्य रूप में उसे इन कार्यों के करने से वर्जित किया गया है।

(२) वह किसी बैंक अथवा कम्पनी के अंश नहीं खरीद सकती है और ऐसे अंशों की आड़ पर ऋण भी नहीं दे सकती है।

(३) वह अचल सम्पत्ति की प्रतिभूति पर ऋण नहीं दे सकती है और अपने व्यावसायिक कार्यालयों के निर्माण के अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य से ऐसी सम्पत्ति प्राप्त भी नहीं कर सकती है।

(४) वह उसमें जमा की गई राशि पर ब्याज नहीं दे सकती है।

(५) वह न तो ऐसे बिल लिख सकती है और न भुना सकती है जो माँग पर शोधनीय न हों।

स्मरण रहे कि रिजर्व बैंक के कार्यों की ये सीमायें इस कारण निश्चित की गई हैं कि एक ओर तो रिजर्व बैंक अन्य बैंकों से प्रतियोगिता न कर सके और दूसरी ओर बैंक का व्यावसायिक आधार दृढ़ रहे।

रिज़र्व बैंक व्यवहार में (The Reserve Bank in Action)—

रिजर्व बैंक इस समय अपने जीवन काल का २३ वाँ वर्ष व्यतीत कर रही है और बहुत बार यह प्रश्न रखा जाता है कि क्या यह अपने उद्देश्य में सफल रही है? रिजर्व बैंक के कार्यवाहन को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि दोषों के रहते हुए भी इस संस्था ने देश की भारी सेवा की है और देश की मुद्रा तथा साख नीति को एक समुचित आधार प्रदान किया है।

नोट के निर्गम का कार्य पूर्णतया संतोषजनक रहा है। बैंक ने सोने के सिक्कों तथा स्वर्णपाट की मात्रा कभी भी ४० करोड़ रुपये से कम कीमत की नहीं होने दी है, बल्कि सन् १९४८-४९ तक यह इससे अधिक रही है। इसी प्रकार रुपया प्रतिभूतियाँ भी कुल देयधन के $\frac{1}{2}$ से अधिक नहीं रही हैं। केवल सन् १९४९ में इनसे सम्बन्धित नियम में संशोधन के पश्चात् ही यह अनुपात घटा है।

नोट निर्गम के सम्बन्ध में सबसे बड़ा दोष यही रहा है कि दूसरे महायुद्ध के काल में उनकी मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हुई है। सन् १९३८–३९ में २११ करोड़ रुपयों से बढ़ कर सन् १९४५–४६ में उनकी मात्रा १,१७६ करोड़ रुपया हो गई थी। यह परिस्थति रिजर्व बैंक की भूल के कारण

उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि ब्रिटिश सरकार की उस नीति का परिणाम है जिसके अन्तर्गत उसने रिजर्व बैंक द्वारा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों पर नोट निर्गम के अधिकार से लाभ उठाया है। रिजर्व बैंक का दोष यही था कि उसने जनता को ब्रिटिश सरकार की इस नीति की यथासमय सूचना नहीं दी थी। स्वतन्त्रता के उपरान्त मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए चलन में आये हुए नोटों की संख्या को आवश्यकतानुसार घटाने में भी रिजर्व बैंक असफल रही है।

सरकारी बैंकर के दृष्टिकोण से रिजर्व बैंक ने जिस प्रकार कार्य किया है उसके प्रति भी सरकार अथवा जनता को कभी असन्तोष प्रकट करने का अवसर नहीं मिला है। यही बात रिजर्व बैंक द्वारा विदेशी विनिमय दर को बनाये रखने के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

रिजर्व बैंक की सबसे बड़ी आलोचना इस सम्बन्ध में हुई है कि वह अन्य बैंकों को फेल होने से बचाने में असमर्थ रही है। अन्य बैंकों की संरक्षक तथा ऋणों का अन्तिम सहारा होने के कारण रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह आवश्यक सहायता देकर बैंकों के विलीयन की सम्भावना को कम करे। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक के अधिकारियों का कहना है कि अधिकाँश दशाओं में फेल होने वाली संस्थाओं की बिगड़ती हुई दशा का उसे पता नहीं चलता है। भूतकाल में ऐसी बैंकों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने का उसे अधिकार न था और फेल होने वाली बहुत सी संस्थाओं की सम्पत्ति ब्रिटिश भारत के बाहर थी, जिसके कारण उन्हें सहायता नहीं दी जा सकती थी। परन्तु ये तर्क सार-हीन हैं, क्योंकि एक ओर तो आवश्यकता पड़ने पर रिजर्व बैंक सरकार द्वारा आवश्यक नियम बनवा सकती थी और दूसरी ओर सही सूचनाएँ प्राप्त न करने के लिए एक अंश तक रिजर्व बैंक स्वयं भी दोषी थी।

सन् १९४९ के विधान ने निरीक्षण, जानकारी तथा नियन्त्रण के विस्तृत अधिकार रिजर्व बैंक को दिये हैं। इन अधिकारों का वर्णन एक पिछले अध्याय में किया जा चुका है। बिना रिजर्व बैंक की आज्ञा के कोई भी न्यायालय अब किसी बैंक के विलियन की योजना स्वीकार नहीं कर सकता है। अब रिजर्व बैंक अन्य बैंकों का नियमित रूप से निरीक्षण करती है। इस सम्बन्ध में मार्च सन् १९५१ से एक विस्तृत योजना लागू की गई थी और सन् १९५२ के अन्त तक ही २५१ बैंकों का निरीक्षण समाप्त कर दिया गया था। इस कारण स्थिति में सुधार दृष्टिगोचर हो रहा है। 'भारत बैंक' तथा बङ्गाल की चार बैंकों को डूबने से बचा कर रिजर्व बैंक ने प्रशंसनीय कार्य किया है। बैंकिंग प्रणाली के सुधार का कार्य दीर्घकालीन

कार्य है, परन्तु समुचित निरीक्षण द्वारा इस दिशा में काफी उन्नति होती दिखाई पड़ रही है।

रिजर्व बैंक और साख नियन्त्रण—

सन् १९४९ के विधान में सभी प्रकार के बैंकों के लिए रिजर्व बैंक में जमा का रखना आवश्यक बना दिया गया है और सन् १९५१ से यह अनिवार्य कर दिया गया है कि सभी बैंकिंग कम्पनियाँ अपने चालू तथा निश्चितकालीन देयधन (Demand and Time Liabilities) का २०% नकदी, स्वर्ण अथवा अन्य स्वीकृत प्रतिभूतियों में रखें। बाद के संशोधनों द्वारा रिजर्व बैंक को बैंकों को कुछ रियायतें देने का भी अधिकार दिया गया है। विधान में रिजर्व बैंक को विस्तृत अधिकार प्रदान किए गए हैं; परन्तु यह अधिक अच्छा होगा कि आवश्यकता पड़ने पर देयधन के उपरोक्त प्रतिशत को तुरन्त बदला जा सके। रिजर्व बैंक को खुले बाजार में व्यवसाय करने का भी अधिकार दिया गया है, जो साख-नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है, परन्तु अभी तक इस अधिकार का पूर्ण उपयोग नहीं किया गया है। भारतीय मुद्रा-बाजार की अविकसित तथा असंगठित प्रकृति और उन प्रतिभूतियों की सीमितता, जो कि रिजर्व बैंक द्वारा खरीदी और बेची जा सकती हैं, इस कार्य में भारी बाधा उत्पन्न करती हैं।

भारत में बैंक दर—

आरम्भ में बैंक दर नीति सफल न हो सकी थी, क्योंकि परिस्थितियों के कारण रिजर्व बैंक को ही बैंक दर ३% बनाये रखनी पड़ी थी। इस कारण इस साधन का लाभपूर्ण उपयोग न हो सका। वास्तविकता यह है कि बैंक की कमजोर आर्थिक स्थिति तथा असंगठित मुद्रा-बाजार के कारण शायद यह नीति बहुत लाभदायक हो भी नहीं सकती थी।

युद्धोत्तर-काल में सभी देशों में बैंक दर के परिवर्तनों की एक सामान्य लहर सी आई थी। इस कारण साख-संकुचन नीति के अन्तर्गत १५ नवम्बर सन् १९५१ को रिजर्व बैंक ने बैंक दर ३% से बढ़ा कर ३½% कर दी। मार्च सन् १९५७ में यह बढ़ाकर ४% कर दी गई है। बैंक दर को सप्रभाविक बनाने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा व्यापार बैंकों को वित्तीय सहायता देने की नीति में भी भारी परिवर्तन किया गया है। पहले यह रीति अपनाई जाती थी कि रिजर्व बैंक बाजार भाव पर अनुसूचित बैंकों तथा सहकारी बैंकों से ऋण-पत्र आदि खरीद लिया करती थीं। इससे इन बैंकों को सरलतापूर्वक तथा सस्ते ब्याज पर ऋण मिल जाता था। इसके अतिरिक्त कोई बैंक सरकारी ऋण-पत्रों तथा अन्य स्वीकृत बिलों को भुना कर भी ऋण प्राप्त कर लेती थी, परन्तु इस प्रकार लिए जाने वाले ऋण कम ही रहते थे। बैंक दर को बढ़ाते ही रिजर्व

बैंक ने यह घोषणा की कि वह बैंकों की सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण-पत्र नहीं खरीदेगी, परन्तु सरकारी तथा अन्य स्वीकृत ऋण-पत्रों पर बैंक दर के अनुसार ऋण देगी। सन् १९५० में अनुसूचित बैंकों तथा सरकारी बैंकों ने रिजर्व बैंक से क्रमशः १३½ करोड़ रुपया तथा २½ करोड़ रुपया उधार लिया था। सन् १९५१ में ये राशियाँ ७६½ करोड़ रुपया तथा ५¾ करोड़ रुपया हो गई थीं और नीति में परिवर्तन करने से यह बढ़कर सन् १९५२ में १६¾ करोड़ रुपया तथा ३½ करोड़ रुपया हो गई थीं। नीचे की तालिका द्वारा ऋण के अन्तिम साधन के रूप में रिजर्व बैंक का महत्त्व स्पष्ट होता है :—

अनुसूचित तथा सहकारी बैंकों द्वारा प्राप्त ऋण

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	अनुसूचित बैंक	राज्य सहकारी बैंक	योग
१९४८–४९	२१·२६	१·१७	२२·४२
१९४९–५०	३४·७६	५·७३	४०·४९
१९५०–५१	१४·३२	२·३०	१५·७१
१९५१–५२	७६·५७	५·२९	८१·८६
१९५२–५३	१६४·२५	३·५९	१६७·८१
१९५५–५६	१२३·००	५·००	२२८·००

ऋण देने के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक ने अपनी नीति में जो परिवर्तन किये हैं उनके तीन लाभ बताये जाते हैं :—प्रथम, यह कहा जाता है कि इससे बैंक दर की सप्रभाविकता बढ़ जाती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इस बात से मिलता है कि नीति का परिवर्तन होते ही इम्पीरियल बैंक ने तुरन्त अपनी सभी प्रकार की ब्याज की दरों में सामान्य रूप में ½% की वृद्धि कर दी थी। दूसरे, यह रीति ऐसी है कि मुद्रा की पूर्ति में लोच रहती है। व्यवस्त व्यावसायिक काल में पूर्ति बढ़ती है, परन्तु इस काल के पश्चात् ऋण-पत्र लौट आते हैं और इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति स्वयं ही घट जाती है। तीसरे, इस रीति से रिजर्व बैंक का अन्य बैंकों पर अच्छा नियन्त्रण स्थापित हो जाता है।

उपरोक्त परिवर्तन की कई हानियाँ भी हैं :—(१) समुचित फल प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि खुले बाजार व्यवसाय की नीति को गुप्त रखा जाय, परन्तु इस रीति के कारण यह नीति गोपनीय नहीं रह पाती है। (२) पहले ऋण-पत्रों की कीमत में काफी स्थिरता रहती थी, क्योंकि रिजर्व बैंक उनका क्रय-विक्रय करती रहती थी, परन्तु इस नीति के फलस्वरूप इन पत्रों की कीमत गिरी है। नीति का परिवर्तन होते ही तीन

सप्ताह के भीतर इन ऋण-पत्रों की कीमत में ५·३% की कमी हो गई थी। सरकारी ऋण-पत्रों की कीमत में ऐसा परिवर्तन उचित नहीं होता है। (३) यह रीति बैंकों के लिए मंहगी तथा कष्टदायक है। इससे वित्त की प्रगति तथा मुद्रा-बाजार के विकास के मार्ग में बाधा पड़ती है।

जनवरी सन् १९५२ से रिजर्व बैंक ने हुण्डियों के क्रय-विक्रय की भी एक योजना चालू की थी। इस योजना के अनुसार रिजर्व बैंक ने अकेले सन् १९५२ में कुल मिलाकर ८७·६५ करोड़ रुपये के ऋण दिये थे, जिनमें से ८१·५५ करोड़ रुपया अनुसूचित बैंकों को दिया गया था और शेष ६·५० करोड़ रुपया सहकारी बैंकों को। बड़े लम्बे काल से रिजर्व बैंक के विरुद्ध यह कड़ी आलोचना की जा रही थी कि वह देश में हुण्डी बाजार का विकास नहीं कर रही थी। उपरोक्त कार्यवाही द्वारा शीघ्र ही यह भी दोष दूर हो जायगा। इस प्रणाली को लोकप्रिय बनाने तथा हुण्डी बाजार का शीघ्र विकास करने के लिये रिजर्व बैंक द्वारा इस योजना के अनुसार अनुसूचित बैंकों को बैंक दर से ½% कम दर पर ऋण दिये जाते हैं। ऋण को मुद्दती हुण्डी में बदलने के लिये जितने रुपये के मुद्रांक लगाये जाते हैं उनका आधा व्यय स्वयं रिजर्व बैंक द्वारा दिया जाता है।

जून सन् १९५४ से नवीन बिल योजना रिजर्व बैंक ने सभी अनुसूचित बैंकों पर लागू कर दी है। वर्तमान रूप में इस योजना के अन्तर्गत ऋण प्राप्ति की न्यूनतम रकम १० लाख रुपया रखी गई है और प्रत्येक ऐसे बिल की रकम जो रिजर्व बैंक से भुनवाया जा सकता है, १ लाख रुपये घटाकर ५० हजार रुपया कर दी गई है। योजना के कार्यवाहन का पाँचवां वर्ष आरम्भ हो गया है, क्योंकि यह जनवरी सन् १९५२ से चालू है। योजना की सफलता काफी रही है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा।

रिजर्व बैंक के अग्रिम

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर	कुल का प्रतिशत	बिलों के आधार पर	कुल का प्रतिशत	कुल
१९५२–५३	१६४	६६·८	८२	३३·२	२४६
१९५३–५४	३०	६६·३	६६	३३·७	१९६
१९५४–५५	१८९	५६·२	१४७	४३·८	३३६
१९५५–५६	२६९	५४·१	२२८	४५·९	४९७

यह निश्चय है कि अब रिजर्व बैंक बिलों के आधार पर अधिक ऋण दे रही है। इससे दो स्पष्ट लाभ हैं :—प्रथम, रिजर्व बैंक को बैंकों की साख नीति को नियन्त्रित करने का अधिक अच्छा अवसर मिल रहा है

और दूसरे, रिजर्व बैंक के लिए यह अधिकार सरल हो गया है कि व्यापार की आवश्यकता के लिए अधिक साख का निर्माण कर सके।

देशी बैंकिंग प्रणाली पर नियन्त्रण रखने में भी रिजर्व बैंक अभी तक असफल ही रही है। यह प्रयत्न काफी वर्षों से चल रहा है कि इस प्रणाली पर भी रिजर्व बैंक का आधिपत्य स्थापित किया जाय। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक वही सुविधाएँ देने को तैयार है जो साधारण अनुसूचित बैंकों को दी जाती हैं, परन्तु यह अनुरोध किया जाता है कि सहायता प्राप्त करने के लिए देशी बैंकरों को अपना व्यापार व्यवसाय छोड़ना पड़ेगा। यह शर्त किसी भी देशी बैंकर को मान्य नहीं है और अभी तक केवल ७ देशी बैंकिंग संस्थाएँ ही योजना में सम्मिलित हो पाई हैं।

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण—

सन् १९४८ के रिजर्व बैंक (लोक स्वामित्व हस्तान्तरण) नियम द्वारा रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया है और यह संस्था अब सरकारी है। रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व ही यह वाद-विवाद चला था कि क्या इस संस्था को एक सरकारी संस्था के रूप में स्थापित किया जाय, परन्तु इस समय इसे एक अंशधारियों का बैंक बनाना ही अधिक उपयुक्त समझा गया था। कालान्तर में इस व्यवस्था के पक्ष में दिये जाने वाले तर्कों का महत्त्व शेष नहीं रह पाया है। इस समय निम्न कारणों पर राष्ट्रीयकरण का समर्थन हुआ है :—

(१) युद्धोत्तर-काल में संसार के अनेक देशों में केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण हो चुका है और यह एक विश्वव्यापी आन्दोलन बन चुका है। रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का भी यही आधार है।

(२) युद्धकालीन अनुभव यही है कि उस काल में रिजर्व बैंक की स्वतन्त्रता की वास्तविकता खुल गई थी और वह एक सरकारी विभाग की भाँति कार्य कर रही थी। राष्ट्रीयकरण ने इस स्थिति को केवल वैधानिकता ही प्रदान की है।

(३) रिजर्व बैंक के अंशों का केन्द्रीयकरण होता जा रहा था और व्यक्तिक अधिकारों के दुरुपयोग का काफी भय था। सन् १९४९ के नियम ने तो रिजर्व बैंक को इतने विस्तृत अधिकार दे दिये हैं कि अब इसका निजी संस्था रहना अनुचित ही था।

(४) आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए भी यह आवश्यक है कि सरकार तथा रिजर्व बैंक का निकटतम् सम्बन्ध रहे। बिना राष्ट्रीयकरण के इसकी आशा कम ही थी।

इसके विपरीत राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध भी अनेक तर्क हैं :—प्रथम, यह कहा जा सकता है कि यह भारत सरकार की वर्तमान सामान्य औद्योगिक नीति के विरुद्ध है। सन् १६४८ में उद्योग राष्ट्रीयकरण की जिस नीति की घोषणा की गई थी उसे सरकार बदल चुकी है और इसलिए केवल रिजर्व बैंक को ही राष्ट्रीयकरण के लिये चुनना उचित नहीं कहा जा सकता है। आर्थिक नियोजन की पूरी सफलता के लिए तो समस्त बैंकिंग प्रणाली का राष्ट्रीयकरण अधिक उपयुक्त होगा। दूसरे, राष्ट्रीयकरण के कारण अब रिजर्व बैंक योग्य और अनुभवी व्यापारियों की सेवाओं के लाभ से वंचित है, क्योंकि इसकी परिषदों के सभी सदस्य सरकार नामजद करती है और उनमें कोई भी वित्त सम्बन्धी विशेष अनुभव प्राप्त गैर-सरकारी व्यक्ति नहीं है। तीसरे, अब यह भय काफी बढ़ गया है कि बैंक के संचालन पर राजनैतिक दलों तथा सरकार की वित्तीय नीति का अनुचित प्रभाव पड़ सकता है। इस समय रिजर्व बैंक पूर्णतया वित्त मन्त्रालय के हाथों में है, जो उसका किसी भी प्रकार उपयोग कर सकता है।

जैसा कि ऊपर भी बताया जा चुका है, १ जनवरी सन् १६४६ से रिजर्व बैंक को सरकारी अधिकार में ले लिया गया और इसके पुराने सभी अंशधारियों को प्रत्येक १०० रुपये के लिए ११८ रुपये १० आने मुआवजे के रूप में दे दिये गए हैं। मुआवजे की यह दर अंशों की मार्च सन् १६४७ और फरवरी सन् १६४८ के बीच के काल की औसत मासिक कीमत के बराबर रखी गई है। मुआवजे का एक भाग नकदी में चुकाया गया है और शेष के लिए ३% ब्याज के प्रतिज्ञा-पत्र दे दिये गये हैं। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् अब तक बहुत समय नहीं हो पाया है, जिसके कारण यह निर्णय कठिन है कि इस व्यवस्था द्वारा कितना लाभ हुआ है, परन्तु सरकारी अधिकारियों का मत है कि इसके कारण रिजर्व बैंक की उपयोगिता तथा सप्रभाविकता बढ़ गई है।

ऐसा अनुभव किया गया है। कि कृषि साख के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक समुचित सेवा नहीं कर पाई है। इस सम्बन्ध में एक ग्राम्य साख जाँच समिति नियुक्त की गई थी, जिसने मार्च सन् १६५५ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की है। यह रिपोर्ट सरकार ने स्वीकार कर ली है। १६ अप्रैल सन् १६५५ को वित्त मन्त्री ने एक बिल लोक-सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया था, जिसके द्वारा रिजर्व बैंक एक्ट सन् १६३४ में संशोधन किया गया है। इस संशोधन का उद्देश्य एक राष्ट्रीय कृषक साख कोष (National Agricultural Credit 'Long Term Operations' Fund) स्थापित करना है। इस कोष का उपयोग निम्न कार्यों के लिए किया जायगा :—

(१) राज्य सरकारों को सहकारी साख समितियों के अंश खरीदने

के लिए ऋण दिये जावेंगे, जिससे कि इन समितियों की अंश पूँजी में वृद्धि की जा सके।

(२) राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण दिए जायेंगे, जिनका वे कृषि वित्त की व्यवस्था करने के लिए उपयोग करेंगी।

(३) केन्द्रीय भू-प्राधि बैंकों को दीर्घकालीन ऋण और अग्रिम दिये जायेंगे।

बिल में यह भी व्यवस्था की गई है कि एक और भी कोष अर्थात् राष्ट्रीय साख (स्थिरता) कोष (National Agricultural Credit 'Stabilization' Fund) स्थापित किया जाय। इस कोष में जो धन रखा जायगा उसका उपयोग केवल मध्यकालीन ऋणों और अग्रिमों के प्रदान करने के लिए किया जायगा। ये ऋण राज्य सहकारी बैंकों को मिल सकेंगे और इन बैंकों को यह अधिकार होगा कि यदि अकाल, बाढ़, सूखा तथा अन्य प्राकृतिक आपत्तियों के कारण मध्यकालीन वित्त की कमी पड़ती है तो वे अपने अल्पकालीन ऋणों को भी मध्यकालीन ऋणों में बदल लें।

रिजर्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष—

भारत ने मुद्रा-कोष की प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त की थी। मुद्रा-कोष के आदेश पर भारत ने रुपए का मूल्य स्वर्ण में ८·४७५१२ ग्रेन के बराबर निर्धारित किया था, परन्तु सितम्बर सन् १९४९ में रुपए का अवमूल्यन किया गया और डालर (अथवा स्वर्ण) में रुपये के मूल्य में ३०·५% की कमी कर दी गई है। मुद्रा-कोष की सदस्यता से पहले रिजर्व बैंक स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ रखती थी और विदेशी विनिमय के रूप में उसी का क्रय-विक्रय करती थी। अब रिजर्व बैंक मुद्रा-कोष के सभी सदस्य देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय कर सकती है। इन मुद्राओं को बेचने की दर सरकार अपने मुद्रा-कोष सम्बन्धी दायित्वों को ध्यान में रख कर समय-समय पर निश्चित करती है।

रिजर्व बैंक की लेन और देन—

निम्न तालिकाओं में रिजर्व बैंक की लेन और देन सम्बन्धी स्थिति दिखाई गई है। निर्गम और अधिकोषण विभागों की अलग-अलग स्थिति निम्न प्रकार है:—

वर्ष	नोट प्रचलन में	कुल नोट निर्गम	धातु	विदेशी प्रतिभूतियाँ	रुपया प्रतिभूतियाँ
१९३८–३९	१८२·३६	२१०·६४	४४·२२	६६·६५	३२·१६
१९४७–४८	१,२२७·४८	१,२७४·९५	४४·२२	१,१३५·२२	६२·८४
१९५१–५२	१,१८९·८४	१,२१७·२२	४०·०२	६२५·१७	४८८·२६
१९५३–५४	१,१३३·९५	१,१५६·९७	४०·०२	५९४·०२	४३०·११
१९५४–५५	१,१९६·१९	१,२१९·१८	४०·०२	६८४·८१	४२८·०९
१९५५–५६	१,३३९·३९	१,३५६·४७	४०·०२	६५६·५२	५३३·२०
१९५६–५७	१,४७५·७७	१,४९४·५२	४०·०२	५४५·६१	७५५ २२

अधिकोषण विभाग

वर्ष	निक्षेप	अन्य देन	नोट	विदेशों में शेष	विनियोग
१९३८–३९	३१·८४	१·२८	२८·३८	४·२१	६·३६
१९४७–४८	५२०·४०	१४·५५	४७·२४	४०·६९५	८१·५३
१९५१–५२	३३५·१५	१८·६२	२७·९२	१८७·१४	९५·१०
१९५२–५३	२५९·०२	२३·६९	२८·०३	१३३·५६	८९·७७
१९५३–५४	२३२·८०	२३·९१	२३·२२	१२३·२१	८१·५८
१९५४–५५	२०१·२८	२३·६२	२३·२४	८७·५३	८०·५२
१९५५–५६	१५२·२४	३५·५९	१७·२१	६६·९६	४९·३६
१९५६–५७	१४३·३८	९१·२१	१८·९१	६४·७७	५१·८२

रिजर्व बैंक का महत्त्व—

सन् १९३५ में रिजर्व बैंक ने अपना कार्य आरम्भ किया था। अब इस संस्था को काम करते हुए २१ वर्ष से भी ऊपर हो चुके हैं। अब तक का कार्य काफी सराहनीय रहा है। इस बैंक ने भारत की बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ़ और समुचित आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया है। बैंक की सफलताओं की सूची काफी लम्बी है। बैंक के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों को निम्न प्रकार गिनवाया जा सकता है:—

(१) आरम्भ से ही बैंक ने सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) अपनाई थी। बैंक दर को नीचा रख कर रिजर्व बैंक ने व्यापार, उद्योग और कृषि सम्बन्धी वित्तीय आवश्यकताओं की अधिक से अधिक पूर्ति करने का प्रयत्न किया है। नवम्बर सन् १९५१ तक बैंक दर ३% रही

है, परन्तु उपरोक्त मास से वह बढ़ा कर ३½% कर दी गई है और १९५७ में ४%। भारतीय मुद्रा-बाजार में ब्याज की दरों को नीचे गिराने का प्रमुख श्रेय रिजर्व बैंक को ही है।

(२) रिजर्व बैंक ने देश में प्रचलित ब्याज की सामयिक-दरों के उच्चावचनों को भी कम करने में सफलता प्राप्त की है। बैंकों की तत्कालीन ब्याज की पारस्परिक दरें साधारणतया ¾ और ½% के ही बीच रही हैं।

(३) विप्रेष सुविधाओं (Remittances Facilities) में भारी वृद्धि की गई है। इस समय ये दरें मुद्रा-बाजार की स्थिति को देखते हुए बहुत कम हैं। ५,००० रुपये तक यह दर ₁⁄₃₂% (न्यूनतम् एक रुपया) और ५,००० रुपये से ऊपर ₁⁄₆₄% न्यूनतम् (१ रुपया ९ आने, नई मुद्रा १ रुपया ५६ नये पैसे) है।

(४) लोक ऋणों के प्रबन्ध और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को सस्ते ऋण प्रदान करने में बैंक ने ख्याति प्राप्त की है।

(५) बैंकिंग विधान के निर्माण में रिजर्व बैंक का कार्य काफी सराहनीय रहा है।

(६) आर्थिक सकटों के काल में रिजर्व बैंक ने दूसरी बैंकों की काफी सहायता की है। कितने ही बैंकों को केवल रिजर्व बैंक के ही ऋणों ने डूबने से बचाया है।

(७) देश की विनिमय दर की स्थिरता बनाये रखने का प्रमुख श्रेय इसी को है।

(८) औद्योगिक वित्त की उन्नति में भी औद्योगिक वित्त प्रमण्डल को रिजर्व बैंक से काफी सहायता मिली है।

(९) बैंक के कृषि साख विभाग के कार्य की सभी ने प्रशंसा की है।

(१०) रिजर्व बैंक का खोज और अनुसन्धान विभाग बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य करता रहा है।

(११) विभिन्न अधिकारों के द्वारा रिजर्व बैंक ने मुद्रा, साख और बैंकिंग व्यवस्था पर अच्छा नियन्त्रण रखा है। देश की बैंकिंग व्यवस्था के युद्धकालीन संचालन में रिजर्व बैंक का ऊँचा स्थान रहा है।

(१२) आँकड़ों के जमा करने और उपयुक्त सलाह देने में रिजर्व बैंक का भारी महत्त्व है।

रिजर्व बैंक की विफलताएँ—

इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि रिजर्व बैंक की सफलताओं की सूची काफी लम्बी है और इधर कुछ समय से इस सूची का विस्तार और भी बढ़ता जा रहा है, परन्तु कुछ दशाओं में इसका कार्य अभी सन्तोषजनक नहीं रह पाया है। वास्तविकता यह है कि रिजर्व बैंक की सफलता बड़े

अंश तक सरकार द्वारा यथासमय आवश्यक कार्यवाहियाँ कर देने पर निर्भर रही है। विफलता की प्रमुख दिशाएँ निम्न प्रकार हैं:—

प्रथम, रिजर्व बैंक अभी तक भी देश की देशी बैंकिंग प्रणाली से ऐसा सप्रभाविक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाई है जिससे कि लाभदायक फल प्राप्त हो सकें।

दूसरे, यद्यपि रिजर्व बैंक ने यथासमय सहायता देकर कितनी ही बैंकों को फेल होने से बचाया है, परन्तु यह अभी तक बैंकिंग संकटों को पूर्णतया दूर नहीं कर पाई है।

तीसरी, अभी तक भी रिजर्व बैंक भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों को विदेशी विनिमय व्यवसाय में उनका समुचित हिस्सा प्रदान नहीं कर पाई है। यद्यपि विदेशों में कुछ शाखाएँ खुली हैं और कुछ प्रगति भी हुई है।

चौथे, रिजर्व बैंक भारतीय चलन के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता स्थापित नहीं कर पाई है। भूतकाल में इसका कारण शायद यह रहा है कि विदेशी शासनकाल में रिजर्व बैंक को इतनी स्वतन्त्रता न थी। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इस दिशा में अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

पाँचवे, रिजर्व बैंक देश में समुचित बिल-बाजार के विकास में असमर्थ ही रही है। सन् १९५४ से कुछ सुविधाएँ अवश्य बढ़ा दी गई हैं।

छठे, भारतीय मुद्रा-बाजार में प्रचलित ब्याज की दरों में भी बैंक को अनुरूपता स्थापित करने में कम सफलता मिली है।

इन सब विफलताओं के रहते हुए भी इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक की स्थापना ने देश में वित्तीय स्थिरता और बैंकिंग सुधार के एक नये युग का आरम्भ किया है। इसने संकट के दो भयंकर कालों, अर्थात् द्वतीय महायुद्ध काल तथा देश के विभाजन के समय देश की बैंकिंग प्रणाली की अनुपम सेवा की है। बैंक ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि आर्थिक नियोजन और ग्राम्य वित्त के दृष्टिकोण से इसकी सेवाओं का भारी महत्त्व है। दूसरी योजना के काल में १,२०० करोड़ रुपये के हीनार्थ-प्रबन्धन (Deficit Financing) और विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकताओं के कारण देश की अर्थव्यवस्था पर जो खिंचाव पड़ेगा उसमें रिजर्व बैंक की उपयोगिता और भी स्पष्ट हो जायगी।

रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया (संशोधन) एक्ट, १९५६ (Reserve Bank of India (Amendment) Act, 1956)—

नोट निर्गमन पद्धति में परिवर्तन—

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के लिए आवश्यक धन-राशि व्यवस्थित करते समय आयोजकों ने १,०००–१,२०० करोड़ रुपयों के हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) का उल्लेख किया था। स्वभवतः रिजर्व बैंक

ऑफ इन्डिया पर दायित्व आ गया। वह उक्त राशि की व्यवस्था नोट निर्गमित करके करे और इस प्रकार जो साख का प्रसार हो, उसके लिए भी उचित नियमन करे, अतः बैंक को इस दिशा में कुछ विशेषाधिकार सौंपने आवश्यक हुये और इसलिए रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट में संशोधन करने पड़े। संशोधन इस प्रकार हैं:—

(१) बैंक अपने नोट-निर्गमन विभाग में विदेशी प्रतिभूतियाँ अब कम से कम ४०० करोड़ रुपये के मूल्य की रख सकेगी और यदि आवश्यक हुआ तो इसकी न्यूनातिन्यून राशि ३०० करोड़ रुपये भी की जा सकेगी। उस स्थिति में केन्द्रीय सरकार बैंक से दण्ड स्वरूप कोई कर नहीं वसूल करेगी।

(२) नोट-निर्गमन विभाग में सोना तथा सोने के सिक्के अब न्यूनातिन्यून ११५ करोड़ रुपये के मूल्य में रखे जा सकेंगे।

इस प्रकार बैंक द्वारा चलाये जाने वाले नोटों के लिए पत्र-मुद्रा कोष में अब कम से कम ४०० करोड़ रुपये के मूल्य की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा ११५ करोड़ रुपये का सोना व सोने के सिक्के रखना अनिवार्य होगा। कुल मिलाकर ५१५ करोड़ रुपये का न्यूनातिन्यून कोष नोट निर्गमन विभाग रखा जा सकेगा।

स्मरण रहे कि अब तक हमारे देश में पत्र-मुद्रा का चलन अनुपातिक निधि पद्धति (Proportional Reserve Method) के अनुसार होता था, जिसके अन्तर्गत निर्गमित नोटों के कुल मूल्य का ४०% विदेशी प्रतिभूतियों, सोना व सोने के सिक्कों में रखना अनिवार्य था तथा शेष के लिये चाँदी व चाँदी के सिक्के व देशी बिल रखे जा सकते थे। इस संशोधन के द्वारा देश की अनुपातिक कोष प्रणाली को हटाकर उसके स्थान पर न्यूनातिन्यून कोष प्रणाली को अपना लिया गया है।

(३) अब तक नोट-निर्गमन विभाग में रक्षित सोने का मूल्य १ रु० =८·४७५१२ ग्रेनस् (स्वर्ण) अर्थात् २१ रु० १३ आना १० पाई प्रति तोला की दर से लगाया जाता था। इस दर पर बैंक के पास अब ४०·०२ करोड़ रुपये के मूल्य का सोना था। संशोधन किया गया कि अब से बाद उक्त सोने का मूल्याङ्कन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित दर अर्थात् ३५ डालर प्रति औंस [१ रु० = २·८८ ग्रेनस् (स्वर्ण)] या ६२ रु० ८ आने प्रति तोले की दर से किया जायगा। इस दर पर बैंक के पत्र-मुद्रा कोष में स्थित सोने का मूल्य वर्तमान ४०·०२ करोड़ रुपये से बढ़कर ११५ करोड़ रुपए हो गया।

(४) रिजर्व बैंक को अधिकार मिला है कि वह अनुसूचित बैंकों द्वारा उसके पास जमा की जाने वाली राशि में बढ़ोत्तरी कर सकेगा।

अब तक सभी तालिकाबद्ध बैंक अपनी-अपनी माँग-देनदारी का ५% और काल देनदारी का २% रिजर्व बैंक के पास जमा रखती हैं। संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक अब तालिकाबद्ध बैंकों से उनकी माँग-देनदारी का ५% से २०% तक और काल देनदारी का २% से ८% तक राशि जमा ले सकती है।

इस प्रकार रिजर्व बैंक को तालिकाबद्ध बैंकों की साख नीति का समुचित नियमन करने का विशेषाधिकार प्राप्त हो गया है।

(५) रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार सौंप दिया गया है कि वह अपने राष्ट्रीय कृषि-साख (दीर्घकालीन कोष) में से सरकारी बैंकों को ऋण दे सकेगी, ताकि वे सहकारी बैंक उस राशि को छोटे तथा मध्यम कृषकों को उधार दे सकें और फिर वे उससे सहकारी संस्थाओं के अंश खरीद सकें।

इस प्रकार रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया एक्ट में संशोधन करके देश की नोट-निर्गमन पद्धति में आमूल परिवर्तन कर दिया गया है। सोने के मूल्याङ्कन का आधार बदल दिया गया है तथा बैंक को साख नियन्त्रण का एक विशेषाधिकार भी सौंप दिया गया है।

सन् १९५७ में रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन—

तीन संशोधन महत्त्वपूर्ण हैं :—(१) रिजर्व बैंक ऐसी संस्थाओं की पूँजी में अभिदान दे सकती है जो माध्य कालीन ऋण देंगी, (२) सन् १९४६ में जिन पत्र-मुद्राओं का विमुद्रीकरण किया गया था उनकी बिना भुनाई राशि के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक की देनदारी समाप्त कर दी गई है, और (३) रिजर्व बैंक की धारा ४२ में संशोधन किया गया है और बैंक की दूसरी सूची में कुछ नई संस्थाएँ शामिल की गई हैं।

अध्याय ३५

इम्पीरियल बैंक एवं स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

(The Imperial Bank and The State Bank of India)

इम्पीरियल बैंक का प्रारम्भ—

इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट सन् १९२० के अनुसार तीनों प्रेसीडेन्सी बैंक का विलय करके इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गई थी। इस बैंक की अधिकृत पूँजी ११·२५ करोड़ रुपया रखी गई थी, जिसमें से आधी पूँजी परिदत्त पूँजी थी और शेष अंशधारियों के निधि देयधन (Reserve Liability) के रूप में थी। इस बैंक का सुरक्षित कोष

(Reserve Fund) ६·३३ करोड़ रुपया था और इसका लाभांश १% से ऊपर रहता था। वर्तमान स्टेट बैंक का पुराना नाम इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया ही था।

सन् १६२० के नियम के अनुसार इस संस्था का प्रबन्ध एक-केन्द्रीय गवर्नर मण्डल तथा कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के तीन स्थानीय मण्डलों द्वारा किया जाता था। दो संचालक गवर्नर सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते थे और चलन नियन्त्रक (Controller of Currency) भी अपने पदाधिकार द्वारा इसका सदस्य होता था। सरकार को यह भी अधिकार था कि वह ऐसे सभी मामलों में इम्पीरियल बैंक को आदेश दे जो कि सरकार की वित्तीय नीति तथा सरकारी कोषों की सुरक्षा पर प्रभाव डालते हों। इस प्रकार आरम्भ में इम्पीरियल बैंक का दोहरा कार्य था। देश की केन्द्रीय बैंक के रूप में यह सरकारी शेषों का संरक्षण करती थी, देश के लोक-ऋण का प्रबन्ध करती थी, बैंकों की बैंक का कार्य करती थी, समाशोधन-गृहों का प्रबन्ध करती थी, कोषों का एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरण करती थी और अपने लन्दन कार्यालय द्वारा भारत सरकार के लिए अन्य बैंकिंग सेवाएँ प्रसादित करती थी। एक साधारण अंशधारियों की बैंक के रूप में यह व्यापार बैंकों के सभी कार्यों को भी सम्पन्न करती थी, परन्तु ऋण देने के सम्बन्ध में स्वीकृत प्रतिभूति सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये थे। भूमि, बाँधों तथा विदेशी विनिमय के व्यवसाय इसके लिए वर्जित थे। आरम्भ में इसे यह भी आदेश दिया गया था कि देश में बैंकिंग सुविधाओं के विकास के लिए यह कम से कम १०० नई शाखाएँ खोले।

इम्पीरियल बैंक की इन व्यवस्थाओं की काफी आलोचनाएँ की गई हैं। केन्द्रीय बैंक के रूप में इसका कार्य सदा ही दोषपूर्ण रहा है। स्थापना के समय इसका सारा प्रबन्ध योरोपियनों के हाथ में था, जो साधारणतया भारत विरोधी भावनाएँ रखते थे और संकट काल में भारतीय बैंकों को किसी प्रकार की सहायता नहीं देते थे। भारतियों के शिक्षण के लिए भी यह किसी प्रकार की सुविधाएँ नहीं देती थी। ऐसा भी कहा जाता है कि इसने अपनी नई शाखाएँ ऐसे स्थानों पर खोली थीं जहाँ पर पहले से अन्य बैंकों की शाखाएँ मौजूद थीं और इस प्रकार बैंकिंग सेवाओं के विस्तार के स्थान पर भारतीय बैंकों से प्रतियोगिता करने का प्रयत्न किया था।

रिजर्व बैंक की स्थापना पर सन् १६३४ के इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) एक्ट द्वारा इस बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों को समाप्त कर दिया गया और इसके दूसरे कार्यों पर से प्रतिबन्ध हटा लिये गये। प्रबन्ध पर से सरकारी दूसरे कार्यों पर से प्रतिबन्ध हटा लिये गये।

प्रबन्ध पर से सरकारी नियन्त्रण हटा लिया गया था, परन्तु फिर भी सरकार को केन्द्रीय मण्डल में दो गवर्नर नामजद करने का अधिकार था।

इम्पीरियल बैंक का रिजर्व बैंक तथा अन्य बैंकों से सम्बन्ध—

यद्यपि सन् १९३४ के बाद इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक का कार्य नहीं करती थी, परन्तु एक समझौते द्वारा वह ऐसे सब स्थानों पर जहाँ रिजर्व बैंक की शाखाएँ नहीं थीं, परन्तु इम्पीरियल बैंक की शाखाएँ मौजूद थीं, रिजर्व बैंक की अभिकर्त्ता का कार्य करती थी। समझौते के अनुसार इम्पीरियल बैंक को इन अभिकर्त्ता सेवाओं के लिए कमीशन देना निश्चय हुआ। प्रथम दस वर्षों में इस कमोशन की दर २५० करोड़ रुपये तक के सरकारी व्यवसाय के लिए १/१६% रखी गई थी और शेष के लिए १/३२%। सरकारी व्यवसाय में सरकार की ओर से एकत्रित किये हुए तथा सरकार की ओर से चुकाये हुए दोनों ही प्रकार के शोधनों को सम्मिलित किया जाता था। अगले ५ वर्ष के लिए कमीशन की दर इम्पीरियल बैंक द्वारा किये गये वास्तविक व्यय के आधार पर निश्चित होनी तय हुई थी।

सन् १९५१-५२ के नए समझौते के अनुसार जून सन् १९५३ के अन्त तक इम्पीरियल बैंक ने ३० नई शाखाएँ खोलने तथा अपने कोषागार शोधन कार्यालयों को शाखाओं में परिवर्तित करने का वायदा किया था। ऐसी व्यवस्था की गई थी कि जून सन् १९५१ के बाद खोली गई शाखाओं के सरकारी व्यवसाय पर इम्पीरियल बैंक को १/१६% की दर पर कमीशन मिलता।

इम्पीरियल बैंक देश की सबसे बड़ी व्यापार बैंक थी। इसकी साख भी बहुत थी, इस कारण इसे स्थानीय सरकारों से बिना ब्याज निक्षेप प्राप्त हो जाते थे। इसके अतिरिक्त यह अन्य बैंकों को ऋण देती थी और विनिमय बिलों को फिर से भुनाने का भी कार्य करती थी। देश में साख नियन्त्रण की सफलता भी एक बड़े अंश तक इम्पीरियल बैंक के सहयोग पर निर्भर रहती थी। इस बैंक का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि सन् १९४९ में भारत में इसकी ३७० शाखाएँ थीं और इसके कुल निक्षेप ७०० करोड़ रुपये के थे, जबकि अन्य सभी बैंकों के निक्षेप, जिनमें विनिमय बैंक भी सम्मिलित हैं, सामूहिक रूप में ६३३ करोड़ रुपये की कीमत के थे। अभी तक भी देश में बहुत से ऐसे स्थान हैं जहाँ पर इम्पीरियल बैंक (स्टेट बैंक) की शाखा ही एक मात्र बैंकिंग संस्था है।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न—

यद्यपि भारतीय बैंकिंग प्रणाली में इम्पीरियल बैंक का भारी महत्त्व था, परन्तु काफी समय से इसके कार्य-संचालन की कड़ी आलोचना की गई थी। इन आलोचनाओं के दो प्रमुख आधार थे। एक ओर तो यह बुरा

बताया जाता था कि इम्पीरियल बैंक स्वतन्त्रतापूर्वक सरकार के कोषों का उपयोग करती रहती थी। किसी भी एक व्यापार बैंक के हाथ में सारे सरकारी धन को दे देना उचित नहीं हो सकता था, क्योंकि इसमें एक ऐसा शक्तिशाली एकाधिकार उत्पन्न हो जाता है जो बैंकों तथा जनता के हितों की अवहेलना करता रहे; इसलिए बहुधा यह कहा जाता था कि इम्पीरियल बैंकों के उन सब विशेष अधिकारों और सुविधाओं का अन्त होना चाहिए जो रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने पर भी उसको प्राप्त थे। दूसरी ओर यह कहा जाता था कि आरम्भ से ही इम्पीरियल बैंक भारत विरोधी नीति का पालन करता रहा है। विदेशियों के प्रबन्ध में होने के कारण इसने भारतीय कर्मचारियों को ऊँचे स्थानों पर नियुक्त करने तथा शिक्षण प्रदान करने का कभी प्रयत्न भी नहीं किया था। व्यवहार में भी वह भारतियों के साथ बराबर भेद-भाव करता चला आई है। भारत में ब्रिटिश व्यापार हितों का तथा इम्पीरियल बैंक का गठबन्धन बराबर बना रहा है।

उपरोक्त आलोचनाओं के अतिरिक्त यह भी कहा जाता था कि इस बैंक ने भारी मात्रा में नकद साख प्रदान करके देश में बिल बाजार के विकास में बाधाएँ उत्पन्न की हैं और देश के दूर-दूर के भागों से निक्षेप एकत्रित करके बड़े-बड़े व्यापार केन्द्रों का विकास किया है।

इन सभी आलोचनाओं की ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति सन् १९५१-५२ ने विस्तृत जाँच की थी। इस समिति का विचार था कि इम्पीरियल बैंक में दोष अवश्य थे, परन्तु उनके कारण उसका राष्ट्रीयकरण उचित न था। समिति ने सुधार के निम्न सुझाव दिए थे।

(१) यह कि इम्पीरियल बैंक पर लगाये गए वर्तमान प्रतिबन्ध पर्याप्त थे और वह अन्य व्यापार बैंकों से किसी प्रकार की अनुचित प्रतियोगिता नहीं कर रही थी।

(२) बैंक में शीघ्रतापूर्वक भारतीय अधिकारियों की संख्या बढ़नी चाहिए। इम्पीरियल बैंक ने सन् १९५५ के अन्त तक ऐसा करने का विश्वास भी दिलाया था।

(३) बैंक के विशेष अधिकारों का रहना उचित नहीं था और उनका अन्त होना चाहिए।

(४) सभी बैंकों को कोषागारों द्वारा सस्ते दामों पर विप्रेष भेजने की सुविधा मिलनी चाहिए, जिससे इम्पीरियल बैंक के विशेष लाभ का अन्त हो जाय।

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का भी प्रश्न उठाया गया। इम्पीरियल बैंक का देश के आर्थिक जीवन में इतना भारी महत्त्व और बैंक द्वारा अपने अधिकारों का दुरुपयोग

देख कर सरकार ने सैद्धान्तिक रूप में उसके राष्ट्रीयकरण की वाँछनीयता स्वीकार कर ली थी, परन्तु राष्ट्रीयकरण को व्यावहारिक रूप देने के कार्य को भविष्य के लिए स्थगित कर दिया था। दो कारणों से सरकार ने बैंक के तुरन्त राष्ट्रीयकरण को उचित नहीं समझा था :—प्रथम, विदेशों में भी इसकी शाखाएँ थीं, जिनकी संख्या सन् १९५० के अन्त में ४८ थी। ये शाखाएँ जटिल समस्या उत्पन्न करती थीं। दूसरे, सरकार का विचार था कि राष्ट्रीयकरण के पश्चात् बैंक वाणिज्य कार्य नहीं कर सकेगी और ऐसी दशा में बैंकिंग सेवाओं के अभाव और इम्पीरियल बैंक के भारी महत्त्व के कारण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को काफी हानि पहुँचने का भय था। सरकार ने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि जब कभी भी इसका राष्ट्रीयकरण किया जायगा, अंशधारियों को मुआवजा अवश्य दिया जायगा। इस प्रकार उस समय अनिश्चित काल के लिए राष्ट्रीयकरण का प्रश्न स्थगित कर दिया गया था। वैसे भी अन्य बैंकों के सम्बन्ध में सरकारी नीति राष्ट्रीयकरण की ओर नहीं थी। सन् १९५५ में सरकार ने नीति को बदल दिया। इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके उसे स्टेट बैंक के रूप में संगठित किया गया है।

स्टेट बैंक के कार्यों का विस्तृत अध्ययन—

स्टेट बैंक के कार्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य और व्यापार बैंक के कार्य। सन् १९२१ से सन् १९३५ तक इम्पीरियल बैंक दोनों ही प्रकार के कार्यों को एक ही साथ करती रही है। सन् १९३५ के पश्चात् केन्द्रीय बैंक के अधिकाँश कार्य रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को सौंप दिये गए, परन्तु कुछ केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धित कार्य ऐसे अवश्य रहे जिन्हें इम्पीरियल बैंक द्वारा सम्पन्न किया जाता था। बाद को उसके व्यापार बैंकिंग सम्बन्धी कार्य ही अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं। प्रमुख केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य निम्न प्रकार थे।

(१) यह बैंकों की बैंक के रूप में कार्य करती रही है। आवश्यकता पड़ने पर इम्पीरियल बैंक व्यापार बैंकों को ऋण देती रही है और उनके द्वारा भुनाये हुए बिलों को फिर से भुनाती रही है। इसके अतिरिक्त यह बैंक भूतकाल में बैंकों की देख-भाल करती थी और देश में बैंकिंग की उन्नति का प्रयत्न करती थी। देश की अन्य व्यापार बैंक तथा विनिमय बैंक इम्पीरियल बैंक में अपना खाता खोलती थीं। इसी कारण दूसरी बैंक इसका निकासी अथवा समाशोधन गृह (Clearing House) के रूप में भी उपयोग करती रही हैं। इस कार्य का महत्त्व अभी तक शेष है। साथ ही, इम्पीरियल बैंक अन्य बैंकों के धन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने का कार्य भी करती रही है। इसका प्रमुख कारण यह रहा

है कि देश भर में इम्पीरियल बैंक की शाखाओं का जाल सा बिछा हुआ था। इम्पीरियल बैंक ने देश की बैंकों को उनके बैंकिंग कार्यों में सहायता पहुँचाने का भी कार्य किया है। यह काम स्टेट बैंक भी करती है।

(२) स्टेट बैंक सरकारी बैंक का कार्य करती रही है। रिजर्व बैंक की स्थापना से पहले तो यह कार्य केवल इम्पीरियल बैंक ही करती थी, परन्तु बाद में भी उन सभी स्थानों में जहाँ पर रिजर्व बैंक की शाखा नहीं है, अभिकर्त्ता के रूप में स्टेट बैंक ही राज्य बैंक (State Bank) का कार्य करती रही है। भारत सरकार और राज्य सरकारों का सारा बैंकिंग सम्बन्धी कार्य इम्पीरियल बैंक ही करती रही है। सरकार की ओर से रुपया वसूल करने और रुपये का भुगतान करने का कार्य यही बैंक करती थी और एक अंश तक अभी भी करती है। कर आदि की रकम इसमें जमा की जाती हैं। लोक ऋणों का एकत्रण, हिसाब और शोधन भी पहले यही बैंक करती थी। अभी तक भी सरकारी शेष इसी बैंक में रहती है, यद्यपि अब अधिकाँश दशाओं में रिजर्व बैंक इस कार्य को सम्पन्न करती है।

(३) विप्रेषों (Remittances) अर्थात् धन को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का कार्य स्टेट बैंक आरम्भ से ही करती रही है। अब भी इस कार्य का महत्त्व कम नहीं हुआ है। केन्द्रीय बैंक की भाँति स्टेट बैंक को सरकारी खजाने के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने की सुविधा दी गई है, जो काफी महत्त्वपूर्ण है।

(४) सन् १९२१ से पहले भारत सरकार के लन्दन सम्बन्धी सभी बैंकिंग, विनिमय तथा अन्य मौद्रिक कार्य बैंक ऑफ इंगलैंड द्वारा किये जाते थे। सन् १९२१ और सन् १९३५ के बीच ये कार्य इम्पीरियल बैंक द्वारा किये जाते थे। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् अब ये कार्य रिजर्व बैंक द्वारा किये जाते हैं। इन कार्यों में लन्दन को रुपया भेजना, शोधन करना आदि सम्मिलित होते हैं।

व्यापार बैंक सम्बन्धी कार्य—

जैसा कि विदित है कि इम्पीरियल बैंक तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों के विलय से बनी थी। ये तीनों बैंक व्यापार बैंक थीं, इस कारण इनके कार्यों को इम्पीरियल बैंक ने करना आरम्भ कर दिया था। व्यापार बैंक के रूप में इम्पीरियल बैंक (स्टेट बैंक) के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं:—

(१) भारत सरकार की प्रतिभूतियों, रेल्वे प्रतिभूतियों, राज्य सरकारों की प्रतिभूतियों, स्थानीय सरकारों की प्रतिभूतियों, लोक सत्ताओं, जैसे—पोर्ट ट्रस्ट (Port Trust), कॉरपोरेशन आदि की प्रतिभूतियों और कोषागार विपत्रों में धन का विनि-

योग करना और उसकी आड़ पर ऋण देना। ये कार्य बिल्कुल व्यापारिक बैंकों के कार्य हैं और लगभग सभी बैंकों द्वारा किये जाते हैं, परन्तु स्टेट बैंक की प्रमुख विशेषता सरकारी और अर्द्ध-सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजन और व्यवसाय करना है।

(२) तैयार माल, माल के अधिकार-पत्रों तथा अन्य उपयुक्त पत्रों और प्रतिभूतियों पर ऋण देना।

(३) स्वीकृत प्रतिज्ञा-पत्रों, बॉण्ड्स तथा विनिमय बिलों पर ऋण देना।

(४) चल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण देना और ऐसी कम्पनियों के अंशों की जमानत पर ऋण देना जिसमें अंशधारियों का दायित्व सीमित है।

(५) ऐसे बिलों का निकालना, बेचना और स्वीकार करना जो भारत में पहले भी भुनाये जा चुके हों।

(६) अपने ग्राहकों को साख प्रमाण-पत्र प्रदान करना।

(७) बहुमूल्य धातुएँ और सोने-चाँदी के सिक्के खरीदना और बेचना।

(८) जनता से निक्षेप प्राप्त करना।

(९) जनता की बहुमूल्य वस्तुओं के सुरक्षित संरक्षण की व्यवस्था करना।

(१०) अपने व्यवसाय के लिए भारत में ऋण लेना।

(११) ऐसी चल और अचल सम्पत्ति को बेचना जिस पर बैंक ने अधिकार प्राप्त कर लिया हो।

(१२) पारितोषण के आधार पर ग्राहकों के अभिकर्त्ता का कार्य करना।

(१३) बैंक की लन्दन शाखा अपनी व्यावसायिक आवश्यकताओं के लिए लन्दन में ऋण प्राप्त कर सकती है।

(१४) साधारण व्यापारिक बैंकों सम्बन्धी अन्य प्रकार के कार्य करना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्टेट बैंक देश के आर्थिक जीवन में तीन रूपों में आती रही है—(१) केन्द्रीय बैंक, (२) राज्य बैंक और (३) व्यापार बैंक। इसमें सन्देह नहीं कि सरकारी संरक्षण के कारण स्टेट बैंक की साख और प्रतियोगिता शक्ति अन्य व्यापार बैंकों की तुलना में बहुत अधिक रही है। सरकारी धन के जमा रहने के कारण स्टेट बैंक की आर्थिक स्थिति भी अधिक दृढ़ रही है। इस बात का आरम्भ से ही भय था कि कहीं अन्य बैंकों से होड़ करके इम्पीरियल बैंक देश में बैंकिंग के विकास

के मार्ग में बाधा न बन जाय। यही कारण है कि आरम्भ से ही इसके कार्यों पर कुछ प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं।

स्टेट बैंक पर लगाये हुए प्रतिबन्ध—

स्टेट बैंक के कार्य पर प्रमुख प्रतिबन्ध निम्न प्रकार हैं :-

(१) पहले इम्पीरियल बैंक ६ मास से अधिक काल के लिए ऋण नहीं दे सकती थी, परन्तु कृषि साख की उन्नति के लिए अब स्टेट बैंक पर से यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया है।

(२) इस बैंक को स्वयं अपने अंशों और अचल सम्पत्ति की जमानत पर ऋण देने का अधिकार नहीं है।

(३) किसी व्यक्ति अथवा संस्था को दिये जाने वाले ऋण की अधिकतम् सीमा निश्चित कर दी गई है।

(४) इस बैंक को ऐसे बिलों को भुनाने तथा उनकी आड़ पर ऋण देने की अनुमति नहीं थी जिनकी परिपक्वता अवधि ६ मास से अधिक हो, परन्तु कृषि साख की उन्नति के लिए अब इसमें छूट दी जा सकती है।

(५) बैंक को विदेशी विनिमय व्यवसाय की आज्ञा नहीं है।

(६) बैंक द्वारा अचल सम्पत्ति खरीदने पर भी प्रतिबन्ध है।

वैसे तो इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक का कार्य करती रही है, परन्तु इसे पत्र मुद्रा निर्गम का अधिकार नहीं दिया गया था। आरम्भ में इस बात पर भी विचार किया गया था कि इम्पीरियल बैंक को पूर्ण रूप में केन्द्रीय बैंक ही क्यों न बना दिया जाय, परन्तु कुछ कारणों से ऐसा उपयुक्त नहीं समझा गया था :— प्रथम, यह कहा गया था कि कोई भी केन्द्रीय बैंक इतनी शाखाएँ नहीं खोल सकती है जितनी कि इम्पीरियल बैंक ने खोल रखी थीं। यदि इम्पीरियल बैंक को और अधिक शाखाएँ खोलने का अधिकार न दिया जाता अथवा कुछ शाखाएँ बन्द करने की आज्ञा दी जाती तो इसका देश की बैंकिंग व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ने का भय था। दूसरे, केन्द्रीय बैंक के नाते देश के चलन का प्रबन्ध भी इम्पीरियल बैंक के पास रहता, जिस दिशा में अधिकारों के दुरुपयोग का भारी भय था। तीसरे, केन्द्रीय बैंक बन जाने की दशा में इम्पीरियल बैंक एक साधारण व्यापार बैंक की भांति लाभ के ही उद्देश्य से काम नहीं कर सकती थी, क्योंकि ऐसी दशा में उससे केन्द्रीय बैंकिंग में सफलता की आशा नहीं हो सकती थी। अन्त में, बैंक के अंशधारी व्यापारिक बैंक सम्बन्धी कार्यों को पूर्णतया बन्द करने के पक्ष में न थे। स्टेट बैंक के निर्माण के पश्चात् भी यह पुरानी व्यवस्था बनाये रखी गई है।

बैंक की स्थापना से भारत को लाभ—

इम्पीरियल बैंक का देश के आर्थिक जीवन में भारी महत्त्व रहा है। बैंकिंग जगत में तो इसका अपना विशेष स्थान है। देश को इसकी स्थापना से निम्न प्रकार लाभ हुए हैं :—

(१) इसने देश में बैंकिंग सुविधाओं का प्रसार किया है। इस समय बैंक की ५०० से भी ऊपर शाखाएँ हैं, जो देश के कौने-कौने में फैली हुई हैं। बहुत से स्थानों पर तो स्टेट बैंक की शाखा के अतिरिक्त कोई बैंक है ही नहीं।

(२) इस बैंक ने देश में ब्याज की दर को कम किया है। बैंक के पास काफी धन रहा है, जिसके कारण यह काफी मात्रा में नीची दर पर ऋण देने में सफल रही है। साहूकारों और दूसरी बैंकों को भी ब्याज की दरों को घटाने पर बाध्य होना पड़ा है।

३) बहुत सी शाखाएँ होने के कारण इसने एक स्थान से दूसरे स्थान को धन हस्तान्तरित करने की सस्ती और सुविधाजनक सेवाएँ उपलब्ध की हैं।

(४) इस बैंक की डिस्काउन्ट दर में काफी स्थिरता रही है, जिसके कारण देश भर में ऐसी दर स्थिर रहती है।

(५) यह बैंक कृषि की उपज की आड़ पर ऋण देती रही है। परिणाम यह हुआ है कि ऐसे माल की विक्री और यातायात में काफी सुविधा रही है।

(६) यह बैंक सहकारी बैंकों को अधि-विकर्ष की सुविधा देकर काफी महत्त्वपूर्ण कार्य करती रही है।

(७) इसने आर्थिक संकट के काल में सहायता देकर बहुत सी बैंकों को डूबने से बचाया है।

(८) देशी बैंकरों और साधारण बैंकों को इससे ऋण प्राप्ति की भारी सुविधायें मिली हैं।

(९) इस बैंक ने समाशोधन गृहों को आयोजित करके देश की बैंकिंग प्रणाली की काफी सेवा की है।

इन सब लाभों के साथ-साथ बैंक के कार्यवाहन में कुछ गम्भीर दोष भी रहे हैं। इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध अनेक शिकायतें रही हैं:—प्रथम, इसने अपने उच्च पदों पर गैर भारतीयों को ही नियुक्त किया है। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् धीरे-धीरे पदों का भारतीयकरण आरम्भ हुआ है। दूसरे, इसके अंशधारियों में विदेशियों की संख्या अधिक रही है और उन्हीं का इसकी नीति और कार्यवाहन पर अधिक सप्रभाविक नियन्त्रण

रहा है। तीसरे, इसने भारतीय व्यापारियों के प्रति भेद-भाव किया है और विदेशियों के हितों को प्रधानता दी है। चौथे, इसने देश में व्यापार बैंकों के विकास में बाधा डाली है। यह उनकी घोर प्रतियोगी रही है और बहुत बार तो इसने व्यापार बैंकों को अनार्थिक दरों पर ऋण देने पर बाध्य किया है। सम्मानित बैंक होने के कारण इसने निक्षेप प्राप्त करने में भी अन्य बैंकों से होड़ की है। पाँचवे, इस बैंक ने व्यापार बैंकों की अपेक्षा विनिमय बैंकों के प्रति अधिक उदारता की नीति अपनाई है, मुख्यतया इस कारण कि वे विदेशी बैंक थीं। विनिमय बैंकों ने सदा ही भारतीय हितों की अवहेलना की है और भारतीय व्यापारियों के साथ घृणित व्यवहार किया है।

सन् १९५५ में इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण और स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का निर्माण—

१६ अप्रैल सन् १९५५ को सरकार ने लोक-सभा में एक बिल प्रस्तुत किया था, जिसे स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया बिल का नाम दिया गया था। इस बिल का उद्देश्य इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण था। इस प्रकार के बिल को प्रस्तुत करने का विचार सरकार काफी दिन पहले से कर रही थी, परन्तु अखिल-भारतीय ग्राम्य साख जाँच समिति (Rural Credit Survey Committee) की सिफारिशों ने राष्ट्रीयकरण की विचार-धारा को काफी बल प्रदान किया है। वित्त मन्त्री ने बिल को प्रस्तुत करते समय बताया था कि सरकार का ऐसा इरादा नहीं है कि व्यक्तिगत वाणिज्य और व्यवसाय में अनुचित हस्तक्षेप करे। इसी कारण इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का यह अर्थ नहीं होता है कि सभी व्यापारिक बैंकों को सरकारी अधिकार में ले लिया जायगा। इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य उन सब शिकायतों को दूर करना जो कि लम्बे काल से भारतियों को इसके विरुद्ध थीं तथा ग्राम्य साख की समुचित व्यवस्था करना बताया गया है। सबसे पहले वित्त मन्त्री ने २० दिसम्बर सन् १९५४ को इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का विचार प्रकट किया था। बिल की प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं:—

(१) बैंक के अंशधारियों को मुआवजा देने का सिद्धान्त मान लिया गया है। मुआवजे की दर निश्चित करने के लिए इम्पीरियल बैंक के लिए इम्पीरियल बैंक के अंशों की २० दिसम्बर सन् १९५३ और २० दिसम्बर सन् १९५४ के १२ मास के बीच की औसत मासिक कीमत निकाली गई है। इस आधार पर एक ५०० रुपये के पूर्णतया शोधित अंश की कीमत १७,६५ रुपये १० और आँशिक शोधित की ४३१ रुपया १२ आने ४ पाई आना होती है और यही रकम मुआवजे के रूप में दी जायगी।

(२) मुआवजे की रकम में से १०,००० रुपये तक का भुगतान नकदी में किया गया है और शेष के लिए सरकार ने बाँड दी हैं, जिनके सम्बन्ध में ब्याज की दर और परिपक्कता अवधि सम्बन्धी बातें बाद को निश्चित की जायँगी।

(३) ऐसी व्यवस्था की गई है कि कम से कम ५५% अंश रिजर्व बैंक द्वारा लिए जायंगे और शेष ४५% जनता द्वारा प्राप्त किए जायगे। इस सम्बन्ध में इम्पीरियल बैंक के पुराने अंशधारियों को नई संस्था के अंश खरीदने का पूर्व अधिकार दिया गया है।

(४) राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इम्पीरियल बैंक का नया नाम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया रखा गया है।

(५) सरकार का उद्देश्य राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ एक नये ग्राम्य साख संगठन का निर्माण करना है, जिसके लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में भी आवश्यक संशोधन किये गये हैं।

(६) इस बात की व्यवस्था की गई है कि स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के पश्चात् खण्ड ख राज्यों की १० ऐसी बैंकों को जो राज्य सरकारों के नियन्त्रण और संरक्षण में कार्य कर रही हैं, इस बैंक के साथ मिला दिया जायगा। साथ ही, सरकार का यह भी विचार है कि ग्राम्य साख जाँच समिति की सिफारिशों को कार्य रूप देने के लिए कुछ गैर-अनुचित (Non-Scheduled) बैंकों को भी समुचित जाँच के पश्चात् स्टेट बैंक में सम्मिलित कर लिया जायगा।

(७) बिल के पास होने पर इम्पीरियल बैंक के सभी अंशों को रिजर्व बैंक को हस्तान्तरित कर दिया गया है, परन्तु इन अंशों के अधिक से अधिक ४५% धीरे-धीरे प्राइवेट व्यक्तियों को बेच दिये जायंगे।

(८) सरकार व्यक्तिगत व्यावसायियों और वाणिज्य हितों को भी स्टेट बैंक से सम्बन्धित रखेगी, परन्तु इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है कि बैंक पर सरकार का ही पूर्ण रूप में नियन्त्रण रहे।

(९) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का प्रबन्ध २० संचालकों के एक मन्डल द्वारा किया जाता है, जिसमें से १४ सरकार द्वारा नामजद किये जाते हैं और शेष ६ व्यक्तिगत अंशधारी निर्वाचित करते हैं। लोक सभा अथवा धारा सभा के सदस्य बैंक के संचालक नहीं बन सकते हैं।

(१०) राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इम्पीरियल बैंक के व्यापारिक बैंकिंग कार्य बन्द नहीं हुए हैं। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया देश की सबसे बड़ी व्यापार बैंक के रूप में कार्य करेगी और देश की अनुसूचित बैंकों को बराबर सहायता देती रहेगी।

(११) इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का यह आशय नहीं है कि धीरे-धीरे अन्य व्यापार बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया जायगा। इस सम्बन्ध में सरकारी नीति सामान्य रूप में बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण की नहीं है।

(१२) स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपया रहेगी।

आलोचनात्मक अध्ययन—

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट का धारा सभा तथा जन-साधारण ने साधारणतया स्वागत ही किया है। देश में ग्राम्य साख की समुचित व्यवस्था की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण पग है। सरकार ने ऐसा भी आश्वासन दिलाया है कि शीघ्र ही ५ वर्ष के भीतर स्टेट बैंक की ४०० नई शाखायें खोली जायेंगी, जो उन ४७२ शाखाओं के अतिरिक्त होंगी जो इम्पीरियल बैंक ने पहले से ही खोल रखी थीं। ये शाखाएँ साधारणतया ग्रामीण अथवा अर्द्ध-नागरिक (Semi-urban) क्षेत्रों में खोली जायेंगी, जहाँ पहले से बैंकिंग सेवाएँ मौजूद नहीं हैं। इस सम्बन्ध में रिजर्व बैंक एक्ट में आवश्यक संशोधन करने का बिल भी पास हो चुका है।

स्टेट बैंक बिल को लोक सभा में प्रस्तुत करते समय वित्त विभाग के उप-मन्त्री ने ठीक ही कहा था कि भारत जैसे देश में, जहाँ देश की ७०% जनता ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है, ग्राम्य साख की समुचित व्यवस्था का भारी महत्त्व है। ग्रामीण जनता साख की समुचित व्यवस्था न होने के कारण ऋणों के भार से दबी हुई है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि ग्रामीण ऋण भार की मात्रा ७५० करोड़ रुपये से भी ऊपर है। सन् १९५४ में केन्द्रीय श्रम जाँच से पता चला था कि ग्रामीण जन-संख्या में ३०% भूमिहीन खेतिहर मजदूर हैं। इन श्रमिकों और औद्योगिक श्रमिकों की आय में भारी अन्तर है। बंगाल, बिहार, उड़ीसा और बम्बई राज्यों में खेतिहर श्रमिक की वार्षिक आय केवल १६०, ११९, ९९ तथा ८८ रुपये थी, जबकि इन्हीं राज्यों में औद्योगिक श्रमिकों की वार्षिक आय क्रमशः २९८, ३३२, १४५ तथा ३९८ रुपया थी। इस घोर अन्तर के कारण ग्रामीण जनता का ऋण भार ही था। ऐसी स्थिति में ग्राम्य साख के विकास का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के द्वारा उन सब शिकायतों का भी अन्त हो जाता है जो इस बैंक के प्रति काफी समय से चली आ रही थीं, यद्यपि अब इन शिकायतों का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह गया था। उस समय बैंक के लगभग सभी अधिकारी भारतीय ही थे, परन्तु फिर भी राष्ट्रीयकरण उन सब दोषों को दूर कर देता है जो सरकारी संरक्षण के कारण इम्पीरियल बैंक में पैदा हो गये थे। अब भारतीय हितों की अव-हेलना का प्रश्न ही नहीं उठता है। जहाँ तक इम्पीरियल बैंक के कर्म-

चारियों का प्रश्न है, ऐसा विश्वास दिलाया गया था कि मैनेजिंग डाइरेक्टर, डिप्टी मैनेजिंग डाइरेक्टर और दो डाइरेक्टरों को छोड़ कर शेष के वेतनों और सेवाओं की दशाओं में किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं किया जायगा।

बिल की आलोचना साधारणतया मुआवजे के दृष्टिकोण से अंश की कीमत निश्चित करने के सम्बन्ध में हुई है। अंशधारियों का विचार है कि मुआवजे की रकम बहुत कम है, यद्यपि इसमें बहुत सत्य दिखाई नहीं पड़ता है, क्योंकि पूर्णतया शोधित अंशों की कीमत सन् १६५१, सन् १६५२ और सन् १६५३ के बीच निर्धारित कीमत के आस-पास ही रही है। लोक सभा के अधिकाँश सदस्यों ने ऐसा विचार प्रकट किया है कि मुआवजा अधिक दिया जा रहा है, क्योंकि अंशों की ऊँची कीमत का एक महत्त्वपूर्ण कारण सरकारी संरक्षण तथा सरकारी व्यवसाय का इम्पीरियल बैंक द्वारा सम्पन्न करना रहा है। कुल मुआवजे की रकम का अनुमान १६·६ करोड़ रुपया लगाया गया है, जिसका ६१·७% भारतवासियों को मिलेगा और शेष विदेशी अंशधारियों को।

इस सम्बन्ध में भी काफी आलोचना हुई है कि प्रस्तावित शाखाओं की संख्या कम रखी गई है। श्री तुलसीदास किलाचन्द के अनुसार ४०० शाखाओं के स्थान पर ४,००० शाखायें खुलनी चाहिए। कुछ सदस्यों ने यह भी विचार प्रकट किया है कि स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी, जो २० करोड़ रुपया रखी गई है, वास्तव में कम है और फिर इसके भी ४५% पर प्राइवेट व्यक्तियों का अधिकार होगा। सब कुछ होते हुए भी इस बिल से काफी लाभ की आशा की जाती है।

स्टेट बैंक के कार्य—

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ग्रामीण साख की वृहत् योजना का ही एक अंग है। इस बैंक की स्थापना द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी साख और सहकारी बिक्री व्यवस्थाओं को बढ़ने का प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण बैंकिंग तथा सामान्य रूप में सभी प्रकार की बैंकिंग को सहयोग देने का भी उद्देश्य है। स्टेट बैंक के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार रहेंगे :—

(१) इम्पीरियल बैंक की भाँति यह भी उद्योग, व्यापार और वाणिज्य को साख सुविधायें प्रदान करेगी।

(२) यह बैंकों के समुचित विकास में सहायक होगी।

(३) यह सन् १६६० तक ४०० नई शाखाएँ खोलेगी।

(४) यह बैंक अधिक बड़ी विक्षेप सुविधाएँ प्रदान करेगी और ग्रामीण बचत के संग्रह करने का प्रयत्न करेगी।

(५) ग्रामीण साख की यह शक्तिशाली एजेन्सी होगी और सहकारी बिक्री तथा गोदाम व्यवस्था को बढ़ायेगी।

स्टेट बैंक के वर्जित कार्य—

स्टेट बैंक को निम्नाङ्कित कार्य करने से वर्जित किया गया है :—

(१) यह स्कन्ध, अपने अंश अथवा स्थायी सम्पत्ति की आड़ पर ६ मास से अधिक काल के लिए ऋण अथवा अग्रिम नहीं दे सकती है।

(२) यह निश्चित प्रतिभूति के अतिरिक्त किसी व्यक्ति अथवा फर्म के विनिमय पत्रों के एक निश्चित राशि से ऊपर की रकम के लिए नहीं भुना सकती है।

(३) बैंक केवल ऐसे विनिमय बिलों को भुना सकती है अथवा उनकी आड़ पर ऋण अथवा अग्रिम दे सकती है जिन पर कम से कम दो व्यक्तियों अथवा फर्मों का उत्तरदायित्व हो।

(४) यह १५ मास से अधिक परिपक्वता अवधि के कृषि बिलों अथवा ६ मास से अधिक के अन्य बिलों को नहीं भुना सकती है।

(५) यह अपनी इमारत के अतिरिक्त अन्य कोई अचल सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकती है।

स्टेट बैंक एक एकीकरण एवं विकास कोष (Integration and Development Fund) रखती है, जिसमें रिजर्व बैंक को दिए जाने वाला लाभांश और कुछ दूसरे चन्दों की रकम जमा होती रहेगी। इस कोष का उपयोग बैंक की हानि को पूरा करने के लिए किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक और भी कोष रहेगा, जिसमें इम्पीरियल बैंक के निधि कोष की राशि के साथ-साथ बाद की वह राशि रहेगी जिसे निधि कोष में रखा जायगा।

स्टेट बैंक की प्रगति—

१ जुलाई सन् १९५५ से स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने अपना काम शुरू कर दिया है। श्री जॉन मथाई बैंक के प्रथम अध्यक्ष नियुक्त किये गये थे। इम्पीरियल बैंक की सारी लेन-देन स्टेट बैंक को हस्तान्तरित कर दी गई है। स्टेट बैंक की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपया है और निर्गमित पूँजी ५,६२,५०,००० रुपया। सारी की सारी निर्गमित पूँजी का रिजर्व बैंक को हस्तान्तरण कर दिया गया है। पिछले अंशधारियों के प्रत्येक पूर्णतया शोधित अंश के लिए १,७६५ रुपये १० आने और आंशिक शोधित अंश के लिए ४३१ रुपये १२ आने ४ पाई मुआवजे के रूप में दिये गये हैं।

सन् १९५५–५६ के लिए वित्त मन्त्रालय की जो वार्षिक रिपोर्ट छपी है उसमें बताया गया है कि स्टेट बैंक के निर्माण का प्रमुख उद्देश्य यह था कि राज्य की साझेदारी में एक शक्तिशाली व्यापार बैंक खोली जाय, जिसकी शाखाएँ देश भर में फैली हों तथा जो सहकारी और अन्य प्रकार की बैंकों की विशेष सुविधाओं का विस्तार करके देश में बैंकिंग के विकास को प्रोत्साहन दे। इम्पीरियल बैंक के कुल मिला कर १०,७२८ अंशधारी थे, जिन्हें कुल १९,७१,८७,५०० रुपये का मुआवजा मिलना था। ३१ दिसम्बर सन् १९५५ तक के मुआवजे के लिए ९,५६० अंशधारियों ने ने प्रार्थना-पत्र भेजे थे, जिनमें १८,६५,२४,००० रुपये की माँग की गई थी। इस काल में ९,४९१ अंशधारियों को १८,३७,८३,००० रुपये मुआवजे के रूप में दिये जा चुके हैं।

स्टेट बैंक ने ५ साल में ४०० नई शाखाएँ खोलने का लक्ष्य निर्धारित किया है। ३१ दिसम्बर सन् १९५५ तक अर्थात् पहले ६ महीनों में बैंक ने २० नई शाखायें खोली थीं। अगले वर्ष अर्थात् दिसम्बर सन् १९५६ के अन्त तक ४६ नई शाखाएँ और खोली गई थीं। इस प्रकार १½ साल में कुल ६६ शाखाएँ खुल पाई हैं। अन्य दिशाओं में भी प्रगति हुई है। स्टेट बैंक ने छोटे-छोटे उद्योगों की सहायता का कार्य आरम्भ कर दिया है। इसने विदेशी विनिमय के कार्य में भी आगे कदम बढ़ाया है। पाकिस्तान में स्थित कराँची, चिटगांव और नारायणगंज की शाखाओं के अतिरिक्त अन्य विदेशी शाखाएँ ३० जून सन् १९५६ को बन्द कर दी गई हैं। प्रथम ६ मास में ही बैंक का शुद्ध लाभ ६८ करोड़ रुपया रहा था और इसने ७६% लाभाँश घोषित किया था।

प्रथम फरवरी सन् १९५७ को स्टेट बैंक ने यह निश्चय किया था कि केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा शीर्ष बैंकों को सप्ताह में एक बार ग्रामीण क्षेत्रों की शाखाओं को कोषों को भेजने में निःशुल्क विशेष सुविधाएँ दी जायेंगी। स्टेट बैंक रियायती दरों पर सहकारी संस्थाओं को ट्रस्टी प्रतिभूतियों, केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत ऋण-पत्रों और अंशों, माल, विनिमय बिलों, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि पर ऋण तथा नकद साख (Cash Credit) सुविधायें भी उपलब्ध करेगी। आरम्भिक अवस्था में सहकारी संस्थाओं को अंश पूँजी को बढ़ाने तथा ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन को बढ़ाने के लिए भी ऋण दिये जाने लगे हैं। इस सम्बन्ध में स्टेट बैंक जो योग देती है वह उसके अतिरिक्त होता है जो कि रिजर्व बैंक द्वारा दिया जाता है।

स्टेट बैंक का महत्त्व—

स्टेट बैंक की स्थापना भारतीय बैंकिंग के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस बैंक की सहायता से ग्रामीण वित्त की समस्या के बहुत अंश

तक सुलझ जाने की आशा है । यह बैंक विधानानुसार सन १९६० तक ४०० नई शाखाएँ खोल कर ग्रामीण तथा अर्द्ध-नागरिक क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाओं का प्रसार करेगी । साथ ही, राजकीय कोषों को बैंकिंग कोषों में परिवर्तित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सकेगा और ग्रामीण क्षेत्रों में सस्ती और सुविधाजनक बैंकिंग तथा विप्रेष सुविधायें उपलब्ध हो सकेंगी । ग्रामीण क्षेत्रों में बचत को प्रोत्साहित करने और इन बचतों को एकत्रित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी सम्पन्न हो सकेगा ।

आरम्भ से ही कुल बैंकों की जमा का एक-चौथाई भाग स्टेट बैंक के पास है । इससे इस बैंक में जन-विश्वास की कमी न रहेगी और साथ ही, रिजर्व बैंक को भी साख नियन्त्रण में अधिक सुविधा रह सकेगी । छोटी-छोटी सरकारी बैंकों के स्टेट बैंक में मिला देने के कारण बैंक की कार्य-क्षमता एवं सप्रभाविकता और भी बढ़ गई है । सारांश यह है कि उद्योग, व्यापार और वाणिज्य सभी दिशाओं में बैंक से भारी लाभ की आशा है । वैसे भी इसने बैंकिंग के राष्ट्रीयकरण के महान क्रम का सूत्रपात किया है ।

स्टेट बैंक आफ इण्डिया की लेन-देन स्थिति*

(लाख रुपयों में)

वर्ष	परिदत्त पूँजी	सुरक्षित कोष	कुल जमा	नकदी हाथ में	नकदी बैंकों में	विनियोग (सरकारी हुण्डियां)
१९५०	५,६३	६,३३	२३१,३७	७,१७	२२,१०	१,०७,१५
१९५१	५,६३	६,३५	२३०,९१	६,३१	२२,८६	६८,९३
१९५२	५,६३	६,३५	२०५,८५	३,६५	२१,९०	८०,५४
१९५३	५,६३	६,३५	२०६,९७	३,९९	१५,९४	८०,९५
१९५४	५,६३	६,३५	२३१,१३	३,७०	३२,६७	९४,९५
१९५५	५,६३	६,३५	२१९,८०	३,४२	२५,३६	१,०४,९६
१९५६	९,६३	६,३८	२३५,४७	३,३९	२४,३९	९२,५९

वर्ष	अन्य विनियोग	याचना राशि	ऋण तथा अग्रिम	भुनाये और खरीदे हुए बिल	शुद्ध लाभ	कार्यालयों की संख्या
१९५०	१४,४०	....	९४,४४	७,५१	१,२५	३८२
१९५१	१६,२३	....	१३३,६६	८,८१	१,३०	३९३
१९५२	१६,९१	....	१०७,१२	६,०५	१,३३	४१०
१९५३	१३,१९	....	९२,०३	१४,२८	१,२७	४२४
१९५४	१३,७७	....	९६,२५	६,१७	१,३७	४३५
१९५५	१२,०२	१,५३	८९,०१	१६,८०	१,३६	४८४
१९५६	१४,२८	१,०७	१०७,४२	३२,७४	१,५६	५३८

* Vide : *Statistical Tables relating to banks in India.*

मु० च० अ०, फा० ३५ ।

इतिहास—

भारत में व्यापारिक बैंकों का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के समय देश में आधुनिक प्रकार की बैंकिङ्ग संस्थाएँ नहीं थीं। सबसे पहले देश में कुछ एजेन्सी गृह स्थापित किये गये थे, जो देशी व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध के साथ-साथ कुछ प्रकार के बैंकिंग कार्य भी करते थे। सन् १८३० के बाद धीरे-धीरे ये संस्थायें समाप्त हो गईं, क्योंकि इनका कार्यवाहन लगभग कभी भी सन्तोषजनक नहीं रहा था। एजेन्सी गृह साधारणतया कलकत्ता और उसके आस-पास खोले गये थे। सन् १७९२ में इनकी संख्या १६ थी, जो सन् १८३४ तक ५० हो गई थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी से व्यापार का एकाधिकार छिन जाने के पश्चात् इनकी आर्थिक दशा काफी खराब हो गई थी। सन् १८३० के पश्चात् कुछ व्यापारिक बैंक भी खुली थीं, परन्तु इनकी संख्या बहुत कम थी। व्यापारिक बैंक मिश्रित पूँजी आधार पर खोली गई थीं, इसलिए व्यापारिक बैंकों का अध्ययन हम मिश्रित पूँजी बैंक शीर्षक के ही अन्तर्गत करेंगे।

इस प्रकार की बैंकों के खुलने का आरम्भ प्रेसीडेन्सी बैंकों के खुलने से हुआ। सन् १८०६ में 'बैंक ऑफ बङ्गाल', सन् १८४० में 'बैंक ऑफ बम्बई' और सन् १८४३ में 'बैंक ऑफ मद्रास' की स्थापना हुई। सन् १८२३ से ही इन प्रेसीडेन्सी बैंकों को पत्र-मुद्रा नोट निकालने का अधिकार दिया गया था, जो सन् १८६२ में समाप्त कर दिया। सन् १८६० के आस-पास वास्तविक अर्थ में भारत में मिश्रित पूँजी आधार पर व्यापारिक बैंक खुलनी आरम्भ हुईं। सन् १८६३ में 'अपर इण्डिया बैंक' तथा सन १८६५ में 'इलाहाबाद बैंक' स्थापित हुईं। सन् १८६८ तक बैंकों की संख्या २५ तक पहुँच गई, परन्तु सन् १९०० तक बैंकिंग विकास की प्रगति धीमी रही। इसके कई कारण थे—प्रथम, अमरीकन गृह युद्ध के कारण सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिला था और बैंकों ने सट्टेबाजी में भाग लेकर अपने व्यवसाय को चौपट कर लिया था। दूसरे, इस काल में विनिमय दर की घोर अस्थिरता के कारण प्रगति में बाधा पड़ी थी। बहुत सी बैंक ठप्प हो गई थीं और सन् १८९४ तक मिश्रित पूँजी बैंकों की संख्या घट कर केवल ६४

रह गई है, परन्तु इसी काल में तीन बड़ी-बड़ी बैंक स्थापित हुईं—सन् १८७४ में 'एलायन्स बैंक' सन् १८८१ में 'अवध कॉमर्शियल बैंक' और सन् १८९४ में 'पंजाब नेशनल बैंक'। ये सब मिश्रित पूँजी बैंक थीं और इनमें से 'अवध कॉमर्शियल बैंक' पूर्णतया भारतीय बैंक थी।

बीसवीं शताब्दी का आरम्भ होते ही बैंक तेजी के साथ खुलने लगीं। सन् १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन ने तो भारतीय मिश्रित पूँजी बैंकों की स्थापना को बहुत ही प्रोत्साहन दिया और पश्चिमी-भारत, पंजाब और उत्तर-प्रदेश में तो बैंकों की बाढ़-सी आ गई। सन् १९०५ और सन् १९१३ के बीच ऐसी बैंकों के निक्षेपों में ११ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। प्रथम महायुद्ध का आरम्भ होते ही कितनी ही और बैंक खोली गईं, परन्तु अधिकाँश बैंक युद्ध का आघात न सह सकीं और युद्ध का अन्त होने से पहले ही समाप्त हो गईं। सन् १९१३ और सन् १९१७ के बीच ही ९५ बैंक फेल हो गईं और युद्धोत्तरकालीन मन्दी ने तो हालत और भी खराब कर दी। सन् १९१७ और सन् १९२४ के बीच ९६ बैंक और बैठ गईं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सन् १९१३-३६ के बीच के काल में कुल मिलकर ४८१ बैंक फेल हो गई थीं। सन् १९३९ में दूसरे महायुद्ध के आरम्भ ने बैंकों की स्थापना और पुरानी बैंकों द्वारा शाखा खोलने के क्रम को फिर प्रोत्साहन दिया, परन्तु युद्ध का अन्त होने पर देश के विभाजन के कारण पंजाब और बङ्गाल की बहुत सी बैंक ठप्प हो गईं।

मिश्रित पूँजी (व्यापारिक) बैंकों के कार्य—

एक व्यापारिक बैंक एक साधारण बैंक के लगभग सभी प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करती है। इनके प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं:—

(१) निश्चितकालीन, चालू अथवा सेविंग बैंक निक्षेपों का स्वीकार करना। इन निक्षेपों पर साधारणतया ब्याज दिया जाता है।

(२) देशी व्यापार से सम्बन्धित विनिमय बिलों का भुनाना, स्वीकार करना, खरीदना और बेचना।

(३) देश के आयात-निर्यात व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध में सहायता देना।

(४) अंशों, समुचित प्रतिभूतियों, कृषि उपज और तैयार तथा अर्द्ध तैयार माल की जमानत पर ऋण देना।

(५) व्यक्तिगत जमानत तथा प्रतिज्ञा-पत्रों पर ऋण देना।

(६) नकद साख तथा अधि-विकर्ष की सुविधाएँ प्रदान करना।

(७) विप्रेषों का भेजना, धन का एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरण करना और कमीशन के आधार पर बहुमूल्य वस्तुओं का संरक्षण करना।

(८) ग्राहकों के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करना।

(९) बैंकिंग व्यवसाय सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की सेवाएँ सम्पन्न करना।

(१०) अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति का संदर्भ (Reference) देना और उसकी अन्य बैंकों को गुप्त सूचना देना।

व्यापारिक बैंकों के प्रकार—

भारतीय व्यापारिक बैंकों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—(१) वे जिनकी पूँजी और सुरक्षित कोष मिला कर ५०,००० रुपये से कम है, (२) वे जिनकी पूँजी और सुरक्षित कोष ५० हजार और १ लाख रुपये के भीतर है, (३) वे जिनकी इस प्रकार की पूँजी १ लाख तथा ५ लाख रुपए के भीतर है और (४) वे जिनकी पूँजी ५ लाख रुपये से ऊपर है। प्रथम प्रकार की बैंक सन् १९३६ से पहले स्थापित हुई थीं। नवीन कम्पनी एक्ट के अनुसार अब ५०,००० रुपये से कम पूँजी वाली बैंक नहीं खोली जा सकती हैं। इनकी संख्या सन् १९४५ में १४४ थी, जो बराबर घट रही है। इनमें से अधिकाँश की आर्थिक स्थिति भी इतनी कमजोर है कि उन्हें बैंक कहना उचित न होगा। ऐसी बैंकों को रिजर्व बैंक की भी सदस्यता प्राप्त नहीं है। सन् १९५४ में उनकी संख्या घट कर ८९ रह गई थी।

परिगणित बैंक (Scheduled Banks) अथवा अनुसूचित बैंक और अपरिगणित बैंक (Non-Scheduled Banks)—

देश की व्यापारिक बैंकों पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण रहता है। नियन्त्रण की सरलता के लिए ऐसी बैंकों को परिगणित और अपरिगणित वर्गों में बाँट दिया गया है। ऐसी बैंकों को जिनकी परिदत्त पूँजी और सुरक्षित कोष मिलाकर ५ लाख रुपया या इससे अधिक है, रिजर्व बैंक की दूसरी सूची (Second Schedule) में सम्मिलित कर दिया गया है और इसी कारण इन्हें परिगणित बैंक कहा जाता है। ऐसी बैंकों को अपनी तत्कालीन देन (Demand Liability) का ५% और समय देन (Time Liability) का २% रिजर्व बैंकों के पास रखना पड़ता है जिसमें सन् १९५६ में वृद्धि कर दी गई है ऐसी बैंको के लिए प्रति सप्ताह रिजर्व बैंक के पास रिपोर्ट भेजना आवश्यक है। जमा की राशि में कमी हो जाने अथवा समय पर रिपोर्ट न भेजने की दशा में रिजर्व बैंक इनसे जुर्माना वसूल करती है। इन प्रतिबन्धों के साथ-साथ रिजर्व बैंक ने इन्हें कुछ विशेष सुविधाएँ दे रखी हैं। आवश्यकता पड़ने पर ये समुचित प्रतिभूति देकर रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त कर सकती

हैं, अथवा अपनी खरीदी और भुनाई हुई हुण्डियों को फिर से भुना सकती हैं। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक इनसे ऐसे प्रतिज्ञा-पत्रों और विनिमय बिलों को खरीद लेती है जिनकी परिपक्वता अवधि ९० दिन से अधिक नहीं है। रिजर्व बैंक ऐसी बैंकों के रुपये को एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाने की भी सुविधा देती है।

उन बैंकों को भी जिन्हें रिजर्व बैंक की दूसरी सूची में सम्मिलित नहीं किया जाता है, रिजर्व बैंक कुछ प्रकार की सुविधाएँ देती है। यदि कोई बैंक रिजर्व बैंक में कम से कम १० हजार रुपया जमा करके खाता खोलती है तो इसे अपरिगणित बैंक कहा जाता है। ऐसी बैंकों को भी कुछ निर्धारित सुविधाएँ दी जाती हैं।

व्यापारिक बैंकों के ऋण—

इन बैंकों की ऋण प्रदान करने की रीति सरल होती है। ऋण लेने वाले से एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखवा लिया जाता है और समुचित जमानत लेकर ऋण दे दिया जाता है। नकदी में ऋण देने की प्रथा नहीं है, बल्कि ऋण की राशि के लिए ऋणी के नाम खाता खोल दिया जाता है, जिसमें से वह चैक द्वारा रुपया निकालता रहता है। चालू खाते के निक्षेपधारियों को अधि-विकर्ष की भी सुविधाएँ दी जाती हैं। ऋण की शोधनावधि साधारणतया कम रखी जाती है। व्यापारिक बैंक दीर्घकालीन ऋण बहुत ही कम देती हैं। अल्पकालीन ऋणों में तरलता अधिक होती है, ब्याज की दर ऊँची रहती है और रुपया जल्दी-जल्दी वसूल होता रहता है, जिससे धन की कमी मालूम नहीं होती है। वैसे भी व्यापारिक बैंकों की अधिकांश जमा चालू खाते की जमा होती है, जिसके आधार पर अल्पकालीन ऋणों का देना ही अधिक उपयुक्त होता है।

जहाँ तक जमानतों का प्रश्न है, व्यापारिक बैंक तरल जमानत ही अधिक पसन्द करती हैं। भूमि, मकान तथा अन्य अचल सम्पत्तियों की जमानत साधारणतया अच्छी नहीं समझी जाती है। यह प्रसिद्ध है कि एक कुशल बैंकर वही है जो विनिमय बिल तथा प्राधि (Mortgage) का भेद स्पष्टता के साथ जानता है। बात यह है कि अचल सम्पत्ति को बेच कर धन प्राप्त करने में भारी कठिनाई होती है और यथासमय धन प्राप्त कर लेना कठिन होता है, जिससे बैंक के डूब जाने का भय रहता है। इसी कारण वे प्रतिभूतियाँ पसन्द की जाती हैं जो तुरन्त बिक्री साध्य होती हैं।

भारतीय व्यापारिक बैंक सावधि जमा को प्राप्त करने का विशेष प्रयत्न करती हैं, जिसके लिए ऐसी जमा पर अधिक ब्याज दिया जाता है। चालू खाते में जमा रुपये पर साधारणतया या तो नाम-मात्र ब्याज दिया जाता है

या बिना ब्याज की जमा स्वीकार की जाती है। विनियोग के दृष्टिकोण से सरकारी हुण्डियाँ अधिक पसन्द की जाती हैं, जिसका प्रमुख कारण बिल व्यवसाय की कमी है।

भारत में व्यापारिक बैंकों के विकास की शिथिलता के कारण—

भारत में बैंकिंग का विकास अभी बहुत पीछे है। प्रत्येक २,७६,००० व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है, जबकि इङ्गलैण्ड में प्रत्येक ३,६०० और स्विटजरलैण्ड में १,३३३ व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है। बैंकिंग विकास की इस धीमी प्रगति के कारण निम्न प्रकार हैः—

(१) भारत में बचत कम हो पाती है, क्योंकि लोगों की आय कम है, परन्तु बचत को जमीन में गाढ़ कर रखने का रिवाज भी काफी अधिक है। परिणाम यह होता है कि बैंकों में कम ही रुपया जमा हो पाता है।

(२) सन् १६०५ और सन् १६३६ के बीच बैंक नियमित रूप में भारी संख्या में फेल हुई हैं, जिसने जनता के विश्वास पर गहरा आघात किया है।

(३) धीमी प्रगति का एक कारण बैंकिंग शिक्षण का अभाव है, इसके कारण लाभ कम होते हैं और जनता के विश्वास में बैंकों के फेल होते रहने के कारण कमी आ जाती है।

(४) भारत सरकार ने बैंकिंग के प्रोत्साहन का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है।

(५) भारत का विदेशी व्यापार अधिकतर विदेशियों के हाथ में रहा है, जिन्होंने भारतीय बैंकिंग के साथ अनुचित व्यवहार किया है और उसके विकास में बाधा डाली है।

(६) विदेशी विनिमय बैंकों ने, जो विदेशी संस्थाएँ हैं, भारतीय बैंकों के साथ देशी व्यापार, साधारण बैंकिंग तथा निक्षेप प्राप्ति में भी प्रतियोगिता की है, जिससे व्यवसाय की कमी रहती आई है।

(७) बैंकिंग के प्रति जनता की उदासीनता रही है, जिसके कारण अधिकांश बैंकों के पास पूँजी की कमी रही है। इस कमी के कारण न तो बैंकिंग व्यवसाय लाभदायक ही रहा है और न उसमें कुशलता तथा संकटों के आघात सहने की शक्ति ही आई है।

(८) व्यापारिक बैंकों का उद्देश्य ऊँचे लाभांश बाँट कर अंशधारियों को सन्तुष्ट करना रहा है। इन्होंने सुरक्षित कोष जमा करके अपनी स्थिति को दृढ़ करने का प्रयत्न कम ही किया है।

(९) अँग्रेजी भाषा के उपयोग तथा पाश्चात्य लेखा-विधि के कारण देशी व्यवसायिओं से बहुत निकट सम्बन्ध नहीं बन पाया है। यही कारण है कि देशी बैंकरों की भी प्रतियोगिता बराबर बनी रही है।

(१०) अधिकाँश दशाओं में ऊँचे पदों पर विदेशियों को रखने की प्रथा चलती आई है। ये लोग न तो देशी व्यापारियों से निकट सम्बन्ध ही स्थापित कर सके हैं और न उनका विश्वास ही प्राप्त कर सके हैं।

(११) इम्पीरियल बैंक की प्रतियोगिता ने अन्य बैंकों को पनपने का मौका कम ही दिया है। यह दोष अब स्टेट बैंक के निर्माण ने दूर कर दिया है।

(१२) पूर्व विकसित बिल बाजार के न होने के कारण बैंकिंग के विकास में बाधा पड़ी है, क्योंकि सुरक्षित विनियोग के साधन कम रहे हैं।

(१३) बैंकों की शाखाओं की कमी के कारण जोखिम का प्रादेशिक वितरण नहीं हो पाया है और जनता में बैंकिंग आदत भी पैदा नहीं हो सकी है।

(१४) वैधानिक प्रतिबन्ध कुछ इस प्रकार के रहे हैं कि बैंकों को धन वसूल करने में भारी कठिनाई रही है। अचल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण देने में तो झंझट बहुत ही रहता है। इसने ऋण व्यवसाय के समुचित विकास में बाधा डाली है।

(१५) भारतीय व्यापारिक बैंकों के जमानत सम्बन्धी नियम कड़े हैं, जिनके कारण देशी बैंकर और साहूकार उनके व्यवसाय को छीनने में सफल हो जाते हैं।

(१६) सरकारी सहायता की काफी कमी रही है।

सुधार के सुझाव—

व्यापारिक बैंकों के दोषों को दूर करना आवश्यक है, जिससे कि बैंकिंग के समुचित विकास द्वारा देश की आर्थिक उन्नति सम्भव हो सके। सुधार के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) सरकारी नीति में परिवर्तन करने की आवश्यकता है, जिससे कि सरकार बैंकिंग के विकास को प्रोत्साहन दे सके।

(२) पारस्परिक प्रतियोगिता को मिटाने के लिए बैंकों का अखिल भारतीय संघ बनना चाहिए।

(३) विदेशी विनिमय बैंकों की अनुचित कार्यवाहियों को रोकना चाहिए और उनका कार्य-क्षेत्र इस प्रकार निश्चित होना चाहिए कि वे व्यापारिक बैंकों के साथ प्रतियोगिता न कर सकें।

(४) सहकारी बैंकों की भाँति छोटी-छोटी बैंकों को भी आय-कर और मुद्राँक करों में छूट मिलनी चाहिए।

(५) छोटे नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में शाखा खोलने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा सहायता मिलनी चाहिए।

(६) बैंकों के प्रबन्ध और उनकी कार्य-विधि में सुधार की भारी आवश्यकता है।

(७) बैंकिंग सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

(८) भूमि बन्धक बैंकों, औद्योगिक बैंकों और सहकारी बैंकों का विकास होना चाहिए और उनका व्यापारिक बैंकों से निकट का सम्बन्ध रहना चाहिए।

(९) अंग्रेजी के स्थान पर प्रादेशिक भाषाओं का उपयोग होना चाहिए।

(१०) ऐसी संस्थाओं की स्थापना की भारी आवश्यकता है जो बैंकों और व्यापारियों के सम्बन्ध में गुप्त, परन्तु विश्वसनीय सूचनाएँ एकत्रित करती रहें।

(११) हिसाब रखने की रीतियों में सुधार होना चाहिए।

(१२) देशी बैंकरों तथा छोटी-छोटी बैंकों को मिला कर परिगणित बैंकों में परिवर्तित कर देना चाहिए।

(१३) संकट के समय सहायता देने के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक की नीति अधिक उदार होनी चाहिए।

(१४) स्टेट बैंक को प्रतियोगिता के स्थान पर सहायता और प्रोत्साहन की नीति अपनानी चाहिए। राष्ट्रीयकरण द्वारा इसकी सम्भावना बढ़ जाती है।

(१५) बैंक के ऋण साधारणतया उत्पादक कार्यों के लिए होने चाहिए और जमानत सम्बन्धी नियम भी अधिक उदार होने चाहिये।

वर्तमान स्थिति—

सन् १९५४–५५ में अनुसूचित बैंकों की कुल संख्या ८८ थी जो सन् १९५६-५७ में ८९ तक पहुँच गई थी। सन् १९५४–५५ के वर्ष में शाखाओं की कुल संख्या २,०८७ तक पहुँच गई थी। योजना के अन्तर्गत लोक-क्षेत्र में व्यय की जो वृद्धि हुई है उसका बैंकों के साधनों पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। सन् १९५६–५७ में इन बैंकों की कुल जमा १,१४८ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। इसके फलस्वरूप बैंकों की साख सुविधाओं में ६६ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई थी। निम्न तालिका में अनुसूचित बैंकों की सन् १९५६–५७ तक की सम्पूर्ण स्थिति दिखाई गई है :—

सभी अनुसूचित बैंकों की लेन और देन

वर्ष	बैंकों की संख्या	परिदत्त पूँजी	सुरक्षित कोष	कुल जमा	नकदी हाथ में	नकदी बैंकों में	सरकारी हुन्डियों में विनियोग
१९५०-५१	९१	३५·८५	२६·६५	९२८·२३	४९·७५	८८·७२	३६४·५१
१९५१-५२	९२	३४·४५	२७·३३	९१८·०९	४६·८२	९३·३३	२९९·१५
१९५२-५३	९१	३३·७१	२६·६५	८९१·८७	३९·५३	८६·१७	३१९·११
१९५३-५४	८९	३२·७५	२६·७२	९०५·८५	३९·६७	७४·९७	३२८·२०
१९५४-५५	८८	३२·६६	२६·६९	९९५·७०	३८·८०	१००·७३	३४६·६३
१९५५-५६	८९	३२·८५	२६·७३	१,०७१·७३	४२·१३	९३·८५	३८२·२१
१९५६-५७	८९	३२·९९	२७·१६	१,१४८·०७	४३·१५	९२·००	३६३·७२

वर्ष	अन्य विनियोग	याचना राशि	ऋण और अग्रिम	खरीदे और भुनाये हुए बिल	शुद्ध लाभ	कार्यालयों की संख्या
१९५०—५१	४६·४०	....	४४०·४०	६५·०४	७·४३	२,७६५
१९५१—५२	४९·५८	....	४४५·१४	७३·७७	८·९५	२,६४६
१९५२—५३	४९·३०	....	४७४·००	६०·७७	७·२९	२,६४६
१९५३—५४	४७·६६	....	४४७·५०	८२·३९	६·८५	२,६८९
१९५४—५५	५१·७२	....	४९८·८३	८७·५९	७·१७	२,७६५
१९५५—५६	५३·६६	११·६६	५३३·८३	१,३१·२९	८·२८	२,८५८
१९५६—५७	५५·६४	१४·३६	६४०·९०	१,७९·४१	९·९२	२,९६६

सन् १९५७ में अनुसूचित बैंकों की जमा का बराबर विस्तार हुआ है। इस वर्ष के बारह महीनों में स्थिति निम्न प्रकार रही है :—

सन् १९५७ में कुल अनुसूचित बैंकों की जमा

मास	कुल जमा	मास	कुल जमा	मास	कुल जमा
जनवरी	१,१२३·२६	मई	१,२३८·७१	सितम्बर	१,३१०·६५
फरवरी	१,१५१·९४	जून	१,२६२·३१	अक्टूबर	१,३५५·४०
मार्च	१,१७५·३०	जुलाई	१,२८८·०८	नवम्बर	१,३६५·१९
अप्रैल	१,२२०·५२	अगस्त	१,२८८·४०	दिसम्बर	१,३६९·०४

गैर अनुसूचित बैंक (Non-Scheduled Banks)—

गैर अनुसूचित बैंकों में ऐसी सभी बैंकों को शामिल किया जाता है जिनकी परिदत्त पूँजी (Paid-up Capital) और सुरक्षित कोष मिलकर ५ लाख रुपए से कम होते हैं। ऐसी बैंकों को चार वर्गों में बाँटा जाता

है :—(१) ऐसी बैंक जिनकी परिदत्त पूँजी तथा सुरक्षित कोष मिलकर ५ लाख रुपए से अधिक होते हैं, किन्तु जिन्हें अन्य कारणों से अनुसूचित बैंकों में शामिल नहीं किया जाता है। (२) ऐसी बैंक जिनकी परिदत्त पूँजी और सुरक्षित निधि मिलकर १ और ५ लाख रुपए के भीतर है। (३) ऐसी बैंक जिनकी परिदत्त पूँजी और निधि ५० हजार और १ लाख रुपये के भीतर है और (४) ऐसी बैंक जिनकी परिदत्त पूँजी और निधि ५० हजार रुपये से कम है। ऐसी बैंकों की कुल संख्या सन् १९५६-५७ में ३३४ थी और कुल जमा ७३·७५ करोड़ रुपया। ऐसी बैंकों की संख्या विगत वर्षों में बराबर घटी है, यद्यपि जमा में कोई विशेष कमी नहीं हुई है। निम्न तालिका सम्पूर्ण स्थिति को दिखाती है :—

गैर-अनुसूचित बैंकों की लेन और देन

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	बैंकों की संख्या	परिदत्त पूँजी	सुरक्षित कोष	कुल जमा	नकदी हाथ में	नकदी बैंकों में
१९५०—५१	५१४	१०·२६	३·९१	७३·६७	६·८८	४·६८
१९५१—५२	४७४	९·३९	३·९८	६९·९९	७·७१	३·५५
१९५२—५३	४४०,	९·४९	४·६१	७२·७८	६·२८	३·८६
१९५३—५४	४३२	९·०७	४·६८	६३·५४	६·१४	३·९३
१९५४—५५	४१०	८·८०	४·८१	६६·८३	६·१७	४·४३
१९५५—५६	३६६	८·११	४·६७	७०·१३	६·४८	३·७९
१९५६—५७	३३४	७·६४	४·४४	७३·७५	६·६०	३·४६

वर्ष	सरकारी हुन्डियों में विनियोग	अन्य विनियोग	ऋण तथा अग्रिम	बिल अप-हरण	शुद्ध लाभ	कार्यालयों की संख्या
१९५०—५१	२४·४४	४·४०	४५·७७	१·८७	६८	१,५४५
१९५१—५२	२२·७९	३·८३	४१·७९	१·६९	६२	१,४६९
१९५२—५३	२०·६७	३·६९	४२·०१	१·६८	५२	१,३३०
१९५३—५४	२०·४९	४·१५	४१·९०	१·६४	६२	१,२६२
१९५४—५५	२१·६९	४·९९	४०·७९	१·६५	६२	१,१९९
१९५५—५६	२५·२४	१·६१	३७·३२	१·०९	६३	१,१४२
१९५६—५७	२५·६७	६·२८	३९·८२	२·७२	७१	१,१०१

व्यापार बैंकों का भविष्य—

इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि भारतीय व्यापारिक बैंकों के कार्य-वाहन में अनेक त्रुटियाँ हैं और सुधार की आवश्यकता तथा गुञ्जाइश भी बहुत काफी है, परन्तु विगत वर्षों में सुधार के अनेक प्रयत्न हुए हैं। आशा

यही है कि भविष्य में बैंकिंग का आधार अधिक दृढ़ हो सकेगा। इस सम्बन्ध में प्रमुख सुधार निम्न प्रकार रहे हैं :—

(१) सन् १९३६ के कम्पनी एक्ट के अनुसार कोई भी बैंक बिना ५०,००० रुपये की पूँजी के नहीं खोली जा सकती है।

(२) सन् १९४९ के विधान के अनुसार कोई बैंक गैर बैंकिंग कार्य नहीं कर सकती है।

(३) नये विधान के अनुसार रिजर्व बैंक से आज्ञा प्राप्त किये बिना कोई बैंक न तो कई शाखा खोल सकती है और न अपने कार्य का कुछ विशेष दिशाओं में विस्तार ही कर सकती है। प्रत्येक बैंक को अपने कार्य-संचालन के लिए रिजर्व बैंक से अनुज्ञापन प्राप्त करना होता है।

(४) रिजर्व बैंक की नीति अब अधिक उदार तथा सहानुभूतिपूर्ण है और वह समय पर सहायता देने में संकोच नहीं करती है।

(५) दूसरे महायुद्ध का बैंकों की आर्थिक स्थिति तथा जमा राशि पर अच्छा प्रभाव पड़ा है।

(६) सभी बैंकों को अपनी देन का एक निश्चित भाग रिजर्व बैंक में रखना पड़ता है। इससे आदेयों की तरलता बनी रहती है और जनता का विश्वास भी बना रहता है।

अध्याय ३७

भारत में देशी बैंकर

(Indigenous Bankers in India)

परिभाषा—

भारतीय मुद्रा बाजार में देशी बैंकरों तथा महाजनों का भारी महत्त्व है। भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के अनुसार देशी बैंकर अथवा बैंक वह व्यक्ति या निजी फर्म है जो निक्षेपों को स्वीकार करने, हुण्डियों में व्यवसाय करने अथवा ऋण देने का कार्य करे। देश के विभिन्न भागों में इनके अलग-अलग नाम हैं। बङ्गाल में इन्हें महाजन कहा जाता है, उत्तर-प्रदेश में साहूकार, पंजाब में खत्री, बम्बई में सर्राफ, मारवाड़ में सेठ, मद्रास में चेट्टी, इत्यादि; परन्तु एक देशी बैंकर तथा साहूकार (Money-

lender) में यह महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है कि बैंकर निक्षेपों को स्वीकार करता है, परन्तु साहूकार ऐसा नहीं करता है । इनकी बैंकिंग सुविधाएँ देश को बड़े लम्बे काल से प्राप्त है और सभी प्रकार के परिवर्तन हो जाने पर भी, इस समय भी देश के आर्थिक जीवन में इनका भारी महत्त्व हैं। छोटे-छोटे नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों और देश के आन्तरिक व्यापार तथा कृषि वित्त में अभी तक भी आधुनिक बैंक इसके महत्त्व को कम नहीं कर पाई हैं ।

देशी बैंक आधुनिक बैंकों से अनेक प्रकार भिन्न होती हैं :—प्रथम, आधुनिक बैंकों की तुलना में देशी बैंक निक्षेपों द्वारा अपनी पूँजी का एक बड़ा ही तुच्छ भाग प्राप्त करती हैं और अंश पूँजी द्वारा तो यह कुछ भी धन एकत्रित नहीं करती हैं। दूसरे, देशी बैंकिंग प्रणाली में धनादेशों का चलन नहीं है, सभी भुगतान नकदी में किये जाते हैं। तीसरे, देशी बैंकर बैंकिंग व्यवसाय के साथ-साथ व्यापार आदि अन्य व्यवसाय भी करते हैं। चौथे, देशी बैंकर अचल सम्पत्ति की आड़ पर भी ऋण दे देते हैं और इनके ऋण दीर्घकालीन भी होते हैं, यद्यपि इनकी ब्याज की दरें आधुनिक बैंकों की तुलना में काफी ऊँची होती हैं। पाँचवे, ये बैंक व्यापार बैंकों और औद्योगिक बैंकों की भाँति दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन ऋणों में भेद नहीं करती हैं और दोनों प्रकार के ऋणों एक ही साथ देती हैं। छठे, इन बैंकरों पर सन् १६४६ के विधान की व्यवस्थाएँ लागू नहीं होती हैं और इनका विदेशी व्यापार से लगभग कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है। अन्त में, इनकी कार्य-विधि अलग ही होता है और इनका कार्य साधारणतया प्रादेशिक भाषाओं में होता है ।

देशी बैंकरों के कार्य—

देशी बैंकरों के कार्यों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं, अर्थात् बैंकिंग व्यवसाय से सम्बन्धित कार्य तथा अन्य प्रकार के कार्य। प्रथम प्रकार के कार्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) **निक्षेपों का स्वीकार करना**—ये बैंकर माँग पर तुरन्त शोधनीय निक्षेपों अथवा ऐसी निक्षेपों को स्वीकार करते हैं जो एक निश्चित काल पीछे शोधनीय हों। साधारणतया इनकी ब्याज की दर आधुनिक बैंकों की निक्षेप दर से ऊँची रहती है, परन्तु बम्बई की कुछ संस्थाओं को छोड़कर ये चैक द्वारा शोधन नहीं करती हैं ।

(२) **ऋणों का देना**—यह देशी बैंकरों और साहूँकारों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस सम्बन्ध में ये संस्थायें लगभग सभी प्रकार की प्रतिभूतियाँ स्वीकार करती हैं, जिनमें ऋण लेने वाले की व्यक्तिगत जमानत भी सम्मिलित है। अच्छी प्रतिभूतियों पर ब्याज की दर ६% से लेकर

१८% तक होती है, परन्तु अपर्याप्त प्रतिभूतियों अथवा किश्तों पर चुकाये जाने वाले ऋणों पर ब्याज की दर कभी-कभी ४४% तक होती है। ये संस्थायें कृषि, उद्योग तथा व्यापार का काम करती हैं। साहूकार भूमि, फसल, जेवरात आदि की प्रतिभूतियों पर ऋण देते हैं। कुछ ऋण वस्तुओं अथवा माल के रूप में भी दिये जाते हैं और वसूल भी माल में ही किये जाते हैं। इसी प्रकार कारीगरों के इस वायदे पर कि वे तैयार माल को उन्हीं के हाथ बेचेंगे, ऋण दे दिये जाते हैं। कभी-कभी ये ऋण कच्चे मालों और अन्य आवश्यक सामानों के रूप में भी दिये जाते हैं। बड़े-बड़े उद्योगों के पास निक्षेप जमा करके उनका अर्थप्रबन्ध किया जाता है, परन्तु गोदामों में में रखे हुए माल की आड़ पर देशी बैंकर ऋण नहीं देते हैं।

(३) हुण्डियों का कारोबार—देशी बैंकर विभिन्न प्रकार की हुण्डियों की निकासी, उनके क्रय-विक्रय तथा उनके भुनाने का कार्य करते हैं।

देशी बैंकरों तथा साहूकारों के गैर बैंकिंग व्यवसायों में व्यापार तथा दूकानदारी का सबसे अधिक महत्त्व है। आधुनिक बैंकों की प्रतियोगिता के कारण बैंकिंग व्यवसाय में जो हानि हुई है उसकी कमी इन्होंने गैर-बैंकिंग व्यवसायों को बढ़ा कर पूरी की है। इसके अतिरिक्त यह सट्टा व्यवसाय में भाग लेते हैं और व्यापार फर्मों के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करते हैं। व्यापार बैंकों के साथ भी इनका सम्बन्ध रहता है। वैसे तो ये संस्थाएँ साधारणतया अपनी तथा अपने कुटुम्ब के सदस्यों और रिश्तेदारों की पूँजी से काम चलाती हैं, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर व्यापार बैंकों से ऋण भी लेती हैं और कभी-कभी अपने फालतू कोषों को उनमें जमा भी करती हैं, परन्तु आधुनिक बैंक केवल ऐसे साहूकारों तथा देशी बैंकरों को ऋण देती हैं जो उनकी स्वीकृत सूची पर होते हैं। ऐसी ही संस्थाओं को अग्रिम तथा डिस्काउन्ट सुविधाएँ भी दी जाती हैं। इनकी हुन्डियाँ व्यापार बैंकों द्वारा सुनाई जाती हैं और स्टेट बैंक तथा हाल में रिजर्व बैंक उनकी हुन्डियों को फिर से भुनाने का भी कार्य करती हैं। आधुनिक बैंक इन्हें विप्रेष (Remittance) सुविधाएँ भी प्रदान करती हैं।

इनके दोष—

इस प्रणाली के दोष कई प्रकार के हैं:—प्रथम, ये संस्थाएँ बैंकिंग व्यवसाय के साथ-साथ और भी अनेक प्रकार के व्यवसाय करती हैं, जो बैंक के रूप में इनकी उपयोगिता को कम कर देते हैं और विशेष समस्याएँ उत्पन्न करते हैं। दूसरे, इनके ब्याज की दरें बहुत ऊँची होती हैं। तीसरे, इनके पास कोषों की कमी है, क्योंकि इनका निक्षेप व्यवसाय बहुत ही

सीमित है। इसी कारण हुन्डियों का व्यवसाय भी ये कम अंश तक हो कर पाते हैं। चौथे, इनकी कार्य-विधियों में भारी भिन्नता है और ये साधारणतया परम्परागत आधारों पर काम करते हैं। इसके कारण इनके निरीक्षण और अंकेक्षण का कार्य बहुत कठिन है। पाँचवे, ये समुचित बैंकिंग सिद्धान्तों पर कार्य नहीं करते हैं और बहुधा अपर्याप्त प्रतिभूतियों पर ऋण देकर जोखिम के अंश को बढ़ाते हैं। छठे, इनमें पारस्परिक सहयोग का अभाव है, आधुनिक बैंकों के साथ भी इनकी प्रतियोगिता चलती आ रही है। सातवें, ये अपने लेखों और विवरण-पत्रों को प्रकाशित नहीं करते हैं। अन्त में, साहूकारों की कार्य-विधि साधारणतया धोखे-बाजी और अनुचित व्यवहारों से भरी रहती हैं। अनेक प्रकार की कटौतियाँ, ऋण की मात्रा को बढ़ा कर लिखना, रसीद न देना आदि इनके भारी दोष हैं। ऐसा कहा जाता है कि ये अपने ऋणी को ऋण से मुक्त होने का अवसर ही कम देते हैं।

उपरोक्त दोषों के कारण हाल के वर्षों में इन्हें व्यवसाय की काफी हानि हुई है। आधुनिक बैंकों की निरन्तर प्रतियोगिता ने भी इन्हें गैर-बैंकिंग व्यवसाय को अधिक अंश तक ग्रहण करने पर बाध्य किया है। साथ ही, रूढ़िवादी प्रथाओं ने भी इनके व्यवसाय को काफी चौपट किया है।

सुधार के सुझाव—

सुधार की तीन दिशाओं में भारी आवश्यकता है:—(१) कार्य-विधि में सुधार, (२) आर्थिक स्थिति में सुधार और (३) अनुचित व्यवहारों का अन्त। लगभग सभी बैंकिंग जाँच समितियों ने यह स्वीकार किया है कि इन संस्थाओं की सेवाएँ काफी महत्त्वपूर्ण हैं और इनका अन्त कर देना उचित न होगा, परन्तु इनके कार्यवाहन में सुधार की भारी आवश्यकता है। सुधार के सुझाव निम्न प्रकार हैं:—

(१) ऐसी संस्थाओं के सट्टा और व्यापार व्यवसायों पर प्रतिबन्ध लगा कर उनका सम्बन्ध रिजर्व बैंक से स्थापित किया जाय, जिससे कि उन क्षेत्रों को भी समुचित बैंकिंग सेवाएँ उपलब्ध हो जाएँ जहाँ उनका अभाव है। इस सम्बन्ध में पूँजी, निक्षेप, कार्यवाहन आदि के सम्बन्ध में उपयुक्त नियम बना कर इन्हें अग्रिम, विप्रेष तथा पुनअपहरण (Rediscount) की सुविधाएँ दी जायँ।

(२) ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि व्यापार बैंक इनकी हुन्डियों का स्वतन्त्रतापूर्वक अपहरण करती रहें।

(३) स्टेट बैंक तथा रिजर्व बैंक द्वारा समुचित शर्तों पर इन्हें वही विशेष सुविधाएँ दी जायें जो अन्य बैंकों को प्राप्त हैं।

(४) कार्य-विधि में आवश्यक सुधार करके इन्हें आधुनिक आधार पर संगठित किया जाए और इनके अंकेक्षण तथा नियन्त्रण की भी समुचित व्यवस्था की जाय।

(५) अनुज्ञापित बैंकों की स्थापना, विलय तथा देशी बैंकरों के संघ बना कर इनकी कुशलता बढ़ाई जाय और पारस्परिक डाह को समाप्त किया जाय।

(६) बिल व्यवसाय को इन बैंकों का महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाय और इन्हें असीमित उत्तरदायित्व आधार पर संगठित किया जाय।

(७) साहूकारों के सम्बन्ध में राज्य सरकारों द्वारा इस प्रकार विधान बनाये जायँ कि उनके अनुचित व्यवहारों का अन्त हो और ब्याज की दरों में कमी हो। छोटे नगरों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी साख का विकास इस सम्बन्ध में लाभदायक हो सकता है। विभिन्न राज्य सरकारों ने ऋणी वर्गों की रक्षा के लिए जो नियम बनाये हैं उनका कार्य-वाहन सन्तोषजनक नहीं है। यह कमी दूर होनी चाहिए। साहूकारों के हिसाब-किताब की जाँच की भारी आवश्यकता है, जिससे कि उनके अनुचित व्यवहार कम हो जायँ।

देशी बैंकर और रिजर्व बैंक—

देशी बैंकर ग्रामीण क्षेत्रों की लगभग समस्त मौद्रिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और नगर क्षेत्रों में भी उनका काफी महत्त्व है। इस कारण यह आवश्यक है कि उनका आधुनिक बैंकिंग प्रणाली से समुचित सम्बन्ध रहे। इस समय रिजर्व बैंक का इन पर लगभग कुछ भी प्रभाव नहीं है और उसकी किसी भी नीति का इन पर असर नहीं पड़ता है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति की सिफारिशों के आधार पर सन् १९३७ में रिजर्व बैंक ने एक ऐसी योजना प्रस्तुत की थी जिसके अनुसार कुछ निश्चित शर्तों पर देशी बैंकर रिजर्व बैंक की स्वीकृत सूची में सम्मिलित किये जा सकते हैं, ये शर्तें निम्न प्रकार हैं :—

(१) केवल ऐसे देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक की सूची में सम्मिलित किया जा सकता है जो कम से कम २ लाख रुपये से व्यवसाय करते हों और ५ वर्ष में उसे ५ लाख रुपये तक बढ़ाने को तैयार हों।

(२) ऐसे बैंकों को सभी प्रकार के गैर-बैंकिंग व्यवसाय बन्द करने होंगे।

(३) ऐसे बैंकर अपने लेखों को एक निश्चित रूप में रखें, उनका अंकेक्षण करायें और रिजर्व बैंक को निरीक्षण का अधिकार दें।

(४) ये रिजर्व बैंक को समय-समय पर आवश्यक विवरण भेजते रहें और अपने विवरण-पत्रों को प्रकाशित करें।

(५) जो देशी बैंकर उपरोक्त व्यवस्थाओं के अन्तर्गत रिजर्व बैंक से सुविधाएँ प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हैं वे भी अपने संघ बनाकर ये सुविधाएँ प्राप्त कर सकते हैं।

बदले में रिजर्व बैंक ने देशी बैंकरों को अग्रिम, विप्रेष तथा बिलों के भुनाने के सम्बन्ध में वही सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था की है, जो अन्य बैंकों को प्राप्त है, परन्तु देशी बैंकरों ने उपरोक्त सुझावों तथा शर्तों को उपयुक्त नहीं समझा है, जिसके कारण भारतीय बैंकिंग के देशी और आधुनिक अंगों के बीच आवश्यक समन्वय स्थापित नहीं हो पाया है। केवल ७ संस्थाओं ने ही रिजर्व बैंक की सुविधाओं का लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि देशी बैंकर अपने लाभ-दायक व्यापार व्यवसाय को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् उसके द्वारा एक बार फिर इस दिशा में प्रयत्न किया गया है और समस्त ग्रामीण वित्त-व्यवस्था की इस दृष्टिकोण से जाँच भी की गई हैं। ऐसी आशा की जाती है कि भविष्य में ऐसी योजना बनाई जायगी जिसमें इन संस्थाओं का अधिक सप्रभाविक उपयोग हो सकेगा। स्मरण रहे कि सन् १९४९ का विधान देशी बैंकरों तथा साहूकारों पर लागू नहीं होता है। यदि ये संस्थाएँ अपने नाम के साथ बैंक अथवा बैंकर शब्द का प्रयोग नहीं करती हैं तो इस विधान के अनुसार इनके कार्यों में भी कोई हस्तक्षेप रिजर्व बैंक नहीं कर सकती है।

देशी बैंकर तथा आधुनिक बैंकर का अन्तर—

कार्यों के दृष्टिकोण से दोनों प्रकार के बैंकरों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है, क्योंकि दोनों ही बैंकिंग सम्बन्धी कार्य करते हैं, परन्तु दोनों की कार्य-विधि में भारी अन्तर होता है। निम्न तालिका में दोनों का भेद दिखाया गया है :—

देशी बैंकर	आधुनिक बैंकर
(१) ये बैंकर साधारणतया अपनी, अपने परिवार की तथा अपने	(१) ये साधारणतया सम्मिलित पूँजी कम्पनियों के रूप में होते

रिश्तेदारों की पूँजी से व्यवसाय करते हैं।

(२) ये साधारणतया निक्षेप अथवा जमाधन स्वीकार नहीं करते हैं, यद्यपि कुछ देशी बैंकर जमा भी रखते हैं।

(३) ये धनादेशों द्वारा भुगतान नहीं करते हैं। लेन-देन साधारणतया नकदी में ही किया जाता है।

(४) इनकी शाखायें नहीं होती हैं।

(५) बैंकिंग के साथ-साथ ये अन्य कारोबार भी करते हैं, जैसे—व्यापार, उद्योग आदि।

(६) जमानतों के सम्बन्ध में इनकी नीति काफ़ी उदार होती है। बहुत बार तो बिना जमानत के ही ऋण दे दिये जाते हैं। जोखिम का अंश अधिक रहता है और ब्याज की दर ऊँची रहती है।

(७) इनके कारोबार का क्षेत्र बहुधा स्थानीय होता है और अधिकाँश ऋण कृषकों, छोटे-छोटे उत्पादकों तथा कारीगरों को दिये जाते हैं।

(८) अधिकाँश देशी बैंकरों की पूँजी के साधन सीमित होते हैं।

हैं और अंशों को बेचकर धन प्राप्त करते हैं।

(२) निक्षेपों का प्राप्त करना इनका महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। इनकी पूँजी का काफी बड़ा भाग जमा धन से प्राप्त होता है।

(३) इनमें धनादेशों का चलन होता है। सभी प्रकार की लेन-देन चैकों द्वारा ही की जाती हैं।

(४) इनकी शाखायें दूर-दूर तक फैली रहती हैं। भारत में शाखा बैंकिंग प्रणाली ही अधिक प्रचलित है।

(५) बैंकिंग व्यवसाय के अतिरिक्त ये अन्य कार्य नहीं करते हैं।

(६) ये लगभग सभी ऋणों पर समुचित जमानत लेते हैं। इससे जोखिम का अंश कम हो जाता है और ब्याज की दर भी नीची रहती है।

(७) कारोबार का क्षेत्र विस्तृत होता है। दूर-दूर तक इनका व्यवसाय फैला रहता है। इनके ग्राहकों में व्यापारी, उद्योगपति आदि छोटे-बड़े सभी प्रकार के लोग रहते हैं।

(८) इनकी पूँजी के साधन देशी बैंकरों की तुलना में विशाल होते हैं।

देशी बैंकरों के उधार देने के तरीके—

देशी बैंकरों द्वारा उधार देने की अनेक रीतियाँ हैं। प्रमुख रीतियाँ निम्न प्रकार हैं:—

(१) **प्रतिज्ञा-पत्र पर ऋण**—जब ऋणी और साहूकार के बीच ब्याज की दर और ऋण की अन्य शर्तें तय हो जाती हैं तो साहूकार ऋण लेने वाले से एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखा लेता है, जिसमें वह एक निश्चित अवधि के पश्चात् ब्याज और मूलधन लौटाने का वायदा करता है। इस प्रतिज्ञा-पत्र पर ऋणी के अतिरिक्त दो और जमानती हस्ताक्षर करा लिये जाते हैं और शर्त यह होती है कि ऋणी द्वारा रुपया न लौटाने की दशा में वह जमानत लेने वालों को लौटाना पड़ेगा। बहुत बार प्रतिज्ञा-पत्र में यह भी लिखा लिया जाता है कि समय पर रुपया न लौटाने की दशा में ऊँची दर पर ब्याज लगाया जायगा।

(२) **रसीद अथवा टीप**—इसमें प्रतिज्ञा-पत्र के स्थान पर ऋणी से केवल एक रसीद लिखवा ली जाती है, जिसमें ब्याज की दर भी लिखी रहती है।

(३) **दस्तावेज और तमस्सुक**—ये सरकारी स्टाम्प के कागजों पर लिखे जाते हैं। ऋणी एक निश्चित अवधि के पश्चात् मूलधन को एक निश्चित ब्याज की दर के अनुसार लौटाने का वचन देता है।

(४) **टिकट बही**—इसमें ऋण की रकम लिख कर टिकट के ऊपर ऋणी के हस्ताक्षर करा लिए जाते हैं। ऋण के चुकाने की समय अवधि तथा ब्याज की दर लिखी नहीं जाती है। वे आपसी बात-चीत द्वारा जबानी तय कर ली जाती हैं। ऐसी बही को न्यायालयों में भी स्वीकार किया जाता है।

(५) **किश्त, वनज अथवा रेहती**—इस प्रणाली में ऋण को किश्तों में चुकाने का वायदा लिया जाता है और पहली किश्त ऋण देते समय ही काट ली जाती है।

(६) **रूजही**—यह भी एक प्रकार की किश्त प्रणाली है। ऋणी ३०) का उधार लेता है, जिसमें से २) रुपये पहली किश्त के रूप में तुरन्त काट लिए जाते हैं। बाकी २८) रुपये ऋणी को मिलते हैं, जो उन्हें १-१ रुपया करके ३० दिन में चुकाता है।

(७) **हाथ-उधार**—ऐसे उधार में किसी प्रकार की लिखा-पढ़ी नहीं की जाती है। बिना किसी लिखित पत्र के रुपया दे दिया जाता है, परन्तु कुछ दशाओं में उधार लेने वालों से शपथ ले ली जाती है।

(८) **गिरवी**—इसमें ऋण के लिये सोना, चाँदी, जेवरात अथवा अन्य

है कि प्रतिभूति कीमत के $\frac{3}{5}$ अथवा $\frac{3}{4}$ से अधिक ऋण के रूप न दिया जाय।

(९) रेहन—इसे प्राधि (Mortgage) भी कहते हैं। रेहन और गिरवी में केवल इतना अन्तर होता है कि रेहन में भूमि, मकान आदि अचल सम्पत्ति आड़ में ली जाती है और गिरवी में केवल चल सम्पत्ति।

(१०) माल में ऋण—किसानों को अनाज के रूप में ऋण दिये जा सकते हैं, जो फसल तैयार हो जाने पर सवाये ($१\frac{१}{४}$) और ड्यौढ़े ($१\frac{१}{२}$) करके लौटाये जाते है। कारीगरों को कच्चे माल के रूप में ऋण दिया जाता है और उनसे एक निश्चित कीमत पर तैयार माल ऋणदाता के हाथ बेचने का वायदा ले लिया जाता है।

अध्याय ३८

भारत में विदेशी विनिमय बैंक

(Foreign Exchange Banks in India)

परिभाषा—

विदेशी विनिमय बैंकों से हमारा अभिप्राय उन बैंकों से होता है जो विदेशी विनिमय में व्यवसाय करती हैं और भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध करती हैं। भारत में ऐसी बैंकों का विकास विदेशी शासन की उन्नति से सम्बन्धित है। आरम्भ से ही ब्रिटिश सरकार ने विदेशियों को भारत में विनिमय बैंक खोलने की पूरी-पूरी सुविधाएँ प्रदान की थीं, जिसके फलस्वरूप शीघ्र ही उनकी उन्नति होती गई। भारतीय बैंकों ने समय-समय पर विदेशी विनिमय व्यवसाय में प्रवेश करने के प्रयत्न किये। उदाहरण-स्वरूप, सबसे पहले 'एलायंस बैंक ऑफ शिमला' ने यह कार्य आरम्भ किया, परन्तु यह सन् १९२३ में दिवालिया हो गई। सन् १९३६ में 'सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया' ने लन्दन में अपनी शाखा खोल कर यह व्यवसाय आरम्भ किया, परन्तु सन् १९३८ में उसे भी 'बारकले बैंक' के साथ विलय करना पड़ा। इस प्रकार भारतीय बैंकों द्वारा विदेशी विनिमय में प्रवेश करने से सभी प्रयत्न असफल रहे। अभी तक भी इस व्यवसाय का एकाधिकार

विदेशियों के ही पास है, यद्यपि स्वतन्त्रता के उपरान्त एक बार फिर भारतीय बैंकों ने इस दिशा में आगे बढ़ने का प्रयत्न किया था।

भारतीय विनिमय बैंकों की असफलता के अनेक कारण हैं, जिनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं:—(१) कार्य का आरम्भ करने तथा आरम्भ काल की हानियों को सहन करने के लिए पूँजी की कमी, (२) ऐसे योग्य तथा निपुण कर्मचारियों का अभाव जो विदेशी विनिमय व्यवसाय से परिचित हों, (३) विदेशों में शाखाएँ खोलने से सम्बन्धित कठिनाइयाँ, (४) प्रस्तुत विदेशी विनिमय बैंकों की प्रतियोगिता। इन कारणों का परिणाम यह हुआ है कि कुछ थोड़े से विदेशी विनिमय व्यवसाय को छोड़ कर, जो भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों द्वारा किया जाता है, ऐसा लगभग सारा का सारा व्यवसाय विदेशियों के हाथ में है।

इस समय भारत में जो विदेशी विनिमय बैंक कार्य कर रही हैं उन्हें हम दो भागों में बाँट सकते हैं। कुछ बैंक तो ऐसी हैं जिनका व्यवसाय अधिकांश मात्रा में भारत में ही है, जैसे—'नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया', 'चार्टर्ड बैंक ऑफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया, चाइना', इत्यादि। दूसरी वे बैंक हैं जो केवल बड़े-बड़े विदेशी बैंकों की भारतीय शाखाएँ हैं, जैसे—'लायडस् बैंक', 'नैशनल सिटी बैंक ऑफ न्यूयार्क' इत्यादि। सब मिला कर इस समय भारत में १५ विनिमय बैंक हैं, जिनके ६५ कार्यालय हैं।

विनिमय बैंकों के कार्य—

विनिमय बैंक का प्रधान कार्य विदेशी व्यापार का वित्तीय प्रबन्ध करना होता है। इनके कार्य निम्न प्रकार हैं:—

(१) **निर्यात व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध**—जब एक भारतीय व्यापारी माल का निर्यात करता है तो वह अपने विदेशी ग्राहक अथवा उसकी बैंक पर बिल लिखता है। इस प्रकार के बिल साधारणतया प्रस्तुत करने के ३ मास के भीतर शोधनीय होते हैं, जो दो प्रकार के होते हैं—स्वीकृति पर प्रपत्र (Document on Acceptance or D. A.) तथा शोधन पर प्रपत्र (Document on Payment or D. P.)। इस प्रकार के बिल और विकर्ष सदा ही विनिमय बैंकों द्वारा खरीद लिए जाते हैं, जो इस सम्बन्ध में अपने प्रधान कार्यालय अथवा अन्य ऐसी आर्थिक संस्थाओं से स्वीकृति प्राप्त कर लेती हैं जिनमें भारतीय माल के निर्यातकर्त्ताओं ने अपने खाते खोल रखे हैं। इस प्रकार भारतीय निर्यात व्यापारी अपने बिल को विनिमय बैंक के भारतीय कार्यालय से भुनाकर तुरन्त धन प्राप्त कर लेता है। विनिमय बैंक बिल को विदेशी केन्द्र में भेज देती है और या तो

उसकी परिपक्कता पर आयात व्यापारियों से धन प्राप्त कर लेती है अथवा उसे लन्दन के मुद्रा बाजार में फिर से भुना लेती है। इस प्रकार विनिमय बैंकों को उनके द्वारा रुपयों में किये गये शोधनों की कीमत स्टर्लिङ्ग में मिल जाती है। साधारणतया विनिमय बैंक इससे बहुत अधिक कीमत के बिल खरीदती हैं, जितने कि वे परिपक्कता के समय तक अपने पास रख सकती हैं। इस कारण अधिकांश बिलों को, विशेषकर (D. A.) बिलों को, फिर से भुना लिया जाता है। इस प्रकार, ब्रिटिश बैंकों के अल्पकालीन कोष भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध करने के लिए उपयोग किये जाते हैं। बहुत बार निर्यातकर्त्ता धन एकत्रित करने के लिए विनिमय बैंक के पास बिल को भेज देता है। ऐसी दशा में बैंक को बिल की परिपक्कता की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त व्यापारिक मन्दी के काल में भी विनिमय बैंक बिलों को अपने पास जमा करके रख सकती है।

जब भी एक ब्रिटिश विनिमय बैंक किसी निर्यात बिल को खरीदती है तो वह भारत में रुपयों में शोधन करती है और बाद में लन्दन में स्टर्लिङ्ग प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार कोषों का भारत से लन्दन को हस्तान्तरण होता है। इन कोषों को भारत में वापिस लाने के लिए विनिमय बैंक, रिजर्व बैंक, व्यापारियों तथा लन्दन को विप्रेष भेजने वालों को स्टर्लिङ्ग बेचती है। इसके अतिरिक्त आयात बिलों के खरीदने से भी लन्दन से भारत को कोषों का हस्तान्तरण होता है, परन्तु यदि इन सब रीतियों से भी पूरे कोषों का हस्तान्तरण नहीं हो पाता है तो बैंक सोने और चाँदी का आयात करती है।

(२) **आयात व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध**—आयात व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध की दो रीतियाँ हैं। यदि आयात व्यापारी कोई योरोपियन है, जिसकी लन्दन में एजेन्सी है तो यह एजेन्सी एक बिल लिखती है, जिसे गृह-पत्र (House Paper) कहा जाता है और इसे विनिमय बैंक की लन्दन शाखा स्वीकार करती है। माल को बेचने वाला व्यापारी बिल को लन्दन मुद्रा-बाजार में भुना कर कीमत प्राप्त कर लेता है। परिपक्कता काल तक विनिमय बैंक बिल को अपने पास रखती है और तब भारतीय शाखा द्वारा निर्यातकर्त्ता से धन वसूल कर लेती है। इस प्रकार के सभी बिल साधारणतया २ मास की अवधि की परिपक्कता के होते हैं।

अन्य सभी निर्यातकर्त्ताओं के लिए माल के बेचने वाला आयात व्यापारी के ऊपर ६० दिन की परिपक्कता का बिल लिखता है। ये बिल विनिमय बैंकों द्वारा भुनाये जाते हैं, जो इन्हें माल की प्राप्ति से पूर्व धन एकत्रित करने के लिए अपने भारतीय कार्यालयों को भेज देते हैं। कुछ दशाओं में निर्यात व्यापारी बैंक के साथ शोधन से पूर्व माल प्राप्त

करने की भी उपयुक्त व्यवस्था कर सकता है। इसके लिए प्रसंविदा रसीद (Trust Receipt) दी जाती है और पूरे भुगतान तक के काल के लिए ब्याज दिया जाता है। साधारणतया भारत में आयात बिलों को फिर से भुनाने का कार्य नहीं किया जाता है। इस सम्बन्ध में विनिमय बैंक एक और भी महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। वे विदेशी निर्यात व्यापारियों को भारतीय आयातकर्त्ता की साख तथा आर्थिक स्थिति का समुचित ज्ञान प्रदान करती हैं।

भारतीय व्यापार की एक प्रमुख विशेषता यह है कि आयात और निर्यात दोनों ही प्रकार के बिल साधारणतया स्टर्लिङ्ग में लिखे जाते हैं। आयात बिलों पर उनके लिखने की तिथि से लन्दन में पहुँचने की तिथि तक ६% ब्याज लिया जाता है। साधारणतया लन्दन डिस्काउन्ट बाजार की दर इससे बहुत नीची होती है। परिणाम यह होता है कि भारतियों की तुलना में विदेशियों को सदा ही लाभ होता है। मुद्रा-कोष की स्थापना के बाद अब निर्यात और आयात बिल कुछ दूसरी चलनों में भी लिखे जाने लगे हैं।

(३) **आन्तरिक व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध**—यह विनिमय बैंकों का प्रधान कार्य नहीं है, परन्तु बहुत सी विनिमय बैंक भारत के आन्तरिक व्यापार में भाग लेती हैं, विशेषकर माल के एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने तथा बन्दरगाहों पर उसके एकत्रित करने अथवा वहाँ से माल के बाँटने के सम्बन्ध में। भारत में विनिमय बैंकों की विशेष परिस्थिति ने उन्हें इस योग्य बना दिया है कि वे देश के भीतरी वाणिज्य में भी भारतीय बैंकों से प्रतियोगिता कर सकें। कुछ दशाओं में तो आन्तरिक व्यापार की वित्तीय व्यवस्था बड़े अंश तक विनिमय बैंकों पर निर्भर होती है। कानपुर के चमड़ा व्यापार तथा दिल्ली के सूती कपड़ा व्यापार का यही हाल है।

(४) **साधारण बैंकिंग व्यवसाय**—बहुत सी विनिमय बैंक अन्य प्रकार के बैंकिंग व्यवसायों में भी भाग लेती हैं। वे निक्षेपों को स्वीकार करती हैं, ऋण देती हैं, बिलों को भुनाती हैं और अभिकर्त्ता का कार्य करती हैं और इस प्रकार सभी दिशाओं में भारतीय बैंकों से प्रतियोगिता करती हैं। वे साधारणतया निक्षेपों पर अधिक ब्याज देती हैं और जलयान रसीदों (Shipping Documents) पर भी ऋण दे देती हैं। विगत वर्षों में विनिमय बैंकों के इन कार्यों में काफी कमी हो गई है।

(५) **बिलों में व्यवसाय**—विदेशी विनिमय बैंक आन्तरिक तथा विदेशी विनिमय बिलों में भी व्यवसाय करती हैं। मारवाड़ी बैंकरों के लगभग सभी बिल इन्हीं के द्वारा भुनाये जाते हैं।

भारत में विनिमय बैंकों का महत्त्व—

भारत में विनिमय बैंक काफी लम्बे काल से कार्यशील हैं और इन्होंने देश में बैंकिंग के विकास तथा विदेशी व्यापार की उन्नति में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। सन् १९५० में ऐसी बैंकों की संख्या १५ थी और इनके पास १५·७५ करोड़ रुपये की पूँजी तथा सुरक्षित कोष थे, इनके निक्षेप १६२·४७ करोड़ रुपये के थे और इनके नकद कोष २३·६७ करोड़ रुपये के थे। देश के निर्यात व्यापार के ७०% और आयात व्यापार के ९०% का इन्हीं के द्वारा अर्थप्रबन्ध किया जाता है। व्यापार बैंकिंग के क्षेत्रों में भी ये सम्मिलित पूँजी बैंकों की भारी प्रतियोगी हैं। भारतीय मुद्रा बाजार में विनिमय बैंकों का यह महत्त्वपूर्ण स्थान होने के अनेक कारण हैं :— प्रथम, ये बैंक काफी समय से इस व्यवसाय को कर रही हैं और इन्होंने ख्याति प्राप्त कर ली है। दूसरे, इन बैंकों के पास वित्तीय साधनों की प्रचुरता है और क्योंकि इन्हें लन्दन मुद्रा बाजार की सेवाओं की सुविधा प्राप्त है, जिससे इनकी शक्ति और भी बढ़ गई है। तीसरे, इन बैंकों ने निपुण तथा अनुभवी कर्मचारियों को रखकर प्रबन्ध तथा कार्यवाहन की भारी कुशलता प्राप्त कर ली है। चौथे, भारत सरकार ने, इनके विदेशी संस्था होते हुए भी, इन पर कभी भी किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये हैं। वास्तविकता यह है कि बहुत बार तो परोक्ष रूप में सरकार ने इनको सहायता भी दी है। अन्त में, भारत का विदेशी व्यापार अधिकतर विदेशियों के हाथ में है, जो अपना सभी व्यवसाय इन विदेशी संस्थाओं को सौंपते हैं और अन्य व्यापारियों को भी ऐसा ही करने का प्रोत्साहन देते हैं।

विनिमय बैंकों के कार्यवाहन की आलोचना—

भारत में कुछ ऐसी विदेशी बैंकों का रहना जिनके हाथ में विदेशी विनिमय बिल व्यवसाय का एकाधिकार हो, भारतीय बैंकिंग प्रणाली का एक गम्भीर दोष है। इन बैंकों के विरुद्ध बहुत सी शिकायतें हैं। प्रमुख शिकायतें निम्न प्रकार हैं :—

(१) इन बैंकों की व्यावसायिक विधि इस प्रकार की रही है कि भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध लन्दन मुद्रा बाजार के अल्पकालीन कोषों द्वारा होता रहा है। कीन्ज ने बहुत पहले ही यह चेतावनी दी थी कि भारत की वित्तीय व्यवस्था के लिये यह भय से खाली न था, परन्तु हाल में यह स्थिति काफी बदल गई है। विनिमय बैंकों ने भारत में भी काफी निक्षेप प्राप्त कर लिये हैं और अब इस धन से वे अपना कार्य चलाती हैं।

(२) भारतीय विदेशी व्यापार में भारतीयों का हिस्सा केवल १५·२०% है। इसका प्रमुख कारण विनिमय बैंकों की भारत विरोधी नीति बताया जाता है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के सम्मुख बहुत सी व्यापार संस्थाओं ने बताया था कि विनिमय बैंक विदेशियों को भारतीय व्यापार-गृहों की आर्थिक स्थिति का झूठा और असन्तोषजनक हवाला देती हैं, वे भारतीय निर्यात व्यापारियों को D. A. बिलों की वे सुविधाएँ नहीं देती हैं, जो योरोपियनों को दी जाती हैं और साख-पत्र खोलने से पहले भारतीय आयात फर्मों को माल की कीमत का १५ से लेकर २०% तक जमा करने पर बाध्य करती हैं।

(३) विनिमय बैंक भारतीय बीमा कम्पनियों, जलयान कम्पनियों तथा दलालों के साथ भेद-भाव करती हैं। वे बहुधा यह अनुरोध करती हैं कि उनके भारतीय ग्राहक सभी कार्यों के लिए विदेशी सेवाओं का उपयोग करें।

(४) इन बैंकों में ऊपर की श्रेणी के सभी कर्मचारी विदेशी होते हैं और इन्होंने भारतवासियों के शिक्षण के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया है।

(५) पूँजी की प्रचुरता तथा लन्दन मुद्रा बाजार के निकट सम्बन्धों के कारण भारतीय मौद्रिक अधिकारी इन पर ठीक-ठीक नियन्त्रण रखने में असफल रहते हैं। इन बैंकों की भारत विरोधी नीति राष्ट्रीय हितों को भारी हानि पहुँचा सकती है।

(६) विनिमय बैंक भारतीय व्यापार बैंकों की भारी प्रतियोगी हैं। वे अधिक ब्याज देकर निक्षेपों को आकर्षित करती हैं और कुछ समय पहले तक तो कोई ऐसा नियम भी न था, जिसके द्वारा इन बैंकों के भारतीय निक्षेपदाताओं के हितों की रक्षा हो सकती। भारतीय व्यवसायी इनकी नीति को भी प्रभावित नहीं कर सकते हैं।

(७) विनिमय बैंक संघ के नियमों और उसकी कार्यवाहियों को गुप्त रखा जाता है। भारतीय व्यापारियों से न तो इस सम्बन्ध में सलाह ली जाती है और न उन्हें सूचना दी जाती है।

(८) विनिमय समझौतों के पूरा होने में देर होने पर अनुचित रूप में ऊँचा हर्जाना लिया जाता है।

(९) दिन प्रति दिन के प्रत्येक व्यवसाय में भारतीय व्यापारियों के साथ भेद-भाव किया जाता है।

(१०) यह कहा जाता है कि इन बैंकों ने भारतीय पूँजी को विदेशी

औद्योगिक व्यवसायों तथा परम प्रतिभूतियों की ओर हस्तान्तरित करने का बराबर प्रयत्न किया है।

(११) ये बैंक उन देशों की मुद्राओं को बदलने के लिए बहुत अधिक कमीशन लेती हैं जिनकी बैंकों की शाखाएँ भारत में नहीं हैं और अन्य विदेशी बैंकों को भारत में आने से रोकती हैं।

(१२) इन बैंकों पर यह आरोप लगाया जाता है कि इन्होंने सदा ही भारतीय हितों और दृष्टिकोणों का विरोध किया है और विदेशों में भारत विरोधी वातावरण उत्पन्न किया है।

दोषों को दूर करने के उपाय—

विनिमय बैंकों के उपरोक्त दोषों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इनके कार्यों पर नियन्त्रण रखने की भारी आवश्यकता है। सन् १६३१ की केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने यह सिफारिश की थी कि विनिमय बैंकों को अनुज्ञापन लेने के लिए वाध्य किया जाय, जो एक सीमित काल के लिए हों और ऐसी शर्तों पर फिर से दिये जायें कि भारतीय व्यापारियों की कठिनाइयाँ दूर हो सकें और ये बैंक भारत में अपनो लेन-देन का वार्षिक वितरण देती रहें।

सन् १६४६ के विधान को अन्य बैंकों की भाँति विनिमय बैंकों पर भी लागू किया गया है। इनके लिए भी रिजर्व बैंक से अनुज्ञापन प्राप्त करना आवश्यक होता है और विभिन्न प्रकार के विवरण तथा रिपोर्टें भेजना अनिवार्य है। भारत के बाहर स्थापित होने वाली सभी बैंकिंग कम्पनियों को कम से कम १५ लाख रुपये की परिदत्त पूँजी रखनी पड़ती है और यदि उनकी शाखाएँ कलकत्ते अथवा बम्बई में हैं तो २० लाख रुपए की परिदत्त पूँजी आवश्यक है तथा यह राशि नकदी तथा स्वीकृत प्रतिभूतियों के रूप में रिजर्व बैंक में जमा करनी पड़ती है। सन् १६४६ के विधान की विस्तृत व्यवस्थाएँ एक पीछे के अध्याय में दी जा चुकी हैं। विनिमय बैंकों को अपनी समय तथा माँग दोनों का ७५% ऐसे आदेयों में रखना पड़ता है जो भारत में स्थित हों। इन वैधानिक व्यवस्थाओं से काफी लाभ की आशा है।

भारत में सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय विदेशी विनिमय बैंक खोली जायँ। आरम्भ में शायद यह उपयुक्त होगा कि अच्छी भारतीय बैंक विदेशों से सम्बन्ध कायम करें, जिससे कि विदेशों में शाखाएँ खोलने का भारी व्यय बच जाय। अभी तक भारतीय बैंकों ने विदेशी विनिमय व्यवसाय से अलग ही रहने का प्रयत्न किया है। इससे भारत को आय की हानि तो हुई है, परन्तु साथ ही उसे विदेशी व्यापार में कठि-

ताइयाँ भी बहुत सहनी पड़ती हैं। यह एक आशाजनक बात है कि हाल में भारतीय बैंकों ने इस दिशा में प्रयत्न किया है। सन् १९५१ के अन्त में भारतीय बैंकों की विदेशों में ११ शाखाएँ तथा १६ कार्यालय थे। अप्रैल ~~सन् १९५~~२ में इन विदेशी कार्यालयों की कुल देन १०१ करोड़ रुपया थी। सन् १९५४ में इनकी संख्या तो १६ ही रही थी, परन्तु इनकी कुल देन १७८ करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। सन् १९५६-५७ में इनकी संख्या १७ थी और कुल जमा १८६·३४ करोड़ रुपया। नये विधान के अनुसार अब विदेशी विनिमय बैंक को अपनी लेन का ७५% आदेयों के रूप में भारत में रखना पड़ता है।

विनिमय बैंकों की वर्तमान स्थिति—

सन् १९५६ में भारत में कुल १५ विनिमय बैंक थीं, जिनकी ६३ शाखाएँ देश भर में फैली हुई थीं। इन बैंकों का प्रारम्भन विदेशों में हुआ है। भूतकाल में इन पर भारतीय बैंकिंग संविधान की व्यवस्थाएँ लागू नहीं होती थीं, परन्तु नवीन बैंकिंग नियमों में रिजर्व बैंक को इनके कार्यों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार दिया गया है। इन बैंकों की अधिकाँश शाखाएँ बड़े-बड़े नगरों में स्थित हैं। इस समय ६३ शाखाओं में से २० कलकत्ते, १५ बम्बई, १० दिल्ली और १० मद्रास में हैं। विनिमय बैंक भारत में निक्षेपों को जमा करने और देश में आन्तरिक व्यापार की वित्त व्यवस्था का भी काम करती हैं। मार्च सन् १९५६ में इनकी जमा देन १९० करोड़ रुपया थी, जबकि उसी समय भारत में इनके ऋणों और अग्रिमों की कुल राशि १९२ करोड़ रुपया थी। अगले वर्ष अर्थात सन् १९५६-५७ में इनकी कुल जमा घटकर १८७ करोड़ रुपया रह गई थी। निम्न तालिका इनकी प्रगति की स्थिति दिखाती है :—

भारत में विदेशी विनिमय बैंकों की स्थिति

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	बैंकों की संख्या	कुल जमा	नकदी हाथ में	नकदी बैंकों में	सरकारी हुण्डियों में विनियोग	अन्य विनियोग	ऋण तथा अग्रिम	बिलों का अपहरण	शुद्ध लाभ
१९५२	१५	१७६·५०	२·५६	१४·२७	४३·३४	१·०४	१३१·००	१९·३१	१·८७
१९५३	१६	१६५·८४	२·२५	१२·३४	४५·९७	१·०३	११०·७१	२०·४४	१·३९
१९५४	१६	१७८·४९	२·२२	१३·८३	४६·३९	१·८४	१२४·९४	२५·७५	१·२५
१९५५	१७	१९४·४६	३·२२	१४·५८	४६·०१	३·६६	१३६·०७	३१·८८	१·६८
१९५६	१७	१८६·३४	२·८१	१५·०२	३९·२७	२·८७	१६१·२२	४०·१४	१·६६

सही स्थिति का पता लगाने के लिए यह जानना आवश्यक है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् भी विदेशी विनिमय बैंकों के व्यवसाय में शिथिलता का कोई चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता है, यद्यपि ये सभी बैंक विदेशी संस्थायें हैं। ऐसी बैंकों की संख्या लगभग स्थिर रही है। सन् १९२० में यह १९ थीं और अब १७ हैं। इनकी कुल जमा सन् १९२० में केवल ७५ करोड़ रुपया थी, जो सन् १९४० में ८५ करोड़ रुपया हो गई थी। किन्तु युद्धकाल में इसमें तेजी के साथ वृद्धि हुई और सन् १९४८ में यह १९० करोड़ रुपये तक पहुँच गई। तत्पश्चात् यह बराबर बढ़ रही है और सन् १९५६ में १८६ करोड़ रुपये तक आ गई थी। ऋण अग्रिम तथा बिल अपहरण की राशि पहले घटती हुई दिखाई पड़ती है। सन् १९४० में यह २१० करोड़ रुपया थी, जो युद्धकाल में घटते-घटते सन् १९४८ में ११४ करोड़ रुपये पर आ गई थी। उसके बाद यह फिर बराबर बढ़ती गई है और सन् १९५६ में लगभग २०२ करोड़ रुपया थी।

देश में भारतीय विनिमय बैंक क्यों नहीं हैं ?

यह प्रश्न बड़ा ही स्वभाविक है कि भारतीय विनिमय बैंक स्थापित क्यों नहीं हुई हैं। ऐसा कहा जाता है कि आन्तरिक व्यापार के वित्त प्रबन्धन में विदेशी व्यापार की तुलना में लाभ अधिक रहता है। यही कारण है कि भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंक अपने कोषों की सीमितता के कारण उसी पर सन्तोष कर लेती हैं। विदेशी व्यापार सम्बन्धी बिलों में रुपया तीन मास से भी अधिक काल के लिए फँस जाता है, जो इन बैंकों के लिए काफी असुविधाजनक हो जाता है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रखना आवश्यक है कि भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंक अपने फालतू धन को या तो सरकारी प्रतिभूतियों में लगा देती हैं या उन्हें रिजर्व बैंक में जमा कर देती हैं। यदि यह धन इसके विपरीत विदेशी व्यापार के वित्त प्रबन्ध में लगाया जाय तो लाभ अधिक हो सकता है।

इसी प्रकार बहुत बार यह भी कहा जाता है कि भारत में विदेशी विनिमय व्यवसाय के संचालन के लिए पर्याप्त निपुण तथा योग्य कर्मचारियों की कमी है। यह तर्क भी बहुत सारयुक्त प्रतीत नहीं होता है। इम्पीरियल बैंक के गवर्नर ने केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति के समक्ष अपने बयान में कहा था कि आवश्यक कर्मचारियों को तो कभी भी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।

विगत वर्षों में भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों ने अधिक अंश तक विदेशी विनिमय व्यवसाय में हिस्सा लेने की चेष्टा की है। अधिक बैंकों ने विदेशों में शाखाएँ खोलने अथवा अभिकर्त्ता नियुक्त करने का प्रयत्न किया

है। सन् १९५४ में भारतीय बैंकों की विदेशी शाखाओं की संख्या १०७ तक पहुँच गई थी।

भारतीय बैंकों का विदेशों में व्यवसाय—

भारतीय सम्मिलित पूँजी बैंकों द्वारा विदेशी विनिमय व्यवसाय आरंभ करने के मार्ग में प्रमुख रुकावट विदेशों में शाखाएँ खोलने और उन्हें सफलतापूर्वक चलाने की कठिनाई रही है। इस सम्बन्ध में अनेक राजनैतिक और चलन सम्बन्धी कठनाईयाँ पैदा होती हैं। विदेशी शाखा तभी कोषों को आकर्षित कर सकती है जबकि उसे बहु-मात्रा में पूँजी, अनुभव और सम्मान के लाभ प्राप्त हों। पाकिस्तान के निर्माण के पश्चात् बहुत सी भारतीय बैंकों की वे शाखाएँ जो उन क्षेत्रों में थीं जो पाकिस्तान में सम्मिलित किए गए हैं, विदेशी शाखाएँ बन गई हैं। सन् १९४६ में अनुसूचित बैंकों की विदेशी शाखाओं की संख्या ६२८ थी, जो सन् १९५४ में केवल १०७ रह गई थी। गैर अनुसूचित बैंकों की विदेशी शाखाओं में भी कमी हुई है। इस समय कुल विदेशी शाखाओं में से ६६ अकेले पाकिस्तान में हैं। इनके अतिरिक्त बर्मा में ९, मलाया में १२, ब्रिटेन में ५ और ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका में ७ शाखाएँ हैं। विदेशी शाखाएँ अधिकतर पाँच बड़ी-बड़ी बैंकों, अर्थात् बैंक ऑफ बड़ौदा, दी इण्डियन ओवरसीज बैंक (The Indian Overseas Bank), दी अपर कलकत्ता बैंक, दी बैंक ऑफ इण्डिया और स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की ही हैं।

भारतीय बैंकों की विदेशी शाखाओं के सम्बन्ध में प्राप्त सूचनाओं को देखने से पता चलता है कि इन शाखाओं में कुल देन के अनुपात में भारतीय शाखाओं की तुलना में अधिक बड़े नकद कोष रखे जाते हैं। इसका प्रमुख कारण शायद यह है कि एक ओर तो सम्मान प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है और दूसरी ओर आरम्भ में सुरक्षा पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। विभाजन के पश्चात् देश की बैंकों ने विदेशी व्यवसाय बढ़ाने का प्रयत्न किया है, परन्तु अभी विदेशी विनिमय व्यवसाय में वे बहुत पीछे हैं।

नये विधान में विनिमय बैंकों का नियन्त्रण—

सन् १९४९ के विधान के लागू हो जाने के पश्चात् विनिमय बैंकों पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण काफी हद तक स्थापित हो चुका है। इस नियम में भारतीय हितों की रक्षा के लिए इन बैंकों पर निम्न प्रतिबन्ध लगाये गये हैं:—

(१) जिन बैंकों का प्रारम्भन भारत से बाहर हुआ है उन्हें कम से १५ लाख रुपया रिजर्व बैंक में जमा के रूप में रखना पड़ता है और

यदि उनकी शाखाएँ कलकत्ता अथवा बम्बई में भी हैं तो कम से कम २० लाख रुपया रखना होता है।

(२) यदि ऐसी बैंक भारत में व्यवसाय बन्द करती है तो रिजर्व बैंक में जमा की राशि पर बैंक के लेनदारों को सर्वप्रथम प्राथमिकता दी जायगी।

(३) प्रत्येक तृतीय मास के अन्तिम दिन पर किसी भी ऐसी बैंक के भारत में स्थित आदेय उसकी माँग तथा समय देन के मूल्य के ७५% से कम नहीं होने चाहिए।

(४) प्रत्येक वर्ष के अन्त में इन बैंकों को भारतीय व्यवसाय का अपना-अपना चिट्ठा और लाभ-हानि लेखा बनाना पड़ता है। इस चिट्ठे का प्रकाशन और समुचित अंकेक्षण होता है।

उपसंहार—

विनिमय बैंकों का मुख्य व्यवसाय भारत के विदेशी व्यापार का वित्तीय प्रबन्ध है। देश की सभी विदेशी बैंक विदेशी संस्थाएँ हैं। वे विदेशी चलनों में बिलों को खरीदती हैं और जहाजी रसीदों तथा अन्य पत्रों की आड़ पर ऋण देती हैं। ये बैंक देश के आन्तरिक व्यापार में भी हाथ बटाती हैं, विशेषतया निर्यात और आयात के मालों को एक से दूसरे स्थान पर ले जाने के सम्बन्ध में। विगत वर्षों में इन बैंकों ने देश में अपने व्यवसाय के विस्तार का बराबर प्रयत्न किया है। इन्होंने सेविंग और चालू खातों पर निक्षेप स्वीकार करना भी आरम्भ कर दिया है और आन्तरिक व्यापार के अर्थ-प्रबन्ध में अधिक दिलचस्पी दिखाई है। सन् १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज़ अधिनियम के अनुसार इन बैंकों को अपनी देन का ७५% आदेयों के रूप में भारत में रखना आवश्यक है, अतः इनके द्वारा देश के आन्तरिक व्यवसाय में अधिक हिस्सा लेने की प्रवृत्ति बराबर बढ़ रही है। भारत में ऐसी बैंकों का प्रारम्भ सन् १८४२ से है। यही विदेशी व्यापार और वाणिज्य की महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ हैं।

इस समय देश में निम्न विदेशी विनिमय बैंक हैं:—नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया, लायडस् बैंक; चारटर्ड बैंक ऑफ इण्डिया; आस्ट्रेलिया एण्ड चाइना; गरिण्डलेज बैंक; हाँगकाँग एण्ड शिंघाई बैंकिंग कॉरपोरेशन; मरकैन्टायल बैंक ऑफ इण्डिया; ईस्टर्न बैंक; नेशनल सिटी बैंक ऑफ न्यूयार्क; बैंक ऑफ टोकियो; ब्रिटिश बैंक ऑफ मिडिल ईस्ट; नेदरलैण्डस् ट्रेडिंग सोसायटी; अमरीकन एक्सप्रेस कम्पनी; कोम्पतोर नेशनल डी एसकोम्ते डी पेरिस; बैंक ऑफ चाइना; पी० एण्ड ओ० बैंकिंग कॉरपोरेशन।

अध्याय ३६

भारत में ग्राम्य वित्त

(The Rural Finance in India)

भारतीय किसान सम्पन्न नहीं है और साथ ही देश में कृषक वित्त काफी महँगा है। किसान को अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन तीनों ही प्रकार के ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। उसे बीज, खाद आदि खरीदने तथा फसल को बेचने के लिए अल्पकालीन ऋण चाहिए, मवेशी तथा औजारों के लिए मध्यकालीन ऋण और भूमि में स्थाई सुधार करने के लिए दीर्घकालीन ऋण। देश की लगभग ७५% जन-संख्या कृषि पर निर्भर है और बिना कृषक उद्धार के देश में किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं है। यदि कृषि वित्त की कोई विचारयुक्त प्रणाली अपनाई जाय तो निस्सन्देह उससे कृषि जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योग में उत्पादन व्यय घट जायगा और देश की जन-संख्या के अधिकाँश भाग का भला होगा, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ वास्तविक कठिनाइयाँ हैं। हमारे देश का किसान निर्धन और निरक्षर है। वह न तो वित्त प्रदान करने वाली संस्थाओं और उनके नियमों से परिचित है और न उसके पास उपयुक्त प्रतिभूति अथवा जमानत ही है। साधारणतया सदा ही किसान जमींदारों तथा साहूकारों से ऋण लेता है, परन्तु कुछ वर्षों से ऋण के ये स्रोत सूखते जा रहे हैं। जमींदारी उन्मूलन तथा महाजनों को समाज-विरोधी वर्ग घोषित करके उन पर जो प्रतिबन्ध लगाये जा रहे हैं वे ऋण के साधनों को और भी कम करते जा रहे हैं।

ग्रामीण वित्त के साधन और उनके दोष—

भारतीय किसान ऋणी उत्पन्न होता है, इसी रूप में जीवन व्यतीत करता है और अन्त में इसी दशा में मरता है। उसकी आय कम है, इसलिए वह ऋण के भार से मुक्त होने में असमर्थ रहता है। उसे ऋण अधिक ब्याज पर प्राप्त होते हैं। अधिक ब्याज देने से उसकी आय और भी घटती है और इस कारण ऋणों की आवश्यकता तथा उनका भार और भी बढ़ता जाता है। सरकार की ओर से कभी-कभी तकावी ऋण दिये जाते हैं, परन्तु ऐसे ऋण संकट-काल के लिए होते हैं। साधारण परिस्थितियों में उनका लाभ प्राप्त नहीं होता है। वैसे भी यह प्रणाली

लोकप्रिय नहीं है, क्योंकि इन ऋणों को विशेष रीतियों से प्राप्त किया जाता है, ये निश्चित उद्देश्यों के लिए दिए जाते हैं और इन्हें बिना किसी रियायत के सख्ती के साथ वसूल किया जाता है। इसी प्रकार ग्राम्य वित्त के अन्य साधन सहकारी संगठन, व्यापारिक बैंक, भू-प्राधि बैंक (Land Mortgage Bank) और साहूकार हैं, परन्तु साहूकारों को छोड़ कर अन्य सभी साधनों का कार्य-क्षेत्र बहुत ही सीमित है। विगत वर्षों में सहकारी समितियों तथा भू-प्राधि बैंकों ने कुछ प्रगति अवश्य की है, परन्तु जमींदारी उन्मूलन के कारण ग्राम्य-वित्त की जो कमी उत्पन्न हो गई है वह इनके इस विकास से भी पूरी नहीं हो पाई है। दूसरे महायुद्ध के काल में कृषि की उपज की कीमतों में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है, जिससे कृषक की वित्तीय अवस्था पर भी अच्छा प्रभाव पड़ा है, परन्तु इससे समस्या हल नहीं हो जाती है। वर्तमान प्रवृत्ति कीमतों के बढ़ने की है, जो समस्या की गम्भीरता को और भी बढ़ा देती है। व्यापार बैंक तो प्रत्यक्ष रूप में ग्राम्य वित्त के सम्बन्ध में कुछ भी कार्य नहीं करती हैं। उनका कार्य तो कृषि उपज की बिक्री करने वाले व्यापारियों को अग्रिम प्रदान करने तक ही सीमित है।

कृषि वित्त के अधिकाँश भाग की पूर्ति साहूकार ही करता है। साहूकार कृषक की सभी प्रकार की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। मद्रास राज्य में कुल कृषक ऋणों के ९३% साहूकारों द्वारा दिये जाते हैं, ६% सहकारी समितियों द्वारा और केवल १% तकावी ऋणों के रूप में, परन्तु साहूकारों द्वारा दिये हुए ऋण साधारणतया अल्पकालीन होते हैं और वे ऋणों के अतिरिक्त किसान को कुछ उपयोगी वस्तुएँ भी उधार देते हैं और उसकी फसल को कुछ नीची कीमत पर खरीद लेते हैं। अनेक रीतियों से वे किसान का शोषण करते हैं। एक बार साहूकार के चंगुल में फँस जाने के पश्चात् निकल जाना कठिन ही होता है। सबसे अच्छा उपाय यही होगा कि किसान को साहूकार के फन्दों से छुड़ाकर उसके लिए सस्ती संस्थागत साख की व्यवस्था कमी की जाय।

साहूकारों के शोषण को कम करने के उपाय—

कृषि वित्त के पुनर्संगठन के लिए यह आवश्यक है कि सन् १९४५ की गैडगिल समिति की सिफारिशों के अनुसार किसानों के पुराने और पुश्तैनी ऋणों में कमी की जाय और सहायक उपायों के रूप में साहूकारों के कार्य को सीमित तथा नियन्त्रित किया जाय। कांग्रेस कृषि सुधार समिति का विचार है कि सभी राज्यों में साहूकारों के कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाने के नियम असफल रहे हैं। इन नियमों द्वारा निर्धारित ब्याज की दरों का

वास्तविक दरों से लगभग कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा है। साहूकारों की शक्ति को कम करने के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) साहूकारों का पंजीयन होना चाहिए।

(२) बिना अनुज्ञापन प्राप्त किए कोई भी ऋण देने का कार्य न कर सके। प्रत्येक साहूकार के लिए अनुज्ञापन लेना आवश्यक रहे।

(३) साहूकारों को अपने क्षेत्र की भाषा का उपयोग करने और एक निश्चित रूप में हिसाब-किताब रखने पर बाध्य किया जाय, जिससे कि हिसाब में की जाने वाली गड़बड़ कम हो जाय।

(४) ऋण की मात्रा को बढ़ाकर लिखने के लिए कड़ी सजा रखी जाय।

(५) साहूकार को कानून द्वारा समय-समय पर ऋणी को उसके ऋण का विस्तृत ब्यौरा भेजने पर बाध्य किया जाय।

(६) साहूकार प्रत्येक प्राप्त शोधन के लिए रसीद दे।

(७) ब्याज की दरों को एक सीमा के भीतर रखा जाय।

(८) साहूकारों को ऋणों के सम्बन्ध में होने वाले खर्चों के वसूल करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। वह केवल मूलधन और ब्याज का ही अधिकार रहे।

(९) ऋणी को ऋण की कुल रकम अथवा उसके किसी भाग को किसी भी समय न्यायालय में जमा करने का अधिकार होना चाहिए।

(१०) ऐसे समझौते अवैध होने चाहिए जिनके द्वारा ऋण की राशि को किसी दूसरे राज्य में चुकाने की व्यवस्था की गई हो।

(११) ऋणी को यह अधिकार मिलना चाहिये कि वह न्यायालय द्वारा साहूकार को ऋण का हिसाब देने पर बाध्य कर सके। साथ ही, न्यायालयों को यह निर्धारित करने का भी अधिकार मिलना चाहिये कि ऋण की कितनी रकम ऋणी के ऊपर बाकी है।

(१२) साहूकार के दबाव तथा अनुचित अत्याचारों से ऋणी की रक्षा की जाय।

(१३) नियमों का पालन न करने वाले साहूकारों के लिए जुर्माने तथा जेल जाने की सजा रखी जाय।

व्यावहारिक जीवन में नियमों को कार्यशील करने के लिए एक निरी-

क्षण विभाग का निर्माण होना चाहिए, जो समय-समय पर साहूकारों के हिसाब की अकस्मात जाँच करता रहे। भूतकाल में इन नियमों की कमी यही थी कि निरीक्षण का अभाव था। यह शायद बहुत ही लाभदायक होगा, यदि साहूकारों को ग्रामीण बैंकिंग प्रणाली का एक आवश्यक अंग बना दिया जाय। इस व्यवस्था की सम्भावना के विषय में जाँच की आवश्यकता है। इसी सम्बन्ध में दो और भी सुझाव दिये जा सकते हैं:— प्रथम, ब्याज की अधिकतम् दरें निश्चित करने के स्थान पर, जैसा कि सभी नियमों में किया गया है, अधिकतम् दरों की एक विस्तृत सूची बनाई जाय, जिसमें अलग-अलग क्षेत्रों की दशाओं के अनुसार अधिकतम् दरों में अन्तर रहे। यह प्रणाली न्यायपूर्ण भी होगी और व्यावहारिक भी। दूसरे, व्यक्तिगत सूत्रों से जो प्राधि किये जाते हैं उनमें से ऐसे फलोपभोगी प्राधि (Ususfructuary Mortgages) जिनमें २० साल के भीतर स्वयं अन्त हो जाने की व्यवस्था न हो, नियम द्वारा अवैध होने चाहिए। साथ ही, साधारण प्राधि में बिक्री द्वारा भूमि का हस्तान्तरण नियम द्वारा बन्द होना चाहिए।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि केवल नियन्त्रक नियमों द्वारा स्थिति के सुधरने की आशा नहीं है। सबसे बड़ा भय यह है (यह रिजर्व बैंक की जाँच से भी सिद्ध होता है) कि ये नियम साख का संकुचन करते हैं। इस कारण इनका समुचित पालन संस्थागत साख (Institutional Credit) के विस्तार पर भी निर्भर है। साथ ही, ग्रामीण क्षेत्रों से पूँजी के हटने के कार्य को रोकना भी आवश्यक है, क्योंकि इससे वित्तीय कमी और भी बढ़ जायगी। डा०-राधाकमल मुकर्जी ने जमींदारी उन्मूलन समिति को एक स्मरण पत्र में बताया था कि उत्तर-प्रदेश में ग्रामीण वित्त का ४०% जमींदारों द्वारा दिया जाता था और अब जमींदार अपने कोषों का नगरों को हस्तान्तरण कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में कृषि सुधार समिति (Agrarian Reforms Committee) इस बात के पक्ष में न थी कि सरकार ग्रामीण क्षेत्रों में राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्र बेचकर धन प्राप्त करे। आवश्यकता तो इस बात की है कि ग्रामीण क्षेत्रों में बचत को प्रोत्साहित करके ग्रामीण बहुमुखी सहकारी समितियों और ऊपर की ग्रामीण वित्त संस्थाओं के जमाधन को बढ़ाया जाय।

सहकारिता का महत्त्व—

ग्रामीण वित्त तथा कृषि साख की सभी कठिनाइयों को दूर करने का सबसे उपयुक्त तथा स्थायी उपाय सहकारी साख-आन्दोलन का विकास है।

नानावती समिति ने कृषि साख के सम्बन्ध में सहकारी आन्दोलन की उपयोगिता की विस्तृत जाँच की थी और इस आन्दोलन के कुछ दोषों का पता लगाया था। बड़ी कठिनाई यह है कि ऋणों के प्रदान करने में सहकारी समितियाँ बहुत समय लगाती हैं, जो कृषकों के लिए बड़ा असुविधाजनक होता है। इस दोष को दूर करने के लिए समिति ने निम्न सुझाव दिये थे :—

(१) प्रत्येक सदस्य तथा सहकारी समिति के लिए हर वर्ष ऋण लेने की सीमाएँ निश्चित होनी चाहिये।

(२) अच्छे प्रबन्ध वाली समितियों को अपनी साख-संस्थाओं के साथ नकद साख खोलने का अधिकार मिलना चाहिए।

(३) अच्छी समितियों को छोटे-छोटे ऋण प्रदान करने के लिए अपने पास नकद कोष रखने की आज्ञा मिलनी चाहिए।

(४) इस सम्बन्ध में मद्रास राज्य की चालू प्राधि बाँध (Continuity Mortgage Bond) प्रणाली की लाभपूर्णता की जाँच होनी चाहिए और उसके उपयोग का प्रयत्न होना चाहिए।

(५) यथासम्भव चालू साख (Running Credit) प्रणाली का उपयोग होना चाहिए।

(६) समितियों के उपयुक्त अधिकारियों को विशेष परिस्थितियों में निश्चित मात्राओं में विशेष ऋणों के प्रदान करने का अधिकार मिलना चाहिए, ताकि कुछ दशाओं में तुरन्त ऋण दिये जा सकें।

इस सम्बन्ध में मिश्र देश की प्रणाली लाभदायक हो सकती है, जहाँ पर प्रत्येक फसल के उत्पादन-व्यय के आधार पर ऋण की मात्रा की सीमा निश्चित की गई है। उस देश में वस्तुओं के रूप में ऋण देने के लिए सहकारी बैंक देश के विभिन्न क्षेत्रों में बीज और खाद के गोदाम रखती था। प्रत्येक व्यक्तिगत ऋण के प्रार्थना-पत्र की समुचित जाँच की जाती है और आवश्यक छान-बीन के पश्चात् बहुत सी दशाओं में बैंक के उप-अभिकर्त्ता द्वारा बिना उच्च अधिकारियों से आज्ञा लिए ही ऋण प्रदान कर दिया जाता है।

भारत में सहकारी आन्दोलन का एक दोष यह भी है कि सहकारी समितियों के ब्याज की दरें ऊँची होती हैं। भारत में यह दर ७% से लेकर १५% तक है। इसे कम करने की आवश्यकता है और साथ ही यह भी आवश्यक है कि सहकारी समितियों और बैंकों के कार्यवाहन में मितव्ययिता लाई जाय और उनके बीच समुचित समन्वय तथा सहयोग

स्थापित किया जाय। सहकारी समितियों के लिए यह भी आवश्यक है कि वे अपने ऋणों में फेर-बदल करके आदेयों में तरलता लावें। शायद यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि ऐसे नियम बनाये जायँ जिनके द्वारा ऋण लेने वालों को समय पर भुगतान करने के लिए बाध्य किया जा सके। मद्रास राज्य में 'नियन्त्रित साख' प्रणाली से अच्छे लाभ प्राप्त हुए हैं। इस प्रणाली की विशेषता यह है कि सदस्यों को स्वीकृत ऋण आवश्यकतानुसार किश्तों में दिये जाते हैं और ऋण की राशि उस आय में से प्राप्त कर ली जाती है जो ऋण-राशि के उपयोग से उत्पन्न होती है। आवश्यक परिवर्तनों के साथ अन्य राज्यों में भी इसका उपयोग हो सकता है।

ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति (The Rural Banking Enquiry Committee)—

यह समिति सन् १९४९ में नियुक्त की गई थी। इसने यह सिफारिश की है कि गैडगिल समिति की सिफारिशों में आवश्यक परिवर्तन करके कृषि वित्तीय प्रमण्डल (Agricultural Finance Corporation) की स्थापना पर विचार किया जाय। समिति का विचार है कि केवल ग्रामीण साख व्यवस्था के उद्देश्य से ग्रामीण बैंकिंग प्रणाली का निर्माण करना उपयुक्त न होगा। समिति के अनुसार ग्रामीण अधिकोषण को संस्थागत रूप देना आवश्यक है, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों की बचत का उपयोग किये बिना ग्रामीण अधिकोषण की कोई समुचित योजना नहीं बनाई जा सकती है। समिति ने ऐसे उपायों का भी सुझाव दिया है जिनके द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में डाकखाने के सेविंग बैंकों की उपयोगिता बढ़ाई जा सकती है। इसके लिए डाकखानों की शाखाओं का खोलना, अधिक जमा प्राप्त करने वाले डाक अधिकारियों को विशेष पारितोषण देना तथा समुचित विज्ञापन की सिफारिशें की गई हैं। समिति ने यह भी सुझाव दिया है कि ऐसे स्थानों पर स्टेट बैंक को अपनी शाखायें खोलने में सहायता दी जाय जहाँ अभी तक कोषागारों द्वारा नकदी में लेन-देन की जा रही है। समिति ने इस सम्बन्ध में ५ साल के भीतर २०० शाखायें खोलने का प्रस्ताव रखा था। इस सम्बन्ध में स्टेट बैंक के विधान में भी कुछ प्रकार के परिवर्तनों के प्रस्ताव रखे गये थे।

वर्तमान स्थिति एवं भविष्य—

ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति की सिफारिशों का संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया जा चुका है, परन्तु इस समिति ने ग्रामीण साख व्यवस्था के पुनर्सङ्गठन के लिए कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का निर्माण किया है, इसलिए

इसकी सिफारिशों की विस्तृत समीक्षा आवश्यक प्रतीत होती है। ये सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं :—

(१) यह विचार प्रकट किया गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों की बचत को एकत्रित करने तथा उनके लिए साख व्यवस्था करने के कार्यों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है, अतः दोनों कार्यों के लिये एक ही संस्था का रहना आवश्यक है।

(२) इस समय सबसे बड़ी समस्या ग्रामीण साख संस्थाओं का अभाव है।

(३) अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन वित्तीय व्यवस्था के लिये अलग-अलग संस्थाएँ होनी चाहिये, परन्तु उन सबका आधार सहकारी ही होना चाहिये।

(४) भूमि और ऋणों के सम्बन्ध में सरकार द्वारा बनाये हुए सभी नियम व्यावहारिक होने चाहिए और इन नियमों को बनाने से पहले इनके साख संस्थाओं और उनके विकास पर पड़ने वाले प्रभावों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिए।

समिति ने पता लगाया था कि व्यापारिक और सहकारी बैंकों का विकास नगरों तथा कस्बों तक ही सीमित है। व्यापारिक बैंकों को ग्रामीण क्षेत्रों में व्यवसाय बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिलना चाहिए। समिति का विचार है कि ग्रामीण यातायात साधनों के विकास, ग्रामीण शाखाओं के लिए रिजर्व बैंक द्वारा कम ब्याज पर ऋण देने तथा गोदामों की व्यवस्था द्वारा इस प्रकार का प्रोत्साहन उपलब्ध हो सकेगा। दीर्घकालीन ऋणों के सम्बन्ध में समिति ने सुझाव दिया है कि ऐसे सभी ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ आरम्भिक अथवा केन्द्रीय भू-प्राधि बैंक नहीं हैं, इस प्रकार की बैंक खोली जायँ। समिति ने देश के लिए कृषि वित्त प्रमण्डल का सुझाव रद्द कर दिया है, क्योंकि नकद सहायता और शासन के दृष्टिकोण से यह उपयुक्त नहीं समझा गया है। इसी प्रकार समिति ने जमाधन बीमे (Deposit Insurance) तथा चलायमान बैंकों (Mobile Banks) की व्यवस्था को भी ठीक नहीं समझा है।

समिति के प्रस्तावों की तीन प्रमुख आलोचनायें की गई हैं :—

(१) यह कहा जाता है कि शायद समिति द्वारा प्रस्तावित योजना सहकारी अधिकोषण में सहायक न हो सकेगी, क्योंकि समिति ने ग्रामीण क्षेत्रों को वित्तीय सहायता देने के स्थान पर उनकी बचत को जमा करने पर अधिक जोर दिया है। भय यह है कि यह जमाधन स्थानीय सहकारी संस्थाओं के काम नहीं आ पायगा।

(२) दीर्घकालीन ऋणों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि ये ऋण किन सूत्रों से प्राप्त होंगे और किस प्रकार। भू-प्राधि बैंकों की स्थापना का सुझाव देते समय उनसे सम्बन्धित कठिनाइयों पर ध्यान नहीं दिया गया है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि कृषि वित्त प्रमण्डल के सुझाव को बिना समुचित विचार किये ही ठुकरा दिया गया है।

(३) अल्पकालीन ऋणों की पूर्ति का साधन सहकारी समितियों को मान कर तो समिति ने ठीक ही किया है, परन्तु समिति ने यह नहीं बताया है कि इन समितियों की कुशलता और सफलता किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है।

पंच-वर्षीय योजनाएँ और ग्रामीण वित्त—

योजना आयोग ने ग्रामीण वित्त सहायता के लक्ष्य निर्धारित किये हैं और इस सम्बन्ध में अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार की वित्तीय सहायता के सुझाव भी रखे हैं। प्रथम पंचवर्षीय-योजना में यह व्यवस्था की गई थी कि योजना काल में सरकारी तथा सहकारी संस्थाओं द्वारा कृषि वित्त के निमित्त १०० करोड़ रुपये का वार्षिक वितरण किया जाय, परन्तु पहले दो वर्षों में इस दिशा में प्रगति कार्यक्रम से बहुत पीछे रही थी। योजना के अन्तिम तीन वर्षों में आयोग ने कृषि वित्त की पूर्ति करने वाले साधनों को ५ करोड़ रुपया और अधिक देने की व्यवस्था की थी। आरम्भ में इन संस्थाओं की सहायता के लिए २५ करोड़ रुपये की वार्षिक सहायता का प्रस्ताव था। ऐसा प्रतीत होता है कि योजना आयोग द्वारा निर्धारित लक्ष्य इतना ऊँचा है कि उसे अवास्तविक कहा जा सकता है। सन् १६५२-५३ में रिजर्व बैंक केवल ११·०५ करोड़ रुपये की अल्पकालीन वित्तीय सहायता दे सकी थी।

ग्रामीण साख-संगठन के शासन में कुशलता प्राप्त करने के लिए योजना आयोग ने सरकारी अधिकारियों के शिक्षण के लिए तीन क्षेत्रीय कॉलेजों की स्थापना का सुझाव रखा है, जिन पर केन्द्रीय सरकार १० लाख रुपया व्यय करेगी, परन्तु यह व्यय कम है। साथ ही, अभी तक राज्य सरकारों ने इस योजना के महत्त्व को भी नहीं समझा है, जिसके कारण अभी तक इस दिशा में कुछ भी नहीं हो पाया है।

दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में आरम्भिक सहकारी साख समितियों की सदस्यता को ५० लाख रुपये से बढ़ा कर १५० लाख रुपया कर देने का सुझाव रखा गया है। योजना काल में सहकारी आन्दोलन द्वारा अल्पकालीन ऋणों की मात्रा ३० करोड़ रुपये से बढ़ा कर १५० करोड़ रुपया, मध्यकालीन ऋणों को १० करोड़ रुपये से ५० करोड़ रुपया और दीर्घकालीन

ऋणों की मात्रा ३ करोड़ रुपये से २५ करोड़ रुपया कर दी जायगी ग्रामीण साख के लक्ष्य निम्न प्रकार रखे गये हैं :—

समितियों की संख्या	१०,४००
अल्पकालीन साख	१५० करोड़ रुपया
मध्यमकालीन साख	५० ,, ,,
दीर्घकालीन साख	२५ ,, ,,

इस कार्य में रिजर्व बैंक जो सहायता देगी उसके अतिरिक्त ४८ करोड़ रुपये की सरकारी सहायता और भी दी जायगी।

ग्रामीण साख के सम्बन्ध में तीन महत्त्वपूर्ण नीतियों का निर्माण किया गया है—प्रथम, कुछ विशेष दशाओं को छोड़ कर, जो कि कृषि उत्पादन से सम्बन्धित होंगी, सहकारी संस्थाएँ केवल व्यक्तिगत काश्तकारी के ही सम्बन्ध में ऋण देंगी। दूसरे ऐसे किसानों को जिनका भूमि सुधार नियमों के अन्तर्गत सरकार से सीधा सम्बन्ध हो गया है, दीर्घकालीन और माध्यकालीन ऋणों की सुविधाएँ देने के लिए भूमि को सहकारी वित्त संस्थाओं को हस्तातन्तरित करने का अधिकार दिया जाय। तीसरे, उन भू-भागों के सम्बन्ध में जो सहकारी वित्त संस्थाओं के पास आ जाते हैं, भू-सीमा, काश्तकारों के रखने अथवा पट्टों पर उठाने से सम्बन्धित नियमों को लागू न किया जाय। सहकारी समितियों को इस प्रकार प्राप्त होने वाली भूमि को हस्तान्तरित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। शर्त केवल यही रहनी चाहिए कि खरीदने वाला उस पर स्वयं खेती करे और इस प्रकार प्राप्त की जाने वाली भूमि की मात्रा नियम द्वारा निर्धारित अधिकतम् मात्रा से अधिक नहीं रहनी चाहिए।

रिजर्व बैंक और ग्रामीण वित्त—

रिजर्व बैंक का एक अलग विभाग ग्रामीण तथा कृषि साख से संबन्धित है, जिसके कार्यों का वर्णन पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। रिजर्व बैंक केवल अल्पकालीन ऋण ही दे सकती है, जिनकी अवधि अधिक से अधिक १५ महीने की होती है और ये ऋण राज्य सहकारी बैंकों को ही दिये जा सकते हैं। रिजर्व बैंक को कृषक बिलों, हुन्डियों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों के क्रय-विक्रय का अधिकार है, परन्तु ऐसे पत्रों पर दो हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं, जिनमें से एक या तो किसी अनुसूचित बैंक का होना चाहिए या राज्य सहकारी बैंकों का। सहकारी बैंकों के लिए ब्याज की दर में ५०% की कमी भी १ सितम्बर सन् १९५१ से कर दी गई है। ग्रामीण साख विस्तार हेतु इम्पीरियल बैंक को ३० नई शाखाएँ खोलने का अधिकार दिया गया था और समस्त ग्रामीण साख व्यवस्था की विस्तृत

जाँच का कार्य आरम्भ कर दिया गया था, परन्तु फिर भी सन् १९५० में सहकारी बैंकों ने केवल ५.३३ करोड़ रुपये की सहायता प्राप्त की थी और सन् १९५२ में ११ करोड़ रुपये की। तत्पश्चात् रिजर्व बैंक द्वारा राज्य सहकारी बैंकों को दी जाने वाली सहायता की मात्रा बराबर बढ़ती गई है। अल्पकालीन ऋणों के लिए सन् १९५५-५६ में १७ राज्य सहकारी बैंकों के लिये २८.७९ करोड़ रुपये के ऋणों की राशि की सीमा निश्चित की गई थी, जो सन् १९५६-५७ के लिए १८ राज्य सहकारी बैंकों के लिए ३३.९४ करोड़ रुपया कर दी गई थी। इसी काल में इन बैंकों द्वारा निकाली हुई राशि २२.९५ करोड़ रुपये से बढ़कर ३१.९२ करोड़ रुपया हो गई थी। मार्च सन् १९५७ के अन्त में राज्य सहकारी बैंकों के बकाया ऋण २०.५८ करोड़ रुपये के थे, जबकि ऐसे ऋण मार्च सन् १९५६ और मार्च सन् १९५५ में क्रमशः १२.३४ और ९.१४ करोड़ रुपये थे।*

माध्य-कालीन वित्त के सम्बन्ध में सन् १९५५-५६ में ८ राज्य सहकारी बैंकों को ९९.६७ लाख रुपये के ऋणों की स्वीकृति दी गई थी, जो सन् १९५६-५७ में बढ़ाकर १५७ लाख रुपया कर दी गई थी। इस वर्ष इन बैंकों ने १२२.२१ लाख रुपये की राशि इस मद में से निकाली, यद्यपि गत वर्ष में केवल ४१.३४ लाख रुपये की राशि निकाली गई थी।

अप्रैल सन् १९५५ में रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन करने का बिल पास हो गया था। इसके अनुसार किसानों को खड़ी फसल पर रुपया उधार लेने और फसल को गिरवी रख कर उधार लेने की व्यवस्था की गई है। बिल में १० करोड़ रुपए के राष्ट्रीय कृषि ऋण कोष की स्थापना की व्यवस्था की गई है और यह कोष सहकारी समितियों को ऋण देने के लिए राज्य सरकारों को ऋण देगा। कोष से भूमि बन्धक बैंकों को भी ऋण दिया जा सकेगा। बिल में रिजर्व बैंक को १ करोड़ रुपये का एक और कोष, राष्ट्रीय कृषि स्थायित्त्व कोष (National Agricultural Stabilization Fund), खोलने का भी अधिकार दिया गया है। इसमें से राज्य सहकारी बैंकों को, इसलिये ऋण दिया जायगा कि वे अल्पकालीन ऋणों को मध्य अवधि ऋणों में बदल सकें। धीरे-धीरे इन कोषों की रकम को बढ़ाया जायगा। किसान फसल को सरकारी गोदामों में जमा करके ऋण ले सकता है और कीमतों के ऊपर चढ़ने की दशा में उसे बेच कर ऋण चुका सकता है। सन् १९५५-५६ में रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्यवाहन) कोष भी स्थापित किया था, जिसमें आरम्भ में १० करोड़ रुपये की राशि रखी गई थी। जून सन् १९५६ में इस राशि में ५ करोड़

ऋणों की मात्रा ३ करोड़ रुपये से २५ करोड़ रुपया कर दी जायगी। ग्रामीण साख के लक्ष्य निम्न प्रकार रखे गये हैं :—

समितियों की संख्या	१०,४००
अल्पकालीन साख	१५० करोड़ रुपया
मध्यमकालीन साख	५० ,, ,,
दीर्घकालीन साख	२५ ,, ,,

इस कार्य में रिजर्व बैंक जो सहायता देगी उसके अतिरिक्त ४८ करोड़ रुपये की सरकारी सहायता और भी दी जायगी।

ग्रामीण साख के सम्बन्ध में तीन महत्त्वपूर्ण नीतियों का निर्माण किया गया है—प्रथम, कुछ विशेष दशाओं को छोड़ कर, जो कि कृषि उत्पादन से सम्बन्धित होंगी, सहकारी संस्थाएँ केवल व्यक्तिगत काश्तकारी के ही सम्बन्ध में ऋण देंगी। दूसरे ऐसे किसानों को जिनका भूमि सुधार नियमों के अन्तर्गत सरकार से सीधा सम्बन्ध हो गया है, दीर्घकालीन और माध्यकालीन ऋणों की सुविधाएँ देने के लिए भूमि को सहकारी वित्त संस्थाओं को हस्तातन्तरित करने का अधिकार दिया जाय। तीसरे, उन भू-भागों के सम्बन्ध में जो सहकारी वित्त संस्थाओं के पास आ जाते हैं, भू-सीमा, काश्तकारों के रखने अथवा पट्टों पर उठाने से सम्बन्धित नियमों को लागू न किया जाय। सहकारी समितियों को इस प्रकार प्राप्त होने वाली भूमि को हस्तान्तरित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। शर्त केवल यही रहनी चाहिए कि खरीदने वाला उस पर स्वयं खेती करे और इस प्रकार प्राप्त की जाने वाली भूमि की मात्रा नियम द्वारा निर्धारित अधिकतम् मात्रा से अधिक नहीं रहनी चाहिए।

रिजर्व बैंक और ग्रामीण वित्त—

रिजर्व बैंक का एक अलग विभाग ग्रामीण तथा कृषि साख से संबन्धित है, जिसके कार्यों का वर्णन पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। रिजर्व बैंक केवल अल्पकालीन ऋण ही दे सकती है, जिनकी अवधि अधिक से अधिक १५ महीने की होती है और ये ऋण राज्य सहकारी बैंकों को ही दिये जा सकते हैं। रिजर्व बैंक को कृषक बिलों, हुन्डियों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों के क्रय-विक्रय का अधिकार है, परन्तु ऐसे पत्रों पर दो हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं, जिनमें से एक या तो किसी अनुसूचित बैंक का होना चाहिए या राज्य सहकारी बैंकों का। सहकारी बैंकों के लिए ब्याज की दर में ५०% की कमी भी १ सितम्बर सन् १९५१ से कर दी गई है। ग्रामीण साख विस्तार हेतु इम्पीरियल बैंक को ३० नई शाखाएँ खोलने का अधिकार दिया गया था और समस्त ग्रामीण साख व्यवस्था की विस्तृत

जाँच का कार्य आरम्भ कर दिया गया था, परन्तु फिर भी सन् १९५० में सहकारी बैंकों ने केवल ५'३३ करोड़ रुपये की सहायता प्राप्त की थी और सन् १९५२ में ११ करोड़ रुपये की। तत्पश्चात् रिजर्व बैंक द्वारा राज्य सहकारी बैंकों को दी जाने वाली सहायता की मात्रा बराबर बढ़ती गई है। अल्पकालीन ऋणों के लिए सन् १९५५-५६ में १७ राज्य सहकारी बैंकों के लिये २८'७९ करोड़ रुपये के ऋणों की राशि की सीमा निश्चित की गई थी, जो सन् १९५६-५७ के लिए १८ राज्य सहकारी बैंकों के लिए ३३'९४ करोड़ रुपया कर दी गई थी। इसी काल में इन बैंकों द्वारा निकाली हुई राशि २२'९५ करोड़ रुपये से बढ़कर ३१'९२ करोड़ रुपया हो गई थी। मार्च सन् १९५७ के अन्त में राज्य सहकारी बैंकों के बकाया ऋण २०'५८ करोड़ रुपये के थे, जबकि ऐसे ऋण मार्च सन् १९५६ और मार्च सन् १९५५ में क्रमशः १२'३४ और ९'१४ करोड़ रुपये थे।*

माध्य-कालीन वित्त के सम्बन्ध में सन् १९५५-५६ में ८ राज्य सहकारी बैंकों को ९९'६७ लाख रुपये के ऋणों की स्वीकृति दी गई थी, जो सन् १९५६-५७ में बढ़ाकर १५७ लाख रुपया कर दी गई थी। इस वर्ष इन बैंकों ने १२२'२१ लाख रुपये की राशि इस मद में से निकाली, यद्यपि गत वर्ष में केवल ४१'३४ लाख रुपये की राशि निकाली गई थी।

अप्रैल सन् १९५५ में रिजर्व बैंक एक्ट में संशोधन करने का बिल पास हो गया था। इसके अनुसार किसानों को खड़ी फसल पर रुपया उधार लेने और फसल को गिरवी रख कर उधार लेने की व्यवस्था की गई है। बिल में १० करोड़ रुपए के राष्ट्रीय कृषि ऋण कोष की स्थापना की व्यवस्था को गई है और यह कोष सहकारी समितियों को ऋण देने के लिए राज्य सरकारों को ऋण देगा। कोष से भूमि बन्धक बैंकों को भी ऋण दिया जा सकेगा। बिल में रिजर्व बैंक को १ करोड़ रुपये का एक और कोष, राष्ट्रीय कृषि स्थायित्व कोष (National Agricultural Stabilization Fund), खोलने का भी अधिकार दिया गया है। इसमें से राज्य सहकारी बैंकों को, इसलिये ऋण दिया जायगा कि वे अल्पकालीन ऋणों को मध्य अवधि ऋणों में बदल सकें। धीरे-धीरे इन कोषों की रकम को बढ़ाया जायगा। किसान फसल को सरकारी गोदामों में जमा करके ऋण ले सकता है और कीमतों के ऊपर चढ़ने की दशा में उसे बेच कर ऋण चुका सकता है। सन् १९५५-५६ में रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्यवाहन) कोष भी स्थापित किया था, जिसमें आरम्भ में १० करोड़ रुपये की राशि रखी गई थी। जून सन् १९५६ में इस राशि में ५ करोड़

* *Report on Currency and Finance*, 1956-57.

रुपए और जोड़ दिए गये थे। कोष की स्थापना राज्य सरकारों को दीर्घ और मध्य कालीन ऋण देने के लिए की गई है, ताकि वे राज्य सहकारी बैंकों और भू-प्राधि बैंकों के अंश खरीद सकें। इस कोष में से मार्च सन् १६५७ तक ११ राज्यों को २६८'२० लाख रुपए के ऋणों की स्वीकृति दी गई थी, जिसमें से उस तक १६०'२५ लाख रुपये की राशि उधार ली गई थी।

जून १६५६ में कृषि उपज (विकास और गोदाम व्यवस्था) प्रमण्डल अधिनियम (Agricultural Produce 'Development and Warehousing' Corporations Act, 1956) भी पास हुआ था, जिसके अनुसार सितम्बर सन् १६५६ में राष्ट्रीय सहकारी विकास और गोदाम मण्डल (National Cooperative Development and Warehousing Board) स्थापित किया गया है। यह परिषद् कृषि उपज के लिए गोदामों की व्यवस्था करती है और उसकी विक्री का भी प्रबन्ध करती है।

कृषि साख की प्रगति—

प्रथम फरवरी सन् १६५७ को स्टेट बैंक ने यह निः
केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा शीर्ष बैंकों को सप्ताह में
क्षेत्रों की शाखाओं को कोषों के भेजने में निःशुल्क विप्रेष सुविधाएँ दी जायेंगी। स्टेट बैंक रियायती दरों पर सहकारी संस्थाओं को ट्रस्टी प्रतिभूतियों, केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत ऋण-पत्रों और अंशों, माल, विनिमय बिलों, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि ऋण तथा नकद साख सुविधाएँ भी प्रदान करेगी। आरम्भिक अवस्था में सहकरी संस्थाओं को अंश पूँजी को बढ़ाने तथा ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन को बढ़ाने के लिए भी ऋण दिये जायेंगे।

राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा गोदाम बोर्ड ने १७ राज्यों में सहकारी विकास की योजनाएँ स्वीकार की हैं और उनके लिए १२'०६ करोड़ रुपये ऋण तथा ३६'६२ करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता दी है। बोर्ड ने सन् १६५६-५७ विकास के लक्ष्य निम्न प्रकार निश्चित किये हैं :—

बड़ी सहकारी साख समितियों की स्थापना	१,००६
केन्द्रीय सहकारी बैंक	१७८
आरम्भिक भू-प्राधि बैंक	४

सहकारी समितियों के वित्त का प्रमुख साधन अभी तक रिजर्व बैंक ही रही है, यद्यपि रिजर्व बैंक की सहायता के लक्ष्य निश्चित नहीं किये गये हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि अब तक रिजर्व बैंक ने राज्य सहकारी बैंकों को ६'३१ करोड़ रुपये के ऋण दिए हैं, जो अल्पकालीन

ऋण हैं। इसी प्रकार १·१२ करोड़ रुपये के मध्यकालीन ऋण भी दिए गए हैं। रिजर्व बैंक से राज्य सहकारी बैंकों ६·७४ करोड़ रुपये के ऋण इस उद्देश्य से भी दिये गये हैं कि वे राज्य में दूसरी सहकारी संस्थाओं की अंश पूँजी में वृद्धि कर सकें।

अखिल भारतीय ग्राम्य साख अनुसन्धान समिति (All India Rural Credit Survey Committee)—

सन् १९५१ में रिजर्व बैंक ने देश में ग्रामीण साख और सहकारी आन्दोलन की विस्तृत जाँच की। यह जाँच देश के ७५ जिलों के ६०० गाँवों में की गई थी और १,२७,३४३ परिवारों तक फैली हुई थी। समिति के अध्यक्ष श्री गोरवाला थे। समिति ने पता लगाया है कि किसानों के ऋण व्यवसायों में सरकार और सहकारी आन्दोलन का हाथ क्रमशः केवल ३·३ और ३·१% था। लगभग ७०% ऋण साहूकारों और ग्रामीण व्यापारियों द्वारा दिये जाते हैं। सहकारी समितियों को केन्द्रीय और राज्य बैंकों से जो सहायता मिलती है वह अपर्याप्त है। समिति का विचार है कि कृषि और ग्राम्य साख के समुचित विकास के लिए सहकारी आन्दोलन का विकास ही एक मात्र उपाय है, इसलिए ग्राम्य साख की एक समन्वययुक्त प्रणाली का निर्माण आवश्यक है। समिति ने पता लगाया है कि ग्राम्य वित्त के सम्बन्ध में विभिन्न साख संस्थाओं का महत्त्व निम्न प्रकार है—

साख संस्था	कुल ऋणों का प्रतिशत
(१) सरकार	५·३
(२) सहकारी साख समितियाँ और बैंक	३·१
(३) व्यापार बैंक	०·९
(४) नातेदार तथा सम्बन्धी	१४·२
(५) जमींदार और अन्य भू-स्वामी	१·५
(६) किसान साहूकार	२४·९
(७) व्यवसायी साहूकार	४४·८
(८) व्यापारी और आढ़तिया	५·५
(९) अन्य	१·८
कुल	१००·०

समिति के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) सहकारी संस्थाओं में प्रत्येक अवस्था में सरकार की साझेदारी रहनी चाहिए और सरकार तथा रिजर्व बैंक के बीच अधिक सहयोग रहना चाहिए।

(२) राज्य सहकारी बैंकों और भू-प्राधि बैंकों की पूँजी का विस्तार होना चाहिए और उनके ५१% अंश राज्य सरकारों के पास रहने चाहिए। इसी प्रकार की साझेदारी केन्द्रीय सहकारी बैंकों और बड़ी-बड़ी आरम्भिक समितियों में भी रहनी चाहिए।

(३) यथासम्भव इस साझेदारी के लिए रिजर्व बैंक से राज्य सरकारों को राष्ट्रीय कृषि साख कोष में से ऋण मिलना चाहिए। यह कोष रिजर्व बैंक ५ करोड़ रुपये से शुरू करे और फिर हर साल इसमें ५-५ करोड़ रुपया बढ़ाती जाय।

(४) इस कोष में से राज्य सहकरी बैंकों को मध्यकालीन ऋण और भू-प्रधि बैंकों को दीर्घकालीन ऋण भी दिये जायें। इसका धन सिंचाई की योजनाओं के विशेष विकास ऋण पत्र खरीदने में भी काम में लाया जाय।

(५) सहकारी विक्री और गोदाम व्यवस्था में भी सरकार की इसी प्रकार की साझेदारी रहनी चाहिये।

(६) एक महत्त्वपूर्ण सुझाव स्टेट बैंक के निर्माण के सम्बन्ध में है, जो ४०० नई शाखाएँ ग्रामीण और अर्द्ध-नागरिक क्षेत्रों में खोलेगी। राज्यों से सम्बन्धित बैंकों, जैसे—सौराष्ट्र बैंक, पटियला बैंक, बीकानेर बैंक, जयपुर बैंक, राजस्थान बैंक, इन्दौर बैंक, बड़ौदा बैंक, मैसूर बैंक, हैदराबाद बैंक और त्रिवांकुर बैंक का स्टेट बैंक से एकीकरण कर दिया जाय।

(७) सहकारी संस्थाओं के प्रबन्धकों और कर्मचारियों की शिक्षा की व्यवस्था बढ़ाई जानी चाहिये। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों तथा रिजर्व बैंक तीनों को ही अधिक उदार नीति अपनानी चाहिए और इस शिक्षा में सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं से सम्बन्धित आवश्यकताओं को ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

(८) सरकार को ग्रामीण बचत को एकत्रित करने का प्रयत्न करना चाहिये, परन्तु इस बचत का उपयोग केवल ग्रामीण साख की उन्नति के लिए किया जाय और क्योंकि ग्रामीण बचत कम है, इसलिए नगरों की बचत के एक भाग को भी ग्रामीण साख विस्तार के लिए उपयोग किया जाय।

(९) ग्रामीण क्षेत्रों में ब्याज की दरों को घटाने के लिए साहूकारों के कार्यों पर नियन्त्रण आवश्यक है। इस सम्बन्ध में ऋण और कृषि सम्बन्धी नियम बनने चाहिए।

(१०) कृषकों के हितों को सुरक्षित करने के लिए भावी बाजारों (Forward Markets) पर समुचित नियन्त्रण रखा जाय।

(११) सरकारी नीति का आधार कृषि उपजों की कीमतों में स्थिरता बनाये रखना होना चाहिए।

(१२) केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार दुर्भिक्ष कोष स्थापित करें और उसकी व्यवस्थाओं का विस्तार करें।

(१३) साहूकारों को उनका कार्य करने दिया जाय, यद्यपि उनके वर्तमान महत्त्व में कमी होनी चाहिये।

(१४) व्यापार बैंकों की वर्तमान कृषि साख व्यवस्था बनी रहनी चाहिये। इन बैंकों को माल के गोदाम स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

(१५) ग्रामीण कुटीर उद्योगों को भी वित्तीय सहायता मिलनी चाहिये, जिसके लिये राज्य वित्त प्रमण्डलों, रिजर्व बैंक तथा कुटीर उद्योग प्रमण्डलों को विशेष व्यवस्था करनी चाहिये।

(१६) ग्रामीण यातायात और सम्वादवाहन के साधनों का विस्तार और विकास होना चाहिए।

(१७) राज्य द्वारा उचित सहायता देकर सहकारी आन्दोलन को सुदृढ़ बनाना चाहिये।

सरकारी कार्य की संक्षिप्त समीक्षा—

अखिल भारतीय ग्रामीण साख अनुसन्धान समिति की सिफारिशों को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया है और उनके आधार पर ग्रामीण वित्त व्यवस्था को संगठित करने का प्रयत्न किया है। सरकार ने अप्रैल सन् १९५५ में ही इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी नियम पास कर दिया था। पुनर्सङ्गठन रूप में इम्पीरियल बैंक ने स्टेट बैंक इन्डिया के रूप में १ जुलाई सन् १९५५ से अपना कार्य आरम्भ कर दिया है। सभी राज्य सम्बन्धी बैंकों को स्टेट बैंक में मिला देने का कार्य-क्रम भी चालू है।

दूसरे, अप्रैल सन् १९५५ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन किये गये हैं। बैंक को राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्यवाहन) कोष (National Agricultural Credit 'Long-trem Operations' Fund) और राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरता) कोष (National Agricultural Credit Stabilisation' Fund) स्थापित करने का अधिकार दे दिया गया है। प्रथम कोष १० करोड़ रुपये की राशि

आरम्भ किया गया है और इसमें से राज्य सहकारी बैंकों और केन्द्रीय भू-प्राधि बैंकों को ऋण दिये जायेंगे। दूसरे कोष में जून सन् १९५६ से रिजर्व बैंक ने १ करोड़ रुपया प्रति वर्ष देना आरम्भ कर दिया है और इसमें से राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण दिए जारहे हैं।

तीसरे, सरकार ने यह मान लिया है कि औद्योगिक वित्त प्रमण्डल और राज्य वित्त प्रमण्डलों के अंश और भूमि-बन्धक बैंकों के ऋण-पत्र रिजर्व बैंक द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों के सक्षम समझे जायेंगे।

चौथे, रिजर्व बैंक द्वारा यह बात भी विचाराधीन है कि क्या अंशों और 'ऋण-पत्रों' के अभिगोपन (Under-writing) का कार्य रिजर्व बैंक आरम्भ कर दे।

पाँचवें, स्टेट बैंक को यह आदेश दिया गया है कि वह ग्रामीण तथा अर्द्धनागरिक क्षेत्रों में ४०० नई शाखायें स्थापित करे।

छठे, सितम्बर सन् १९५४ से बम्बई में बैंकिंग प्रशिक्षण कॉलेज खोल दिया है, ताकि कुशल और योग्य प्रबन्धक तथा कर्मचारी प्राप्त हो सकें।

सातवें, मार्च सन् १९५७ में केन्द्रीय गोदाम प्रमण्डल (Central Warehousing Corporation) भी स्थापित कर दिया गया है। इस प्रमण्डल की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपया तथा अंश पूँजी १० करोड़ रुपये रखी गई है। यह कृषि उपज के लिए गोदामों तथा बिक्री की व्यवस्था करती है।

अध्याय ४०

भारतीय सहकारी साख संगठन

(The Indian Co-operative Credit Organisation)

सहकारी आन्दोलन का आरम्भ जर्मनी से हुआ और वहाँ से यह यूरोप के दूसरे देशों में फैलता गया है भारत में भी सहकारी प्रणाली द्वारा ग्रामवासियों को ऋणों के भार से मुक्त करना एक उपयुक्त उपाय समझा गया है। भारत में भी यह आन्दोलन सन् १८९१ के भारतीय दुर्भिक्ष आयोग की सिफारिशों पर आरम्भ हुआ। सबसे पहला सहकारी साख

समिति एक्ट सन् १६०४ में पास हुआ, जिसका उद्देश्य रेफेसेन ग्रामीण सहकारी साख समितियाँ स्थापित करके ग्रामीण वित्त की व्यवस्था करना था। बाद को यह आवश्यकता अनुभव हुई कि सहकारिता के नियमों में साख व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य उद्देश्यों को भी सम्मिलित किया जाय, इसलिए सन् १६१२ में एक विस्तृत सहकारी समिति नियम पास किया गया। सन् १६१६ में सहकारिता एक प्रान्तीय विषय बना दिया गया और आन्दोलन के सम्बन्ध में राज्य सरकारों ने संशोधक नियम बनाने आरम्भ किये।

भारत में सहकारी बैंक प्रणाली संघीय आधार पर संगठित की गई है। सबसे नीचे छोटी ग्रामीण और नगर समितियाँ हैं, उनके ऊपर केन्द्रीय समितियाँ और केन्द्रीय सहकारी बैंक हैं और सबसे ऊपर राज्य सहकारी बैंक है, जिन्हें शीर्ष बैंक अथवा सर्वोच्च बैंक (Apex Bank) भी कहा जाता है। छोटी समितियाँ कृषि कार्यों के लिए कृषकों को ऋण देती हैं और अपनी पूँजी का एक भाग केन्द्रीय बैंकों से ऋण के रूप में प्राप्त करती हैं। केन्द्रीय सहकारी बैंकों की पूँजी अंशों को बेच कर, निक्षेपों द्वारा, शीर्ष बैंकों के ऋण तथा रिजर्व बैंक और अन्य बैंकों के ऋणों से प्राप्त होती है। आरम्भिक समितियों और केन्द्रीय सहकारी बैंकों के बीच केन्द्रीय समितियाँ होती है, जो आरम्भिक समितियों और केन्द्रीय बैंकों के बीच सम्बन्ध स्थापित करती हैं, निरीक्षण का कार्य करती हैं, अथवा बैंकिंग संघ के रूप में होती हैं। केन्द्रीय संघ (Central Union) स्वयं ऋण नहीं देता है, बल्कि छोटो सहकारी समितियों का सम्बन्ध केन्द्रीय सहकारी बैंकों से जोड़ देता है। सहकारी आन्दोलन की प्रगति का अनुमान निम्न तालिका से प्राप्त हो सकता है :—

वर्ष	समितियों की संख्या	सदस्यता (लाखों में)	कार्यवाहक पूँजी (करोड़ रुपयों में)
१६१०-११	१६,३००	१·६०	०·६८
१६२०-२१	२,८४,८००	११·२६	१५·१८
१६३०-३१	६,३६,४००	३६·८०	७४·७६
१६४०-४१	११,६६,६००	५०·७७	१०४·६८
१६५०-५१	१७,३०,६००	१२५·६१	२३३·१०
१६५१-५२	१,८१,१८६	—	२७५·८५
१६५२-५३	१,८५,६५०	१३७·६	३०६·३४
१६५३-५४	१,६८,५६८	१५१·७६	३५१·७६
१६५४-५५	२,१६,२८८	१६२·००	३६०·५२
१६५५-५६	२,३५,६०७	१७४·२५	४०६·६६

आरम्भिक सहकारी साख समितियों का संगठन—

भारत में सहकारी आन्दोलन कृषकों की आरम्भिक सहकारी समितियों की स्थापना से आरम्भ हुआ हुआ। इस समय भी ऐसी समितियाँ कुल समितियों की ६०% हैं। इन समितियों का संगठन निम्न प्रकार होता है:—

(१) कोई भी १० व्यक्ति मिलकर सहकारी समिति खोल सकते हैं। अधिकतम् सदस्यता १०० होती है। इन समितियों का सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार से पंजीकरण कराया जाता है।

(२) साधारण नियम यह है कि एक गाँव के लिए एक समिति होती है। सदस्यों द्वारा पारस्परिक नियन्त्रण प्रबन्ध तथा निरीक्षण के लिये आवश्यक समझा जाता है, परन्तु हाल के संशोधनों से इस नियम में कुछ परिवर्तन कर दिये गये हैं।

(३) एक सहकारी समिति का प्रबन्ध प्रजातन्त्रात्मक तथा निःशुल्क होता है और दो मण्डलों द्वारा किया जाता है। ऊपर तो एक साधारण सभा होती है, जो नीति का निर्माण करती है और जिसमें सभी अंशधारी रहते हैं। दिन प्रति दिन के प्रबन्ध के लिये एक प्रबन्धक समिति होती है, जिनमें ५ से लेकर ६ तक सदस्य होते हैं और जिनका निर्वाचन उपरोक्त सभा द्वारा किया जाता है। समिति का एक सचिव भी होता है, जो बहुधा वेतनभोगी कर्मचारी होता है और उसके नीचे अन्य वेतनभोगी कर्मचारी रहते हैं।

(४) भारत में इन समितियों के सदस्यों का उत्तरदायित्व साधारणतया असीमित होता है, परन्तु विशेष दशाओं में सरकार सीमित उत्तरदायित्व समितियों की स्थापना की आज्ञा देती है। बहुमुखी सरकारी समितियों के लिए, जो एक ही साथ कई प्रकार के कार्य करती हैं, सीमित उत्तरदायित्व सिद्धान्त को मान लिया गया है।

(५) आरम्भिक सहकारी साख समिति की पूँजी के साधन दो प्रकार के होते है :—आन्तरिक तथा वाह्य। आन्तरिक साधनों में अंश पूँजी, नये सदस्यों से प्राप्त प्रवेश शुल्क, सदस्यों के निक्षेप तथा सुरक्षित कोष सम्मिलित होते हैं। भारत में अंश पूँजी की मात्रा बहुत ही कम रहती है, क्योंकि अंशों को बेचे बिना भी समितियाँ स्थापित की जा सकती हैं। इसी प्रकार सदस्यों के निक्षेप तथा प्रवेश शुल्क की राशि भी नाम-मात्र ही होती है। आन्तरिक साधनों से पर्याप्त पूँजी प्राप्त नहीं होती है और समितियाँ अधिकतर वाह्य साधनों पर ही निर्भर रहती हैं। इन साधनों में सरकारी ऋणों, गैर-सदस्यों के निक्षेपों तथा केन्द्रीय और राज्य सहकारी बैंकों से प्राप्त ऋणों को सम्मिलित किया जाता है।

सहकारी समितियाँ केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी बैंकों के ऋणों पर निर्भर रहती हैं।

(६) यह समितियाँ केवल सदस्यों को ऋण दे सकती हैं। इनके ऋण तीन प्रकार के होते हैं :—(क) उत्पादक ऋण, (ख) अनुत्पादक ऋण और (ग) पिछले ऋण चुकाने के लिये दिये हुये ऋण । उत्पादक ऋणों में चालू कृषि व्यवसायों को दिये गये अल्पकालीन ऋण तथा करों के चुकाने और कृषि के स्थायी सुधार हेतु दिए गये दीर्घकालीन ऋण सम्मिलित होते हैं। अनुत्पादक ऋणों को (जैसे विवाह आदि के लिए) उचित नहीं समझा जाता है, परन्तु बहुत बार साहूकार से ऋण लेने की प्रवृत्ति का अन्त करने के लिये वे भी दिये जाते हैं। सभी प्रकार के ऋणों पर ब्याज की दर नीची रहती है और उन्हें किश्तों में चुकाने की सुविधा दी जाती है। साधारणतया दो या अधिक सदस्यों की जमानत ली जाती है, परन्तु कभी-कभी सहायक प्रतिभूति के रूप में चल अथवा अचल पूँजी भी माँगी जाती है।

(७) सभी सहकारी समितियों को एक निश्चित रूप में लेखों को रखना पड़ता है और इन लेखों का सरकारी अंकेक्षण किया जाता है। कभी-कभी स्वीकृति प्राइवेट अंकेक्षक भी इस कार्य के लिये रखे जाते हैं।

(८) सभी सहकारी समितियों के लिये अपने लाभ के एक भाग को सुरक्षित कोष में जमा करना अविार्य होता है। जिन समितियों में अंश पूँजी नहीं होती है, वहाँ सारा का सारा लाभ सुरक्षित कोष में जमा किया जाता है। लाभों का एक भाग शिक्षा तथा परोपकारी कार्यों के लिये भी खर्च किया जा सकता है।

(९) सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार को यह अधिकार होता है कि वह ऐसी समितियों को बन्द कर दे जो अकुशल हैं, जिनका प्रबन्ध ईमानदार नहीं है अथवा जिन्हें घाटा होता रहता है।

राज्य और सहकारी साख आन्दोलन—

सरकार निम्न रीतियों से सहकरी साख आन्दोलन की सहायता करती है :—

(क) सहकारी समितियों को मुद्रांक करों, पञ्जीयन करों इत्यादि के सम्बन्ध में छूट दी गई है।

(ख) इन समितियों को सरकार बहुत ही कम ब्याज पर ऋण देती है। सहकारी बैंकों के लिये रिजर्व बैंक की ब्याज की दर केवल १½% है, जबकि अन्य बैंकों से ४% ब्याज लिया जाता है।

(ग) सरकार ऋणों में सहकारी समितियों को प्राथमिकता देती है और सहायता के लिए तैयार रहती है। साधारणतया रिजर्व बैंक ६० दिन से अधिक काल के लिए ऋण नहीं देती है, परन्तु कृषि बिलों पर १५ महीने के लिए ऋण दे देती है।

(घ) रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग का यह कर्त्तव्य है कि वह कृषि साख की सारी समस्याओं का अध्ययन करे और सहकारी बैंकों के बीच सम्पर्क स्थापित करे।

(ङ) बहुत सी राज्य सरकारें ग्राम-सुधार तथा सहकारी साख के विकास के लिए वार्षिक अनुदान देती हैं।

(च) सहकारी विभाग के अधिकारियों की सहायता से सरकार सहकारी समितियों के कार्यवाहन का निरीक्षण करती है, उनके लेखों का अंकेक्षण करती है तथा उन्हें आवश्यक सलाह देती है।

शीर्ष बैंक (Apex Bank)—

भारत में सभी खण्ड क के राज्यों में एक-एक शीर्ष बैंक थी और आसाम राज्य में इनकी संख्या २ थी। इस समय देश के सभी राज्यों में ऐसी बैंकों की संख्या १८ है, जिनकी प्रधान कार्यालयों सहित १५० के ऊपर शाखाएँ हैं। भारत में शीर्ष बैंक दो प्रकार की हैं अर्थात् अमिश्रित (Pure) तथा मिश्रित (Mixed)। प्रथम प्रकार की बैंकों के अंश केवल सहकारी बैंकों द्वारा ही खरीदे जा सकते हैं, परन्तु दूसरी प्रकार की बैंकों के अंश सहकारी समिति तथा निजी व्यक्ति दोनों ही को बेचे जाते हैं। केवल पश्चिमी बङ्गाल तथा पंजाब की शीर्ष बैंकें अमिश्रित हैं, अन्य सभी राज्यों में मिश्रित बैंक स्थापित की गई हैं। इस समय ऐसी कुल बैंकों के ४०% अंश निजी व्यक्तियों के पास हैं और ६०% अंश सहकारी समितियों तथा अन्य प्रकार की बैंकों के पास हैं। सन् १९५४-५५ में ऐसी बैंकों की संख्या २४ थी। सदस्यों की संख्या ११,१८८ व्यक्ति तथा २५,१०६ बैंक और समितियाँ थीं। अंश पूँजी और सुरक्षित कोष ३·२२ और ३·३१ करोड़ रुपये के थे। उपरोक्त वर्ष में इन संस्थाओं ने सहकारी बैंकों और समितियों को ४२·७८ करोड़ रुपयों के ऋण दिये थे और व्यक्तियों को ७·४६ करोड़ रुपये के। कुल कार्यवाहक पूँजी ४७·६३ करोड़ रुपया थी, इसमें १३·७% निजी धन ८०·६% जमा तथा २५·५% अन्य साधनों से प्राप्त ऋण थे।

स्थिति इस प्रकार दृष्टिगोचर होती है कि सन् १९५४-५५ में इन शीर्ष बैंकों का आधे से अधिक जमाधन विभिन्न व्यक्तियों की निक्षेपों से प्राप्त हुआ था और शेष (लगभग ४०%) बराबर-बराबर मात्राओं में सहकारी बैंकों और छोटी-छोटी समितियों से प्राप्त हुआ था। कुल

प्राप्त ऋणों का ३८% व्यापार बैंकों से मिला था और ६२% रिजर्व बैंक तथा सरकार से। दिये हुए कुल ऋणों का ८२% सहकारी बैंकों तथा समितियों को दिया गया था और शेष व्यक्तियों को। सन् १६५१-५२ के वर्ष में ३८·२ करोड़ रुपये के ऋण लौट आये थे और ४२·१ करोड़ रुपये के कुल ऋण दिये गये थे। शीर्ष बैंकों के बकाया ऋण इस वर्ष के अन्त में १७·६ करोड़ रुपये के थे।

केन्द्रीय सहकारी बैंक—

सन् १६५३-५४ में केन्द्रीय बैंकों की संख्या ४६६ थी और सदस्यता २,४७,६०५ किन्तु अगले वर्ष यह घटकर ४८५ रह गई यद्यपि सदस्यों की संख्या २,४७,६०५ से बढ़ कर २,७२,००० हो गई थी। सदस्यो में ५२% बैंक तथा सहकारी समितियाँ थी। कुल चालू पूँजी अर्थात् ७३·६८ करोड़ रुपये में से १७·७% निजी पूँजी, ६२·६% जमाधन तथा शेष अन्य प्रकार के ऋणों के रूप में थी। इन बैंकों का कार्य काफी गड़बड़ है और इनकी जमा पूँजी आवश्यकता से बहुत कम है। इन बैंकों के जमाधन का ६७% व्यक्तियों से और शेष सहकारी समितियों से प्राप्त हुआ था। कुल ऋणों में से सहकारी बैंकों, सरकार तथा रिजर्व बैंक और व्यापार बैंकों का हिस्सा क्रमशः ८१, ११ और ८ प्रतिशत था।

उपरोक्त वर्ष में इन बैंकों ने ६६·१७ करोड़ रुपये के ऋण दिये थे। वर्ष के अन्त में कुल बकाया ४२·८६ करोड़ रुपये की थी। केन्द्रीय सहकारी बैंकों का प्रमुख कार्य आरम्भिक सरकारी समितियों को अग्रिम प्रदान करना है।

कृषि और अ-कृषि साख समितियाँ—

भारत में सहकारी साख समितियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—अर्थात् कृषि सहकारी साख समितियाँ (Agricultural Credit Societies) और अ-कृषि सहकारी साख समितियाँ (Non-agricultural Credit Societies)। कृषि सहकारी समितियाँ ही देश के सहकारी साख संगठन का आधार हैं। ऐसी समितियों की संख्या सन् १६५४-५५ में १,४३,३२० थी और इनकी सदस्यता तथा कार्यवाहक पूँजी क्रमशः ६५,६५,४१६ तथा ६२·६३ करोड़ रुपया थी। ऐसी समितियों को पूँजी के लिए साधारणतया केन्द्रीय वित्त संस्थाओं पर निर्भर रहना पड़ता है। उपरोक्त वर्ष में ऋण, निजी पूँजी तथा जमा कुल कार्यवाहक पूँजी के क्रमशः ५३·३, ३८·१ और ८·६% थे। यह स्थिति बहुत अच्छी नहीं है, इसलिए बचतों और जमाधन को आकर्षित करने की आवश्यकता

बहुत है। निम्न तालिका में कृषि सहकारी साख समितियों की समस्त स्थिति दिखाई गई हैं :—

(रुपयों में)

	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५
औसत सदस्यता	४४	४६	४६	४६
औसत अंश पूँजी प्रति समिति	८२७	८८७	९०१	९२६
औसत अंश पूँजी प्रति सदस्य	१९	१९	२०	२०
औसत जमा प्रति समिति	४०८	३९६	३६३	३८०
औसत जमा प्रति सदस्य	९	९	८	८
औसत कार्यवाहक पूँजी प्रति समिति	४,१९०	४,४०६	४,२८६	४,३९१
औसत कार्यवाहक पूँजी प्रति-सदस्य	९५	९६	९३	९६

आरम्भ से ही सहकारी साख आन्दोलन का उद्देश्य किसानों को इतनी नीची ब्याज की दरों पर ऋण देना रहा है जितना कि वे दे सकते हैं, किन्तु इस दिशा में अभी सफलता कम ही मिली है। सहकारी समितियों की ब्याज की दर बराबर ऊँची ही रही है (१२ से २४% तक)। उन राज्यों में भी जहाँ सहकारी आन्दोलन उन्नत अवस्था में है, ब्याज की दरें ६·२५ और ९% के बीच रही हैं।

अ-कृषि सहकारी साख समितियों में मजदूरों और नौकरी पेशा लोगों की सहकारी साख समितियाँ तथा नागरिक सहकारी बैंक सम्मिलित होती हैं। सन् १९५४–५५ में ऐसी कुल समितियों की संख्या ९,३४८ थी। इनकी सदस्यता और कार्यवाहक पूँजी क्रमशः २८,४७,९४४ और ७८·३२ करोड़ रुपया थी। ऐसी समितियों का जमाधन कुल पूँजी का ६२·४% था। वर्ष विशेष में ऐसी समितियों ने ६२·१२ करोड़ रुपये के ऋण दिए थे।

रिजर्व बैंक तथा सहकारी साख-आन्दोलन—

यह तो निश्चय है कि बिना ग्रामीण साख के नियन्त्रण तथा उसकी व्यवस्था के रिजर्व बैंक अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो सकती है। रिजर्व बैंक के सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण सत्य सभी ने स्वीकार किया है। रिजर्व बैंक कृषि व्यवसायों के लिये लिखे गये बिलों को खरीद सकती है, बेच सकती है तथा उनको फिर से भुना सकती है, यदि ऐसे बिलों पर किसी अनुसूचित बैंक अथवा राज्य सहकारी बैंक के हस्ताक्षर होते हैं। कृषि बिलों को १५

महीने तक की परिपक्वता पर भी स्वीकार किया जाता है। सरकारी पत्रों तथा स्वीकृत ऋण-पत्रों पर रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों को ६० दिन तक के लिए ऋण भी दे सकती है, परन्तु इस कार्य के लिए सहकारी बैंक को समय-समय पर रिजर्व बैंक के पास विभिन्न प्रकार की रिपोर्टें भेजनी पड़ती हैं। नये संशोधित एक्ट के अनुसार रिजर्व बैंक कृषि साख में और भी सहायता देगी।

अप्रैल सन् १९३५ में ही रिजर्व बैंक ने एक कृषि साख विभाग स्थापित किया था, जो इस विषय से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों का अध्ययन करता है और आवश्यकता पड़ने पर सहकारी बैंकों को सलाह भी देता है। साधारणतया व्यवहार में सहकारी बैंकों तथा अन्य बैंकों के बीच रिजर्व बैंक किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करती है। उल्टी सहकारी बैंकों को प्राथमिकता दी जाती है। सन् १९५५ के संशोधक नियम ने सहकारी आन्दोलन के प्रोत्साहन के लिये दो अलग कोषों की स्थापना की व्यवस्था की है।

विगत वर्षों में राज्य सहकारी बैंकों को रिजर्व बैंक से मिलने वाली सहायता में बराबर वृद्धि हुई है। अल्पकालीन ऋणों के लिए सन् १९५६–५७ में १८ राज्य सहकारी बैंकों के लिए रिजर्व बैंक ने ऋण की अधिकतम् सीमा ३२·९४ करोड़ रुपया रखी थी जबकि सन् १९५५–५६ में १७ राज्य सहकारी बैंकों के लिए ऋण सीमा २८·७९ करोड़ रुपया थी। मध्यकालीन वित्त के निमित्त स्वीकृत राशि सन् १९५६–५७ में १५७ लाख रुपया थी जबकि गत वर्ष में यह केवल ९९·६७ करोड़ रुपया थी। सन् १९५५–५६ के वर्ष में रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष (National Agricultural Credit 'Long-term' Fund) स्थापित किया था, जिसमें आरम्भ में १० करोड़ रुपये जमा किए गए थे। जून सन् १९५६ में ५ करोड़ रुपया और भी दिया गया था। इस कोष का उद्देश्य यह है कि राज्य सरकारों को सहकारी संस्थाओं के अंश खरीदने के लिए दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन ऋण दिए जायें। मार्च सन् १९५७ के अन्त में इस कोष में से ११ राज्यों को २९८·२० लाख रुपये के ऋणों की मंजूरी दी गई थी। सन् १९५६–५७ में रिजर्व बैंक ने १ करोड़ रुपए की पूँजी से राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरता) कोष (National Agricultural Credit 'Stabilisation' Fund) भी स्थापित किया था। सहकारी आन्दोलन की प्रगति के क्षेत्र में अन्य महत्त्वपूर्ण घटना मार्च सन् १९५७ में केन्द्रीय गोदाम प्रमण्डल की स्थापना है।

सहकारी साख आन्दोलन के दोष—

सहकारी अन्दोलन के ५४ वर्ष के कार्यवाहन में कुछ ऐसे दोष दृष्टि-

गोचर हुए हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। अभी तक इस आन्दोलन ने ग्रामीण ऋणों की समस्या का एक छोर ही छुआ है, समितियों के बकाया ऋणों की मात्रा बहुत अधिक रहती है, लेखे समुचित रूप में नहीं होते हैं, नियन्त्रण तथा प्रबन्ध अकुशल है और अनुचित व्यवहारों की संख्या काफी अधिक है। उन सरकारी अधिकारियों के शिक्षण की अभी तक भी भारी कमी है जिनके संरक्षण में यह आन्दोलन चल रहा है। भारतीय सहकारी सारा आन्दोलन का एक गम्भीर दोष यह है कि यह लोगों पर ऊपर से थोपा गया है, उनके हृदय में स्वयं सहकारी प्रेरणा उत्पन्न नहीं हुई है और सरकारी हस्तक्षेप की अधिकता के कारण इस पर जनता का आवश्यक विश्वास नहीं जम पाया है। एक सहकारी समिति की सफलता कुछ विशेष शर्तों पर निर्भर होती है, जैसे—सदस्यों का समुचित निर्वाचन, पारस्परिक सहयोग, उच्च चरित्र, ईमानदारी, समुचित अंकेक्षण तथा निरीक्षण। व्यवहार में ये शर्तें शायद ही पूरी हो पाती हैं।

भारत में सहकारी समितियों के ब्याज की दर भी साधारणतया ऊँची रहती है। इसके कई कारण हैं :—प्रथम, सहकारी समितियाँ साधारणतया पर्याप्त स्थानीय निक्षेप जमा करने और जनता में बचत प्रवृत्ति को उत्पन्न करने में असफल रही हैं, जिसके कारण उन्हें अधिकतर ऋणों पर निर्भर रहना पड़ता है। दूसरे, मद्रास तथा बम्बई राज्यों को छोड़कर अन्य राज्यों में केन्द्रीय सहकारी बैंक साधारणतया छोटी संस्थाएँ होती हैं। इस कारण व्यवहार में यह होता है कि शीर्ष बैंक उससे अधिक दर पर ब्याज देती हैं जिस पर स्वयं उन्हें ऋण मिलता है, केन्द्रीय सहकारी बैंक ऋण देते समय दर को और बढ़ा देती है तथा तत्पश्चात् आरम्भिक समितियाँ उनमें और भी वृद्धि कर देती हैं। इस स्थिति को दूर करने के लिए रिजर्व बैंक ने चार सुझाव दिये हैं :–(१) केन्द्रीय सहकारी बैंकों की कुशलता को बढ़ाना, (२) ग्रामीण बचतों का एकत्रित करना, (३) केन्द्रीय बैंकों का संघीकरण तथा (४) राज्य सरकारों द्वारा अधिक वित्तीय सहायता।

सहकारी आन्दोलन के दोषों को दूर करने के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक के निम्न सुझाव विचारणीय हैं :—

(१) सहकारी समितियों को अपने सुरक्षित कोषों को बढ़ाना चाहिए।

(२) ऋणों के प्रदान करने में अधिक सावधानी बरतनी चाहिए।

(३) आरम्भिक सहकारी समितियों को बहुमुखी समितियों में परिवर्तित कर देना चाहिए, जिससे कि उनका वित्तीय आधार दृढ़ हो, उनकी लोकप्रियता बढ़े और वे किसान की अधिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।

(४) सहकारी आन्दोलन की कुशलता को बढ़ाने के लिए उनके कर्मचारियों के शिक्षण की व्यवस्था की जाय।

सहकारी साख आन्दोलन की सफलता और उसका सुधार—

कमियों के रहते हुये भी सहकारी आन्दोलन से निम्न फल प्राप्त हुए हैं :—

(क) इसने सभी दिशाओं में ब्याज की दरों को कम किया है।

(ख) इसने बचत तथा विनियोग प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया है।

(ग) इसने अनुत्पादक ऋणों की मात्रा को काफी कम कर दिया है।

(घ) इसने किसानों और कारीगरों के चरित्र को बलवान किया है, सहयोग की भावना को बढ़ाया है और उन्हें स्वतन्त्र दृष्टिकोण प्रदान किया है।

(ङ) इसने नगर के पूँजीपतियों तथा श्रमिकों में ग्रामीण क्षेत्रों के प्रति अधिक दिलचस्पी उत्पन्न की है।

सहकारी साख आन्दोलन के सुधार के सम्बन्ध में कुछ सुझाव ऊपर दिये जा चुके हैं, परन्तु कुछ और सिफारिशें नीचे दी जाती हैं :—

(१) बकाया ऋणों तथा दीर्घकालीन ऋणों को अल्पकालीन ऋणों से पृथक रखना चाहिए। किश्तों में शोधन लेकर बकाया ऋणों को वसूल करना चाहिए तथा वस्तुओं में नए ऋण देने चाहिए।

(२) यथासम्भव ऋण उत्पादक कार्यों के ही लिए होने चाहिए, परन्तु इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि नियम इतने कड़े न हों कि कृषक को साहूकार की शरण लेनी पड़े।

(३) केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी बैंकों का पुनर्सङ्गठन होना चाहिये और बड़ी-बड़ी बैंकों को ऐसी संस्थाओं में संगठित करना चाहिए जिनमें प्रबन्ध की कुशलता तथा कार्यवाहन की शीघ्रता हो।

(४) केन्द्रीय संस्थाओं में धीरे-धीरे निजी व्यक्तियों की सदस्यता समाप्त होनी चाहिए।

(५) भूमि सुधार हेतु एक ऐसी केन्द्रीय संस्था स्थापित की जाय जो दीर्घकालीन ऋण दे, भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्रों का अभिगोपन करे तथा उन्हें विशेष कार्यों के लिए ऋण दे।

(६) सहकारी बैंकों को विशेष सुविधाएँ प्रदान करने की दर साधारण दर से कम रखी जाय।

(७) सहकारी समितियों द्वारा डाकखानों में जमा किए जाने वाले

धन के जमा करने और निकालने के नियमों को ढीला किया जाय ।

(८) सहकारी समितियों तथा बैंकों को राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्रों के बेचने के लिए अभिकर्त्ता अधिकार दिये जायें।

पंचवर्षीय योजनाएँ और सहकारी साख—

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सहकारी साख की व्यवस्था को बढ़ाने के ठोस प्रयत्न किये गए हैं और कुछ अंश तक वे सफल भी हुए हैं। आजकल अधिक जोर बहुमुखी सहकारी समितियों की स्थापना पर दिया जा रहा है, जो कृषि साख के अतिरिक्त ग्रामीण जनता के सभी दिशाओं में उत्थान का प्रयत्न करेंगी। दूसरे पंचवर्षीय आयोजन में सहकारी आन्दोलन के विकास के लिये विशेष प्रयत्न किया गया है। यहाँ पर अखिल भारतीय कृषि साख अनुसन्धान समिति की सिफारिशों को पूरा करने की पूरी कोशिश की गई है। ऐसा पता लगाया गया है कि जिन क्षेत्रों में सहकारी आन्दोलन का विकास भी हुआ है वहाँ भी ३०-४०% से अधिक परिवार नियमबद्ध समिति की सदस्यता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि-कोण से तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया गया है :—

(१) सहकारी साख के विकास को सहकारी आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्था मात्र समझा जाय और फिर धीरे-धीरे आर्थिक जीवन की अन्य शाखाओं में उसे फैलाया जाय।

(२) प्रत्येक गाँव के हर एक परिवार को कम से कम एक सहकारी समिति का सदस्य होना चाहिए।

(३) सहकारी आन्दोलन के विकास का लक्ष्य प्रत्येक ग्रामीण परिवार की साख बढ़ाना होना चाहिए।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में रिजर्व बैंक की सहायता से सहकारी आन्दोलन का काफी विकास हुआ है। प्रथम योजना के अन्त में देश में १८ राज्य सहकारी बैंक, ४६६ केन्द्रीय बैंक और संघ, १,२६,६५४ आरम्भिक साख समितियाँ और ६ केन्द्रीय तथा २६१ अन्य भू-प्राधि बैंक थीं। आरम्भिक कृषि सहकारी साख समितियों की सदस्यता ५८ लाख थी। दूसरे पंचवर्षीय आयोजन में आन्दोलन का बहुत अधिक विकास होगा और देश की कम से कम २०% जनसंख्या किसी न किसी सहकारी समिति की सदस्य रहेगी।

सहकारी साख संगठन के विकास के लिए दूसरी पंचवर्षीय योजना के प्रमुख लक्ष्य निम्न प्रकार हैं :—

बड़े आकार की समितियों की संख्या	१०,४००
अल्पकालीन साख का लक्ष्य	१५० करोड़ रुपया
मध्यकालीन साख का लक्ष्य	५० ,, ,,
दीर्घकालीन साख का लक्ष्य	२५ ,, ,,

अध्याय ४१

भारत में भूमि-बन्धक बैंक

(The Land Mortgage Banks in India)

परिभाषा—

कृषकों की वित्तीय आवश्यकतायें तीन प्रकार की होती हैं। अपनी फसलों की बिक्री के लिये उन्हें अल्पकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है। फसल को बेचकर धन तुरन्त प्राप्त नहीं होता, जबकि लगान तथा अन्य प्रकार के कर तुरन्त ही चुकाये जाते हैं। बहुत बार ऐसा भी होता है कि जिस समय फसल तैयार होती हैं, उपज की कीमत नीची रहती है और किसान के लिये थोड़ी प्रतीक्षा करना लाभदायक होता है। ऐसी दशा में सहकारी समितियों तथा व्यापारिक बैंकों से अल्पकालीन ऋण लिये जाते हैं। मध्यकालीन ऋणों की आवश्यकता बीज, खाद आदि के लिए पड़ती है, जो साधारणतया सहकारी समितियों और साहूकारों से लिये जाते हैं। इन दोनों प्रकार के ऋणों के अतिरिक्त कृषकों को दीर्घकालीन ऋणों की भी आवश्यकता होती है। ऐसे ऋण भूमि में स्थाई सुधार करने के हेतु लिए जाते हैं, जैसे—कुएँ बनवाना, बैल खरीदना, ट्रैक्टर लेना तथा बंजर भूमि को खेती योग्य बनाना। ऐसे ऋणों का प्रमुख स्रोत ग्रामीण महाजन हैं, परन्तु विगत वर्षों में भूमि-बन्धक बैंक ऐसे ऋणों की व्यवस्था करने लगी है।

भूमि-बन्धक अथवा भू-प्राधि बैंकों से हमारा अभिप्राय ऐसी बैंकों से होता है जो भूमि की आड़ पर कृषकों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं। साधारणतया भारत में आधुनिक बैंक अचल सम्पत्ति की आड़ पर ऋण नहीं देती हैं। भूमि की आड़ पर ऋण देना तो और भी अनुपयुक्त समझा जाता है, क्योंकि उसके स्वामित्व का सही-सही पता लगा लेना अधिक कठिन होता है। इस प्रकार की जमानत स्वीकार करने से बैंकों के आदेयों की तरलता भी समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त भूमि की कीमत का सही-सही अनुमान केवल विशेषज्ञों द्वारा ही लगाया जा सकता है, जिनका रखना प्रत्येक बैंक के लिए सम्भव नहीं होता है। भूमि बन्धक बैंक अपना संगठन इस प्रकार बनाती हैं कि उन्हें भूमि की आड़ पर दीर्घकालीन ऋण देने में कठिनाई नहीं होती है।

भारत में भूमि-बन्धक बैंकों का महत्त्व—

यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि भारत में कृषक वित्त काफी मँहगा है। ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति ने पता लगाया है कि ग्रामीण क्षेत्रों में ब्याज की दर २०% से लेकर ७५% तक है। सवाया और ड्यौड़ा, जिसके अन्तर्गत कृषक को क्रमशः २५ तथा ५०% ब्याज देना पड़ता है, बहुत प्रचलित हैं। ऊँची ब्याज की दरों के अनेक कारण हैं। कृषक की साख नीची होती है, क्योंकि उसके पास कोई उपयुक्त प्रतिभूति नहीं होती है। साहूकार व्यक्तिगत प्रतिभूति पर ऋण देकर जोखिम उठाते हैं और इसी कारण अधिक ब्याज लेते हैं। कृषक की वित्तीय आवश्यकतायें भी महान् हैं। अपनी निर्धनता के कारण, दूषित सामाजिक रीति-रिवाजों के कारण और पहले से ही ऋणी होने के कारण कृषक को सदा ही ऋणों की आवश्यकता पड़ती रहती है। ग्रामीण क्षेत्रों में उन संस्थाओं की भी भारी कमी है जो दीर्घकालीन ऋणों को प्रदान कर सकें। सहकारी साख समितियों का विकास अभी बहुत पीछे है और ये समितियाँ दीर्घकालीन ऋणों को देने में संकोच करती हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् ऋण प्राप्ति के स्रोत और भी सूखते जा रहे हैं। इस दिशा में भूमि-बन्धक बैंकों का विकास ही एकमात्र सहारा हो सकता है।

साधारणतया भूमि-प्राधि बैंक ऋण प्रार्थियों तथा अन्य व्यक्तियों के ऐसे संघ होती हैं जो सदस्यों को पिछले ऋणों के चुकाने तथा भूमि सम्बन्धी सुधारों के लिए ऋण देते हैं। ऐसी बैंकों से भारत में निम्न लाभों की आशा की जाती है :—

(१) इनके द्वारा कृषक वर्ग का ऋण भार घट जायगा, जिससे उनकी दरिद्रता दूर हो जाने के कारण भविष्य में आय की वृद्धि की सम्भावना उत्पन्न हो जायगी।

(२) भारतीय कृषक को कृषि की सीमा का विस्तार करने का अवसर मिलेगा, जिसके फलस्वरूप देश में कृषि उपज की वृद्धि होगी।

(३) भूमि में स्थायी सुधार होने के कारण कृषि उत्पादन की प्रकृति पर निर्भरता कम हो जायगी, इससे कृषक का आर्थिक आधार दृढ़ होगा और उसकी आय की अस्थिरता कम हो जायगी।

(४) इन बैंकों की स्थापना से ग्रामीण क्षेत्रों में ब्याज की दर नीचे गिरेंगी।

(५) कृषकों के लिए समुचित प्रतिभूति देने की व्यवस्था हो जायगी, जिसका उनकी साख पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

(६) भूमि-बन्धक बैंक कृषकों की साहूकारों पर निभरता कम कर

देगी, जिसका सहकारी साख संगठन के विकास पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

(७) इन बैंकों की स्थापना से ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारता और सहयोग की नई जाग्रति उत्पन्न होगी, क्योंकि भारत में भूमि-बन्धक बैंक भी साधारणतया सहकारी आधार पर संगठित किये जा रहे हैं।

भूमि-बन्धक बैंकों के प्रकार—

भूमि-बन्धक बैंकों का संगठन कई प्रकार किया जा सकता है। कभी-कभी इन बैंकों को पूर्णतया सहकारी बैंक बनाया जाता है, परन्तु शुद्ध वाणिज्य आधार पर भी ऐसी बैंक खोली जाती हैं। ऐसी बैंकों के निम्न तीन रूप अधिक प्रचलित हैं:—

(१) **सहकारी भूमि-बन्धक बैंक**—इस प्रकार की बैंक शुद्ध सहकारी आधार पर स्थापित की जाती हैं। ऋण के इच्छुक व्यक्ति आपस में मिल कर एक संघ बनाते हैं। पूँजी प्राधि बाँध (Mortgage Bond) निकाल कर प्राप्त की जाती है, जिन पर ब्याज दिया जाता है और जो वाहक को शोधनीय होते हैं। इसके अतिरिक्त ऋणों के रूप में भी पूँजी प्राप्त की जा सकती है। ऐसी भू-प्राधि बैंकों की साधारणतया निजी पूँजी नहीं होती, सभी पूँजी बाँधों (Bonds) द्वारा प्राप्त की जाती है। ऐसी बैंकों का उदाहरण जर्मनी में मिलता है, जो ऋणी व्यक्तियों के सहकारी संघ के रूप में होती हैं। अमरीका में भी संघीय फार्म ऋण बैंक (Federal Farm Loans Banks) सहकारी आधार पर स्थापित की गई हैं।

(२) **वाणिज्यिक भू-प्राधि बैंक**—ऐसी बैंक शुद्ध वाणिज्यिक आधार पर कार्य करती है। सहकारी भू-प्राधि बैंक की निजी पूँजी नहीं होती। वह न तो लाभ कमाती है और न लाभांश घोषित करती है। वाणिज्यिक भू-प्राधि बैंकों के पास मिश्रित पूँजी बैंकों की भाँति निजी पूँजी होती है, वे लाभ के उद्देश्य से कार्य करती हैं और लाभांश भी घोषित करती हैं। इनकी एक-मात्र विशेषता कृषकों को भूमि की आड़ पर दीर्घकालीन ऋण देना होती है। व्यवहार में ऐसी बैंकों पर किसी न किसी अंश तक सरकारी नियन्त्रण रहता है। सरकार इस बात का प्रयत्न करती है कि अधिक लाभ कमाने के लिए ये ऊँची ब्याज न लें और अपने ऋण-पत्रधारियों के प्रति अनुचित व्यवहार न करें। भारत में इस प्रकार की भू-प्राधि बैंक नहीं हैं, परन्तु यूरोप के लगभग सभी देशों में मिश्रित पूँजी भू-प्राधि बैंक पाई जाती हैं। ऐसा अनुभव किया गया है कि ऐसी बैंक उन्हीं देशों में सफल होती है जहाँ अन्य प्रकार की बैंकिंग सेवाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं।

(३) अभास-सहकारी भू-प्राधि बैंक (Quasi-Co-operative Land Mortgage Banks)—इस प्रकार की भूमि-बन्धक बैंक प्रथम दो प्रकार की बैंकों का मिश्रित रूप हैं। ऐसी बैंक ऋण लेने वालों के संघ द्वारा स्थापित की जाती हैं। इनकी पूँजी अंशों की बिक्री, ऋण-पत्रों की निकासी तथा ऋणों द्वारा प्राप्त की जाती है। इन संस्थाओं में अंशधारियों को मतदान अधिकार होता है, यद्यपि मतदान शक्ति का अंशों की संख्या से सम्बन्ध नहीं होता। ये बैंक मिश्रित पूँजी कम्पनियों की भाँति सीमित उत्तरदायित्व के आधार पर कार्य करती हैं। भारत में इसी प्रकार की भू-प्राधि बैंकों का अधिक प्रचलन है। शुद्ध सहकारी भू-प्राधि बैंकों का विकास अभी कम हुआ है, यद्यपि सभी भू-प्राधि बैंकों में सहकारिता का अंश काफी रहता है।

ऐसी बैंक भी दो प्रकार की हो सकती हैं—शुद्ध और मिश्रित। शुद्ध बैंक वह होती है जिनके अंश केवल ऋण इच्छुक सदस्यों को बेचे जाते है, मिश्रित बैंकों में ऋणी के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी अंश खरीद सकते हैं। भारत में अधिकांश भू-प्राधि बैंक मिश्रित प्रकार की हैं। बहुधा इस बात पर जोर दिया जाता है कि बाहरी व्यक्तियों को भू-प्राधि बैंकों की सदस्यता नहीं मिलनी चाहिए, परन्तु पूँजी के अभाव के कारण हमारे देश में ऐसा करना उपयुक्त नहीं है।

भू-प्राधि बैंकों के कार्य—

भारत में भू-प्राधि बैंक केन्द्रीय बैंक और आरम्भिक बैंक के रूप में होती हैं। भू-प्राधि बैंक की प्रमुख इकाई आरम्भिक बैंक ही होती है। केन्द्रीय बैंक आरम्भिक बैंकों के संघ के रूप में होती है। एक आरम्भिक भू-प्राधि बैंक के कार्य निम्न प्रकार होते हैं :—

(१) अपने सदस्यों के आर्थिक हितों को उन्नत करना, जिसके लिए मुख्यतया अचल सम्पत्ति की प्राधि पर कुछ उद्देश्यों के लिए ऋण दिये जाते हैं, जैसे—(क) गिरवी रखी हुई भूमि और मकानों तथा पुराने ऋणों को चुकाने के लिए ऋण देना, (ख) कृषि की रीतियों में सुधार करने के लिए और भूमि सम्बन्धी सुधार के लिए ऋण देना, (ग) कृषि सम्बन्धी यन्त्रों के खरीदने के लिए ऋण देना, (घ) भूमि खरीदने, भूमि को कृषि योग्य बनाने तथा नई भूमि तोड़ने के लिए ऋण देना।

(२) सदस्यों में सहयोग और सहकारिता की भावना उत्पन्न करना और उनमें बचत और उससे सम्बन्धित गुणों का उत्पन्न करना।

(३) सदस्यों को भूमि और उसके उपयोग सम्बन्धी समस्याओं के लिए आवश्यक सलाह देना।

भारतीय भू-प्राधि बैंक अधिक से अधिक २० वर्ष के लिए ऋण देती हैं। इनके ऋण-पत्रों की परिपक्वता अवधि भी इससे अधिक नहीं होती है। अधिकांश राज्यों में भूमि की कीमत के ५० प्रतिशत तक ऋण दिये जाते हैं। कुछ राज्यों में लगान के तीस गुने तक ऋण देने का चलन है। ऋण देने से पहले आड़ में रखी जाने वाली भूमि के स्वामित्व तथा प्रार्थी की शोधनक्षमता की जाँच की जाती है। ब्याज की दर अलग-अलग राज्यों में ६ प्रतिशत से लेकर १० प्रतिशत तक रहती है।

अधिकाँश ऋण पुराने ऋणों को चुकाने के लिए दिये गये हैं। विगत वर्षों में राज्य सरकारों ने ऋण निवारण उपाय किये हैं। फलतः पुराने ऋणों का भार कम हुआ है और भू-प्राधि बैंक अधिक रचनात्मक उद्देश्यों के लिए ऋण देने लगी हैं। विभिन्न राज्यों के भू-प्राधि बैंकों के कार्यों और उनकी ऋण दान नीति में काफी अन्तर रहा है। अलग-अलग राज्यों में सरकारी संरक्षण का अंश भी अलग-अलग रहा है। मद्रास और बम्बई राज्यों में ऐसी बैंकों की उन्नति अधिक हुई है।

भारत में भू-प्राधि बैंकों का आरम्भ—

भारत में सबसे पहली इस प्रकार की बैंक सन् १९२० में पंजाब में खोली गई थी, जो कुछ समय पीछे फेल हो गई। तत्पश्चात् मद्रास में 'सैन्ट्रल लैण्ड मोर्टगेज बैंक' सन् १९१९ में स्थापित किया गया। इस बैंक के २·५ लाख रुपये की कीमत के आधे ऋण-पत्र मद्रास सरकार ने ले लिये थे, जिसने समस्त ऋण-पत्रों के निर्गम पर ६% ब्याज देने की भी जिम्मेदारी ली थी। यह बैंक प्रारम्भिक भू-प्राधि बैंकों की संघ के रूप में थी। सन् १९५० में मद्रास में प्रारम्भिक बैंकों की संख्या १२६ थी।

बम्बई में ऐसी बैंकों का संगठन सन् १९३५ में किया गया और निरीक्षण तथा सहायता के लिये उसी वर्ष बम्बई राज्य सहकारी भू-प्राधि बैंक स्थापित की गई। बम्बई सरकार ने ५० लाख रुपये की राशि तक बैंक द्वारा जारी हुए ऋण-पत्रों के मूलधन तथा ब्याज को चुकाने की गारन्टी दी। सन् १९५० में बम्बई में १९ प्रारम्भिक भू-प्राधि संस्थाएँ थीं। इसी प्रकार सन् १९५० में मैसूर में ७९ और मध्य-प्रदेश में ऐसी १४ संस्थाएँ थीं। अन्य राज्यों में सहकारी संस्थाओं के अभाव के कारण भू-प्राधि बैंकों का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है। उपरोक्त वर्ष में पश्चिमी बंगाल में २, उत्तर-प्रदेश में ६, आसाम में २ तथा अजमेर में १२ प्रारम्भिक भू-प्राधि बैंक थीं। इस प्रकार पूरे भारत में सन् १९५३-५४ में २९१ प्रारम्भिक भू-प्राधि बैंक तथा ९ केन्द्रीय भू-प्राधि बैंक थीं, इनमें से २११ मद्रास, आन्ध्र और मैसूर के तीन राज्यों में थीं। सन् १९५४-५५ में भी केन्द्रीय बैंकों

की संख्या ६ ही रही यद्यपि आरम्भिक बैंकों की संख्या बढ़ कर २६२ हो गई थी।

केन्द्रीय बैंकों की अधिकाँश पूँजी ऋण-पत्रों की निकासी से प्राप्त होती है, जिन पर राज्य सरकार की गारन्टी रहती है। सन् १६५३-५४ के अन्त में ११·४५ करोड़ रुपये के ऋण-पत्र चालू थे, जिनमें से केवल मद्रास और आन्ध्र केन्द्रीय भू-प्राधि बैंकों के ऋण-पत्र ७·२० करोड़ रुपये के थे। सन् १६५४-५५ के अन्त में १२·७१ करोड़ रुपये के ऋण-पत्र थे जिनका ६३% मद्रास और आन्ध्र में था। आरम्भिक बैंकों की संख्या जून सन् १६५५ के अन्त में २६२ थी, जिन्होंने १४५ लाख रुपये के ऋण उपरोक्त वर्ष में दिये थे। कृषकों के लिए ब्याज की दर ३¾ और ६¾ प्रतिशत के बीच थी। कुल २६२ आरम्भिक बैंकों में से २१२ आन्ध्र, मद्रास और मैसूर के तीन राज्य में केन्द्रित थीं।

जून सन् १६५५ के अन्त में भूमि-बन्धक बैंकों की सामान्य स्थिति निम्न प्रकार थी :—

	केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक	आरम्भिक भूमि-बन्धक बैंक
संख्या	६	२६२
सदस्यता	६५,८६३	२,६०,६३१
ऋणदान (रुपयों में)	२,४३,४८,५७६	१,४४,७८,६७३
कार्यवाहक पूँजी (,,)	१५,७८,८१,६८७	१०,४१,६७,४२२

स्थिति में सुधार के सुझाव—

सन् १६२६ के सहकारी रजिस्ट्रार सम्मेलन में भू-प्राधि बैंकों की समस्या पर विचार किया गया था। बाद को इन संस्थाओं का विकास इसी सम्मेलन द्वारा निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार हुआ है।

उपरोक्त सम्मेलन के प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) इन बैंकों का संगठन सहकारिता सम्बन्धी नियमों के अन्तर्गत हो और इनका कार्य-क्षेत्र इस प्रकार निश्चित किया जाय कि वह न तो आर्थिक दृष्टिकोण से अनुपयुक्त हो और न प्रबन्ध दृष्टिकोण से कठिन हो।

(२) भू-प्राधि बैंक किसानों को कुछ विशेष कार्यों के लिए ही ऋण दे सकती हैं, जो इस प्रकार हैं:—(अ) गिरवी रखी हुई भूमि अथवा मकान को छुड़ाने के लिए, (ब) भूमि तथा कृषि के साधनों में स्थायी सुधार करने के लिये, (स) पुराना ऋण चुकाने

के लिए और (द) भूमि खरीदने के लिए। प्रत्येक बैंक के लिए यह आवश्यक है कि वह यह स्पष्ट कर दे कि प्रत्येक प्रकार के ऋण की न्यूनतम् और अधिकतम् सीमाएँ क्या होंगी? सम्मेलन ने सुझाव दिया है कि ऋण की राशि सम्पत्ति की कीमत के आधे से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(३) ऋण के चुकाने की अवधि निश्चित् करने में बैंक को ऋण के उद्देश्य तथा ऋणी की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखना चाहिए। अनुत्पादक कार्यों के लिए साधारणतया ऋण नहीं देने चाहिए।

(४) सरकार को ऋण-पत्रों के मूलधन और ब्याज के चुकाने की गारन्टी देनी चाहिए। आरम्भ में सरकार उन्हें आर्थिक सहायता दे, मुद्रांक करों में छूट दे तथा प्राधि के सम्बन्ध में कुछ विशेष सुविधायें दे।

सन् १९५२ में भारत में कुल ५ केन्द्रीय भू-प्राधि बैंक थीं, जिनकी सदस्यता २८६ आरम्भिक बैंकों तक फैली हुई थी। सन् १९५०-५१ में स्थिति निम्न प्रकार थीः—

राज्य	केन्द्रीय बैंक	केन्द्रीय बैंक की सदस्यता		आरम्भिक बैंक	सदस्यता
		व्यक्ति	बैंक		
मद्रास	१	५६६	१२६	१२६	१,५१,४५६
बम्बई	१	६४६	११८	१६	२०,००६
पश्चिमी बङ्गाल	—	—	—	३	१,६६४
उड़ीसा	१	४,३३६	१०	—	—
मैसूर	१	२१३	१४१	७६	२७,२७४
त्रिवांकुर-कोचिन	१	३,६८६	—	—	—
उत्तर-प्रदेश	—	—	—	६	६४८
मध्य-प्रदेश	—	—	—	२५	११,७५०
आसाम	—	—	—	२	२५४
राजस्थान	—	—	—	१०	२६६
मध्य-भारत	—	—	—	१	६२
अजमेर	—	—	—	१२	१,३७४
	५	६,४५०	३९८	२८६	२,१५,०६३

भूमि-बन्धक बैंकों की पूँजी का ब्यौरा निम्न तालिका में दिया जाता हैः—

(लाख रुपयों में)

पूँजी के सूत्र	केन्द्रीय बैंकों की पूँजी	आरम्भिक बैंकों की पूँजी
अंश पूँजी	३१·३०	५२·५०
ऋण पत्रों द्वारा	६७४·०६	८·५६
सरकारी-ऋण	१८·६६	६·५१
केन्द्रीय भू-प्राधि बैंक के ऋण	—	५६६·६८
जमाधन	०·६७	५·४३
सुरक्षित कोष	२३·३५	११·६५
अन्य कोष	१०·१४	४·५०
ऋण	१२·८५	६·८०
चालू पूँजी	७७२·०६	६६५·७३
व्यक्तियों के ऋण	—	१२६·०२
बैंकों के ऋण	१३२·६३	—

बिना सरकारी सहायता के भू-प्राधि बैंकों की सफलता सम्भव नहीं है। ऐसी सहायता ऋण-पत्रों की गारन्टी, कुछ अंश तक ऋण-पत्रों को खरीद कर, करों में विशेष रियायत देकर तथा आरम्भ में सहायक अनुदानों द्वारा दी जा सकती है।

भू-प्राधि बैंकों की समस्यायें—

भू-प्राधि बैंकों की सफलता एक बड़े अंश तक इस बात पर निर्भर होती है कि प्रतिभूति के रूप में प्रस्तुत की गई भूमि की कीमत का सही अनुमान लगाया जा सके और ऋण की वार्षिक किस्तें ठीक समय पर मिलती रहें। अपनी एक वार्षिक रिपोर्ट में रिजर्व बैंक ने यह बताया था कि भारत में भू-प्राधि बैंक भूमि में स्थायी सुधार की अपेक्षा पुराने ऋणों के निस्तारण का ही कार्य अधिक करती हैं। कोषों के प्राप्त करने तथा ऋण-पत्रों के निस्तारण की रीतियाँ भी दोषपूर्ण हैं। केवल उन्हीं राज्यों में इन बैंकों ने पर्याप्त कोष एकत्रित किए हैं जहाँ की सरकारों ने इनके ऋणों की गारन्टी दी है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में ऐसी बैंकों का महत्त्व निस्सन्देह महान् है, परन्तु यह समझना भूल होगी कि ग्रामीण वित्त की सभी कठिनाइयाँ इनके द्वारा दूर हो जायेंगी।

भू-प्राधि बैंकों के मार्च सन् १९५४ के सम्मेलन में यह बताया गया था कि इन बैंकों के पास धन की कमी है; ऋण देने में देर होती है, ब्याज की दर ऊँची होती है और उनकी वसूली में कठिनाई होती है। भारतीय भू-प्राधि बैंकों की ७·७२ करोड़ रुपये की पूँजी में से ६·७५ करोड़ रुपया

केवल ऋण-पत्रों से प्राप्त होता है। कार्य-विधि के सुधार के लिए तीन सुझाव दिये जा सकते हैं—(१) प्रथम ऋण के पश्चात् प्रत्येक अगले ऋण के लिए ब्याज की दर अधिक रखी जाय, (२) ऋण थोड़े समय के लिए दिए जायें, जिससे थोड़े कोषों द्वारा अधिक ऋण दिये जा सकें और (३) ऋणों के उपयोग से प्राप्त आय केवल ऋणों के भुगतान के ही लिए उपयोग की जाय। स्मरण रहे कि भू-प्राधि बैंक सारे कृषि ऋणों को अपने ऊपर तो नहीं ले सकती हैं, परन्तु ब्याज की दरों को गिराकर तथा किश्तों में शोधन की व्यवस्था करके वे ऋणों के भार को अवश्य घटा सकती हैं। दूसरे पंच-वर्षीय आयोजन में भारत सरकार ने इनके सम्बन्ध में अखिल भारतीय ग्राम्य साख अनुसन्धान समिति की सिफारिशों को पूरा करने की नीति अपनाई है। योजनाकाल में सहकारी आधार पर इनके भारी विकास की आशा की जाती है।

अध्याय ४२

भारत में औद्योगिक वित्त

(Industrial Finance in India)

औद्योगिक पूँजी के साधन—

औद्योगिक कम्पनियों को दो प्रकार के कोषों की आवश्यकता पड़ती है। दिन प्रति दिन का कार्य चलाने के लिए उन्हें अल्पकालीन ऋणों की आवश्यकता होती है, जैसे—कच्चा माल खरीदने के लिए, मजदूरी चुकाने के लिए और तैयार माल की बिक्री करने के लिए, परन्तु इन कम्पनियों को मशीनों तथा स्थिर आदेयों के खरीदने के लिए दीर्घकालीन ऋणों की भी आवश्यकता होती है। इन दोनों प्रकार की पूँजी के प्रमुख साधन निम्न प्रकार हैं :—

(१) कार्यवाहक अथवा अल्पकालीन पूँजी—यदि कोई कम्पनी ऐसा अनुभव करती है कि दिन प्रति-दिन का कार्य चलाने के लिए भी उसकी अंश पूँजी अपर्याप्त है तो वह अल्पकालीन कोषों को उधार लेती है, जिसके तीन साधन हैं :—(अ) कम्पनी के गोदामों और कारखानों के भीतर रखे हुए माल की आड़ पर व्यापारिक बैंक थोड़े समय के लिए ऋण दे देती

हैं, (ब) मैनेजिंग एजेन्टों (प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं) से ऋणों और अग्रिमों की प्राप्ति और (स) जनसाधारण से प्राप्त निक्षेप की राशि। कुछ उद्योगों में यह प्रथा है कि जनता से निक्षेपों को स्वीकार किया जाता है। बम्बई की सूती कपड़े की मिलों में इसका रिवाज बहुत है, परन्तु यह व्यवस्था बहुधा उद्योग के लिए घातक होती है। संकट अथवा मन्दी के काल में निक्षेपदाता अपने धन को निकालने लगते हैं और इस प्रकार कम्पनी की बिगड़ती हुई स्थिति को और भी खराब कर देते हैं।

(२) **स्थिर पूँजी** (Fixed Capital)—काफी समय से चालू उद्योग मशीनों, स्थिर यन्त्रों तथा अन्य प्रकार के स्थिर पूँजीगत माल के खरीदने के लिए दीर्घकालीन ऋणों को प्राप्त करते रहे हैं। बहुत बार पुरानी मशीनों को बदलने अथवा उद्योग विस्तार हेतु नये यन्त्र खरीदने के लिए भी दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। सम्पन्न उद्योग दीर्घकालीन वित्त की पूर्ति या तो अपने जमा किये हुए सुरक्षित कोषों में से करते हैं या ऋण-पत्रों की निकासी द्वारा धन प्राप्त करते हैं। नये उद्योगों तथा ऐसे उद्योगों को जिनकी साख नहीं बन पाई है, यह सुविधा प्राप्त नहीं होती है। देश में औद्योगिक बैंकों तथा अभिगोपन गृहों (Underwriting Houses) की कमी के कारण उन्हें विशेष कठिनाई होती है। व्यापारिक बैंक दीर्घकालीन ऋण नहीं देती हैं, वे अचल सम्पत्ति अथवा प्राधियों की प्रतिभूति पर ऋण नहीं देती हैं। स्टेट बैंक तथा विनिमय बैंक भी साधारणतया ऐसे ऋणों में व्यवसाय नहीं करती हैं। विदेशों में बीमा कम्पनियाँ अपने आदेयों का एक काफी बड़ा भाग उद्योगों में लगाती हैं, परन्तु भारत में इसका भी चलन नहीं है। इस प्रकार भारतीय उद्योगों को दीर्घकालीन वित्त के सम्बन्ध में भारी कठिनाई होती है। ऐसे वित्त के प्रमुख साधन निम्न प्रकार हैं :—

(अ) **देशी बैंकर, साहूकार तथा व्यक्तिगत ऋणदाता फर्में**—ये दीर्घकालीन वित्त का महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं, परन्तु ये बहुत संतोषजनक नहीं हैं, क्योंकि इनके ऋणों पर ब्याज की दर काफी ऊँची होती है।

(ब) **राजकीय ऋण**—यह दीर्घकालीन वित्त का दूसरा साधन है। बहुत सी राज्य सरकारें नियमानुसार छोटे-छोटे उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं। औद्योगिक कम्पनियों के दृष्टिकोण से सरकारी ऋण बहुत सुविधाजनक नहीं होते हैं, क्योंकि इनके मिलने में बहुधा विलम्ब होता है और ऋण लेने वाली कम्पनियों को कई दफ्तरों और सूत्रों में से प्रार्थना-पत्र भेजने पड़ते हैं। वैसे भी ऐसे ऋण एक निश्चित अंश तक ही प्राप्त होते हैं। इस कारण ऋणों का यह साधन बहुत लोकप्रिय नहीं है। साथ ही साथ, सरकारी ऋण साधारणतया छोटे अथवा मध्यम श्रेणी के उद्योगों को ही दिये जाते हैं।

कम्पनियों, विनियोग ट्रस्ट तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा देने की व्यवस्था की गई है और शेष २५% व्यक्तियों द्वारा। ऐसे प्रमण्डल एक उद्योग को अधिक से अधिक १० लाख रुपये का ऋण दे सकते हैं। कुछ राज्यों ने ऐसे प्रमण्डल स्थापित कर लिए हैं और शेष केन्द्रीय सरकार के आदेश की प्रतीक्षा में हैं। पंजाब, मध्य-प्रदेश तथा उत्तर-प्रदेश राज्यों के वित्तीय प्रमण्डल की प्रगति के आँकड़े प्राप्त हुए हैं। शेष की स्थिति का अभी पता नहीं है। इनसे छोटे तथा मध्यम-श्रेणी के कारखानों को सहायता मिलेगी। ३० जून सन् १९५६ को समाप्त होने वाले वर्ष के अन्त में देश में कुल राज्य वित्त प्रमण्डलों की संख्या १३ हो गई थी और अगले वर्ष में भी उनकी संख्या १३ ही रही है।

केन्द्रीय और राज्य वित्त प्रमण्डलों के कार्य-क्षेत्रों को एक दूसरे से बिल्कुल अलग कर दिया गया है। यह तय किया गया है कि १० लाख रुपये तक के ऋणों के प्रार्थना-पत्र अथवा राज्य प्रमण्डल की परिदत्त पूँजी के १०% तक के ऋणों के प्रार्थना-पत्र राज्य वित्त प्रमण्डल के पास जाने चाहिए।

राज्य वित्त प्रमण्डल (संशोधन) अधिनियम, सन् १९५६ द्वारा, जो १ अक्टूबर सन् १९५६ से लागू किया गया है, ऐसे प्रमण्डलों के सम्बन्ध में निम्न व्यवस्थाएँ की गई हैं :—(१) दो या अधिक राज्य मिलकर सम्मिलित वित्त प्रमण्डल बना सकते हैं। (२) ये प्रमण्डल केन्द्रीय और राज्य सरकारों तथा औद्योगिक वित्त प्रमण्डल के अभिकर्त्ता का कार्य कर सकते हैं। (३) प्रमण्डल अब किसी उद्योग को राज्य सरकार, अनुसूचित बैंक अथवा राज्य सहकारी बैंक की जमानत पर ऋण दे सकते हैं। (४) प्रमण्डल सरकारी हुन्डियों की आड़ पर रिजर्व बैंक से अल्पकालीन ऋण ले सकते हैं और (५) रिजर्व बैंक को प्रमण्डलों के निरीक्षण का अधिकार दे दिया गया है।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम लि० (The National Industrial Development Corporation Ltd.)—

औद्योगिक वित्त निगम के अतिरिक्त दो और निगम देश के औद्योगिक विकास के लिए स्थापित किये गये हैं। इनमें से राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की स्थापना अक्टूबर सन् १९५४ में १ करोड़ रुपए की पूँजी से की गई है। कम्पनी को एक प्राईवेट लिमिटेड कम्पनी बनाया गया है, यद्यपि सारी अंश पूँजी सरकार द्वारा दी गई है। निगम को पूँजी बढ़ाने के लिये अंशों और ऋण-पत्रों की निकासी का अधिकार दिया गया है। निगम को केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, बैंकिंग कम्पनियों तथा व्यक्तियों से ऋण और जमा प्राप्त करने का भी अधिकार दिया गया है। निगम की स्थापना

का प्रमुख उद्देश्य लोक और निजी क्षेत्रों में संतुलित औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देना, नई औद्योगिक योजनाओं की जाँच करना तथा उनका संचालन करना और औद्योगिक विकास की कमियों को दूर करना है। निगम के कार्यों का उल्लेख निम्न प्रकार है :—

(१) सरकारी उद्योगों, कम्पनियों, फर्मों और व्यक्तियों को पूँजी, साख और यन्त्रों सम्बन्धी सहायता देना।

(२) उद्योगों को ऋण देना।

(३) उद्योगों के अंशों और ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना और उनकी गारन्टी लेना तथा उन्हें दक्ष और विशेषज्ञीय सेवाएँ प्रदान करना।

(४) औद्योगिक विकास हेतु नये उद्योगों को सहायता देना।

(५) व्यापारिक संस्थाओं में साझेदारी के रूप में शामिल होना।

(६) सम्बन्धित उद्योगों के लिए संचालकों और सलाहकारों को नियुक्त करना।

(७) औद्योगिक विकास के लिए अपनी ओर से नई योजना चालू करना।

निगम के लिए वित्तीय प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार ऋणों और अनुदानों द्वारा करती है। सन् १९५६-५७ के बजट में इसके लिए १.४९ करोड़ रुपये और सन् १९५७-५८ के बजट में ४.५० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी। मार्च सन् १९५७ तक निगम ने ६ सूती कपड़ा मिलों को लगभग १.९५ करोड़ रुपये के ऋण दिये थे। इसके अतिरिक्त २ जूट की मिलों को ५५ लाख रुपये के ऋण दिये गये थे। निगम के ऋणों पर ब्याज की दर ४.५% रखी गई है और वे १२ किश्तों में शोधनीय हैं।

भारतीय औद्योगिक साख और विनियोग निगम लि० (Industrial Credit and Investment Corporation of India Ltd.)—

इस निगम ने मार्च सन् १९५५ से अपना कार्य आरम्भ किया है। निगम की स्थापना भारतीय कम्पनी विधान के अन्तर्गत की गई है और उद्देश्य निजी क्षेत्र के उद्योगों को सहायता देना है। निगम के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं :—

प्रथम, औद्योगिक इकाइयों को मध्यकालीन और दीर्घकालीन ऋण देना।

दूसरे, नई कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों का अभिगोपन।

तीसरे, ऋणों को आकर्षित करने के लिए निजी क्षेत्रों से आये हुए ऋणों की फिर से गारन्टी लेना।

चौथे, भारतीय कम्पनियों को प्रबन्ध के बारे में तान्त्रिक सलाह देना।

पाँचवे, उद्योगों के विकास और नये आविष्कारों की व्यवस्था करना।
छठवें, नये व्यवसायों तथा विनियोगों को प्रोत्साहन देना।

निगम की कुल पूँजी २५ करोड़ रुपया रखी गई है, जिसे १००-१०० रुपये के अंशों में बाँटा गया है। अभी तक केवल ५ करोड़ रुपये की पूँजी की निकासी की गई है, जिसमें से २ करोड़ रुपया भारतीय बीमा कम्पनियों, ५० लाख रुपया अमरीका की वित्त निगम, १ करोड़ रुपया इंगलैंड की बीमा कम्पनियों और १½ करोड़ रुपया जनता द्वारा दिया गया है। कम्पनी के अंशों के हस्तांतरण पर सरकारी नियन्त्रण है। सरकार निगम को ७·५ करोड़ रुपये का ब्याज रहित अग्रिम देगी, जिसका भुगतान स्थापना के १५ वर्ष पीछे १५ किश्तों में किया जायगा। विश्व बैंक ने निगम को लगभग १ करोड़ रुपये की कीमत का डालर में विदेशी मुद्रा ऋण प्रदान किया है। निगम ने ५ करोड़ रुपया अंशों की विक्री द्वारा और ७·५ करोड़ रुपया सरकार से प्राप्त कर लिया है।

सन् १६५६ के अन्त तक निगम ने १५ प्रार्थियों के ६·०१ करोड़ रुपये के ऋणों की स्वीकृति दी थी। इसमें से २·६५ करोड़ रुपये ऋण के रूप में थे, २·३८ करोड़ रुपये अभिगोपन (Underwriting) के रूप में और ६८ लाख रुपया अंशों के चन्दों के रूप में। २·६५ करोड़ रुपये के स्वीकृत ऋण में से वास्तव में सन् १६५६ के अन्त तक केवल ·५४ लाख रुपये दिये गये थे।

राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम लि० (National Small Industries Corporation Ltd.)—

इस निगम की स्थापना भारत सरकार ने फरवरी सन् १६५५ में की है। उद्देश्य यह है कि छोटे उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन, संरक्षण और सहायता प्रदान की जा सके। निगम केवल ऐसे उद्योगों को सहायता दे सकता है जिनमें यदि विद्युत शक्ति का उपयोग नहीं होता है तो श्रमिकों की संख्या १०० से कम हो, यदि विद्युत शक्ति का उपयोग होता है तो श्रमिकों की संख्या ५० से कम हो और जिनकी पूँजी ५ लाख रुपये से अधिक न हो। कम्पनी को एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी के रूप में १० लाख रुपये की पूँजी से आरम्भ किया गया है। पूँजी को १००-१०० रुपयों के अंशों में बाँटा गया है।

इस निगम द्वारा छोटे उद्योगों के विकास में सहायता मिलेगी, जिससे कि उपभोगीय वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाया जा सके। प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) छोटे उद्योगों के लिए माल सप्लाई के सरकारी आदेश प्राप्त करना।

(२) जिन उद्योगों को सरकारी आदेश मिलते हैं उनके लिए आर्थिक और शैल्पिक सहायता प्रदान करना, ताकि वे इन आदेशों को पूरा करने के लिए आवश्यक माल तैयार कर सकें।

(३) छोटे और बड़े उद्योगों के बीच समन्वय और सम्बन्ध स्थापित करना, ताकि दोनों एक दूसरे के विकास में सहायक हो सकें।

औद्योगिक वित्त में सुधार के सुझाव—

भारत में ऐसी उपयुक्त संस्थाओं की भारी कमी है जो औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करती हों। देश में व्यापार बैंकों की ही प्रधानता है, जो उद्योगों की अपेक्षा व्यापार को अल्पकालीन ऋण देना अधिक उपयुक्त समझती हैं। औद्योगिक वित्त की उन्नति के लिए निम्न प्रकार के सुझाव दिये जा सकते हैं :—

(१) भारत में अभिगोपन-गृहों तथा निर्गम-गृहों का विकास होना चाहिये। केन्द्रीय तथा राज्य औद्योगिक वित्तीय प्रमण्डलों को यह कार्य शीघ्रतापूर्वक अपने हाथ में ले लेना चाहिए।

(२) बहुत सी औद्योगिक बैंकों की स्थापना से यह कमी काफी अंश तक पूरी हो सकती है। इस समय वे बहुत से कारण शेष नहीं रहे हैं जिन्होंने भूतकाल में ऐसी बैंकों को सफलता नहीं मिलने दी थी। इसके अतिरिक्त ऐसी संस्थाओं को सरकार आरम्भ में सुविधाएँ तथा उपयुक्त सहायता देकर प्रोत्साहित कर सकती है।

(३) यूरोप के देशों की भाँति भारत में भी औद्योगिक प्राधि बैंक (Industrial Mortgage Banks) खोली जा सकती हैं, जिनका ठीक वही आधार होगा जो भू-प्राधि बैंकों का है।

(४) विनियोग ट्रस्टों की स्थापना द्वारा लोगों में विनियोगों के प्रति दिलचस्पी उत्पन्न करना आवश्यक है, परन्तु साथ ही साथ उपयुक्त संस्थाओं की सहायता से बचत के एकत्रित करने तथा बढ़ाने का भी कार्य बढ़ाना चाहिए।

(५) औद्योगिक कम्पनियों द्वारा माल खरीदने और बेचने के लिये सरकारी प्रेरणा पर सरकारी विक्री संगठनों का निर्माण होना चाहिये।

(६) व्यापारिक बैंकों के व्यवहार में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। उन्हें उद्योगों की जरूरत की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। यह भी विचारणीय है कि जर्मन प्रणाली के आधार पर भारत की व्यापार बैंकों को वर्तमान कार्य के अतिरिक्त

औद्योगिक बैंकों के कार्य के लिए संगठित करना कहाँ तक उपयुक्त होगा।

(७) भारतीय बैंकों को उपयुक्त दशाओं में व्यक्तिगत प्रतिभूतियों पर बिना प्रतिभूति अग्रिम (Clean Advances) देने पर भी तैयार रहना चाहिए, परन्तु इसमें भारी सावधानी की आवश्यकता है।

(८) औद्योगिक वित्त प्रमण्डलों के कार्यवाहन का विस्तार होना चाहिए और उनकी कार्य-प्रणाली में ऐसे सुधार होने चाहिए कि औद्योगिक वित्त की आवश्यकता अधिक अंश तक पूरी हो सके।

(९) विदेशी पूँजी का समुचित व्यवस्थाओं के अन्तर्गत आयात करना तो आवश्यक है, परन्तु इस सम्बन्ध में भारत को केवल अमरीका पर निर्भर रहना ठीक न होगा। जहाँ कहीं से भी उचित शर्तों पर आवश्यक पूँजी मिलती हो, उसका स्वागत करना चाहिए।

आर्थिक नियोजन और औद्योगिक वित्त—

प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना में औद्योगिक विकास पर १७९ करोड़ रुपये के व्यय की योजना सार्वजनिक क्षेत्र के लिए बनाई गई थी। दूसरे आयोजन में ८९१ करोड़ रुपये के व्यय का प्रस्ताव रखा गया है। औद्योगिक वित्त के क्षेत्र में प्रथम योजना के काल में चार महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं :—(१) औद्योगिक वित्त प्रमण्डल के संचालन में सुधार, (२) राज्य वित्त प्रमण्डलों की स्थापना, (३) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास प्रमण्डल (National Industrial Development Corporation) का निर्माण और (४) औद्योगिक साख और विनियोग प्रमण्डल (Industrial Credit and Investment Corporation) की स्थापना। दूसरे आयोजन के काल में इन संस्थाओं से पर्याप्त फल प्राप्त होने की आशा है।

प्रथम पञ्च-वर्षीय योजना में औद्योगिक विकास के लिए लोक क्षेत्र में १७९ करोड़ रुपए और निजी क्षेत्र में ४६३ करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था थी। वास्तविक व्यय अनुमान से कम रहा है और निजी क्षेत्र का विनियोग केवल ३४० करोड़ रुपये का रहा है। दूसरी योजना में औद्योगिक विकास पर लोक क्षेत्र में ८९० और निजी क्षेत्र में २,४०० करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था है। इसमें से वित्तीय साधनों से निजी क्षेत्र के लिए ६२० करोड़ रुपया मिलने का अनुमान लगाया गया है। वित्तीय साधनों का ब्यौरा निम्न प्रकार है :—

(करोड़ रुपयों में)

(१) औद्योगिक वित्त प्रमण्डल, राज्य वित्त प्रमण्डलों तथा औद्योगिक साख और विनियोग प्रमण्डल से ऋण	४०
(२) प्रत्यक्ष ऋण, परोक्ष ऋण और साझेदारी के रूप में मिलने वाले ऋण	२०
(३) विदेशी पूँजी	१००
(४) नई निकासी	८०
(५) विनियोग के लिए प्राप्त आन्तरिक साधन	३००
(६) अन्य साधन, जैसे—मैनेजिंग एजेन्टों से ऋण, अतिरिक्त लाभ कर की वापिसी, इत्यादि	८०
कुल	६२०

सर्राफ समिति के सुझाव—

सन् १९५३ में रिजर्व बैंक ने निजी क्षेत्रों के उद्योगों के वित्तीय साधनों में वृद्धि के सुझाव देने के लिए श्री सर्राफ की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की थी, जिसकी रिपोर्ट जून सन् १९५४ में प्रकाशित हुई थी। समिति ने पता लगाया है कि औद्योगिक वित्त के साधन अभी भी अपर्याप्त हैं। बड़े उद्योगों और पुराने उद्योगों को नवीनीकरण के लिए आवश्यक पूँजी नहीं मिल रही है और मध्य श्रेणी तथा छोटे उद्योगों के पास पूँजी की भारी कमी है। समिति ने इस सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की हैं। प्रमुख सुझाव निम्न प्रकार हैं :—

(१) सरकार को समुचित वातावरण उत्पन्न करना चाहिए। उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को अभी स्थगित रखा जाय और श्रमिकों का पारितोषण उनकी उत्पादन शक्ति के अनुसार रखा जाय।

(२) निजी क्षेत्र के विकास के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय बचत का एक भाग मुद्रा और पूँजी बाजार में जाता रहे। सरकार को नियोजन हेतु सारी बचत संग्रह करने की नीति छोड़ देनी चाहिए।

(३) अनुसूचित बैंक उद्योगों को जो अल्पकालीन और दीर्घकालीन सहायता देती हैं उसे बढ़ाने की आवश्यकता है। इसके लिए समिति ने तीन सुझाव दिये हैं—बैंकों को औद्योगिक कम्पनियों के अंशों और ऋण-पत्रों में विनियोग करने के लिए प्रोत्साहन, ऐसे अंशों और ऋण-पत्रों पर अग्रिम प्रदान करने की आज्ञा और बैंकों को औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्त निगमों के अंशों और बाँधों को खरीदने के लिए प्रोत्साहन।

(४) समिति ने सुझाव दिया था कि नये उद्योगों के अंशों का

अभिगोपन करने के लिए स्टेट बैंक और बीमा कम्पनियों का एक संघ बनाया जाय ।

(५) रिजर्व बैंक की बिल बाजार योजना के अन्तर्गत ऐसी सभी सदस्य बैंकों को सहायता मिलनी चाहिए जिनकी जमाएँ १ करोड़ रुपये से अधिक हैं।

"(६) जमाधारियों के हितों की रक्षा के लिए देश में जमा बीमा प्रमण्डल खोला जाय।

(७) एक अखिल भारतीय बैंकिंग संघ खोला जाय।

(८) औद्योगिक वित्त प्रमण्डल और राज्य वित्त प्रमण्डल के कार्यों का विस्तार किया जाय और उन्हें ऋण-पत्रों के आधार पर भी ऋण देना चाहिए।

(९) औद्योगिक विकास को बढ़ाने के लिये सरकार और उद्योग-पतियों के सहयोग द्वारा एक औद्योगिक विकास प्रमण्डल खोला जाय।

(१०) बीमा कम्पनी विधान में ऐसा संशोधन किया जाय जिससे वे ५०% के स्थान पर ४५% ही सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग करने के लिए बाध्य हों।

(११) प्रत्येक कस्बे और बड़े गाँव में कम से कम एक बैंकिंग कार्यालय अवश्य रखा जाय, जिसके लिए रिजर्व बैंक ऐसे स्थानों में कार्यालय स्थापित करने वाली बैंकों को सहायता दे।

(१२) ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाएँ बढ़ाने के लिए चल-बैंकें (Mobile Banks) स्थापित की जायँ।

(१३) ऋणों की निकासी के लिए केन्द्रीय और राज्य सरकारों को ऐसा समय चुनना चाहिए कि बैंकों और मुद्रा बाजार पर आवश्यकता से अधिक खिंचाव न पड़ने पाये।

(१४) रिजर्व बैंक को देशी बैंकों के नियमन का फिर से प्रयत्न करना चाहिए और जब तक ऐसा सम्भव न हो तब तक बैंकों को देशी बैंकों द्वारा भुनाये हुए बिलों को फिर से भुनाने का अधिकार दिया जाय।

(१५) बैंकों की विप्रेष सुविधायें बढ़ाई जायें। इसके लिये समिति ने निम्न सुझाव दिए हैं:—

(क) रिजर्व बैंक और उसकी एजेन्सियों के कार्यालय में टेलीप्रिन्टर रहने चाहिए।

(ख) कार्यालयों के बीच राशि भेजने और मँगाने के तारों को एक्सप्रेस तारों पर भी प्राथमिकता दी जाय।

(ग) सप्ताह में कम से कम दो बार निःशुल्क गति विप्रेष की सुविधाएँ रिजर्व बैंक को देनी चाहिए।

समिति के बहुत से सुझाव सरकार ने स्वीकार कर लिए हैं। औद्योगिक विकास प्रमण्डल आरम्भ कर दिया गया है। इम्पीरियल बैंक और जीवन बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण ने बहुत सी सिफारिशों के महत्त्व को समाप्त कर दिया है। विप्रेष सुविधाओं में भी काफी वृद्धि की गई है। रिजर्व बैंक की बिल बाजार विकास सम्बन्धी योजना में समिति की सिफारिश को ध्यान में रखा गया है।

नया उद्योग एक्ट—

भारत सरकार ने १५ फरवरी सन् १९५७ से नये उद्योग एक्ट को लागू करने की घोषणा की है, जिसमें उद्योग (विकास और नियमन) एक्ट सन् १९५१ में संशोधन किये गये हैं। नये विधान में ३४ उद्योगों को नियम के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किया गया है, जिनका विकास सरकार की सन् १९५६ की औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अनुसार किया जायगा। निम्न उद्योगों को संशोधित नियम के अनुसार सरकारी कार्य के क्षेत्र में लाया गया है :—

Ferro-alloys and special steels, electrical furnaces, earth moving machinery, typewriters and calculating machines, air conditioner and refrigerators, plastic moulding industries, paints, varnishes and enamels, staple fibre, pulp, food processing industries, matches and cigarettes.

पंजियन तथा अनुज्ञापन प्रणालियों में भी कुछ छोटे-छोटे परिवर्तन किये गये हैं। सरकार ने जनमत प्राप्त करने के लिए एक्ट की व्यवस्थाओं को गजट में छाप दिया था।

अध्याय ४३

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक

(International Bank For Reconstruction and Development)

उद्देश्य—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् की रिपोर्ट के दूसरे भाग की धारा १ अनुसार विश्व बैंक के उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) युद्ध विध्वंसित सदस्य देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण तथा विकास में सहायता देना, युद्धकालीन अर्थव्यवस्था में शान्तिकालीन समायोजनों को सफल बनाना और अविकसित देशों के विकास में सहायता प्रदान करना।

(२) ऋणों की गारन्टी लेकर अथवा उनमें सम्मिलित होकर व्यक्तिगत विदेशी ऋणों का विस्तार करना और यदि व्यक्तिगत ऋण उपलब्ध नहीं हैं तो उत्पादन कार्यों के लिए समुचित शर्तों पर अपने पास से ऋण देना।

(३) विदेशी व्यापार की दीर्घकालीन संतुलित उन्नति की व्यवस्था करना और इस प्रकार सदस्य देशों में उपज, जीवन-स्तर तथा श्रमिकों की कार्य-दशाओं को उन्नत करना।

(४) युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों को बढ़ाना और शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था के लिए समुचित दशाएँ उत्पन्न करना।

विश्व बैंक के चन्दे—

बैंक की अधिकृत पूँजी १,००० करोड़ डालर है। इस पूँजी को १-१ लाख डालर के अंशों में बाँटा गया है। प्रमुख देशों के अभ्यंश निम्न प्रकार हैं:—

अमरीका	२४३·५ करोड़ डालर	फ्रांस	४५ करोड़ डालर
इङ्गलैंड	१००·० ,,	भारत	४० ,,
चीन	६०·० ,,		

प्रत्येक देश के चन्दे को दो भागों में बाँटा गया है:—२०% चन्दा माँगने पर तुरन्त ही देना पड़ता है। शेष ८०% उस समय देना पड़ता है, जबकि आवश्यकता पड़ने पर बैंक उसे माँगती है। अभ्यंश का २% स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में लिया जाता है और शेष १८% सदस्य देश अपनी मुद्रा में दे सकता है। जब और अधिक चन्दे की माँग की जाती है तो सदस्य देश को यह अधिकार होता है कि वह उसे स्वर्ण, डालर अथवा बैंक द्वारा आदेशित किसी अन्य मुद्रा में चुका दे। ऐसी मुद्रा की बैंक समय-समय पर घोषणा करती रहती है।

बैंक का कार्य—

बैंक को व्यक्तियों और व्यक्तिगत संस्थाओं के साथ प्रत्यक्ष व्यवसाय का अधिकार नहीं है। वह केवल सदस्य देश की सरकार द्वारा ही व्यवसाय कर सकती है। स्मरण रहे कि मुद्रा-कोष की भाँति विश्व बैंक में सदस्य को प्राप्त होने वाले ऋणों की मात्रा उनके चन्दों पर निर्भर नहीं होती है। चन्दे तो केवल उत्तरदायित्वों तथा शासन शक्तियों की ही

सीमाएँ निश्चित करते हैं। बैंक का उद्देश्य यह भी नहीं है कि व्यक्तिगत विदेशी ऋणों के स्थान पर अपनी ओर से ऋण दे। इसके विपरीत यह तो व्यक्तिगत ऋणों को प्रोत्साहन देती है। अपने पास से तो बैंक केवल उसी दशा में ऋण देती है जबकि व्यक्तिगत विदेशी ऋण उपलब्ध नहीं होते हैं। अपने ऋणों पर तो बैंक ब्याज लेती ही है, परन्तु जिन व्यक्तिगत ऋणों की गारन्टी ली जाती है उन पर भी जोखिम उठाने का कमीशन लिया जाता है। गारन्टी लेने से पहले बैंक यह देख लेती है कि ऋण लेने वाले की माँग कहाँ तक वास्तविक है और देने वाले की शर्तें कहाँ तक उचित अथवा न्यायपूर्ण हैं। ऋणों की गारन्टी अथवा उनके प्रदान करने के सम्बन्ध में बैंक की शर्तें निम्न प्रकार होती हैं :—

(१) जबकि बैंक को यह सन्तोष है कि प्रस्तुत दशाओं में ऋण लेने वाले के लिए अन्य सूत्रों से ऐसी शर्तों पर ऋण मिलने की सम्भावना नहीं है जो बैंक के दृष्टिकोण से उचित हैं।

(२) जबकि वही देश जिसकी सीमा में ऋण का उपयोग होता है, स्वयं ऋण नहीं लेता तो सदस्य देश अथवा उसकी केन्द्रीय बैंक को ऋण के मूलधन, ब्याज तथा अन्य खर्चों के चुकाने की गारन्टी देनी पड़ती है।

(३) जबकि बैंक द्वारा नियुक्त की हुई कोई उपयुक्त समिति ऋण देने के प्रस्ताव का समर्थन करती है।

(४) यदि बैंक के विचार में ब्याज की दर तथा अन्य शर्तें उचित हैं और उसके तथा मूलधन के चुकाने से रीति उपयुक्त है।

(५) गारन्टी देते समय बैंक ऋण लेने वाले, ऋण देने वाले तथा समस्त सदस्यों के हित को देखती है।

(६) बैंक द्वारा दिये गये अथवा गारन्टी किये गये ऋण कुछ विशेष दशाओं को छोड़ कर केवल पुनर्निर्माण अथवा विकास योजनाओं पर ही व्यय किये जा सकते हैं।

विश्व बैंक बहुदेशीय निकासी तथा व्यापार के आधार पर कार्य करती है। प्राप्त ऋणों के द्वारा किसी भी देश से माल खरीदा जा सकता है। प्रत्येक सदस्य को अनुकूलतम् बाजार से माल खरीदने का अवसर मिलता है। इसी प्रकार जब तक ऋण का उपयोग बैंक के उद्देश्यों के विरुद्ध नहीं किया जाता है, सदस्य द्वारा ऋण के व्यय पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है।

विधान और प्रबन्ध—

बैंक के प्रबन्ध के लिये एक गवर्नर मण्डल, एक कार्यकारिणी समिति, एक अध्यक्ष तथा अन्य कर्मचारी होते हैं। बैंक का संचालन अधिकार

गवर्नर मण्डल के हाथ में होता है, जिसमें प्रत्येक सदस्य का एक-एक प्रतिनिधि रहता है। दिन प्रति दिन का कार्य कार्यकारिणी समिति करती है, जिसमें १२ सदस्य होते हैं। ५ सदस्य पाँच बड़े-बड़े अभ्यंश वाले देशों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और शेष ७ मुद्रा कोष की भाँति प्रतिनिधि निर्वाचन प्रणाली द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं, जिसमें प्रत्येक सदस्य को २५० मत तथा १ लाख डालर चन्दे के पीछे एक और मत प्राप्त होता है। कार्यकारिणी समिति अध्यक्ष को नियुक्त करती है, जो कि न तो कार्यकारिणी का सदस्य हो सकता है और न गवर्नर मण्डल का। इसके अतिरिक्त गवर्नर समिति कम से कम सात सदस्यों की एक सलाहकार समिति का भी निर्वाचन करती है। जब किसी ऋण का प्रार्थना-पत्र प्राप्त होता है तो समुचित जाँच के लिये बैंक एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त करती है। कोई भी सदस्य मुद्रा-कोष की सदस्यता को त्याग कर अथवा लिखित त्याग-पत्र देकर बैंक की सदस्यता को छोड़ सकता है। स्मरण रहे कि केवल वही देश विश्व बैंक का सदस्य बन सकता है जिसने पहले मुद्रा-कोष की सदस्यता प्राप्त कर ली हो।

भारत और विश्व बैंक—

भारत ने विश्व बैंक की प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त कर ली थी। बैंक की सदस्यता से भारत को काफी लाभ हुआ है। अब तक भारत को विश्व बैंक से नौ ऋण प्राप्त हुए हैं। अगस्त सन् १९४९ में भारत को रेलवे विकास के लिए ३.४ करोड़ डालर का ऋण मिला था; तत्पश्चात् सितम्बर सन् १९४९ में कृषि विकास के लिए १ करोड़ डालर और अप्रैल सन् १९५० में १.८५ करोड़ डालर का ऋण नदी-घाटी योजनाओं के लिए प्राप्त हुआ। इसके बाद दामोदर घाटी योजना के लिए भी एक और ऋण प्रदान किया गया। इन ऋणों में से ४.२ करोड़ डालर भारत ने सन् १९५१-५२ से पूर्व ही निकाल लिया था। शेष को कोलम्बो योजना में सम्मिलित कर लिया गया था। सन् १९५५ तक भारत को विश्व बैंक से १२.५० करोड़ डालर का ऋण मिल चुका है, जिसमें से लगभग आधी राशि भारत निकाल चुका है। विश्व बैंक के ऋणों के सम्बन्ध में बड़ी कठिनाई यह है कि ऋण की रकम केवल उसी निश्चित उद्देश्य के लिए व्यय की जा सकती है जिसके लिए वह ली गई है। बैंक का एक विशेषज्ञ मण्डल अप्रैल सन् १९५६ में भारत की दूसरी पंच-वर्षीय योजना के लिए ऋण के प्रार्थना-पत्र पर भारत का दौरा कर गया था। भारत ने प्रार्थना की थी कि उसे निश्चित उद्देश्य (Specific) ऋण के स्थान पर सामान्य ऋण (Block Loan) दिया जाय, जिसका उपयोग किसी भी

काम में किया जा सके। पहले ऐसा ऋण आस्ट्रेलिया को दिया जा चुका था। भविष्य में भारत को शीघ्र ही और भी ऋण मिलने की आशा की जाती है।

भारत को विश्व बैंक से निम्न नौ ऋण प्राप्त हुए हैं:—

(१) पहला ऋण ३·४ करोड़ डालर का अगस्त सन् १९४९ में मिला था, जो रेल-मार्गों की उन्नति के लिए दिया गया था। ऋण १५ वर्ष के लिए है और इस पर ३% ब्याज और १% कमीशन प्रति वर्ष दिया जाता है। इसमें से भारत ने केवल ३·२५ करोड़ डालर प्राप्त किया है। ऋण का भुगतान अगस्त सन् १९५० से आरम्भ हो गया है।

(२) दूसरा ऋण १ करोड़ डालर का सितम्बर सन् १९४९ में कृषि विकास के लिए लिया गया था। यह ७ वर्ष के लिए है और इस पर २½% ब्याज और १% कमीशन है। इसमें से भारत ने केवल ७५ लाख डालर लिये हैं। ऋण का भुगतान जून सन् १९५२ से आरम्भ हो गया है।

(३) तीसरा ऋण १·८५ करोड़ डालर का अप्रैल सन् १९५० में दामोदर घाटी योजना के लिए लिया गया था। यह २० वर्ष के लिए है और इस पर ३% ब्याज तथा १% कमीशन दिया जाता है। १ अप्रैल सन् १९५५ से भुगतान आरम्भ हो गया है।

(४) चौथा ऋण सन् १९५३ में इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी लिमिटेड, कलकत्ता के लिए लिया गया है, जो कि १·३५ करोड़ डालर का है। यह एक निजी व्यावसायिक संस्था को मिलने वाला ऋण है, यद्यपि इस पर भारत सरकार की गारन्टी है।

(५) पाँचवाँ ऋण सन् १९५३ में दामोदर घाटी योजना के लिए लिया गया है। इसकी राशि १·९५ करोड़ डालर है।

(६) छटा ऋण १·६२ करोड़ डालर का सन् १९५४ में टाटा ग्रुप को बम्बई में बिजलीघर के विकास के लिए प्राप्त हुआ है।

(७) सातवाँ ऋण सन् १९५५ में १ करोड़ डालर की राशि का भारतीय औद्योगिक साख और विनियोग प्रमण्डल को मिला है।

(८) आठवाँ ऋण सन् १९५८ में प्राप्त हुआ है, जो १५० करोड़ रुपये का है।

(९) १६ अप्रैल सन् १९५८ को विश्व बैंक ने दो और ऋणों के देने की घोषणा की है, जिनकी सामूहिक राशि ४·३ करोड़ डालर है। २·९ करोड़ डालर कलकत्ते की बन्दरगाह के सुधार के लिए है और शेष मद्रास की बन्दरगाह के लिए।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समझौते पर एक आलोचनात्मक दृष्टि—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का कार्य काफी सराहनीय रहा है। इसकी उपयोगिता का पता इसी बात से चल जाता है कि मार्च सन् १९४७ तथा अप्रैल सन् १९५२ के पाँच वर्षों में ही इसने ८५·७८ करोड़ डालर विभिन्न देशों को बेचा था, जिसमें से ६२ लाख डालर सोने में बेचा गया था और शेष विभिन्न सदस्यों के चलन के बदले में। ३० अप्रैल सन् १९५२ को कोष के पास ५१·४३ करोड़ डालर की कीमत का चलन संचय था, जिसमें से १२·८३ करोड़ अमरीकन डालर थे और २२·५ करोड़ अमरीकन डालर की कीमत का कनाडा का डालर था।

विश्व बैंक का कार्य तो और भी अधिक शानदार रहा है। अपने जीवनकाल के प्रथम ५ वर्षों में ही इसने ६८ ऋण दिये, जिनकी कीमत १४१·२ करोड़ डालर के बराबर थी। इसमें से केवल १३ करोड़ डालर का इस काल में भुगतान हुआ और शेष १३८·२ करोड़ डालर का विभिन्न देशों पर ऋण बना रहा। ऋणों के अतिरिक्त विश्व बैंक ने दक्षिणी अमरीका के राज्यों, मिस्र, भारत, ईराक, ईरान, लेबेनन तथा फिलीपाइन्स को शिल्प सहायता भी दी। बैंक ने विभिन्न सदस्य देशों की वित्तीय दशाओं को सुधारने के लिए लाभदायक उपाय भी बताये हैं।

उपरोक्त बातों से यही पता चलता है कि ये दोनों संस्थायें मौद्रिक तथा वित्तीय क्षेत्रों में काफी लाभदायक कार्य कर रही हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि इनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन का आधार काफी दृढ़ हो जायगा और भावी विकास की मजबूत नींव पड़ जायगी, परन्तु दोनों संस्थाओं की निष्पक्षता पर बहुधा सन्देह किया जाता है। राजनैतिक दृष्टिकोणों पर आर्थिक सहायता का आधार बनाया जाता है। सारी कार्यवाहियों के पीछे साम्राज्यशाही डालर का प्रभुत्व साफ दिखाई पड़ता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग राजनैतिक तथा आर्थिक स्वार्थों के ही लिए किया जाता है तो निस्सन्देह उसका जीवन काल लम्बा नहीं हो सकता है। दोनों ही संस्थाओं ने पक्षपात किया है, जो उनकी सफलता पर सन्देह उत्पन्न करता है।

जहाँ तक मुद्रा-कोष का सम्बन्ध है उसमें अभ्यंशों का निर्धारण आर्थिक आधारों पर नहीं किया गया है, जिससे कि समस्त शक्ति अमरीका और उसके पीछे चलने वाले देशों के ही हाथ में केन्द्रित रहती है। ऐसे देशों द्वारा अवैध कार्य करने पर भी कोष ने कोई दण्ड नहीं दिया है। इसका परिणाम और भी गम्भीर प्रतीत होता है; जबकि हम जानते हैं कि मुद्रा-कोष की सदस्यता के बिना विश्व बैंक की सदस्यता भी प्राप्त नहीं हो सकती है।

विश्व बैंक के ऊपर भी दो आरोप लगाये जाते हैं:—प्रथम, यह कहा जाता है कि इसका कार्य विलम्बपूर्ण होता है। यह विलम्ब ऋण लेने वाले देश के लिए बड़ा असुविधाजनक होता है। दूसरे, इसका कार्य भी भेद-भाव से पूर्णतया विमुक्त नहीं है।

जहाँ तक भविष्य का सम्बन्ध है, इन दोनों संस्थाओं की उपयोगिता बड़े अंश तक राजनैतिक तथा आर्थिक शान्ति और स्थिरता पर निर्भर होगी, परन्तु वर्तमान संसार में इनकी आशा कम है। भारत को दोनों संस्थाओं के विरुद्ध कुछ भी कहने को गुन्जाइश शायद नहीं है, परन्तु हमारे लिए केवल अपने ही हितों की ओर देखना बहुत अच्छा नहीं हो सकता है।

अध्याय ४४

राष्ट्रीय आय

(The National Income)

परिभाषा—

यह तो विदित ही है कि मनुष्य की सारी क्रियाओं का उद्देश्य अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना ही होता है। उत्पत्ति करने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के साधन मिल कर काम करें। उत्पत्ति सदा हीं विभिन्न साधनों के सामूहिक प्रयत्न का परिणाम होती है, इसलिए कुल उत्पत्ति में से उत्पत्ति के साधनों को हिस्सा मिलना चाहिए। किसी व्यक्ति की आर्थिक सम्पन्नता और उसका आर्थिक कल्याण इस बात पर निर्भर होते हैं कि उसे अपने प्रयत्न के बदले में उत्पत्ति में से कितना हिस्सा मिलता है। इसी प्रकार किसी राष्ट्र के भौतिक कल्याण का स्तर भी इस बात पर निर्भर होता है कि उसे, उसके सदस्यों के उपभोग के लिए कितनी वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त होती हैं। किसी देश का धन, जिसे आर्थिक भाषा में राष्ट्रीय लाभाँश कहा जाता है, देश के निवासियों के अधिकार में रहने वाली वस्तुओं और सेवाओं के संचय पर निर्भर होता है। पीगू का विचार है—"राष्ट्रीय लाभाँश किसी समाज की भौतिक आय का वह भाग है जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित होती है, जिसकी कि मुद्रा में

माप हो सकता है।"[1] दूसरे शब्दों में, देश में उत्पन्न की गई कुल आय का केवल वही भाग राष्ट्रीय लाभाँश को सूचित करता है जिसका उपभोग तथा विनियोग हो सकता है। इसी आधार पर किसी देश की राष्ट्रीय आय से हमारा अभिप्राय आय की उस धारा से होता है जो देश के सभी निवासियों के वस्तुओं और सेवाओं के संचय से प्राप्त होती है। यह विषय विवादग्रस्त है कि राष्ट्रीय आय में किन-किन चीजों को शामिल किया जाय और किन-किन को शामिल न किया जाय। मार्शल ने देश के समस्त उत्पादन से प्राप्त होने वाली आय को, चाहे वह उत्पादन भौतिक वस्तुओं के रूप में हो अथवा अभौतिक वस्तुओं के रूप में, राष्ट्रीय आय में शामिल किया है। पीगू ने उन सेवाओं और वस्तुओं के मूल्य को राष्ट्रीय लाभाँश में नहीं जोड़ा है जिनकी कीमत की मौद्रिक माप नहीं होती है, उदाहरण-स्वरूप, माता, मित्र अथवा पत्नी की निःशुल्क सेवाएँ। कुछ अर्थशास्त्री सरकारी अधिकारियों की सेवाओं को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करते हैं और कुछ दूसरे अर्थशास्त्री ऐसी कुल आय को राष्ट्रीय आय में से निकाल देने के पक्ष में हैं जिसके बदले में कोई सेवा प्रस्तुत नहीं की गई है, जैसे—दान अथवा उपहार से प्राप्त आय, वृद्धावस्था उत्तर-वेतन आदि।

यहाँ पर राष्ट्रीय आय की कुछ परिभाषाओं का दे देना उपयुक्त प्रतीत होता है। फिशर का विचार है—"राष्ट्रीय लाभाँश अथवा आय में केवल सेवायें जैसी कि वे उपभोक्ताओं को प्राप्त होती हैं, शामिल की जाती हैं, चाहे वे सेवाएँ भौतिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुई हैं अथवा मानवीय कारणों से।"[2] वर्तमान अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय आय को मुद्रा में नापने का ही अधिक प्रचलन है। इसी दृष्टिकोण पर प्रो० कॉलिन कलार्क ने राष्ट्रीय आय की निम्न परिभाषा की है—"किसी समय विशेष में राष्ट्रीय आय उन वस्तुओं और सेवाओं के मौद्रिक मूल्य द्वारा सूचित की जाती है जो समय विशेष में उपभोग के लिए उपलब्ध होती हैं, ऐसा मूल्य उसकी वर्तमान विक्री कीमत पर निकाला जाता है। इसमें पूँजी की उस वृद्धि को जोड़ा जाता है जिसका मूल्य नये पूँजीगत माल की कीमत के रूप में चुकाया जा चुका है। इसमें से प्रस्तुत पूँजीगत माल के अवक्षयण (Depreciation)

1. "National Dividend is that part of the objective income of the community, including of course income derived from abroad, which can be measured in money."—A. C. Pigou : *Economics of Welfare.*

2. "National dividend or income consists solely of services as received by ultimate consumers, whether from their material or from their human environment."—Fisher : *The Nature of Capital and Income*, p. 104.

और पुराने पड़ने (Obsolescence) के व्यय को निकाल दिया जाता है तथा इस प्रकार की जोड़ और घटा की कीमत भी चालू कीमतों के आधार पर आँकी जाती है।"[1] प्रो० कलार्क का विचार है कि ऐसी सेवाओं की कीमत जो राज्य द्वारा बिना लाभ के आधार पर प्रस्तुत की जाती हैं, जैसे—डाक-तार सम्बन्धी सेवाएँ आदि, वास्तविक भाड़ों की दर पर निकाली जाती हैं। जब कुछ वस्तुओं पर कर लगाये जाते हैं तो उन वस्तुओं की कीमत निकालते समय इन करों की आय की मात्रा को विक्री मूल्य में शामिल नहीं किया जाता है। डा० राव ने भी इसी से मिलता-जुलता दृष्टिकोण अपनाया है। उनका विचार है कि राष्ट्रीय आय वस्तुओं और सेवाओं की धारा के मौद्रिक मूल्य द्वारा सूचित होती है। डा० राव का विचार है कि सभी कीमतें चालू कीमतों के आधार पर आँकी जाती हैं और उन आयातों की कीमत शामिल नहीं की जाती है जो विक्री के लिए प्राप्त हैं अथवा जो बेचे जा सकते हैं। इस प्रकार वस्तुओं और सेवाओं का जो मौद्रिक मूल्य निकाला जाता है उसमें से निम्न मदों को निकाल दिया जाता है:—(१) समय विशेष में पूँजीगत माल के अवक्षयण व्यय का मौद्रिक मूल्य, (२) ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य जो उत्पादन कार्य में व्यय की गई हैं, (३) ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य जो वर्तमान पूँजी स्टॉक को बनाये रखने के लिए उपयोग की गई हैं, (४) राज्य को परोक्ष करों से प्राप्त होने वाली आय, (५) व्यापाराशेष की अनुकूलता की मौद्रिक कीमत और (६) देश के विदेशी ऋण की शुद्ध वृद्धि।[2]

राष्ट्रीय आय को नापने की रीतियाँ—

राष्ट्रीय आय की माप निम्न चार रीतियों से की जाती है:—

(१) **उत्पत्ति गणना प्रणाली** (Census of Production Method)—इस प्रणाली का उपयोग सन् १६०७ की ब्रिटिश उत्पत्ति गणना में किया गया था। किसी एक उद्योग अथवा फर्म की सकल उपज (Gross Produce) की कीमत में से यदि हम कच्चे माल तथा दूसरे ऐसे

1. The national income for any period consists of the money value of goods and services becoming available for consumption during that period, reckoned at their current selling value, plus additions to capital reckoned at the prices actually paid for the new capital goods, minus depreciation and obsolescence of existing capital goods, and adding the net accretion of, or deducting the net drawings upon stocks, also reckoned at current prices,"—Colin Clark : *The National Income*, pp. 1-2

2. *See* Dr. V. K. R. V. Rao : *National Income of British India.*

पदार्थों की कुल कीमत तथा वह रकम जो दूसरी फर्मों को काम करने के लिए दी जाती है, निकाल दें तो उद्योग अथवा फर्म की शुद्ध उपज (Net Product) निकल आती है। सारी फर्मों अथवा सारे उद्योगों की शुद्ध उपज का योग हमें राष्ट्रीय शुद्ध उपज बतायेगा। यह शुद्ध उपज हमें निर्माण (Manufacture) द्वारा वस्तुओं और पदार्थों में उत्पन्न किये गये मूल्य को बतायेगी। एक उद्योग की शुद्ध उपज उस कोष को सूचित करेगी जिसमें से वेतन, लगान, ब्याज, कर, अवक्षयण, लाभ तथा अन्य प्रकार के खर्चे चुकाये जायेंगे। राष्ट्रीय आय को निकालते समय कुल राष्ट्रीय शुद्ध उपज में से वार्षिक अवक्षयण तथा मशीनों की मरम्मत और उनके बदलने का व्यय निकाल देना पड़ेगा। इसी प्रकार दूसरे साधनों की क्षयता (Exhaustion) का खर्च भी घटा देना पड़ेगा। खनिज उद्योग में यह खर्च अधिकार शुल्क (Royalties) द्वारा सूचित होता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक मशीन १० साल तक काम दे सकती है तो वार्षिक राष्ट्रीय आय निकालते समय उसकी शुद्ध उपज की कीमत में से मशीन की कीमत का १/१० निकाल देना चाहिए।

(२) **आय गणना प्रणाली** (Census of Incomes Method)—इस रीति के अनुसार देशवासियों की आय का योग निकाला जाता है। उन सभी व्यक्तियों की जो आय-कर देते हैं और जो आय-कर नहीं देते हैं, आयों का योग कुल राष्ट्रीय आय को सूचित करता है। यह कार्य देश में सभी परिवारों की आय की अलग-अलग गणना करके किया जा सकता है। केवल इसी बात का ध्यान में रखना आवश्यक होता है कि एक आय को दो बार न गिना जाय। उदाहरणस्वरूप, यदि एक वकील की आय साल में कुल ६,००० रुपये की है, जिसमें से वह १,२०० रुपया प्रति वर्ष अपने मुन्शी को दे देता है तो मुन्शी की आय को राष्ट्रीय आय में नहीं जोड़ना चाहिए, क्योंकि वकील की आय को जोड़ते समय यह पहले ही गिनी जा चुकी है।

(३) **व्यावसायिक गणना प्रणाली** (Occupational Census Method)—इस प्रणाली में लोगों की आय की उनके व्यवसायों के अनुसार गणना की जाती है। विभिन्न प्रकार के उत्पादक कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों की आयों को आँका जाता है और इन सबका जोड़ राष्ट्रीय आय को दिखाता है। इसमें भी यही सावधानी आवश्यक होती है कि एक ही आय को एक से अधिक बार न गिना जाय। स्टाम्प का विचार है कि इस प्रकार की गणना में वृद्धावस्था, उत्तर-वेतन (Old age pensions) और युद्ध के विशेष भत्ते शामिल नहीं होने चाहिए, क्योंकि वे व्यावसायिक आय नहीं होते हैं।

(४) उत्पादन गणना और आय गणना प्रणाली का सामूहिक उपयोग—इस प्रणाली में आय गणना और उत्पादन गणना दोनों ही कामों को एक ही साथ किया जाता है। डा० राव ने भारत में इसका उपयोग बड़ी सफलतापूर्वक किया है। उन्होंने कृषि उपज के सम्बन्ध में सरकारी आँकड़ों का उपयोग किया है और देश में खनिज, उद्योग, दूध तथा दूसरी वस्तुओं के उत्पादन का अनुमान लगाया है और साथ ही साथ आय-कर सम्बन्धी आंकड़ों, सरकारी कर्मचारियों के वेतनों, औद्योगिक श्रमिकों की मजदूरियों और अन्य प्रकार की आयों का भी पता लगाया है।

यह विषय विवाद-ग्रस्त है कि राष्ट्रीय आय को नापने की कौनसी रीति अधिक उपयुक्त है। ऐसा कहा जाता है कि उत्पत्ति गणना प्रणाली और व्यावसायिक गणना प्रणाली अधिक व्यावहारिक हैं, क्योंकि आय गणना प्रणाली में एक ही आय को एक से अधिक बार गिनने की सम्भावना बराबर रहती है, जिसको दूर नहीं किया जा सकता है। इङ्गलैंड का अनुभव यह है कि प्रथम तीनों रीतियों में से किसी का भी उपयोग किया जा सकता है। यदि सावधानी से काम लिया जाता हैं तो प्रत्येक से एक से ही फल प्राप्त होते हैं, किन्तु सबसे अधिक रिवाज उत्पत्ति गणना प्रणाली का है।

राष्ट्रीय आय की गणना का महत्त्व—

राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण के बीच बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। साधारणतया हम ऐसा कह सकते हैं कि यदि अन्य बातें यथास्थिर रहें तो जितनी ही राष्ट्रीय आय अधिक होगी उतना ही देश के आर्थिक कल्याण का स्तर भी ऊँचा होगा, यद्यपि प्रत्येक दशा में राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण में एक ही दिशा में तथा एक ही अनुपात में वृद्धि होना आवश्यक नहीं है। राष्ट्रीय आय के अध्ययन के प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं :—

(१) राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित आँकड़े हमें देश के भीतर जीवन-स्तर के बारे में महत्त्वपूर्ण ज्ञान प्रदान करते हैं। इनकी सहायता से यह पता चल जाता है कि देश की अर्थ-व्यवस्था की विभिन्न शाखाओं में कालान्तर में क्या परिवर्तन हुए हैं और सामान्य आर्थिक परिस्थितियों का रुख किस दिशा में तथा किस अंश तक बदल गया है।

(२) राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों को देखकर हम यह भी जान सकते है कि क्या देश का विकास समुचित आधार पर हो रहा है? यद्यपि राष्ट्रीय आय भौतिक कल्याण की पूर्णतया निश्चित माप तो नहीं होती है, परंतु इसके द्वारा उसकी सामान्य प्रवृत्ति का पता अवश्य लगाया जा सकता है।

(३) राष्ट्रीय आय देश की अर्थ-व्यवस्था के दोषों को स्पष्ट कर देती है और उनके दूर करने के उपाय दर्शाती है। राष्ट्रीय आय के आँकड़े हमें यह

बता देते हैं कि वितरण के रूप में किस प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं। ये हमारे लिए देश की आर्थिक, वाणिज्यिक, प्रशुल्क तथा औद्योगिक नीति के निर्माण में सहायक होते हैं।

भारत में राष्ट्रीय आय का अनुमान—

भूतकाल में भारत की राष्ट्रीय आय के अनेक अनुमान लगाये गये हैं। सर्वप्रथम श्री दादा भाई नौरोजी ने सन् १८६७–७० के काल के लिए राष्ट्रीय आय का अनुमान २० रुपया प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष लगाया था। तत्पश्चात् सन् १९४२–४३ तक १८-२० और भी अनुमान लगाए गए, परन्तु सभी अनुमान गैर-सरकारी थे और इनमें आपस में भारी अन्तर थे। लार्ड कर्जन का अनुमान सन् १९०० में ३० रुपया प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष था। सन् १९२१ में फिण्डले शिराज (Findlay Shirras) का अनुमान १०७ रुपया प्रति वर्ष था। इसी प्रकार सन् १९३१-३२ में डा० राव ने ६५ रुपया और सन् १९३७–३८ में सर जेम्स ग्रिग (Sir James Grigg) ने ५६ रुपया प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष का अनुमान लगाया था। सन् १९४२–४३ का कॉमर्स (Commerce) पत्रिका का अनुमान १२४ रुपया था। इन सभी अनुमानों में आपस में भारी अन्तर हैं और यह जानने के लिए कि वास्तविक राष्ट्रीय आय में कितनी वृद्धि अथवा कमी हुई है, हमें सामान्य कीमतों की वृद्धि को ध्यान में रखना पड़ेगा। डा० राव का अनुमान अधिक विश्वसनीय माना जाता है। उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों की प्रति व्यक्ति आय ५१ रुपया और नागरिक क्षेत्रों की १६६ रुपया आँकी थी और इस आधार पर औसत प्रति व्यक्ति आय ६५ रुपया निकलती है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकार ने राष्ट्रीय आय की गणना का अधिक संगठित और वैज्ञानिक उपाय किया है। वाणिज्य मन्त्रालय ने राष्ट्रीय आय का निम्न अनुमान लगाया था :—

(करोड़ रुपयों में)

शीर्षक	ब्रिटिश भारत १९४५–४६	भारत संघ १९४५—४६	प्रान्त (राज १९४६—४
(१) प्रारम्भिक उत्पादन—			
(क) कृषि और पशु-पालन उद्योगों की शुद्ध उपज	२,७४५	१,९६३	२,२९१
(ख) जंगलों की शुद्ध उपज	१२	९	४६
(ग) खनिज उद्योगों की शुद्ध उपज	३८	३७	६१
कुल शुद्ध आरम्भिक उत्पादन	२,७९५	२,००९	२,३९८

(२) गैर-आरम्भिक उत्पादन—			
(क) आय-कर चुकाई हुई आय	५७६	५३५	५६६
(ख) आय, जिस पर कर नहीं दिया गया है	२,८६०	२,३८७	२,६१६
कुल राष्ट्रीय आय	६,२३४	४,६३१	५,५८०
प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय	१६८	२०४	२२८

राष्ट्रीय आय समिति—

विगत वर्षों में राष्ट्रीय आय का गणना क महत्त्व को सरकार ने स्वीकार कर लिया है। अगस्त सन् १६४६ में सरकार ने राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित आँकड़ों में सुधार के सुझाव देने और अधिक वैज्ञानिक रीति से राष्ट्रीय आय का पता लगाने के लिए राष्ट्रीय आय समिति नियुक्त की थी। अप्रैल सन् १६५१ में समिति ने अपनी प्रथम रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, जिसमें सन् १६४८-४६ से सम्बन्धित राष्ट्रीय आय का अनुमान दिया गया था। समिति की अन्तिम रिपोर्ट सन् १६५४ में प्रकाशित हुई है और उसमें सन् १६५३-५४ तक के अनुमान निम्न प्रकार दिये गये हैं :—

ारत की राष्ट्रीय आय

(करोड़ रुपयों में)

शीर्षक	१६४८ –४६	१६५१ –५२	१६५२ –५३	१६५३ –५४
(१) कृषि, वन और मछली उद्योग	४,२५०	४,६६०	४,७६०	५,४००
(२) खनिज निर्माण और हस्त उद्योग	१,४८०	१,७३०	१,७६०	१,८००
(३) वाणिज्य और परिवहन	१,६००	१,७६०	१,७८०	१,८००
(४) अन्य सेवाएँ	१,३४०	१,५००	१,५४०	१,६१
शुद्ध देशी उत्पादन	८,६७०	१०,०१०	६,८७०	१०,६
विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय	–२०	–२०	–१०	–१
कुल राष्ट्रीय आय	८,६५०	६,६६०	६,८६०	१०,६०
जन-संख्या (करोड़ों में)	३५	३६·४	३६·८	३७·
प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)	२४६·६	२७४·५	२६७·४	२८३·

इन आँकड़ों के देखने से पता चलता है कि सन् १६४८-४६ और सन् १६५३-५४ के बीच में कुल राष्ट्रीय आय ८,६५० करोड़ रुपये से बढ़कर १०,६०० करोड़ रुपया हो गई है, अर्थात् उसमें २२·५% की वृद्धि हुई है। इसी काल में प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि केवल १५% रही है. (२४६·६ रुपये से २८३·६ रुपया)। इसका कारण यह है कि जन-संख्या में भी ६·६% की वृद्धि हो गई है (३५ करोड़ से ३७·३ करोड़)। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि अगस्त सन् १६३६ = १०० के आधार पर सन् १६४८-४६ का थोक कीमतों का निर्देशाँक ३७६ था जो सन् १६५३-५४ में ३६८ तक पहुँच गया था। इस आधार पर सन् १६४८-४६ और सन् १६५३-५४ के काल में कीमतों में ६% की वृद्धि हुई है। इस प्रकार वास्तविक प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि केवल ८·५% निकलती है।

राष्ट्रीय आय और आर्थिक नियोजन—

योजना कमीशन ने राष्ट्रीय आय की वृद्धि का दीर्घकालीन लक्ष्य सन् १६७५-७६ तक सन् १६५०-५१ की तुलना में कुल राष्ट्रीय आय को तीन गुना तथा प्रति-व्यक्ति राष्ट्रीय आय को दोगुना कर देना निश्चित किया है। अनुमान यह है कि इस काल में देश की जन-संख्या में भी ५०% की वृद्धि हो जायगी। लक्ष्य निम्न प्रकार हैं :—

शीर्षक	प्रथम योजना ५१—५६	दूसरी योजना ५६—६१	तीसरी योजना ६१—६६	चौथी योजना ६६—७१	पाँचवीं योजना ७१—७५
(१) राष्ट्रीय आय योजना काल के अन्त में (करोड़ रुपयों में)	१०,८००	१३,४८०	१७,२६०	२१,६८०	२७,२७०
(२) जन-संख्या (करोड़ों में)	३८·४	४०·८	४३·४	४६·५	५०·०
(३) प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)	२८१	३३१	३६६	४६६	५४६

प्रथम पंच-वर्षीय योजना पूरी हो चुकी है। इस योजना के काल में कुल राष्ट्रीय आय में १८% की वृद्धि हुई है, जो अनुमान से बहुत अधिक है। योजना काल में वास्तविक आय भी बराबर बढ़ी है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि योजना के अन्त में कीमतें योजना के आरम्भ के काल की तुलना में १३% नीची थीं। साथ ही, योजना काल में जन-संख्या भी बराबर बढ़ती रही है। परिणाम यह हुआ है कि प्रति व्यक्ति आय में

११% की वृद्धि हो गई है, जबकि अनुमान केवल ७% की वृद्धि का था और क्योंकि कीमतें नीचे गिरी हैं, इसलिए वास्तविक आय में भी वृद्धि हुई है।

प्रथम योजना की प्रगति राष्ट्रीय आय की वृद्धि के दृष्टिकोण से इतनी सन्तोषजनक रही है कि वृद्धि के लक्ष्यों को पहले से ऊँचा कर दिया गया है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि वर्तमान वृद्धि दर पर देश की कुल राष्ट्रीय आय सन् १९७३-७४ तक ही तीन गुनी हो जायेगी और प्रति व्यक्ति आय दो गुनी। दूसरी पंच-वर्षीय योजना में सन् १९५६-६१ के काल में राष्ट्रीय आय में २५.६% वृद्धि का लक्ष्य निश्चित किया गया है और क्योंकि पाँच वर्ष के इस काल मे जन-संख्या ३८.३७ करोड़ से बढ़कर ४०.९७ करोड़ हो जायगी, इसलिए प्रति व्यक्ति आय में १८% की वृद्धि हो जायगी। योजना कमीशन का अनुमान इस मान्यता पर आधारित है कि योजना काल में कीमतों की स्थिरता बनी रहेगी। कीमतों के बढ़ने की दशा में लक्ष्यों में संशोधन आवश्यक हो सकते हैं। वास्तविकता यह है कि दूसरी योजना के लागू करते ही कीमतों के ऊपर जाने की प्रवृत्ति आरम्भ हो गई है। दिसम्बर सन् १९५६ में ही योजना कमीशन को दूसरी योजना के प्रस्तावित व्यय (४,८०० करोड़ रुपये) में ४०० करोड़ रुपये की वृद्धि करने का प्रस्ताव रखना पड़ा है। वित्त मन्त्री ने अनेक ऐसे नये कर भी लगाये हैं जिनसे एक ओर तो मुद्रा-प्रसार का दबाव घटेगा और दूसरी ओर सरकार को लगभग १०० करोड़ रुपये की वार्षिक आय प्राप्त हो जायेगी।

क्या हमारे राष्ट्रीय आय सम्बन्धी लक्ष्य पर्याप्त हैं?—

इसमें तो सन्देह नहीं है कि पिछले वर्षों से हमने आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के प्रयत्न किये हैं और इसमें हमें काफी सफलता भी मिली है, परन्तु अभी हमारी प्रगति बहुत पीछे है। एक औसत अमरीकन की आय एक औसत भारतीय से लगभग ३१ गुनी है और एक औसत अंग्रेज की लगभग १४ गुनी है। हमारे देश में जन-संख्या की वृद्धि उत्पादन की वृद्धि की तुलना में काफी अधिक है। नीचे की तालिका में भारत की राष्ट्रीय आय की तुलना दूसरे देशों से की गई है:—

देश	वर्ष	जन-संख्या करोड़ में	कुल राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपयों में)	प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय (रुपयों में)
आस्ट्रेलिया	१९५३	०·८८	३,९२९	४,४६०
बर्मा	१९५३	१·००	३९३	२०६
कनाडा	१९५४	१·५२	९,१९९	६,०५६
लंका	१९५३	०·८१	४४१	५४१
फ्रान्स	१९५४	४·२७	१५,७५०	३,६८६
जापान	१९५४	८·८२	८,१२९	९२२
न्यूजीलैंड	१९५४	०·२१	१,०५८	५,०६२
पाकिस्तान	१९५३–५४	७·७८	१,९३१	२४५
स्विटजरलैण्ड	१९५४	०·४८	२,४०७	४,८१२
ब्रिटेन	१९५४	५·११	२०,७२०	४,०५७
संयुक्त राज्य अमरीका	१९५४	१६·२४	१,४२,६५७	८,७७४
भारत	१९५३–५४	३७·३४	१०,६००	२८४

इस स्थिति को सुधारने का सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय यही हो सकता है कि सभी दिशाओं में उत्पादन की वृद्धि की जाय। साथ ही, हमें यह भी जानना चाहिए कि हमारे देश में आय के वितरण में भी घोर असमानतायें हैं। उपयुक्त नीति यही है कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि और वितरण की असमानताओं को घटाने के प्रयत्न एक ही साथ किए जायें। यह भी आवश्यक है कि जन-संख्या की वृद्धि पर कुछ प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जायँ। यह एक आशाजनक बात है कि आर्थिक नियोजन के द्वारा राष्ट्रीय आय की इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

भारत में राष्ट्रीय आय

वर्ष	वर्तमान कीमतों के आधार पर कुल राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपयों में)	१९४८-४९ की कीमतों पर कुल राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपयों में)	प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय वर्तमान कीमतों पर (रुपयों में)	१९४८-४९ की कीमतों पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय (रुपयों में)
१९४८-४९	८,६५०	८,६५०	२४६·९	२४६·९
१९४९-५०	९,०१०	८,८२०	२५३·९	२४८·६
१९५०-५१	९,५३०	८,८५०	२६५·२	२४६·३
१९५१-५२	९,९७०	९,१००	२७४·०	२५०·१
१९५२-५३	९,८२०	९,४६०	२६६·४	२५६·६
१९५३-५४	१०,४९०	१०,०४०	२८१·०	२६९·०
१९५४-५५	९,६१०	१०,१७०	२६२·१	२६९·०
१९५५-५६	९,९५०	१०,४२०	२५२·०	२७२·१

अध्याय ४५

बचत, विनियोग और पूर्ण वृत्ति

(Savings, Investments and Full Employmer

आय किसे कहते हैं ?—

यह तो सभी जानते हैं कि हम उस समय तक कुछ भी आमदनी प्राप्त नहीं कर सकते हैं जब तक कि कोई दूसरा व्यक्ति उस चीज को प्राप्त कर लेने के लिए तैयार न हो जो कि हम बेचना चाहते हैं, अथवा जब तक कि कोई व्यक्ति हमारे श्रम को वेतन अथवा मजदूरी के बदले में खरीदने को तैयार न हो। कीन्ज ने ठीक ही कहा है कि एक व्यक्ति का व्यय दूसरे की आय होती है। इस प्रकार सारे समाज की मौद्रिक आय सारे समाज के मौद्रिक व्यय के बराबर होती है। हम जो कुछ भी काम करते हैं अथवा जो कुछ भी हम उत्पन्न करते हैं वह उसे बेच लेने की सम्भावना के ही आधार पर किया जाता है। आय को उत्पन्न करने का उपाय यही होता है कि हम सामाजिक उपज के स्टॉक में वृद्धि कर देते हैं। आय के उत्पन्न होने की विधि ही यह है कि कोई व्यक्ति सामाजिक उपज की मात्रा में वृद्धि करता है और इस प्रकार वह उत्पत्ति के साधनों को भुगतान करता रहता है। सामाजिक उपज में वृद्धि करने के कार्य के अन्तर्गत आय की एक धारा को उत्पन्न किया जाता है, जो उत्पत्ति के साधनों को किये गये भुगतान की मात्रा के बराबर होती है। इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि जिस व्यक्ति को आय प्राप्त होती है वह भी उसे व्यय करता है और दूसरों की आय को उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है, किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्येक बार जब एक व्यक्ति अपनी आय को व्यय करता है, आय का एक भाग भावी उपयोग के लिए बचा लिया जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि एक व्यक्ति को महीने के आरम्भ में २०० रुपये वेतन के रूप में मिलते हैं और वह इसमें से १०% बचा कर शेष को खर्च कर देता है तो उसकी स्थिति निम्न प्रकार होती है:—२०० रुपया **आय** = १८० रुपया **उपभोग** + २० रुपया **बचत**। जिन १८० रुपयों का व्यय किया गया है, मान लीजिए कि वे किसी दूकानदार को मिल जाते हैं। दूकानदार की आय १८० रुपया हुई और यदि वह भी १०% बचा कर शेष को व्यय कर देता है तो स्थिति निम्न प्रकार होगी:—१८० रुपया **आय** = १६२ रुपया **उपभोग** + १८ रुपया **बचत**। ठीक इसी प्रकार यह

१६२ रुपये का व्यय किसी अन्य व्यक्ति की आय उत्पन्न करेगा और यदि वह भी इसके १०% की बचत करता है तो स्थिति इस प्रकार होगी:—
१६२ रुपया आय = १४५.८ रुपया उपभोग + १६.२ रुपया बचत। यही क्रम बराबर आगे चलता रहेगा और यदि इस प्रकार १० बार यह स्थिति पैदा होती है तो प्रत्येक बार आय, उपभोग और बचत की मात्रा घटती जाती है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार व्यय के जो दस चक्र पूरे हो जाते हैं उन सबका जोड़ २०० रुपये की आरम्भिक आय को १० गुना होना चाहिए, जिसका अर्थ यह होता है कि २०० रुपये के प्रारम्भिक व्यय के फलस्वरूप कुल २,००० रुपये का व्यय हो जायेगा। यहाँ पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि कुल व्यय बचत का १० गुना है तो कुल उत्पन्न की गई आय प्रारम्भिक आय का १० गुना ही देगा।

उपभोग की वस्तुओं पर किया जाने वाला कुल व्यय दो बातों पर निर्भर होता है, अर्थात् व्यक्ति की कुल आय तथा उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume)। उपभोग की प्रवृत्ति का अर्थ कुल आय का वह भाग हैं जो उपभोग पर व्यय किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि आय की वृद्धि के साथ-साथ उपभोग पर किया गया खर्च भी बढ़ता जाता है, क्योंकि उपभोग की प्रवृत्ति मे कोई परिवर्तन नहीं होता है। उपभोग की प्रवृत्ति के कारण आय में परिवर्तन नहीं होते हैं, बल्कि विनियोग (Investment) में परिवर्तन होने से आय में पपिवर्तन हो जाते हैं। जितनी ही विनियोग में वृद्धि होती है उतनी ही आय में भी वृद्धि हो जाती है। यही कारण है कि आय की वृद्धि की व्याख्या करने के लिये उन कारणों को समझना पड़ता है जो विनियोग को प्रभावित करते हैं। विनियोग के ऊपर दो बातों का प्रभाव पड़ता है अर्थात् ब्याज की दर तथा पूँजी की सीमान्त कुशलता (The Marginal Efficiency of Capital)। पूँजी की सीमान्त कुशलता का अर्थ उस लाभ की दर से होता है जिसके प्राप्त होने की आशा की जाती है। यह निश्चय है कि उस समय तक विनियोग बराबर बढ़ते रहेंगे जब तक कि विनियोगों पर प्राप्त की हुई लाभ की दर पूँजी पर प्राप्त होने वाले ब्याज की दर से ऊँची रहती है, किन्तु जैसे-जैसे विनियोग बढ़ते हैं, उन पर लाभ की सीमान्त दर घटती जाती है और अन्त में वह ब्याज की दर के बराबर हो सकती है। यहाँ पर आकर विनियोगों का बढ़ना रुक जाता है। साथ ही, विनियोगों कें बढ़ाने के लिये आय का बढ़ाना भी आवश्यक है, ताकि बचत भी उसी अनुपात में बढ़ती रहे जिस अनुपात में कि विनियोग बढ़ रहा है। हमारा अन्तिम निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी समय विशेष

में देश की आय इस बात पर निर्भर होती है कि उस देश में विनियोग की दर क्या है और उस समय में देश के लोगों की विनियोग करने की प्रवृत्ति क्या है।

बचत (Savings)—

बचत की साधारण सी परिभाषा यह हो सकती है कि यह आय और व्यय के अन्तर के बराबर होती है। प्राप्त आय में से उपभोग पर व्यय करने के पश्चात् जो कुछ बचता है वह बचत को सूचित करता है। देश में बचत की मात्रा वहाँ के लोगों की बचत करने की प्रवृत्ति पर निर्भर होती है। यदि देश के लोग अपनी आय का ९०% व्यय करने के आदी हैं तो बचत आय का १०% होगी। साधारणतया बचत को बढ़ाने-घटाने के लिये आय की मात्रा में परिवर्तन करना आवश्यक होता है, क्योंकि उपभोग की प्रवृत्ति में परिवर्तन कम ही होते हैं। जब कोई व्यक्ति बचत करता है तो इसका यह अर्थ नहीं होता है कि उसने अपना उपभोग बन्द कर दिया है। वह केवल उपभोग को स्थगित कर देता है और ऐसा करने में वह आय के उस भाग को, जिसकी बचत कर ली गई है, भविष्य में व्यय करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

बचत के अनेक रूप सम्भव हैं। बचत करने वाला व्यक्ति आय के एक भाग को अपने पास नकदी के रूप में रख सकता है, ताकि उसे भविष्य में उपयोग कर सकें। इसी प्रकार बचाई हुई आय को बैंक की जमा के रूप रखा जा सकता है, इसे सरकार को ऋण के रूप में दिया जा सकता है, जिसके लिए बौंड खरीदा जा सकता है, यह राशि किसी कम्पनी अथवा फर्म को उधार दी जा सकती है अथवा जिसके बदले में भूमि, मकान अथवा अन्य सम्पत्ति खरीदी जा सकती है। इस प्रकार की सारी बचत व्यक्तिगत बचत होती है, क्योंकि एक व्यक्ति द्वारा बचत करने का सदा ही यह अर्थ नहीं होता है कि समाज ने भी बचत की है। वास्तव में यह सम्भव है कि जबकि एक व्यक्ति बचत करता है तो दूसरा इसकी विपरीत दिशा में कार्य करे। उदाहरणस्वरूप, यदि एक व्यक्ति मकान खरीदता है तो कोई दूसरा उसे बेचता है। यहाँ पहले व्यक्ति ने तो बचत की है, परन्तु दूसरे ने विपरीत दिशा में कार्य किया है। ऐसी दशा में एक व्यक्ति की बचत दूसरे व्यक्ति की विरोधी कार्यवाही द्वारा रद्द हो जाती है और समाज के दृष्टिकोण से कुछ भी बचत नहीं हो पाती है। समाज द्वारा बचत तभी हो सकेगी जबकि एक व्यक्ति की बचत किसी दूसरे की विरोधी कार्यवाही से रद्द न होने पाये। यही कारण है कि व्यक्तिगत बचत और सामाजिक बचत में अन्तर होता है।

विनियोग (Investment)—

जब समाज बचत करता है, अर्थात् जब समाज अपने उपभोग को स्थगित करता है तो बचत के फलों का अनेक रूपों में उपयोग हो सकता है। यह सम्भव है कि सरकार नये ऋणों की निकासी करे और ऋणों से प्राप्त रकम के द्वारा नई नहरों और नये पुलों का निर्माण करे। यह भी सम्भव है कि किसी नई कम्पनी की स्थापना हो, नये अंशों की निकासी की जाय, नये मालों का उत्पादन हो अथवा नये मकानों का निर्माण हो। इस बचत का उपभोग लोक तथा व्यक्तिगत उपक्रमों की कार्यवाहक पूँजी में वृद्धि करने अथवा कच्चे, अर्द्ध-तैयार और तैयार मालों के स्टॉक् बनाने के लिये भी किया जा सकता है। जब कभी भी सामाजिक बचत होती है तो इससे पूँजी के स्टॉक् में वृद्धि होती है, अर्थात् पूँजी का नया निर्माण (Formation) होता है। पूँजी के इस नये निर्माण को ही हम विनियोग कह सकते हैं। साधारण भाषा में जब कभी भी हम यह कहते हैं कि हमने आय का विनियोग किया है तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि हमने भविष्य में आय प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार के विनियोग में, जो स्वभाव से ही व्यक्तिगत है, यह सम्भावना बराबर बनी रहती है कि एक व्यक्ति के विनियोग के साथ-साथ दूसरे के द्वारा अविनियोजन (Dis-investment) हो रहा हो। सामाजिक विनियोग में ऐसी सम्भावना नहीं रहती है। ऐसा विनियोग सदा ही धनात्मक होता है और यह भी आवश्यक नहीं है कि सामाजिक विनियोग के साथ-साथ व्यक्तिगत विनियोग भी हो ही।

व्यक्तिगत विनियोग की मात्रा एक बड़े अंश तक सरकारी नीति पर निर्भर होती है। धन का विनियोग करते समय विनियोगी लाभ की दर पर सावधानी के साथ विचार करता है। बचत करने वाले के पास बचत के लाभदायक उपयोग के दो उपाय होते हैं—बचत को ब्याज पर उठा देना और बचत का विनियोग कर देना। दोनों में से उसी को चुना जायगा जो अधिक लाभदायक होगा। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जहाँ पर पूँजी की सीमान्त कुशलता अथवा लाभ की दर ब्याज की दर के बराबर हो जाती है, वहीं पर विनियोग की सीमा आ जाती है। जो कारण लाभ की दर को बढ़ा देते हैं वे विनियोग को भी प्रोत्साहन देते हैं और इसके विपरीत जिन कारणों से ब्याज की दरें बढ़ती हैं वे विनियोगों को हतोत्साहित कर देते हैं।

भारत में पूँजी निर्माण (Capital Formation in India)—

पूँजी निर्माण और विनियोग में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है।

पूँजी निर्माण बचत कोषों के जमा करने की क्रिया है और ये बचत कोष विनियोग की मात्रा निश्चित करते हैं। एक दूसरे दृष्टिकोण से पूँजी निर्माण का अभिप्राय बचत कोषों को नये निर्माण, पूँजीगत माल के उत्पादन अथवा विदेशों में विनियोग करने से होता है। किसी भी देश की आर्थिक समपन्नता वहाँ पर पूँजी के निर्माण की दर पर निर्भर होती है। आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि देश में बचतों को बढ़ाया जाय और इन बचतों का अधिक अंश तक उद्योग, कृषि तथा विकास कार्यों में विनियोग किया जाय।

भारत में पूँजी के निर्माण की गति धीमी ही रही है। इसमें तो सन्देह नहीं कि भारतवासी स्वभाव से ही बचत करने के इच्छुक होते हैं, परन्तु आय के कम होने के कारण बचत करने की क्षमता कम रहती है। पिछले कुछ वर्षों से तो यह क्षमता और भी कम रह गई है, क्योंकि कीमतें काफी ऊँची चली गई हैं और करारोपण की वृद्धि हुई है। वैसे भी केवल बचत की दर ही पूँजी निर्माण के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि बचतों का विनियोग भी आवश्यक है। इधर कुछ वर्षों से भारत वासियों को बचतों का विनियोग करने के स्थान पर उनका उपभोग करने पर बाध्य होना पड़ा है। साथ ही, जमींदारों और राज्य दरबारों के उन्मूलन तथा अन्य सामाजिक सुधारों के फलस्वरूप उच्च आय-वर्ग के लोगों की बचत करने की क्षमता में काफी कमी हो गई है। बचत की दर के नीचा रहने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि बचत करने की सुविधाएँ बहुत कम हैं, मुख्यतया छोटी-छोटी बचत करने वाले व्यक्तियों के लिए। ऐसी सुविधाएँ आम तौर पर डाकखानों के सेविंग बैंक द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं। देश की विनियोग संस्थाएँ साधारणतया बड़ी-बड़ी बचत करने वालों के दृष्टिकोण से विनियोग सुविधाएँ उपलब्ध करने के लिए बनाई गई हैं, परन्तु वर्तमान काल में छोटी बचतों का महत्त्व अधिक बढ़ गया है।

भारत में आय, बचत तथा विनियोग की प्रगति—

भारत में प्रथम पंच-वर्षीय योजना का उद्देश्य बचत और विनियोग की दरों को बढ़ाना था। ऐसा अनुमान लगाया गया था कि बचत की दर, जो सन् १९५०–५१ में राष्ट्रीय आय का ५% थी, सन् १९५५–५६ में ६·७५% हो जायगी। इसका परिणाम यह होता कि देश में पूँजी निर्माण इस काल में ४५० करोड़ रुपया प्रति वर्ष से बढ़ कर ६७५ करोड़ रुपया प्रति वर्ष हो जाता। प्रथम पंच-वर्षीय योजना के काल में प्रगति इससे भी अधिक आशाजनक रही है। देश की राष्ट्रीय आय में योजना-काल में

१८% की वृद्धि हुई है, अर्थात् वह सन् १६५०–५१ में ६,११० करोड़ रुपये से बढ़ कर सन् १६५५–५६ में १०,८०० करोड़ रुपया हो गई है। विनियोग की मात्रा ४५० करोड़ रुपये प्रति वर्ष से बढ़कर ७६० करोड़ रुपया प्रति वर्ष हो गई और इस प्रकार विनियोग की दर राष्ट्रीय आय के ४·६% से बढ़ पर ७·३% हो गई है। निम्न तालिका सन् १६५२–५३ की कीमतों के आधार पर राष्ट्रीय आय, विनियोग तथा उपभोग की प्रगति दिखाती है :—

(करोड़ रुपयों में)

शीर्षक	सन् १६५०–५१	सन् १६५५–५६
(१) राष्ट्रीय आय	६,११०	१०,८००
(२) विनियोग	४५०	७६०
(३) विनियोग का राष्ट्रीय आय से प्रतिशत	४·६	७·३
(४) राष्ट्रीय आय निर्देशांक	१००	११८
(५) प्रति व्यक्ति आय निर्देशांक	१००	१११
(६) प्रति व्यक्ति उपभोक्ता व्यय निर्देशांक	१००	१०६

सन् १६५२–५३ में, जबकि प्रथम पंच-वर्षीय योजना को अन्तिम रूप दिया गया तो योजना कमीशन ने पता लगाया था कि दूसरी और इसके बाद की योजनाओं में पूँजी निर्माण को बराबर बढ़ाते रहने की सम्भावना रहेगी। लक्ष्य यह रखा गया था कि सन् १६५६–५७ के बाद बचत की दर को इस प्रकार बढ़ाया जाय कि अतिरिक्त उत्पादन के ५०% की बचत हो जाय। इस आधार पर यह अनुमान लगाया गया था कि सन् १६६०-६१ तक राष्ट्रीय आय के ११% तक बचत हो जायगी और सन् १६७७-७८ तक यह २०% तक पहुँच जायगी। यह अनुमान लगाया गया था कि इस प्रकार सन् १६७७-७८ तक कुल राष्ट्रीय आय ३ गुनी हो जायगी और प्रति व्यक्ति आय २ गुनी।

अब ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यह लक्ष्य आवश्यकता से ऊँचे हैं और इन पर अनुरोध करने से जनता को काफी कष्ट हो सकता है, इसलिए दूसरी पंच-वर्षीय योजना में दृष्टिकोण को बदल दिया गया है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि विनियोग की दर सन् १६५५-५६ में ७% से बढ़ कर सन् १६६०-६१ में ११%, सन् १६६५-६६ में १४% और सन् १६७०-७१ में १६% तक पहुँच जायगी। इसके पश्चात् इसके यहीं पर रुके रहने की आशा है, अधिक से अधिक यह सन् १६७५-७६ तक १७% हो सकती है। नीचे की तालिका स्थिति को दिखाती है :—

शीर्षक	प्रथम योजना काल १९५१–५६	दूसरी योजना काल १९५६-६१	तीसरी योजना काल १९६१-६६	चौथी योजना काल १९६६-७१	पांचवीं योजना काल १९७१-७६
ाष्ट्रीय आय योजना काल क अन्त में (करोड़ रुपये में)	१०,८००	१३,४८०	१७,२६०	२१,६८०	२७,२७०
ुल शुद्ध विनियोग (करोड़ पये में)	३,१००	६,२०४	९,६००	१४,८००	२०,७००
विनियोग का राष्ट्रीय आय ं प्रत्येक योजना काल के प्रन्त में प्रतिशत	७·३	१०·७	१३·७	१६·०	१७·०

दूसरी पंच-वर्षीय योजना में कुल राष्ट्रीय आय में २५% वृद्धि करने का लक्ष्य निश्चित किया गया है और विनियोग दर को १०·७% तक बढ़ा दिया जायगा। आलोचकों का कहना है कि ये दोनों अनुमान अवास्तविक प्रतीत होते हैं। राष्ट्रीय आय इकाई (National Income Unit) तथा करारोपण जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) ने राष्ट्रीय आय, बचत और विनियोग की प्रगति का जो अनुमान लगाया है वह इतना आशाजनक नहीं है। भारत में इस प्रगति का सही अर्थ समझाने के लिए यह आवश्यक होगा कि संसार के कुल दूसरे देशों की प्रगति से इसकी तुलना कर दी जाय। नीचे की तालिका में इसी का प्रयत्न किया गया है :—

सकल देशी पूँजी-निर्माण सकल देशी उपज के प्रतिशत के रूप में—

देश	सन् १९४८	सन् १९५०	सन् १९५२
आस्ट्रेलिया	२०·७	२४·८	२५·९
बर्मा	१५·१	१०·३	१५·१
लंका	६·०	१०·५	१३·३
आयरलैण्ड	१२·८	१४·१	१३·४
ब्रिटेन	१२·१	१३·१	१३·४
भारत	८·३	९·३	१०·०

भारत में पूँजी-निर्माण प्रोत्साहन के सुझाव—

देश में राष्ट्रीय आय तथा पूँजी-निर्माण की दर को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा-प्रसार को रोका जाय और इसका सबसे अच्छा उपाय यही हो सकता है कि कम से कम काल में उत्पादन को इतना बढा

दिया जाय कि जनता के हाथ में आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत जितनी तेजी के साथ क्रयः शक्ति पहुँच रही है उतनी ही तेजी के साथ बाजार में वस्तुओं की पूर्ति भी बढ़ सके। सरकार की मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति, जिसके अन्तर्गत चलन और साख-मुद्रा का संकुचन किया जाता है, बहुत उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इससे उद्योगों और व्यवसायों के लिये वित्तीय साधनों की कमी पैदा हो जाती है। यदि हम अपने आर्थिक नियोजन का लक्ष्य दीर्घकालीन रखते हैं तो सरकार के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादकों के लिये बैंकों तथा इसी प्रकार की दूसरी संस्थाओं से वित्तीय सुविधाएँ उपलब्ध करके निकट भविष्य में ही वस्तुओं की पूर्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करे। साथ ही साथ, यह भी आवश्यक है कि छोटी बचतों को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया जाय तथा उनके जमा करने की व्यवस्था को बढ़ाया जाय। इसके लिए सहकारी बैंकों और व्यापार बैंकों को छोटे कस्बों तथा बड़े-बड़े गाँवों में शाखायें खोलने के लिए सहायता देना उचित होगा। हाल में सरकार ने रिजर्व बैंक की ब्याज की दर में वृद्धि करके तथा सन् १९५१ के उद्योग (विकास और नियमन) एक्ट में संशोधन करके तो औद्योगिक उत्पादन को और भी हतोत्साहित कर दिया है।

पूर्ण वृत्ति का अर्थ (The Meaning of Full Employment)—

आधुनिक युग में समाज की एक बड़ी गम्भीर समस्या बेरोजगारी की समस्या होती है। बेरोजगारी का रहना देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन के लिए काफी घातक हो सकता है। अल्पकाल में देश में श्रम की पूर्ति लगभग निश्चित ही होती है। यही कारण है कि श्रम की माँग में कमी होते ही बेरोजगारी फैलती है। बेरोजगारी को दूर करना और देश के सभी नागरिकों के लिए समुचित रोजगार सुविधाओं की व्यवस्था करना प्रत्येक आधुनिक राज्य का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य समझा जाता है। कल्याणकारी राज्य की स्थापना सभी के लिए रोजगार की सुविधाएँ स्थापित किये बिना हो ही नहीं सकती है। पूर्ण वृत्ति अथवा पूर्ण रोजगार तब सम्पन्न होता है जबकि देश के प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को रोजगार मिल जाय जिसे उसकी आवश्यकता है। पूर्ण वृत्ति का यह अर्थ नहीं होता है कि देश में बेरोजगारी अथवा बेकारी पूर्णतया समाप्त हो जाती है। प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में कुछ अंश तक बेरोजगारी का बना रहना अनिवार्य ही होता है। इस प्रकार बेरोजगारी के बने रहने के निम्न कारण हो सकते हैं :—

(१) प्रत्येक समय में समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य होते हैं जो किसी न किसी कारण से काम करना ही नहीं चाहते हैं। इन्हें कोई भी प्रलोभन काम करने के लिए प्रोत्साहित नहीं कर सकता है।

(२) कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो एक काम को छोड़कर दूसरा ग्रहण करना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति कुछ काल के लिए बेरोजगार रह सकते हैं, क्योंकि एक काम को छोड़ते ही तुरन्त दूसरे का मिल जाना निश्चित नहीं होता है।

(३) कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो एक काम को छोड़ देने के पश्चात् दूसरे को सीखने पर समय बिताते हैं और प्रशिक्षण के इस काल में इस दृष्टिकोण से बेकार रहते हैं कि प्रशिक्षण के काल में उन्हें मजदूरी नहीं मिलती है।

(४) कुछ अंश तक बेकारी आकस्मिक (Casual) हो सकती है, जैसे—जहाजों पर माल लादने अथवा माल उतारने वाले श्रमिक कुछ समय तक के लिए बेकार रह सकते हैं।

(५) कुछ उद्योगों, जैसे चीनी उद्योग में काम मौसमी (Seasonal) होता है और जिन महीनों में चीनी की मिलें बन्द रहती हैं उनमें काम करने वाले अधिकाँश श्रमिक बेकार रहते हैं।

(६) व्यापार चक्रों के फलस्वरूप भी व्यावसायिक मन्दी के काल में बेरोजगारी उत्पन्न हो सकती है, जो उस समय तक बनी रहती है जब तक कि मन्दी का प्रभाव शेष रहता है।

(७) शैल्पिक परिवर्तन भी कुछ काल के लिए बेरोजगारी पैदा कर सकते हैं। मशीनों, उत्पादन विधियों और इस प्रकार के दूसरे परिवर्तनों के कारण कुछ श्रमिक कुछ काल के लिए बेरोजगार हो जाते हैं।

इस प्रकार के बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या कुल जन-संख्या का ३ से लेकर ५% तक साधारणतया रहती है। ऐसे बेरोजगार व्यक्तियों को छोड़ कर शेष सभी के लिए रोजगार सुविधाएँ रहनी चाहिए। पूर्ण वृत्ति अथवा पूर्ण रोजगार का अभिप्राय यही होता है कि देश की शेष ९५ से लेकर ९७% जनता के लिए रोजगार उपलब्ध हो। साधारणतया युद्धकालीन अर्थ व्यवस्था में इस दृष्टिकोण से पूर्ण वृत्ति की दशाएँ पैदा हो जाती हैं। शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था की समस्या यही होती है कि जन-संख्या के इतने बड़े भाग के लिए समुचित रोजगार सम्बन्धी सुविधाएँ उत्पन्न की जायें।

पूर्ण वृत्ति स्थापना के सिद्धान्त—

इस सम्बन्ध में सबसे पहले यही जानना आवश्यक होगा कि रोजगार की मात्रा किन बातों पर निर्भर होती है? यदि सरकार द्वारा किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाता है और स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था रहती है तो श्रम और पूँजी को प्राप्त होने वाले रोजगार की मात्रा व्यावसायिओं और उद्योगपतियों के इस निर्णय पर निर्भर होती है कि वे नये व्यापारों तथा

उद्योगों में कितना विनियोग करने का निर्णय करते हैं। इन्हीं निर्णयों पर कुल रोजगार की मात्रा निर्भर रहेगी, इसीलिए इस बात का अध्ययन बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है कि विनियोग सम्बन्धी निर्णय किन बातों पर निर्भर होते हैं ?

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि ये निर्णय ब्याज की दर पर निर्भर होते है, अर्थात् इस बात पर कि नई पूँजी की पूर्ति की कीमत क्या है। इस दृष्टिकोण से ब्याज की दर की प्रत्येक कमी विनियोगों को बढ़ाने की प्रवृत्ति रखती है और इसके विपरीत ब्याज की दर के बढ़ने से विनि- योग हतोत्साहित होते हैं। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार रोजगार की मात्रा को बढ़ाने के लिए ब्याज की दरों को घटाना आवश्यक है। व्याव- हारिक अनुभव ने इस विचारधारा की पुष्टि नहीं की है। अवसाद के काल में ब्याज की दरों को घटाने से भी विनियोग प्रोत्साहित नहीं हो पाये हैं।

वास्तविकता यह है कि व्यवसायी तथा उद्योगपति इस कारण ऋण नहीं लेते हैं कि ब्याज की दरें नीची हैं। ऋण प्राप्त करने का प्रोत्साहन इस बात से प्राप्त होता है कि भविष्य में विनियोगों पर अधिक लाभ प्राप्त होने की आशा की जाती है। साम्य की दशा में ऋणों के ब्याज की दर विनियोगों की सम्भावित सीमान्त लाभ दर के बराबर होनी चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि रोजगार में उस समय तक वृद्धि होने की सम्भावना नहीं होगी जब तक कि भावी लाभों की दर बढ़ने की सम्भावना न हो। जब तक ऊँचे लाभों की आशा न होगी, ब्याज की दरों के नीचे गिरने से रोजगार के बढ़ने की कोई सम्भावना नहीं रहेगी। इसी प्रकार यदि भावी लाभ की आशा उज्वल नहीं है तो विनियोग हतोत्साहित होंगे और रोजगार की मात्रा घटेगी। रोजगार को बनाये रखने अथवा उसका विकास करने के लिए सरकारी हस्तक्षेप के बिना काम नहीं चल सकता है। मन्दी के काल में बेरोजगारी को बढ़ने से रोकने के लिए सरकार को अपनी आय से अधिक व्यय करना चाहिए। इसी प्रकार अभिवृद्धि (Boom) के काल में सरकार को आय से कम व्यय करना चाहिए। सरकारी नीति पर ही एक बड़े अंश तक रोजगार का विस्तार अथवा संकुचन निर्भर होता है।

जहाँ तक पूर्ण वृत्ति को प्राप्त करने के सिद्धान्तों का प्रश्न है, वे सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता पर ही आधारित होंगे। इस सम्बन्ध में तीन सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा सकता है:—

(१) सरकार को समुचित विनियोग नीति द्वारा अवसाद को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके विपरीत अभिवृद्धि के काल में सरकार को लोक व्यय में कमी करनी चाहिए और महँगी मुद्रा नीति का

पालन करना चाहिए। दोनों ही दशाओं में सट्टा बाजार पर समुचित नियन्त्रण भी आवश्यक है।

(२) सरकार को उद्योगों की स्थिति इस प्रकार आयोजित करनी चाहिए कि उन क्षेत्रों के बेरोजगार व्यक्तियों को जिनमें मन्दी आ गई है उन्हीं क्षेत्रों में रोजगार मिल सके। दूसरे शब्दों में, काम को श्रमिकों तक ले जाने की नीति अपनाई जानी चाहिए।

(३) यह आवश्यक है कि सरकार ऐसी आर्थिक नीति को ग्रहण करे जिससे कि देश के उद्योगों और निर्यातों के स्तर बनाये रखे जा सकें। इन सब रीतियों से रोजगार स्तर को बनाये रखना तथा उनका ऊँचा उठाना सम्भव हो जायगा।

राज्य और पूर्ण वृत्ति—

काफी लम्बे समय तक अर्थशास्त्री आर्थिक जीवन में राज्य हस्तक्षेप को बुरा समझते आये हैं। महान अवसाद ने इस विचारधारा को काफी बदल दिया। इस काल में संसार ने प्रचुरता के बीच निर्धनता और अति-उत्पादन के साथ भुखमरी के विचित्र दृश्य देखे थे। इस विचित्र परिस्थिति का कारण यह था कि एक ओर तो उत्पादन और उपभोग के बीच समायोजन नहीं रहा था और दूसरी ओर बचत और विनियोगों की भी दरों में अन्तर था। सभी अर्थशास्त्रियों को यह मानने पर वाध्य होना पड़ा था कि उत्पादन और उपभोग तथा बचत और विनियोग के बीच समन्वय स्थापित किए बिना इस परिस्थिति से छुटकारा सम्भव न था। समन्वय और समायोजन की स्थापना आर्थिक नियोजन द्वारा ही सम्भव थी, इसलिए महान अवसाद के बाद संसार भर में आर्थिक नियोजन की एक विश्वव्यापी लहर सी आई थी। नियोजन की सफलता ने इस विचार-धारा को और भी अधिक बल प्रदान किया।

आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए सरकारी नियन्त्रण और नियमन आवश्यक हो जाता है। पूर्ण वृत्ति सम्बन्धी नीति को तो उस समय तक कार्यरूप दिया ही नहीं जा सकता है जब तक कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का पुनर्संङ्गठन अथवा पुनर्निर्माण न कर दिया जाय। आर्थिक नियोजन का एक सर्वस्वीकृत उद्देश्य पूर्ण वृत्ति की व्यवस्था करना ही होता है। इस नीति की सफलता उपयुक्त सरकारी संगठन और राज्य प्रारम्भन पर ही निर्भर होती है।

भारत में पूर्ण वृत्ति—

भारत सरकार ने रोजगार की सुविधाओं को बढ़ाने के महत्त्व को भली भाँति समझ लिया है। आर्थिक नियोजन का एक महान उद्देश्य

पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करना है। इससे पहले ही पूर्ण रोजगार व्यवस्था का उत्पन्न करना देश के संविधान में राज्य नीति का प्रमुख उद्देश्य बताया गया था। योजना कमीशन ने प्रथम पंच-वर्षीय योजना का निर्माण करते समय ही देश में बेरोजगारी के अंश और उसके कारणों का पता लगाने का प्रयत्न किया था तथा योजना के अन्तर्गत समुचित रोजगार सुविधाओं की व्यवस्था करने का लक्ष्य बनाया था। कमीशन का विचार है कि रोजगार सुविधाओं के विकास के कार्य के तीन पहलू हैं। प्रथम, पहले से ग्रामीण तथा नागरिक क्षेत्रों में बहुत से व्यक्ति बेरोजगार हैं जिनके लिए रोजगार उपलब्ध करने की आवश्यकता है। दूसरे, इस बात की जरूरत है कि जन-संख्या की प्राकृतिक वृद्धि के कारण जो नये काम करने वाले पैदा हो जाते हैं, उनके लिए रोजगार पैदा किया जाय। ऐसे व्यक्तियों की संख्या लगभग २० लाख प्रति वर्ष है। तीसरे, कृषि तथा गृह कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों के लिए रोजगार की सुविधाएँ बढ़नी चाहिए, क्योंकि इन्हें केवल आंशिक रोजगार ही प्राप्त है।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सरकार का अनुमान था कि लगभग करोड़ व्यक्तियों को लोक और निजी क्षेत्रों में अधिक रोजगार की सुविधाएँ मिल सकेंगी। यह अनुमान गलत रहा है। सन् १९५३ में ही सरकार को पंच-वर्षीय योजना में कुछ ऐसे संशोधन करने पड़े हैं जिनसे कि रोजगार की सुविधाएँ अधिक तेजी के साथ बढ़ सकें। प्रथम योजना काल का सामान्य अनुभव यही रहा है कि आर्थिक विकास की प्रगति के साथ-साथ बेरोजगारी घटने के स्थान पर उलटी बढ़ी है। मार्च सन् १९५१ में श्रम सेवा-योजनालयों (Employment Exchanges) के रजिस्टरों में ऐसे व्यक्तियों की संख्या जिन्हें रोजगार नहीं दिया जा सका था, केवल ३·३७ लाख थी, जो दिसम्बर सन् १९५३ में ५·२२ लाख हो गई थी और मार्च सन् १९५६ में ७·०५ लाख। योजना कमीशन के आदेश पर राष्ट्रीय सैम्पल जाँच (National Sample Survey) ने पता लगाया था कि सन् १९५४ में नगर क्षेत्रों में २२·४ लाख व्यक्ति बेरोजगार थे और ग्रामीण क्षेत्रों में २८ लाख व्यक्ति बेरोजगार थे। ग्रामीण और नागरिक क्षेत्रों में कुल बेरोजगारी का अप्रैल सन् १९५६ का अनुमान क्रमशः २८ और २५ लाख रखा गया है।

दूसरी पंच-वर्षीय योजना में रोजगार की व्यवस्था—

दूसरी पंच-वर्षीय योजना में रोजगार सुविधाओं को बढ़ाने के कार्य को विशेष महत्त्व दिया गया है। योजना कमीशन का अनुमान है कि देश में दूसरी योजना के काल में बेरोजगारी को पूर्णतया दूर करने के लिए १५३ लाख व्यक्तियों के लिए अधिक रोजगार की व्यवस्था आवश्य

ी। कमीशन का अनुमान है कि क्रमशः २५ और २८ लाख व्यक्ति नागरिक और ग्रामीण क्षेत्रों में पहले से ही बेकार हैं और इस ार बेकारी की मात्रा ५३ लाख है। इसके अतिरिक्त दूसरी पंच-वर्षीय ना के काल में १ करोड़ और व्यक्ति काम करने वालों की संख्या में मिल हो जायेंगे। कमीशन का अनुमान है कि दूसरी योजना के काल बेरोजगारी को पूर्णतया समाप्त कर देना सम्भव न हो सकेगा, परन्तु ोजगारी को बढ़ने से रोका जा सकेगा, इसलिए दूसरी पंच-वर्षीय योजना लक्ष्य १ करोड़ नई रोजगार सुविधाएँ उत्पन्न करना बताया गया है। का परिणाम यह होगा कि पाँच वर्ष में श्रम की पूर्ति में होने वाली द्धि के लिए रोजगार का प्रबन्ध हो जायगा। लोक-क्षेत्र से सम्बन्धित ार्यों में निम्न प्रकार रोजगार सुविधाओं के विकास का अनुमान लगाया या है :—

अधिक रोजगार का अनुमान

(लाखों में)

(१) निर्माण	२१·००
(२) सिंचाई और शक्ति	०·५१
(३) रेल्वे	२·५३
(४) अन्य यातायात एवं सम्वादवाहन	१·८०
(५) उद्योग और खनिज	७·५०
(६) कुटीर तथा छोटे उद्योग	४·५०
(७) वन, मछली उद्योग, राष्ट्रीय प्रसार तथा सम्बन्धित सेवाएँ	४·१३
(८) शिक्षा	३·१०
(९) स्वास्थ्य	१·१६
(१०) अन्य सामाजिक सेवाएँ	१·४२
(११) सरकारी नौकरी	४·३४
(१२) अन्य	२७·०४
कुल	७९·०३

इस प्रकार लगभग ८० लाख व्यक्तियों के लिए लोक क्षेत्र में ही रोजगार की व्यवस्था हो जायगी। शेष २० लाख व्यक्तियों में से २·४ लाख व्यक्तियों को इस कारण रोजगार मिल जायगा कि पाँच वर्ष के काल में इतने सरकारी नौकर वृद्धावस्था के कारण स्थान खाली कर देंगे। शेष के लिए निजी क्षेत्र में रोजगार उपलब्ध हो जायगा। इस प्रकार दूसरी

B. COM. (PART I) EXAMINATION, 1958

(Group III)

ECONOMICS

Currency and Banking

1. 'Money is a matter of functions four,
   A medium, measure, standard and store.'

   Explain fully the meaning of this statement.

2. What is meant by the quantity theory of money ? Ho far does it afford a true explanation of the rise and fall (prices ?

3. Explain the meaning of the term 'credit' and discuss tl part it plays in modern business.

4. What do you understand by the purchasing power parit theory relating to foreign exchange ? When does the ra deviate from this parity ?

5. What difficulties were experienced by the Governmer of India in respect of currency and exchange during the la: World War ? How did the Government meet the situation ?

6. 'Exports pay for imports.' Explain how this happen What part does play in international payments ?

7. What are the different ways in which bank deposi arise ? How do loans create deposits ?

8. Trace the history of the Indian currency system sin(the establishment of the Reserve Bank of India.

9. Explain the difference in *any three* of the following :—
   (*a*) Standard of value and standard of deferred pay ments.
   (*b*) Standard money and token money.
   (*c*) Primary co-operative credit society and a co-opera tive central bank.
   (*d*) Mint par of exchange and specie points.

10. Write explanatory notes on *any four* of the follow ing :—
    (*a*) Exchange control.
    (*b*) Devaluation of currency.
    (*c*) Gresham's law.
    (*d*) Fiduciary note issue
    (*e*) Bank rate.